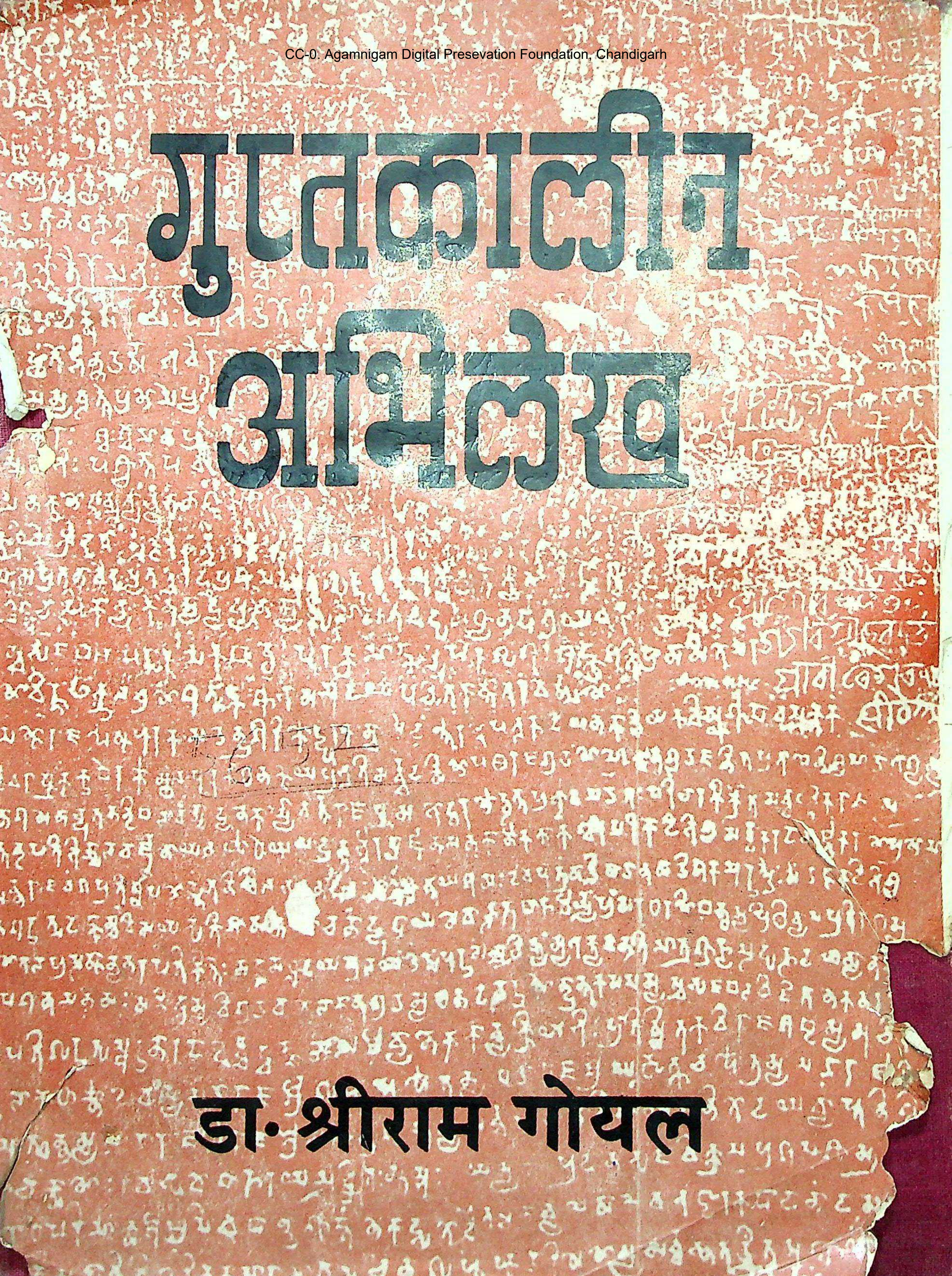

गुप्तकालीन अभिलेख

डा. श्रीराम गोयल

UPTAKALINA ABHILEKHA

ne Book

ptakalina Abhilekha is the first book
the inscriptions of the Gupta age **in**
ndi in which all the inscriptions of the
pta dynasty found till 1983 together
h other inscriptions of contemporary
asties have been edited with detailed
oduction (find-spot, language, script,
nography, reference to learned works
), textual comments, meanings of
cult words, translation, detailed
nments on difficult and important
ages, and also detailed discussion on
importance and significance of each
ription.

pattern followed in the present book
adopted by the author in his recently
ished book on pre-Gupta inscriptions
chīna Bhāratīya Abhilekha Samgraha). It
been highly acclaimed and apprecia-
as some opinions quoted below show.
present work is different in being
e detailed and scholarly, for, its
or is a specialist scholar on Gupta
ry and is well-known for his celebra-
thesis *A History of the Imperial Guptas.*

tremely useful for researchers and
-graduate students."

K.D. Bajpai, Retired Tagore Pro-
r and Head, Department of Anciant
an History, Culture and Archaeology,
versity of Sagar, Sagar.

dispensable for all students and
earchers."

Lallanji Gopal, Professor & Head,
partment of Ancient Indian History,
ture and Archaeology, Banaras Hindu
iversity, Varanasi.

will be used as a source book for a
g time."

ofessor M. K. Dhavalikar, Jt.
rector, Deccan College Post-Graduate
d Research Institute, Department of
chaeology, Pune.

usefulness your forthright
ions stated in such a
nner are not only
orth emulating by
Hindi world will
you for placing
scholarly work in its

uti, Professor of
of Delhi, Delhi.

Contd. Flap II

5652

गुप्तकालीन अभिलेख

लेखक-परिचय

डॉ० श्रीराम गोयल जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान) में इतिहास विभाग के अध्यक्ष हैं। आपका जन्म १९३२ में हुआ। एक विद्यार्थी के रूप में आपकी उपलब्धियाँ अत्यन्त श्लाघ्य रहीं। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक (१९५३) तथा स्नातकोत्तर (१९५५) डिग्रियाँ प्राप्त कीं। एम० ए० में आपने प्राचीन इतिहास में 'प्रथम श्रेणी के साथ प्रथम स्थान' प्राप्त किया। उसी वर्ष से आपका अध्यापक के रूप में जीवन प्रारम्भ हुआ। पहिले आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय (सी० एम० पी० कॉलिज) में रहे (१९५५–५८) और फिर गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग में (१९५८–७०)। १९७० में आप जोधपुर विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग में रीडर पद पर नियुक्त हुए और इस समय भी वहीं सेवारत हैं।

डॉ० गोयल ने एक दर्जन से अधिक उच्चस्तरीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है और ५५ से अधिक शोध-निबन्ध लिखे हैं। इनमें **प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ** (१९६१), **विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ** (१९६३), **ए हिस्टरी ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़** (१९६७), **प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास** (१९६९), **प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास** (१९७४) **प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह** (१९८२) तथा **ए रिलीजस हिस्टरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया,** १, (१९८४), सम्मिलित हैं। इन सभी ग्रन्थों की भारतीय इतिहास-जगत् में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है। आपके शोध-प्रबन्ध **ए हिस्टरी ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़** को आस्ट्रेलिया के नेशनल प्रोफेसर श्री ए० एल० बैशम ने 'दि बेस्ट एनेलेसिस ऑव दि गुप्त पीरियड' बताया है तथा प्रोफेसर एलिनोर ज़ेलिओट (मिनेसोटा, अमेरिका) ने 'इमेजिनेटिव', 'वेल-रिटिन' तथा 'ए मॉडल ऑव हिस्टोरियोग्रेफी' कहकर सराहा है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित मतों और सुझावों को, जो पिछले दो दशकों में स्वदेशी एवं विदेशी ग्रन्थों में विचार का विषय रहे हैं और जिन पर दर्जनों शोध-निबन्ध लिखे जा चुके हैं, प्रोफेसर आर० सी० मजूमदार ने भी 'अत्यन्त सावधानीपूर्वक अध्ययन करने योग्य' माना है। गुप्त इतिहास के पुनर्निर्माण में इन सुझावों का योगदान अब प्रायः स्वीकृत किया जाता है।

डॉ० गोयल के इस मत पर कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार प्रारम्भिक मौर्य युग में हुआ था, भारत के लब्धप्रतिष्ठ पुरालिपिशास्त्रियों की टिप्पणियों और प्रतिक्रियाओं को एकत्र, संगृहीत एवं सम्पादित करके 'इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर सोसायटी' ने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है (दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट, नई दिल्ली, १९७९)। उनके किसी एक सुझाव पर इस प्रकार 'पत्राचार-सेमीनार' का आयोजन और प्रकाशन (जो स्वयं एक विरल बात है) तथा कुछ लिपिशास्त्रियों द्वारा उनके इस सुझाव को 'सर्वाधिक स्वीकार्य' बताया जाना तथा अनेक इतिहासज्ञों द्वारा इसको कुछ संशोधन के साथ स्वीकृति दिया जाना भारतीय इतिहास-जगत् में डॉ० गोयल के विशिष्ट स्थान तथा उनकी विद्वत्ता के सामान्य स्वीकरण का प्रमाण हैं।

डॉ० गोयल 'भारतीय इतिहास एवं संस्कृति ग्रन्थमाला' के प्रधान सम्पादक हैं। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ३२ ग्रन्थ प्रकाशित होंगे। इनमें छः तैयार हो गये हैं और दो (**मागध साम्राज्य का उदय** तथा **मुग़ल साम्राज्य का प्रारम्भिक इतिहास**) प्रकाशित हो चुके हैं। अध्यापकों तथा स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए आयोजित इस ग्रन्थमाला के लेखन में डॉ० गोयल को देश के अनेक विश्वविद्यालयों के वरिष्ठ तथा गण्यमान्य विद्वान् सहायता दे रहे हैं।

डॉ० गोयल दर्शन-शास्त्र के जिज्ञासु विद्यार्थी रहे हैं—विशेषतः इतिहास-दर्शन के। आपने इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में बी० ए० में (१९५३) दर्शन-शास्त्र में प्रथम स्थान प्राप्त करके मणीन्द्रनाथ नन्दी सुवर्ण पदक अर्जित किया था। लेकिन एक सच्चे इतिहासकार की तरह आपकी रुचि मूल स्रोतों के अध्ययन में विशेष रही है। आपने भारतीय साहित्य की विभिन्न शाखाओं का गहन अध्ययन किया है। आपका सद्य-प्रकाशित ग्रन्थ **ए रिलीजस हिस्टरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया,** १, धार्मिक साहित्य में आपकी गति व रुचि का प्रमाण है। मुद्राशास्त्र पर आपका एक ग्रन्थ (**दि क्वायनेज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया**) शीघ्र प्रकाश्य है तथा प्राक्-गुप्तयुगीन अभिलेखों पर एक ग्रन्थ (**प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह**) १९८२ में राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा छापा जा चुका है। उसमें आपने प्राक्-गुप्तयुगीन अभिलेखों को उसी तरह विस्तार से सम्पादित किया है जिस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ में गुप्त अभिलेखों को। इस तरह डॉ० गोयल के व्यक्तित्व में साहित्य, दर्शन-शास्त्र और इतिहास का विरल तथा अद्भुत समन्वय मिलता है।

गुप्तकालीन अभिलेख

(Inscriptions of the Gupta Age)

मूलपाठ, शब्दार्थ, अनुवाद तथा विस्तृत व्याख्या सहित

डॉ० श्रीराम गोयल
अध्यक्ष, इतिहास-विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर

कुसुमाञ्जलि प्रकाशन, मेरठ

क्रमसंख्या 5652
प्राप्ति तिथि
विभाग
श्रेणी
STATE MUSEUM

प्रथम संस्करण, सितम्बर १९८४

© डॉ० श्रीराम गोयल

कुसुमाञ्जलि प्रकाशन
रञ्जन बिल्डिग, पी० एल० शर्मा रोड, बेगम ब्रिज, मेरठ—२५०००१

कुसुमाञ्जलि प्रकाशन, मेरठ के लिए
प्रभात ऑफसेट प्रिण्टर्स प्रा० लि० एवं उर्वशी प्रेस, मेरठ द्वारा मुद्रित
मूल अभिलेख-चित्र (प्लेट्स्) गायत्री ऑफसेट प्रेस, नयी दिल्ली द्वारा मुद्रित

GUPTAKĀLĪNA ABHILEKHA DR. S. R. GOYAL
KUSUMĀÑJALI PRAKĀŚANA, Ranjan Building, P. L. Sharma Road, Meerut.

श्रद्धास्पद
प्रोफेसर विश्वम्भरशरण पाठक
अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
को
जिन्होंने गुप्त-इतिहास में मेरी रुचि को परिष्कृत किया और
उसे नवीन दिशा प्रदान की
तथा
श्रीमती गोपी पाठक
को
जिनका स्नेहसिक्त व्यवहार मुझे सदैव स्मरण रहेगा ।

लेखक की अन्य रचनाएँ

प्रमुख प्रकाशित ग्रन्थ

प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ
विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ
ए हिस्टरी ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़ (सुविख्यात शोध-प्रबन्ध)
प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, भाग ३
प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास (अभिलेखों के आधार पर)
प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह
मागध साम्राज्य का उदय (सम्पादित)
मुग़ल साम्राज्य का प्रारम्भिक इतिहास (सम्पादित)
ए रिलीजस हिस्टरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, वॉल्यूम १
युद्धकला (अनूदित)

प्रकाशनाधीन ग्रन्थ

ए रिलीजस हिस्टरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, वॉल्यूम २
दि क्वायनेज ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया
ए पॉलिटिकल हिस्टरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया
एन इकोनोमिक हिस्टरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया

प्रकाशकीय भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक 'गुप्तकालीन अभिलेख' को अनायास ही भारतीय पुरालेखशास्त्र के अध्ययन-इतिहास में किये गये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदानों में एक माना जा सकता है। यह सही है कि जॉन फ्लीट का गुप्तकालीन अभिलेखों पर रचित 'कॉर्पस' अब हिन्दी में भी उपलब्ध है। परन्तु फ्लीट का ग्रन्थ १८८८ में प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक अनेक नवीन अभिलेख प्रकाश में आ चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में गुप्त साम्राज्य के लगभग सभी एवं अन्यान्य समकालीन महत्त्वपूर्ण अभिलेखों को संकलित, अनूदित तथा विस्तार से सम्पादित किया गया है। सभी कठिन शब्दों के अर्थ देकर लेखक ने अभिलेखों का अध्ययन सुगमतर कर दिया है। हमारा विश्वास है कि यह ग्रन्थ स्नातकोत्तर स्तर के प्राचीन इतिहास के विद्यार्थियों और शोधकर्त्ताओं को भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण तथा उसके वर्तमान स्वरूप को समझने में बहुत सहायक होगा।

इस ग्रन्थ में प्रयुक्त अध्ययन-विधि का उपयोग डॉ० गोयल ने अपने प्राक्-गुप्तयुगीन अभिलेखों पर दो वर्ष पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' में किया था। उस पर कुछ प्रमुख पुरालेखशास्त्रियों की सम्मतियाँ हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं जिनसे इस विषय पर डॉ० गोयल के अधिकार तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के उच्च स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है।

"Extremely useful for researchers and post-graduate students."

Dr. K. D. Bajpai, Retired Tagore Professor and Head, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, University of Sagar, Sagar.

"Indispensable for all students and researchers."

Dr. Lallanji Gopal, Professor and Head, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi.

". . . will be used as a source book for a long time."

Professor M. K. Dhavalikar, Jt. Director, Deccan College Post-Graduate and Research Institute, Department of Archaeology, Pune.

". . . besides its usefulness your forthright and clear cut opinions stated in such a straightforward manner are not only praiseworthy but worth emulating by other writers. The Hindi world will always be grateful to you for placing such an eminent and scholarly work in its hands."

Dr. (Mrs.) Devahuti, Professor of History, University of Delhi, Delhi.

"Such a book was very much needed . . . by providing meanings of difficult words you have greatly added to its usefulness."

Professor V. N. Misra, Head, Department of Archaeology, Deccan College Post-Graduate and Research Institute, Pune.

"... is sure to attract the youth and keep in them interest in history of our country."

Professor G. M. Moraes, Director, Institute of Historical Research, Bombay.

"... the method followed by the author deserves to be emulated."

Dr. R. N. Mehta, Professor and Head, Department of Ancient History, M. S. University, Baroda.

"... immensely useful as a reference work."

Dr. A. M. Shastri, Professor and Head, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, University of Nagpur, Nagpur.

"No book of this kind is available in Hindi. You have shown your originality also in it."

Dr. K. C. Jain, Professor and Head, Department of Ancient History and Culture, Vikram University, Ujjain.

"It is a very welcome publication ..."

Dr. T. P. Verma, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, College of Indology, Banaras Hindu University, Varanasi.

"It is really a good reference book for M.A. students and research scholars."

Dr. (Mrs.) Shobhana Gokhale, Department of Archaeology, Deccan College Post-Graduate and Research Institute, Pune.

"It has solved a great problem of our students by providing them all the important pre-Gupta inscriptions with the views of modern scholars in only one volume."

Dr. K. K. Thapalyal, Department of Ancient Indian History and Archaeology, University of Lucknow, Lucknow.

"I certainly find it very copious, informative and useful for not only serious students but for teachers also as a ready reference book for their day-to-day use. From many angles, it has improved upon the earlier collections of inscriptions, prepared by earlier scholars."

Dr. Vishuddhanand Pathak, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi.

प्राक्कथन

१९८२ में राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' (प्राक्-गुप्तयुगीन) के समान मैंने गुप्तकालीन अभिलेखों पर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना भी तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की है । एक, गुप्तकालीन अभिलेखों को हिन्दी भाषा में अध्यापकों, शोधकर्त्ताओं तथा स्नातकोत्तर छात्रों के लिए सुलभ और सुगम बनाना । पिछले लगभग बारह वर्षों से स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को अभिलेख-शास्त्र पढ़ाते समय मैं उन कठिनाइयों से परिचित हुआ जो इस विषय का अध्ययन करते समय उनके साभने आती हैं । इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए मैंने 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' में तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में कठिन शब्दों के अर्थ एवं महत्त्वपूर्ण पदों एवं वाक्यांशों की व्याख्या दी है । जैसा कि स्वतः स्पष्ट है, शब्दार्थ देने का कार्य संस्कृत भाषा के गहन ज्ञान की अपेक्षा रखता है तथा बड़ा ही दुरूह एवं समय- तथा श्रम-साध्य है । प्राचीन अभिलेखों पर प्रकाशित किसी भी ग्रन्थ में यह विशेषता अनुपलब्ध है । यही नहीं, इस पुस्तक में कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं—यथा गुप्त संवत् की उत्पत्ति एवं प्रवर्त्तक की पहिचान, गुप्त राजक्रम तथा तिथिक्रम का निर्णय, और गुप्त दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय एवं भूमि-व्यवस्था आदि—पर पूर्वपीठिकाओं और परिशिष्टों में विस्तार से विचार किया गया है । आशा है इनसे स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को गुप्त अभिलेखों के अध्ययन में विशेष सहायता मिलेगी ।

दूसरे, मैंने इस ग्रन्थ को एक सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में लिखा है । इसमें मैंने शोधकर्त्ताओं की सुविधा के लिए अभिलेखों के विवादग्रस्त अंशों के पाठ पाठ-टिप्पणियों के रूप में दिये हैं तथा महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के चित्र भी प्रकाशित किये हैं जिससे इस ग्रन्थ में स्वीकृत पाठ की सत्यता की जाँच शोधकर्त्ता स्वयं कर सकें । अभिलेखों के विवादग्रस्त अंशों के विषय में अधिकांश विद्वानों के मतों को यथासम्भव विवेचित कर दिया गया है और प्रत्येक अभिलेख का अध्ययन-इतिहास बताते समय भी महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्धों और ग्रन्थों को अनुसूचित कर दिया गया है । अतः आशा है कि मेरे 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' (प्राक्-गुप्तयुगीन) के समान, जिसका सर्वत्र हार्दिक स्वागत हुआ है, यह ग्रन्थ भी स्नातकोत्तर विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तक के रूप में ही नहीं, शोधकर्त्ताओं के लिए भी सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया जायेगा ।

इस ग्रन्थ की रचना में मेरा एक उद्देश्य अपने अध्ययन-निष्कर्षों को विद्वत्जनों तक पहुँचाना भी है । जैसा कि भारतीय इतिहास-जगत् में भली-भाँति विदित है, गुप्त इतिहास मेरे अध्ययन का मुख्य विषय है । इसलिए पिछले लगभग पच्चीस वर्षों से मैं गुप्तकालीन अभिलेखों का अध्ययन भी करता आया हूँ । इस विषय में मैंने जो निष्कर्ष निकाले हैं और सुझाव रखे हैं उनमें अधिकांश मेरे शोध-प्रबन्ध 'ए हिस्टरी ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़', हिन्दी ग्रन्थ 'गुप्त एवं समकालीन राजवंश' तथा विविध शोध-निबन्धों में प्रकाशित हैं । ये सुझाव तथा निष्कर्ष प्रौढ़तर चिन्तन एवं नवीन तथ्यों के प्रकाश में आते रहने के कारण न्यूनाधिक-रूपेण संशोधित होते रहे हैं । अन्य विद्वानों ने भी अनेक ग्रन्थों एवं शोध-निबन्धों में उनका विवेचन और विश्लेषण किया है । इन समालोचनाओं पर विचार करना तथा अपने नवीनतम निष्कर्षों को शोधकर्त्ताओं, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों तक पहुँचाना भी इस ग्रन्थ का उद्देश्य है—विशेषतः उन निष्कर्षों और सुझावों को जो गुप्त अभिलेखों से सम्बन्धित हैं । आशा है इन पर विद्वान् इतिहासकार और अभिलेखशास्त्री गम्भीरता तथा सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे ।

इस ग्रन्थ की रचना में मुझे अनेक महानुभावों से प्रेरणा मिली है। यहाँ मैं विशेषतः उन वरिष्ठ विद्वानों और मित्रों के प्रति आभार प्रकट करना चाहूँगा जिन्होंने मेरे 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' (प्राक्-गुप्तयुगीन) को पढ़कर उसे न केवल अत्यधिक उपयोगी और आगामी दशकों में विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं तथा अध्यापकों के लिए अनुपेक्ष्य बताकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया वरन् अनेक बहुमूल्य सुझाव भी दिये जिससे मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ को श्रेष्ठतर बनाने में सहायता मिली। इनमें अनेक विद्वानों के साथ गुप्तकालीन अभिलेखों पर पत्र-व्यवहार द्वारा विचार-विमर्श करके भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ। यहाँ मैं विशेष रूप से प्रोफेसर के० डी० बाजपेयी (सागर), प्रो० लल्लनजी गोपाल (वाराणसी), प्रो० एम० के० धवलिकर (पूना), डॉ० देवहूति (देहली), प्रो० वी० एन० मिश्रा (पूना), प्रो० जी० एम० मोरेस (बम्बई), प्रो० आर० एन० मेहता (बड़ौदा), प्रो० अजयमित्र शास्त्री (नागपुर), डॉ० टी० पी० वर्मा (वाराणसी), डॉ० शोभना गोखले (पूना) तथा डॉ० के० के० थपल्याल (लखनऊ) को धन्यवाद देना चाहूँगा। मेरे मित्र डॉ० दिनेशचन्द्र शुक्ल (जोधपुर) तथा अनुज डॉ० शिवकुमार गुप्त (जयपुर) ने भी मेरे साथ विभिन्न अभिलेखों पर विमर्श करके मुझे अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने में सहायता दी तथा डॉ० शिवकुमार ने इसके फलक-मुद्रण में रुचि ली। इसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

चिरञ्जीवा विजयश्री गोयल (एम० ए० फाइनल, दर्शन-शास्त्र) ने इस ग्रन्थ की पदानुक्रमणिका बनाने का श्रमसाध्य कार्य किया है। इसके लिए वह मेरी प्रशंसा एवं आशीर्वाद की अधिकारिणी हैं।

कुसुमाञ्जलि प्रकाशन, मेरठ, ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन सोत्साह किया है, इसके लिए मैं इसके व्यवस्थापकों का अनुगृहीत हूँ।

अत्यन्त सावधानी रखने पर भी पुस्तक में अगर कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हों तो आशा है विद्वज्जन उन पर बहुत ध्यान नहीं देंगे।

४१-ए, सरदार क्लब स्कीम, जोधपुर
अगस्त १५, १९८४

श्रीराम गोयल

विषय-सूची

इस पुस्तक में पूर्वपीठिकाओं और परिशिष्टों के अतिरिक्त कुल ७६ अभिलेख दिये गये हैं। सुविधा की दृष्टि से इनको ८ खण्डों में बाँटा गया है। इनमें गुप्त सम्राटों के लगभग सभी अभिलेखों को विस्तार से सम्पादित किया गया है। प्रत्येक अभिलेख का अध्ययन तीन भागों में है। प्रथम भाग में लेख का विस्तृत परिचय (प्राप्तिस्थल, भाषा, लिपि, वर्तनी, तिथि, लेखक, उद्देश्य, अध्ययन-इतिहास, सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची आदि सहित) दिया गया है। दूसरे में लेख का मूलपाठ, पाठ-टिप्पणियाँ, कठिन शब्दों के अर्थ, अनुवाद तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ हैं। तीसरे में उस अभिलेख का महत्त्व (राजनीतिक, प्रशासकीय, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक व अन्य सभी सम्भव दृष्टियों से) बताया गया है।

पुस्तक में दिये गये शेष अभिलेख गुप्तकाल के अन्य राजवंशों के हैं। क्योंकि मौखरि-पुष्यभूति-युगीन उत्तर भारतीय अभिलेखों तथा दक्षिण भारतीय अभिलेखों पर (जिनमें वाकाटकादि राजवंशों के अभिलेख भी सम्मिलित होंगे) हमारे दो ग्रन्थ शीघ्र प्रकाश्य हैं, अतः इस ग्रन्थ में हमने गुप्तेतर राजवंशों के उन्हीं अभिलेखों को विस्तार से दिया है जो हमारे इन दो शीघ्र प्रकाश्य ग्रन्थों में सम्मिलित नहीं हैं। लेकिन उन अभिलेखों का, जिनका सम्बन्ध गुप्त इतिहास से विशेष है, हमने मूलपाठ दे दिया है और उनके प्राप्तिस्थल, लिपि, भाषा, तिथि, महत्त्व तथा सन्दर्भों का संक्षेप में उल्लेख कर दिया है जिससे पाठकों को गुप्तकालीन अभिलेखों के अध्ययन में सुविधा रहे।

प्रकाशकीय भूमिका vii
प्राक्कथन ix
अभिलेख-चित्र-सूची (प्लेट्स्) xv
सन्दर्भ-संकेत-सूची xvii

पूर्वपीठिका (अ) : गुप्त संवत् १
पूर्वपीठिका (आ) : गुप्त इतिहास, राजक्रम और तिथिक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा ७

समुद्रगुप्त के अभिलेख १६–६१
A १. इलाहाबाद-तिथिविहीन पाषाण-स्तम्भ-लेख (प्रयाग-प्रशस्ति) १७
२. तिथिविहीन एरण खण्डित पाषाण-स्तम्भ-लेख ५४
३. नालन्दा (सन्दिग्ध) ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष ५ ६२
४. गया (सन्दिग्ध) ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष ६ ६८
परिशिष्ट : क्या समुद्रगुप्त के नालन्दा- और गया-दानपत्र कूट (=जाली) लेख हैं? ७२
✓ ५. 'चन्द्र' (समुद्रगुप्त) का तिथिविहीन मेहरौली-लौह-स्तम्भ-अभिलेख ७७

रामगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल के अभिलेख ९२–१२८

६–८. रामगुप्त के तिथिविहीन दुर्जनपुर जैन प्रतिमा-अभिलेख ९३
९. द्वितीय चन्द्रगुप्त का मथुरा स्तम्भ-लेख : वर्ष ६१ ९९
१०. उदयगिरि गुहा-लेख : वर्ष ८२ १०६
११. तिथिविहीन गढ़वा प्रस्तर-अभिलेख }
१२. गढ़वा प्रस्तर-अभिलेख : वर्ष ८८ } १०९
१३. साञ्ची प्रस्तर-अभिलेख : वर्ष ९३ ११२
१४. उदयगिरि तिथिविहीन गुहा-लेख ११७
१५. मथुरा तिथिविहीन प्रस्तर-अभिलेख. १२४
१६. ध्रुवस्वामिनी की वैशाली-मुहर १२६

प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के अभिलेख १२९–२०२

१७. बिलसड़ पाषाण-स्तम्भ-लेख : वर्ष ९६ १३१
१८. गढ़वा तिथिविहीन-लेख १३८
१९. गढ़वा पाषाण-लेख : वर्ष ९८ १४०
२०. उदयगिरि जैन गुहा-लेख : वर्ष १०६ १४२
२१. मथुरा जैन प्रतिमा-लेख : वर्ष १०७ १४५
२२. मानकुंवर (मंकुवार) बौद्ध प्रतिमा-लेख : वर्ष १०९ १४७
२३. धनैदह ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष ११३ १५०
२४. तुमैन पाषाण-लेख : वर्ष ११६ १५६
२५. करमदाण्डा प्रस्तर-लिंग-अभिलेख : वर्ष ११७ १६२
२६. कलैकुरी-सुल्तानपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १२० १६८
२७. दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख (प्रथम) : वर्ष १२४ १७४
२८. मथुरा मूर्त्ति पीठ-अभिलेख : वर्ष १२५ १७८
२९. दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख (द्वितीय) : वर्ष १२८ १७९
३०. बैग्राम ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १२८ १८३
३१. जगदीशपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १२८ १८९
३२. साञ्ची पाषाण-बौद्ध-अभिलेख : वर्ष १३१ १९०
३३. मथुरा पाषाण-प्रतिमा-लेख : वर्ष १३५ १९३
३४. तिथिविहीन बिहार (पटना संग्रहालय) पाषाण-स्तम्भ-लेख १९९

पुरुगुप्त एवं स्कन्दगुप्त के अभिलेख २०३–२६४

३५. पुरुगुप्तकालीन तिथिविहीन बिहार (पटना संग्रहालय) पाषाण-स्तम्भ-लेख २०४
३६. स्कन्दगुप्त का तिथिविहीन भितरी पाषाण-स्तम्भ-लेख २०९
३७. प्रथम जूनागढ़-शिलालेख : गु० सं० १३६ एवं १३७ २२३
३८. द्वितीय जूनागढ़-शिलालेख : गुप्त सं० १३८ २४८
३९. कहाँव स्तम्भ-लेख : वर्ष १४१ २५२
४०. सूपिया (रीवा) स्तम्भ-लेख : वर्ष १४१ २५६
४१. इन्दौर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १४६ २६०

सन्दर्भ-संकेत-सूची

अ०हि०इ०	अर्ली हिस्टरी ऑव इण्डिया, ले०, वी० ए० स्मिथ, ऑक्सफोर्ड, १९२४
अ०हि०ड०	अर्ली हिस्टरी ऑव दि डकन, ले०, आर० जी० भाण्डारकर, पूना, १९२७
अ०हि०नॉ०इ०	अर्ली हिस्टरी ऑव नॉर्थ इण्डिया, ले०, सुधाकर चट्टोपाध्याय, कलकत्ता, १९५८
आई०ए०	इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई
आई०एच०क्यु०	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता
आई०एन०सी०	इण्डियन न्युमिस्मेटिक क्रोनिकल, पटना
आई०एम०सी०	केटेलॉग ऑव दि क्वायन्स् इन दि इण्डियन म्युज़ियम, कलकत्ता, ले०, वी० ए० स्मिथ
आई०सी०	इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इ०आई०	एपिग्राफिया इण्डिका
ए०इ०सा०इ०हि०क०	एन्श्येण्ट इण्डिया एण्ड साउथ इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर, ले०, के० एस० आयंगर
ए०इ०यू०	एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, सं०, मजूमदार तथा पुसाल्कर, बम्बई, १९६०
ए०एस०आई०	आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
ए०एस०आई०ए०आर०	एन्वल रिपोर्ट ऑव दि आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
ए०एस०डब्ल्यु०आई०	आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया
एन०आई०ए०	न्यु इण्डियन एण्टिक्वेरी
एन०एस०	न्युमिस्मेटिक सप्लीमेण्ट
एन०पी०पी०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
एम०ए०एस०आई०	मेमोआयर्स ऑव आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
ए०बी०ओ०आर०आई०	एनाल्स ऑव दि भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
ए०हि०ड०	एन्श्येण्ट हिस्टरी ऑव दि डेकन, ले०, जी० जे० दुब्रील, पाण्डिचेरी, १९२०
कॉ०हि०इ०	ए कॉम्प्रेहेन्सिव हिस्टरी ऑव इण्डिया, भाग २, सं०, के० ए० एन० शास्त्री, कलकत्ता, १९५७; भाग ३, खण्ड १, सं०, आर० सी० मजूमदार तथा के० के० दासगुप्त, नयी दिल्ली, १९८१
कॉ०हि०बि०	ए कॉम्प्रेहेन्सिव हिस्टरी ऑव बिहार, सं०, बी० पी० सिनहा
कॉर्पस	कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम
कैटेलॉग	कैटेलॉग ऑव दि क्वायन्स् ऑव दि गुप्त डायनेस्टीज़ एण्ड ऑव शशांक, किंग ऑव गौड़, ले०, जे० एलन, लन्दन, १९१४
क्ला०ए०	दि क्लासिकल एज, सं०, र० च० मजूमदार एवं ए० डी० पुसाल्कर, बम्बई, १९६२

क्वायनेज	क्वायनेज ऑव दि गुप्त एम्पायर, ले०, ए० एस० अल्तेकर, बनारस, १९५७
गु०अ०	गुप्त अभिलेख, ले०, वासुदेव उपाध्याय
गु०सं०	गुप्त संवत्
गु०सा०	गुप्त साम्राज्य, ले०, पी० एल० गुप्त, बनारस, १९७०
जे०आई०एच०	जर्नल ऑव इण्डियन हिस्टरी, त्रिवान्द्रम
जे०आर०ए०एस०	जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, लन्दन
जे०इ०एस०आई०	जर्नल ऑव दि एपिग्राफिकल सोसायटी ऑव इण्डिया
जे०आर०ए०एस०बी० (एल०)	जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल (लैटर्स), कलकत्ता
जे०ए०	जर्नल एशियाटिक, पेरिस
जे०ए०आई०एच०	जर्नल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, कलकत्ता
जे०ए०एच०आर०एस०	जर्नल ऑव दि असम हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, गोहाटी
जे०ए०एस०	जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जे०ए०एस०बी०	जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल, कलकत्ता
जे०एन०एस०आई०	जर्नल ऑव दि न्युमिस्मेटिक सोसायटी ऑव इण्डिया, वाराणसी
जे०ओ०आई०	जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा
जे०ओ०आर०	जर्नल ऑव दि ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास
जे०जी०एन०आर०आई०	जर्नल ऑव दि गंगानाथ रिसर्च इन्स्टिट्यूट, इलाहाबाद
जे०पी०ए०एस०बी०	जर्नल एण्ड प्रोसीडिंग्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल
जे०बी०आर०एस०	जर्नल ऑव बिहार रिचर्स सोसायटी, पटना
जे०बी०ओ०आर०एस०	जर्नल ऑव बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना
जे०बी०बी०आर०ए०एस०	जर्नल ऑव दि बॉम्बे ब्राञ्च ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जे०यू०पी०एच०एस०	जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, लखनऊ
ना०प्र०प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
प०ज्यो०ने०	पर्सनल एण्ड ज्योग्रेफीकल नेम्स् इन दि गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, दिल्ली, १९७८
पी०आई०एच०सी०	प्रोसीडिंग्स् ऑव दि इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस
पी०आर०एच०सी०	प्रोसीडिंग्स् ऑव दि राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस
पी०ओ०सी०	प्रोसीडिंग्स् ऑव ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स
पो०हि०ए०इ०	पोलिटिकल हिस्टरी ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, ले०, हेमचन्द्र रायचौधुरी, कलकत्ता, १९५३
प्रा०ज्यो०	प्राची ज्योति, कुरुक्षेत्र
प्रा०भा०अ०सं०	प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, ले०, श्रीराम गोयल, जयपुर, १९८२
प्रा०भा०रा०इ०	प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, भाग ३, ले०, श्रीराम गोयल, इलाहाबाद, १९६७
भा०वि०	भारतीय-विद्या, बम्बई
वा०गु०ए०	वाकाटक गुप्त एज, सं०, मजूमदार तथा अल्तेकर, लाहौर, १९४६
वा०रा०अ०	वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख, ले०, वी० वी० मिराशी

संशोधित कॉर्पस	कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, भाग ३, ले० जॉन फ्लीट, डी० आर० भाण्डारकर, ब० च० छाबड़ा तथा गायि द्वारा संशोधित और पुनर्सम्पादित, नयी दिल्ली, १९८१
स०इ०	सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स् बीयरिंग ऑन इण्डियन हिस्टरी एण्ड सिविलिजेशन, वॉल्यूम १, ले०, दि० च० सरकार, कलकत्ता, १९६५
स०हि०आ०इ०ब०	सम हिस्टोरिकल आस्पेक्ट्स् ऑव दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव बेंगाल, ले०, बी० सी० सेन, कलकत्ता, १९४२
सलेक्शन्स्	सलेक्शन्स् फ्रॉम संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स्, ले०, डी०बी० दिस्कलकर, नयी दिल्ली, १९७७
हि०इ०गु०	ए हिस्टरी ऑव दि इम्पीरियल गुप्तज़, ले०, श्रीराम गोयल, इलाहाबाद, १९६७
हि०नॉ०ई०इ०	ए हिस्टरी ऑव नॉर्थ ईस्टर्न इण्डिया, ले०, आर० जी० बसाक
हि०रि०सि०	हिन्दू रेवेन्यु सिस्टम, ले०, यू० एन० घोषाल, कलकत्ता, १९७२
हि०लि०इ०	हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स्, ले०, रा० ब० पाण्डेय, वाराणसी
हि०इ०	हिस्टरी ऑव इण्डिया, १५० ए० डी० टु ३५० ए० डी०, ले०, के० पी० जायसवाल, लाहौर, १९३३

पूर्वपीठिका (अ)

गुप्त संवत्

गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् का अध्ययन अनेक समस्याओं से परिपूर्ण है। जिस समय फ्लीट ने १८८८ ई० में गुप्त अभिलेखों का स्वसम्पादित संग्रह—'कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम', ३,—प्रकाशित किया उस समय तक सबसे पुराना अभिलेख, जिसमें इस संवत् में तिथि दी गई थी, द्वितीय चन्द्रगुप्त का ८२वें वर्ष का उदयगिरि-लेख था। लेकिन तब तक यह भी निश्चित नहीं हो पाया था कि **इस संवत् का प्रवर्त्तन स्वयं गुप्तों ने किया था अथवा नहीं**। उस समय तक ज्ञात अभिलेखों में तिथियों के साथ मात्र 'संवत्' 'संवत्सर' अथवा 'सं' (संवत् या संवत्सर का संक्षेप) शब्द का प्रयोग किया हुआ मिला था जिसका तात्पर्य 'वर्ष' होता है। केवल स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख की १५वीं पंक्ति में 'गुप्त प्रकाले गणनां विधाय' पद आया था जिसका अर्थ है 'गुप्त के काल में गणना करके'। यद्यपि इससे इतना निश्चित हो गया कि इस संवत् का सम्बन्ध गुप्तों से था परन्तु फ्लीट इसके बावजूद यह मानने को प्रस्तुत नहीं हुए कि इस संवत् का प्रवर्त्तन स्वयं गुप्तों ने ही किया था। उनका विश्वास था कि गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् मूलतः नेपाल के लिच्छवियों का था जिसे भारत के गुप्त सम्राटों ने, उस समय जब समुद्रगुप्त के काल में उनके नेपाल से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए, अपना लिया होगा (कॉर्पस, ३, भू०, पृ० १३ अ०)। परन्तु (१) अब यह निश्चित हो गया है कि नेपाल के लिच्छवियों ने शक संवत् का प्रयोग किया था उस संवत् का नहीं जो भारत में गुप्त कहलाया। (गोयल, श्रीराम, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, अध्याय २। (२) अब द्वितीय कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त के दो ऐसे अभिलेख मिल गये हैं जिन पर क्रमशः 'वर्ष शते गुप्तानां सचतुः पञ्चाशदुत्तरे' (गुप्तों के १५४ वर्ष बीत जाने पर) तथा 'गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे शते समानां' (जब गुप्तों के १५७ वर्ष व्यतीत हो गये) लिखा है। इनसे प्रश्नातीतरूपेण सिद्ध हो गया है कि गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् उनका अपना है, नेपाल के लिच्छवियों से उधार लिया हुआ नहीं।

गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् के **प्रवर्त्तन का सही वर्ष** भी बहुत समय तक विवाद का विषय रहा हैं। इस विवाद का मूल अल्बरूनी के एक कथन का गलत अनुवाद था। अल्बरूनी ने, जो ११वीं शती में भारत आया था अपने ग्रन्थ 'किताब उल हिन्द' में एक स्थल पर गुप्त संवत् की चर्चा की है। वहाँ उसने बताया है कि गुप्त संवत् शक संवत् के २४१ वर्ष उपरान्त प्रारम्भ हुआ (अर्थात् ३१९ ई० में)। लेकिन इसके साथ ही उसने एक बात और कही है जिसका रेनाँ नामक विद्वान् ने इस प्रकार अनुवाद किया: "गुप्त शब्द से ऐसे लोगों का अभिधान होता है जो दुष्ट और शक्तिशाली थे; उनके नाम को धारण करने वाला संवत् इनके सत्ता नाश के समय से प्रारम्भ हुआ।" (फ्लीट, कॉर्पस, ३, हिन्दी अनुवाद, भू०, पृ० २२)। इस अनुवाद को मानने का मतलब था यह मानना कि गुप्तों ने ३१९ ई० के पूर्व शासन किया था और इसलिये उनके अभिलेखों का संवत् ३१९ ई० में प्रारम्भ होने वाला गुप्त संवत्

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नहीं हो सकता। इसके परिणामस्वरूप गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् का प्रारम्भ कब हुआ इसको लेकर अनेक अटकलबाजियाँ की गईं। (सन्दर्भों के लिये दे०, पी० एल० गुप्त, गुप्त साम्राज्य, पृ० २००-२०१)। इन पर विस्तार से विचार करना अब निरर्थक है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि सर्वप्रथम कनिंघम ने १८५४ में अपने ग्रन्थ 'भीलसा टोप्स' में अल्बरूनी द्वारा उल्लिखित गुप्त संवत् (जो अल्बरूनी के अनुसार शक संवत् के २४१ वर्ष बाद अर्थात् ३१९ ई० में प्रारम्भ हुआ) तथा गुप्त अभिलेखों के संवत् को अभिन्न मानकर गुप्त राजवंश का कुछ सही तिथिक्रम दिया। तदुपरान्त फ्लीट ने अपने 'कॉर्पस' में अल्बरूनी के कथन का डब्ल्यु० राइट द्वारा किया गया अनुवाद दिया जिससे यह सिद्ध हो गया कि अल्बरूनी ने यह नहीं लिखा है कि गुप्त संवत् का प्रारम्भ गुप्तों के उच्छेद से हुआ, वरन् यह लिखा है कि उनके पतन के उपरान्त लोगों ने उनके अनुरूप तिथ्यङ्कन किया (फ्लीट, कॉर्पस, हिन्दी अनुवाद, भू०, पृ० ३०)। इस अनुवाद को मानने पर अल्बरूनी द्वारा चर्चित गुप्त संवत् को, जो उसके अनुसार शक संवत् के २४१ वर्ष बाद अर्थात् ३१९ ई० में प्रारम्भ हुआ, गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् माना जा सकता है।

गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त गुप्त संवत् ३१९ ई० में प्रारम्भ हुआ यह तथ्य जैन साक्ष्य से भी ज्ञात होता है। यतिवृषभ कृत 'तिलोयपण्णति' में (जिसकी रचना छठी शती के उपरान्त कभी हुई) एक स्थल पर कहा गया है कि शकों के २४२ वर्ष तक शासन करने के उपरान्त गुप्तों ने २५५ वर्ष राज्य किया (जादो य सगणिरिंदो रज्जं वसस्स दुसयवादला। दोणि सदा पजावण्णा गुत्ताणं ।। १५०३–४ ।।)। एक अन्य स्थल पर इस ग्रन्थ में गुप्तों का शासनकाल २३१ वर्ष बताया गया है और गुप्तों के पहिले २४२ वर्ष तक शासन करने वाले राजाओं को शक के बजाय भट्ठट्ठाण नाम दिया गया है। (भट्ठट्ठाणं कालोदोणि सयाइं हवन्ति वादला। ततो गुत्ताणं दोणि सयाणि इगितीसा ।।१६०८।।)। इसी प्रकार ७८३ ई० में जिनसेन द्वारा रचित जैन ग्रन्थ 'हरिवंश पुराण' में बताया गया है कि भट्टवाणों के २४२ वर्ष शासन कर लेने के बाद गुप्तों ने २३१ वर्ष राज्य किया। जैन परम्परा के भट्ठट्ठाण या भट्टवाण निश्चय ही शक नरेश हैं यह 'तिलोय पण्णति' की एक परम्परा में उन्हें शक कहे जाने से स्पष्ट है। डी० आर० मांकड़ ने 'भट्ठट्ठाण' को 'चष्टण नाम का बिगड़ा रूप माना है और पण्डित भगवद्दत्त ने 'भृत्यच्चष्टण' का। जो भी हो, इससे यह स्पष्ट है कि गुप्तों के पूर्व शकों (=भट्ठट्ठाणों) के शासन को २४२ वर्ष का बताकर जैन ग्रन्थ उसी परम्परा की चर्चा कर रहे हैं जिसे अल्बरूनी ने सुना था। यह सही है कि अल्बरूनी द्वारा शक संवत् और गुप्त संवत् में २४१ वर्ष का अन्तर बताया गया है जबकि जैनों ने शक शासन काल २४२ वर्ष कहा है, लेकिन यह अन्तर नगण्य है और सम्भवतः गत और वर्तमान की दो रीतियों में गणना करने का परिणाम है। निष्कर्षतः जैन परम्परा भी यह सिद्ध करती है कि गुप्त संवत् का प्रथम वर्ष शक संवत् का २४१वां (या २४२वां) वर्ष अर्थात् ३१९ (या ३२० ई०) था।

अभिलेखों में प्रयुक्त गुप्त संवत् ३१९ ई० में ही प्रारम्भ होने वाला संवत् ही है, इसको आभिलेखिक साक्ष्य से भी दर्शाया जा सकता है। (१) गौड़ नरेश शशांक के गञ्जाम अभिलेख में गुप्त संवत् तीन सौ तिथि दी गई है (गौप्ताब्दे वर्ष शत त्रये वर्तमाने महाराजाधिराज श्री शशांक राज्ये—इ० आई०, ६, पृ० १४३)। अब, हम जानते हैं कि शशांक हर्ष का समकालीन था और चीनी यात्री युवान-च्वांग के अनुसार उसकी मृत्यु ६३७ ई० के पूर्व कभी हुई। इसलिये उसके इस अभिलेख की तिथि सातवीं शती ई० के प्रारम्भिक दशकों में कभी पड़ेगी। उसके द्वारा प्रयुक्त गुप्त संवत् को ३१९ ई० में प्रारम्भ मानने पर ही इस लेख की तिथि (३०० + ३१९ = ६१९ ई०) की संगति इस तथ्य से हो सकती है कि शशांक हर्ष का समकालीन था। (२) यही बात कामरूप-नरेश हर्ज्जरवर्मा के तेजपुर शिलालेख के विषय में है जिसमें गुप्त संवत् ५१० तिथि दी गई है (जे० बी० ओ० आर० एस०, ३, पृ० ५११)। कामरूप में हर्ष के

समकालीन राजा भास्करवर्मा (मृत्यु लग० ६५० ई०) के बाद शालस्तम्भ वंश ने शासन किया और वह अपने वंश का नवाँ शासक था। इसलिये एक पीढ़ी का समय लगभग बीस वर्ष मानने पर उसका समय ६५० ई० के ९×२०=१८० वर्ष बाद अर्थात् लगभग ८३० ई० होगा। इस तथ्य के साथ उसके तेजपुर-अभिलेख की तिथि की संगति तभी हो सकती है जब हम यह मानें कि गुप्त संवत् ३१९ ई० में प्रारम्भ हुआ था क्योंकि तब इस अभिलेख की तिथि ५१०+३१९ ८२९ निश्चित होगी। (३) रेशम बुनने वाले तन्तुवायों के सुप्रतिथ मन्दसौर-अभिलेख में कहा गया है कि कुमारगुप्त के काल में मालव संवत् ४९३ में दशपुर (=मन्दसौर) में एक सूर्य मन्दिर बनवाया गया था। इसका अर्थ है कि मालव संवत् ४९३ (=४३६ ई०) गुप्त संवत् ९६ और १३० के बीच में (प्रथम कुमारगुप्त की ज्ञात तिथियाँ) या गु० सं० १५४ (द्वितीय कुमारगुप्त की ज्ञात तिथि) के आस-पास पड़ेगा। गुप्त संवत् का प्रारम्भ ३१९ ई० में मानने पर प्रथम कुमारगुप्त की ज्ञात तिथियाँ ४१५ से ४४९ ई० तक निर्धारित होती हैं। इससे मालव संवत् ४९३ (=४३६ ई०) इन तिथियों के बीच में पड़ जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्त संवत् जिसका प्रयोग गुप्त अभिलेखों में हुआ है ३१९ ई० में प्रारम्भ हुआ था। जहाँ तक इसके **प्रवर्त्तन के दिन का प्रश्न** है, इस विषय में उपलब्ध अभिलेखों से कोई संकेत नहीं मिलता। फ्लीट ने ध्यान दिलाया है कि परिव्राजक नरेश संक्षोभ के गु० सं० २०९ के खोह-दानपत्र से प्रमाणित है कि गुप्त संवत् में मासों के संयोजन में कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष के पूर्व आता था अर्थात् उसमें मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को होता था (फ्लीट, कॉर्पस, हिन्दी, पृ० १३१, टि० २)। अब, यह कहना कठिन है कि वह महत्वपूर्ण घटना जिससे इस सवत् का प्रारम्भ माना गया था ठीक वर्ष के प्रथम दिन—चैत्र शुक्ल की प्रतिपदा को ही घटी होगी। इस विषय में मुग़ल काल की एक प्रथा से कुछ अनुमान करने में सहायता मिलती है। मुग़ल काल में किसी सम्राट् के राज्य वर्ष की गणना उसके वास्तविक राज्यारोहण दिवस से न करके आगे या पीछे के निकटतम नवरोज (फारसी पञ्चांग के नववर्ष दिवस) से की जाती थी। यदि ऐसा ही गुप्त काल में हुआ होगा तो अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त संवत् का प्रारम्भ शक संवत् २४१ में कभी हुआ परन्तु उसकी गणना उस वर्ष के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से की गई। एक गणना के अनुसार ३१९ ई० में चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा ९ मार्च को पड़ी थी। अतः यही गुप्त संवत् के प्रारम्भ की तिथि होगी और गुप्त संवत् १ (गत) का आरम्भ २६ फरवरी ३२० को हुआ होगा (पी०एल० गुप्त, गुप्त साम्राज्य, पृ० २११)। पी०सी० सेनगुप्त ने इसके विपरीत गुप्त संवत् का प्रारम्भ २० सितम्बर दिसम्बर ३१९ को माना है और गुप्त वर्ष १ (गत) का प्रारम्भ ९ दिसम्बर ३१९ ई० को। इन दोनों गणनाओं में केवल ७९ दिन का अन्तर है। क्योंकि प्राचीन भारतीय अभिलेखों में नित्य प्रति की घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से इनमें कोई भी गणना अपनाई जा सकती है। अतः हम अपना काम यह मानकर चला सकते हैं कि गुप्त संवत् का प्रारम्भ ९ मार्च ३१९ ई० को हुआ था।

अब गुप्त संवत् के विषय में हमारी अन्तिम समस्या रह जाती है कि **इसका प्रवर्त्तन किस गुप्त नरेश ने और किस घटना की स्मृति में** किया था। आजकल सबसे पुराना अभिलेख जिसमें गुप्त संवत् में तिथि दी गई है द्वितीय चन्द्रगुप्त का मथुरा अभिलेख है जो संवत् ६१ में लिखवाया गया जब द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन का पांचवां (एक अन्य पाठ के अनुसार प्रथम) वर्ष चल रहा था। इसलिये ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इस संवत् के प्रवर्त्तक की पहिचान के विषय में हमारे पास पाँच विकल्प हैं—या तो इसका प्रवर्त्तन महाराज गुप्त ने किया, या महाराज घटोत्कच ने या महाराजाधिराज प्रथम चन्द्रगुप्त ने, या महाराजाधिराज समुद्रगुप्त ने और या महाराजाधिराज द्वितीय चन्द्रगुप्त ने। क्योंकि गुप्त वंश के दो नरेश गुप्त और घटोत्कच सम्भवतः स्वतन्त्र होते हुए भी मामूली शासक थे, इसलिये इनमें प्रथम दो

विकल्पों पर किसी ने भी गम्भीरतापूर्वक बल नहीं दिया है। हाल ही में यह तर्क जरूर रखा गया है कि जैन ग्रन्थों में गुप्त शासन का प्रारम्भ ३१९ ई० में बताया गया है और कहा गया है कि उन्होंने २३१ वर्ष शासन किया (दे०, पीछे) इसलिये महाराज गुप्त और घटोत्कच के (जो स्वतन्त्र नरेश थे) शासन की अवधि इन्हीं २३१ वर्ष में सम्मिलित होगी—अर्थात् गुप्त संवत् की गणना महाराज गुप्त के राज्यारोहण से प्रारम्भ हुई होगी (जोशी, विश्वेश्वरानन्द इण्डोलोजिकल जर्नल, १४, भाग २, १९७६, पृ० १२)। लेकिन यह तर्क निस्सार है क्योंकि जहाँ जैन ग्रन्थों में गुप्त शासन की अवधि २३१ वर्ष बताई गई है वहाँ उन्होंने यह अवधि गुप्त वंश की स्थापना से न गिन कर गुप्त संवत् की स्थापना से गिनी है। उन्होंने इसके पहिले शक शासन २४२ (या २४१) वर्ष दीर्घ बताया है जो स्पष्टतः शक संवत् और गुप्त संवत् के बीच की अवधि है (३१९—७८=२४१) शक शासन की अवधि नहीं, क्योंकि शकों का राज्य तो ३१९ ई० के बाद भी बना रहा था। इसलिये महाराज गुप्त और घटोत्कच के शासन को गुप्त संवत् के प्रथम वर्ष के पूर्व रखने में कोई बाधा नहीं है।

अगला विकल्प है कि गुप्त संवत् का प्रवर्त्तन प्रथम चन्द्रगुप्त ने किया। क्योंकि प्रथम चन्द्रगुप्त पहिला गुप्त नरेश था जिसने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण करके अपने वंश को साम्राज्यिक प्रतिष्ठा दिलाई, इसलिये अन्य कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध न होते हुए भी सामान्यतः इतिहासकार उसे गुप्त संवत् के प्रवर्त्तन का श्रेय देते हैं तथा ३१९ ई० को उसके राज्यारोहण अथवा 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण किये जाने का वर्ष मानते हैं।

परन्तु इस प्रसंग में समुद्रगुप्त के दावे को भी सर्वथा उपेक्षित नहीं किया जा सकता। र० च० मजूमदार के अनुसार समुद्रगुप्त के ५वें तथा ९वें वर्ष के नालन्दा और गया-दानपत्रों को दृष्टि में रखने पर यह सर्वथा सम्भव लगता है कि गुप्त संवत् का प्रवर्त्तन स्वयं समुद्रगुप्त द्वारा उसके अभिषेक की स्मृति में किया गया हो। मजूमदार का कहना है कि यह बात निश्चित लगेगी अगर उसके ५वें वर्ष के नालन्दा-दानपत्र को उसका असली दानपत्र या असली दानपत्र की परवर्ती युग में तैयार की गई प्रतिलिपि माना जाय (वाकाटक-गुप्त एज, पृ० १५९; आई० सी०, ११, पृ० २२५ अ०; दे० आगे, नालन्दा और गया दानपत्रों पर लिखित परिशिष्ट) क्योंकि उस अवस्था में स्वीकार करना पड़ेगा कि समुद्रगुप्त ५वें वर्ष में अर्थात् ३१९+५=३२४ ई० में शासन कर रहा था। इससे प्रथम चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण को ३१९ ई० में रखना कठिन लगेगा और यह विकल्प श्रेष्ठतर प्रतीत होगा कि ३१९ ई० में स्वयं समुद्रगुप्त ने शासन करना प्रारम्भ किया था। डी० सी० सरकार ने भी एक स्थल पर यह मत प्रकट किया है (मजूमदार द्वारा को० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० ३६, टि० ५१ में उद्धृत)।

मजूमदार का उपर्युक्त मत नालन्दा और गया-दानपत्रों की विश्वसनीयता पर (जिस पर हमने इन अभिलेखों पर लिखित एक परिशिष्ट में विचार किया है) निर्भर है। हमारा विचार है कि ये दानपत्र, इनके वंशावली वाले भाग को छोड़कर, असली दानपत्र की प्रतिलिपियाँ हैं। परन्तु नालन्दा-दानपत्र को असली दानपत्र की प्रतिलिपि मान लेने से भी यह सिद्ध नहीं होता कि समुद्रगुप्त ३२४ ई० में शासन कर रहा था। इस दानपत्र की अन्तिम पंक्ति में कुमार श्री चन्द्रगुप्त अर्थात् द्वितीय चन्द्रगुप्त का स्पष्टतः किसी पदाधिकारी के रूप में (सम्भवतः दूतक के रूप में) उल्लेख है। लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त—जो ३७६ ई० में गद्दी पर बैठा, जिसने गद्दी पर बैठने के बाद ध्रुवदेवी से प्रेम-विवाह किया और लग० ४१० ई० में शकों के विरुद्ध लड़े गये युद्ध में व्यक्तिगत रूपेण भाग लिया—३२४ ई० में वयस्क नहीं हो सकता था। इसलिये नालन्दा-दानपत्र की तिथि गुप्त संवत् का वर्ष नहीं है। अगर यह तिथि विश्वसनीय है तो यह समुद्रगुप्त के शासन का वर्ष होना चाहिये। उस अवस्था में गया-दानपत्र की तिथि भी समुद्रगुप्त के शासन का वर्ष होगी।

प्रथम नरसिंहगुप्त व द्वितीय कुमारगुप्त के अभिलेख २६५–२७३

४२. प्रथम नरसिंहगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख २६६
४३. द्वितीय कुमारगुप्तकालीन सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख : गु० सं० १५४ २६९
४४. द्वितीय कुमारगुप्त के भितरी तथा नालन्दा मुहर-लेख २७१

बुधगुप्त के शासनकाल के अभिलेख २७४–३०५

४५. सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख : वर्ष १५७ २७५
४६. पहाड़पुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १५९ २७७
४७. वाराणसी पाषाण-स्तम्भ-लेख : वर्ष १५९ २८२
४८. दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १६३ २८४
४९. एरण प्रस्तर स्तम्भ-लेख : वर्ष १६५ २८८
५०. शंकरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १६७ २९२
५१. नन्दपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १६९ २९६
५२. दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख ३००
५३. नालन्दा मुहर-लेख ३०४

बुधगुप्त के उत्तराधिकारियों के अभिलेख ३०६–३३१

५४. वैन्यगुप्त का गुणैघर ताम्रपत्र-अभिलेख : गु० सं० १८८ ३०७
५५. वैन्यगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख ३१४
५६. भानुगुप्त के काल का एरण स्तम्भ-लेख : गु० सं० १९१ ३१७
५७. प्रकटादित्य का तिथिविहीन सारनाथ-अभिलेख ३२२
५८. (विष्णु)गुप्त का दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : गु० सं० २२४ ३२४
५९. विष्णुगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख ३२९

परिशिष्ट : बंगाल से उपलब्ध दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय व भूमि-व्यवस्था ३३२

गुप्तकाल के अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख ३३६–३७७

आटविक प्रदेश : उच्चकल्प तथा परिव्राजक वंश ३३७–३४०

६०. उच्चकल्पवंशीय शर्वनाथ का खोह-दानपत्र : (गुप्त) सं० १९३ ३३७
६१. परिव्राजकवंशीय संक्षोभ का खोह-दानपत्र : गुप्त सं० २०९ ३३९

दशपुर-प्रदेश : गुप्तों के सामन्तों के लेख ३४१–३५५

६२. नरवर्मा का मन्दसौर-शिलालेख : मालव सं० ४६१ ३४१
६३. नरवर्मा का बिहार-कोटरा शिलालेख : मालव सं० ४७४ ३४३
६४. विश्ववर्मा का गंगधार-शिलालेख : मालव सं० ४८० ३४४
६५. प्रभाकर का मन्दसौर-लेख : मालव सं० ५२४ ३४९
६६. बन्धुवर्मा (और कुमारगुप्त) का मन्दसौर पाषाण-लेख : मालव सं० ४९३ तथा ५२९ ३५२

हूणों के अभिलेख ३५६–३६१

६७. तोरमाण का कुरा पाषाण-फलक-लेख ३५६
६८. तोरमाण का एरण वराहमूर्त्ति-लेख : शासन वर्ष १ ३५७
६९. तोरमाण तथा महाराज भूत का सञ्जेली (एम० एस० यूनीवर्सिटी)-दानपत्र : शासन वर्ष ३ ३५८
७०. मिहिरकुल का ग्वालियर पाषाण-लेख : शासन वर्ष १५ ३६०

दशपुर-प्रदेश : साम्राज्यिक औलिकर वंश और उसके सामन्तों के लेख ३६२–३६९

७१. महाराज गौरि का खण्डित मन्दसौर-शिलालेख ३६२
७२. प्रकाशधर्मा औलिकर का रिस्थल-पाषाण-लेख : मालव सं० ५७२ ३६३
७३. यशोधर्मा का तिथिविहीन मन्दसौर पाषाण-लेख ३६६
७४. महाराज भूत का सञ्जेली (एम० एस० यूनीवर्सिटी)-दानपत्र : वर्ष ६ ३६८

वाकाटकों के अभिलेख ३७०–३७६

७५. प्रभावती का पूना-दानपत्र : (प्रभावती के संरक्षिका काल का वर्ष १३) ३७०
७६. द्वितीय प्रवरसेन का चम्मक दानपत्र : शासन वर्ष १८ ३७२
७७. द्वितीय प्रवरसेन के शासनकाल का प्रभावती का रिथपुर-दानपत्र : वर्ष १९ ३७५

प्रकीर्ण-लेख ३७७–३७८

७८. उदयसेन का मुण्डेश्वरी-लेख : (गुप्त ?) सं० ३० (=३४९ ई० ?) ३७७
७९. महाराज नन्दन का अमौना-दानपत्र : (गुप्त) सं० २३२ ३७८
पदानुक्रमणिका ३७९

अभिलेख-चित्र-सूची (प्लेट्स)

१. समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति
२. समुद्रगुप्त का संदिग्ध नालन्दा-दानपत्र
३. समुद्रगुप्त का संदिग्ध गया-दानपत्र
४. 'चन्द्र' (समुद्रगुप्त) का मेहरौली-लौह-स्तम्भ-अभिलेख
५. समुद्रगुप्त का एरण-अभिलेख
६. रामगुप्त के दुर्जनपुर (विदिशा) प्रतिमा-लेख
७. द्वितीय चन्द्रगुप्त का मथुरा-अभिलेख
८. द्वितीय चन्द्रगुप्त का साञ्ची-अभिलेख : वर्ष ९३
९. द्वितीय चन्द्रगुप्त का उदयगिरि अभिलेख : वर्ष ८२
१०. द्वितीय चन्द्रगुप्त का उदयगिरि तिथिविहीन लेख
११. प्रथम कुमारगुप्त का बिल्सड़ स्तम्भ-लेख : वर्ष ९६
१२. प्रथम कुमारगुप्त का तुमैन-अभिलेख : वर्ष ११६
१३. प्रथम कुमारगुप्त का करमदाण्डा-प्रस्तर-लेख : वर्ष ११७
१४. प्रथम कुमारगुप्त का दामोदरपुर-दानपत्र : वर्ष १२४
१५. प्रथम कुमारगुप्तकालीन बैग्राम-दानपत्र : वर्ष १२८
१६. प्रथम कुमारगुप्त के काल का मंकुवार लेख : वर्ष १२९
१७. स्कन्दगुप्त का तिथिविहीन भितरी-अभिलेख
१८. स्कन्दगुप्त का कहौम-अभिलेख : वर्ष १४१
१९. स्कन्दगुप्त का इन्दौर-ताम्रपत्र-लेख : वर्ष १४६
२०. स्कन्दगुप्त का बिहार स्तम्भ-अभिलेख
२१. द्वितीय कुमारगुप्त का सारनाथ-अभिलेख : वर्ष १५४
२२. बुधगुप्त का एरण-लेख : वर्ष १६५
२३. विष्णुगुप्त की नालन्दा-मुहर
२४. तोरमाण का एम० एस० यूनीवर्सिटी ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष ३
२५. तोरमाण का एरण-स्थित वराह-लेख
२६. मिहिरकुल का ग्वालियर-अभिलेख
२७. शर्ववर्मा की असीरगढ़-मुहर

२८. अनन्तवर्मा का बराबर-गुहालेख
२९. अनन्तवर्मा का नागार्जुनी-गुहालेख
३०. अनन्तवर्मा का नागार्जुनी-गुहालेख
३१. नरवर्मा का बिहार कोटरा-अभिलेख : कृत् संवत ४७४
३२. यशोधर्मा का मन्दसौर स्तम्भ-लेख
३३. प्रभावतीगुप्ता का पूना-दानपत्र
३४. प्रभावतीगुप्ता का रिथपुर-दानपत्र
३५. द्वितीय प्रवरसेन का इन्दौर-दानपत्र

उपर्युक्त निष्कर्ष बड़ा रोचक है क्योंकि इससे सिद्ध हो जाता है कि समुद्रगुप्त के किसी भी अभिलेख में गुप्त संवत् का उल्लेख नहीं है—न तो उसकी प्रयाग, एरण तथा मेहरौली प्रशस्तियों में और न नालन्दा-तथा गया-दानपत्रों में। इसलिये यह मानना अनुचित नहीं होगा कि समुद्रगुप्त के शासन के अन्त तक गुप्त संवत् अस्तित्व में ही नहीं आया था। उस अवस्था में हमारे पास केवल यह विकल्प बचता है कि हम यह मानें कि इस संवत का प्रवर्त्तन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने किया था लेकिन उसने इसकी गणना अपने वंश के पिछले इतिहास की किसी महत्वपूर्ण घटना से की और क्योंकि यह मानने के लिये हमारे पास कुछ आधार है कि महाराज गुप्त और घटोत्कच ने ३१९ ई० के पूर्व शासन किया था (दे०, पूर्वपीठिका 'आ') इसलिये द्वितीय चन्द्रगुप्त ने इस संवत् का प्रवर्त्तन सम्भवतः चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण अथवा 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण करने के वर्ष से किया होगा। संवतों की इस प्रकार किसी पिछली घटना से गणना भारत में सामान्य बात रही है। महाभारत संवत्, बुद्ध संवत्, महावीर संवत् तथा विक्रम संवत् उन घटनाओं के बहुत बाद में प्रवर्तित हुए जिनसे उनकी गणना की गई। अकबर ने इलाही संवत् अपने शासन के २९वें वर्ष चलाया पर गिना उसे अपने राज्यारोहण के वर्ष से। आधुनिक काल में दयानन्द संवत् स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद प्रवर्तित किया गया था परन्तु उसे गिना गया उनके जन्म से। ऐसा ही द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी किया होगा और गुप्त संवत् की गणना अपने पितामह प्रथम चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण अथवा 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण करने के वर्ष से कर दी होगी।

पी० एल० गुप्त (जे० बी० आर० एस०, ४ , पृ० ७२ अ०; वही, ४९, पृ० ७४; गुप्त साम्राज्य, पृ० १९८ अ०) तथा सु० चट्टोपाध्याय (अ० हि० नॉ० इ०, पृ० १४४) द्वारा प्रतिपादित यह सुझाव कि गुप्त संवत् का प्रवर्त्तन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने किया था हमने भी अभी तक स्वीकृत किया है (जे० बी० आर० एस०, ५२, जन० १९६६, पृ० ५० अ०; हि० इ० गु०, पृ० १०२ अ०; प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ७०-७१)। लेकिन अब हमें इसमें कुछ शंका लगने लगी है। इसका कारण हैं बिहार के शाहाबाद जिले से प्राप्त वर्ष ३० का मन्दारगिरि गुहा-लेख (इ० आई०, ३६, पृ० ३०४), वर्ष ३० का ही मुण्डेश्वरी अभिलेख (भाण्डारकर-सूची सं० १२५७; आई० इ०, १९२०, पृ० २५) तथा वर्ष ६४ का बोधगया अभिलेख (भाण्डारकर-सूची सं० १२५८)। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार लिपिशास्त्रीय आधार पर ये सभी अभिलेख चौथी शती ई० के प्रतीत होते हैं। एन० जी० मजूमदार ने भी मुण्डेश्वरी-लेख को लिपिशास्त्रीय आधार पर चौथी शती ई० का बताया है। इस तथ्य के प्रकाश में यह प्रश्न रोचक हो जाता है कि इनमें उल्लिखित तिथियाँ किस संवत् की हैं। यह तो निश्चित-सा लगता है कि ये तिथियाँ किसी राजा के शासन का वर्ष नहीं हो सकती। मन्दारगिरि गुहा-लेख में तो किसी राजा का नाम ही नहीं है (जबकि अगर यह तिथि किसी राजा के शासन का वर्ष होती तो उस राजा का नाम होना चाहिये था)। मुण्डेश्वरी-अभिलेख में, जिसमें श्री नारायण के मन्दिर का उल्लेख है, महाप्रतिहार, महासामन्त महाराज उदयसेन का नाम दिया गया है जो स्पष्टतः किसी के अधीन सामन्त राजा था। अतः इस लेख की तिथि को भी उसके अपने शासन काल का वर्ष मानना कठिन लगता है। बोधगया-अभिलेख की तिथि ६४वां वर्ष है। किसी राजा के शासन की अवधि इतनी लम्बी होना असम्भव न होते हुए भी दुःसम्भाव्य है। इसलिये इन सभी अभिलेखों की तिथियों का किसी संवत् की तिथियाँ मानना अधिक उचित लगता है और ऐसा एक मात्र संवत् जिसका ३०वां और ६४वां वर्ष चौथी शती ई० में पड़े गुप्त संवत् ही है; इसलिये इन अभिलेखों में गुप्त संवत् का प्रयोग मानना पड़ेगा। इसका मतलब होगा यह मानना कि गुप्त संवत् का अस्तित्व ३१९ + ३० = ३४९ ई० में भी था। इसलिये इसका प्रवर्त्तन द्वितीय चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के पूर्व ही उसके किसी पूर्वज—प्रथम चन्द्रगुप्त अथवा समुद्रगुप्त—ने कर दिया होगा।

लेकिन उस अवस्था में समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में इसका प्रयुक्त न होना कुछ विचित्र-सा प्रतीत होगा।

वस्तुतः ज्ञान की वर्तमान अवस्था में गुप्त संवत् के प्रवर्त्तक की पहिचान दुष्कर है। भविष्य में और अभिलेख प्रकाश में आने पर इस विषय में निश्चित धारणा बनाई जा सकेगी।

पूर्वपीठिका (आ)

गुप्त इतिहास, राजक्रम और तिथिक्रम की संक्षिप्त रूपरेखा

प्रारम्भिक गुप्त तिथिक्रम—प्रारम्भिक गुप्त राजाओं का अनुक्रम हमें गुप्त अभिलेखों की वंशावली वाले भाग में मिलता है। इनके अनुसार स्कन्दगुप्त तक इस वंश में क्रमशः गुप्त, घटोत्कच, प्रथम चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, द्वितीय चन्द्रगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त नामक शासक हुए जिनमें प्रत्येक अपने पूर्वगामी का पुत्र था। क्योंकि गुप्त वंशावलियों में राजाओं के नाम पिता-पुत्र परम्परानुसार मिलते हैं इसलिये इनमें ऐसे राजाओं के नाम नहीं मिलते जिन्होंने हो सकता है अपने भाइयों के पूर्व अथवा किसी राजा के विरुद्ध विद्रोह करके शासन किया था। उनका अस्तित्व हमें अन्य साक्ष्य से ज्ञात होता है और उनकी तिथियां अज्ञात होने के कारण उनका गुप्त इतिहास में सही स्थान प्रायः विवादग्रस्त है। समुद्रगुप्त के साथ काच का (जो अनुमानतः समुद्रगुप्त का सौतेला भाई था), द्वितीय चन्द्रगुप्त के साथ रामगुप्त का, प्रथम कुमारगुप्त के साथ उसके सगे भाई गोविन्दगुप्त का तथा स्कन्दगुप्त के साथ पुरुगुप्त (जो सम्भवतः स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था) एवं घटोत्कचगुप्त का (वह भी हो सकता है स्कन्दगुप्त का भाई रहा हो) नाम इसी प्रकार जुड़े हैं। इनमें सिवाय गोविन्दगुप्त के सभी के द्वारा 'महाराजाधिराज' रूप शासन किये जाने के आभिलेखिक अथवा मौद्रिक प्रमाण उपलब्ध हैं—केवल गोविन्दगुप्त के स्वतन्त्र रूपेण शासन करने की सम्भावना अभी तक प्रश्नातीत नहीं है। (दे०, प्रभाकर का ४६७ ई० का मन्दसौर-लेख)।

इस प्रकार स्कन्दगुप्त की मृत्यु तक गुप्त सम्राटों का अनुक्रम निश्चित है, केवल विद्रोही भाइयों का सही स्थान निर्धारित करने की समस्या रह जाती है। स्कन्दगुप्त के उपरान्त शासन करने वाले परवर्ती गुप्त सम्राटों का अनुक्रम और तिथिक्रम दोनों ही विवादास्पद हैं।

जहां तक **प्रारम्भिक गुप्त तिथिक्रम** का सम्बन्ध है गुप्त अभिलेखों से हमें स्कन्दगुप्त तक शासन करने वाले गुप्त सम्राटों की अब निम्नलिखित तिथियां ज्ञात हैं :—

(१) प्रथम चन्द्रगुप्त :—३१९ ई० में राज्याभिषेक या 'महाराजाधिराज' उपाधि ग्रहण। (यह इस अनुमान पर निर्भर है कि गुप्त संवत् की गणना उसके अभिषेक या 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण करने से की गई—द्र०, पूर्वपीठिका 'अ')।

(२) द्वितीय चन्द्रगुप्त :—गुप्त संवत् ६१ (=३८० ई०) से ९३ (=४१२ ई०) तक। (गुप्त संवत् ६१ उसके शासन का ५वां वर्ष था इसलिये उसने गुप्त संवत् ५६ (=३७५-६ ई०) में शासन प्रारम्भ किया होगा)।

(३) प्रथम कुमारगुप्त :—गुप्त संवत् ९६ (=४१५ ई०) से १३० (=४४९ ई०) तक। (उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अन्तिम ज्ञात तिथि उसकी रजतमुद्राओं पर मिलती है। इन पर १०० एवं ३० का चिह्न स्पष्ट है, परन्तु दहाई का चिह्न किसी सिक्के पर स्पष्ट नहीं है—द्र०, पी० एल० गुप्त, गुप्त साम्राज्य, पृ० १७६-८१)।

(४) स्कन्दगुप्त :— गुप्त संवत् १३६ (=४५५ ई०) से १४८ (=४६७ ई०) तक। (परन्तु उसके जूनागढ़-लेख से स्पष्ट है कि उसने गु० सं० १३६ के काफी समय पूर्व शासन करना प्रारम्भ कर दिया था)।

जहां तक गुप्त वंश के अन्य प्रारम्भिक नरेशों—गुप्त, घटोत्कच एवं समुद्रगुप्त—की तिथियों का प्रश्न है इनकी चर्चा कहीं नहीं मिलती। समुद्रगुप्त के नालन्दा-और गया-दानपत्रों में अवश्य ही क्रमशः ५वें और ९वें वर्ष का उल्लेख मिलता है परन्तु एक तो इन दानपत्रों का साक्ष्य प्रकृत्या सन्दिग्ध है और दूसरे इनमें सम्भवतः समुद्रगुप्त के शासन के वर्षों का उल्लेख है न कि गुप्त संवत् के वर्षों का। हमारा विचार है कि **अगर हम द्वितीय चन्द्रगुप्त जन्मतिथि को स्थूलतः निर्धारित कर सकें तो प्रारम्भिक गुप्त तिथिक्रम की स्थूल रूपरेखा अधिक आसानी से निश्चित कर सकेंगे**। हमारा तर्क इस प्रकार है :—

जब द्वितीय चन्द्रगुप्त ३७६ ई० में गद्दी पर बैठा उस समय उसकी आयु लगभग चालीस वर्ष की थी। इस बात के संकेत कि उस समय उसकी आयु चालीस वर्ष से बहुत अधिक नहीं हो सकती उसका इस तिथि के आसपास रामगुप्त को मार कर ध्रुवदेवी से प्रेम-विवाह करने, उसके कम से कम ४१२ ई० तक शासन करने और लग० ४१० ई० में शक युद्ध में व्यक्तिगत रूप से भाग लेने आदि तथ्यों से मिलता है। दूसरी तरफ उसके राज्यारोहण के समय उसकी आयु चालीस वर्ष से बहुत कम भी नहीं रही होगी। उसकी पुत्री प्रभावती-गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश द्वितीय रुद्रसेन से लग० ३८० ई० में हुआ था (द्र०, वा० गु० ए०, पृ० ११०; गोयल, हि० इ० गु०, पृ० १०७, टि० ३)। इसका अर्थ है कि प्रभावती की मां कुवेरनागा का द्वितीय चन्द्रगुप्त से विवाह ३६० ई० के बहुत बाद में नहीं रखा जा सकता। अतः द्वितीय चन्द्रगुप्त का जन्म ३४० ई० के कुछ समय पहिले ही रखना उचित होगा बाद में नहीं। इस प्रकार द्वितीय चन्द्रगुप्त का जन्म ३३५ ई० के न बहुत बाद में रखा जा सकता है और न बहुत पहिले। इसलिये ३३५ ई० को उसकी जन्मतिथि मानना सत्य से अतिदूर नहीं होगा (दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ७१)। अगर हमारा यह सुझाव सही है तो मानना पड़ेगा कि समुद्रगुप्त का ५वें वर्ष का नालन्दा-दानपत्र, जिसमें कुमार चन्द्रगुप्त का सम्भवतः दूतक रूप में उल्लेख है, ३५५ ई० के आसपास, जब द्वितीय चन्द्रगुप्त लगभग बीस वर्ष का रहा होगा, लिखवाया गया होगा। इसके बहुत पहिले नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक ३५० ई० के पहिले रखना दुष्कर है। यह निष्कर्ष दो अन्य तथ्यों से संगत है। (१) 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में समुद्रगुप्त का शासनकाल २२ वर्ष ५ माह का बताया गया है। क्योंकि उसकी मृत्यु और द्वितीय चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि ३७६ ई० है, इसलिये इस साक्ष्यानुसार उसने स्वयं ३५० ई० के बाद ही शासन करना प्रारम्भ किया। (२) वाकाटक वंश में प्रथम प्रवरसेन की मृत्यु लग० ३३५ ई० में हुई। उसके उत्तराधिकारी प्रथम रुद्रसेन को उसके नाना पद्मावती-नरेश भवनाग से सहायता मिली थी। भवनाग की मृत्यु लग० ३४० ई० में मानी जाती है (वा० गु० ए०, पृ० ९५)। परन्तु जब समुद्रगुप्त ने अपने शासनकाल के प्रारम्भ में नागों का उन्मूलन किया तब तक भवनाग की मृत्यु हो चुकी थी और पद्मावती पर नागसेन का शासन था। भवनाग और नागसेन के बीच में भी हो सकता है एक दो राजाओं ने वहाँ शासन किया हो। इसलिये समुद्रगुप्त के शासन के प्रारम्भिक वर्ष, जब उसने नागों का उन्मूलन किया, चतुर्थ शती ई० के मध्य पड़ेंगे, उसके पूर्व नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का जन्म लगभग ३३५ ई० में हुआ और समुद्रगुप्त लगभग ३५० ई० में गद्दी पर बैठा। मजूमदार ने हमारे इस पुराने सुझाव को एक स्थल पर माना है (को० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० ३७)। क्योंकि समुद्रगुप्त का एक अन्य पुत्र रामगुप्त भी था जो द्वितीय चन्द्रगुप्त से बड़ा था, इसलिये समुद्रगुप्त का विवाह लगभग ३३० ई० में और उसका अपना जन्म ३०५-१० ई० के बीच में किसी समय हुआ होगा इसके बाद में नहीं। इस निष्कर्ष के प्रकाश में प्रथम चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी का विवाह लगभग ३०५ ई० में मानना अनिवार्य है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लिच्छवियों के साथ विवाह-सन्धि का नियोजन घटोत्कच के काल में हुआ होगा। सम्भवतः इसीलिये उसकी महत्ता उसके पिता से कुछ अधिक मानी गई और उसको प्रभावती के दानपत्रों तथा स्कन्दगुप्त के सूपिया-अभिलेख में गुप्त वंश का प्रथम नरेश बता दिया गया। क्योंकि प्रथम चन्द्रगुप्त से लेकर स्कन्दगुप्त तक इन पांच पीढ़ियों के राजाओं ने ४६७ — ३१९ = १४८ वर्ष शासन किया (अर्थात् औसतन २९·६ वर्ष प्रति पीढ़ी) इसलिये गुप्त और घटोत्कच ने अपेक्षया अल्प-काल तक ही शासन किया होगा। इन तथ्यों के प्रकाश में यह मानना सत्य के पर्याप्त निकट होना चाहिये कि महाराज गुप्त ने लगभग २९५ से लगभग ३०० ई० तक और महाराज घटोत्कच ने लगभग ३०० से ३१९ ई० तक शासन किया होगा। हमारा विश्वास है कि अगर भविष्य में प्रारम्भिक गुप्त तिथिक्रम पर और अधिक प्रकाश मिला तो इससे ऊपर प्रस्तावित तिथिक्रम में मामूली-सा ही संशोधन करने की आवश्यकता होगी।

अब हम प्रारम्भिक गुप्त राजाओं के इतिहास की स्कन्दगुप्त तक संक्षिप्त रूपरेखा दिये देते हैं जिससे इस युग के अभिलेखों को समझने में सहायता मिले।

गुप्त और घटोत्कच—ये गुप्त वंश के प्रथम दो नरेश थे। इन दोनों ने मात्र 'महाराज' उपाधि धारण की। इनके न सिक्के मिलते हैं और न अभिलेख। कुछ ऐसी मुहरें अवश्य मिलती हैं जिन पर 'गुप्तस्य', 'श्रीगुप्तस्य' जैसे लेख मिले हैं परन्तु उनको निश्चयतः प्रथम गुप्त नरेश की मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। हमारे निष्कर्षानुसार (दे०, ऊपर) गुप्त ने लगभग २९५-३०० ई० में शासन किया होगा और घटोत्कच ने लग० ३०० से ३१९ ई० तक।

प्रथम चन्द्रगुप्त—वह अपने वंश का प्रथम 'महाराजाधिराज' था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त संवत् की गणना उसी के राज्यारोहण से की गई चाहे इसका प्रवर्त्तक कोई भी नरेश क्यों न रहा हो। हमारे निष्कर्षानुसार उसने लगभग ३५० ई० तक शासन किया। उसका कोई अभिलेख नहीं मिला है। प्रथम चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी प्रकार की सुवर्णमुद्रायें उसी ने चलाई थीं ऐसा बहुत से विद्वानों का विचार है, परन्तु हमारे विचार से ये समुद्रगुप्त द्वारा जारी की गई थीं। (दे०, गोयल, हि० इ० गु०, पृ० ११५ अ०; प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ५८-६०; इण्डियन न्युमिस्मेटिक क्रोनीकल, ४, अंक २, १९६५-६६, पृ० ११६ अ०)।

समुद्रगुप्त—प्रथम चन्द्रगुप्त और उसकी लिच्छवि पत्नी महादेवी कुमारदेवी का पुत्र समुद्रगुप्त (उपाधि 'पराक्रमांक' आदि) था। हमने यह मानने के लिये ऊपर पर्याप्त आधार दिये हैं कि उसका जन्म लगभग ३०५-१० ई० के बीच में हुआ, विवाह लगभग ३३० में, उसके पुत्र रामगुप्त का जन्म ३३०-३३५ के बीच में, दूसरे पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त का लगभग ३३५ ई० में एवं स्वयं समुद्रगुप्त का राज्यारोहण लगभग ३५० ई० में। उसकी सुवर्ण मुद्रायें भी मिलती हैं तथा कई अभिलेख भी जिनमें प्रयाग-प्रशस्ति तथा एरण स्तम्भ-लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रयाग-प्रशस्ति में उसकी दिग्विजय का विस्तरशः वर्णन है। ये दोनों तिथिविहीन अभिलेख हैं। उसके नालन्दा तथा गया से प्राप्त दो दानपत्रों की, जो क्रमशः ५वें व

९वें वर्ष के हैं, विश्वसनीयता संदिग्ध है। इनकी तिथियां उसके राज्यारोहण का वर्ष प्रतीत होती हैं। मेहरौली से उपलब्ध लौह-स्तम्भ लेख में भी उसी की प्रशस्ति लिखी है ऐसा हमारा विचार है (दे०, आगे)।

समुद्रगुप्त को सम्भवतः अपने काच आदि भाइयों के विद्रोह का सामना करना पड़ता था। काच के सोने के सिक्के मिलते हैं, परन्तु अभिलेख अभी तक कोई नहीं मिला है।

रामगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त—समुद्रगुप्त ने सम्भवतः अपने छोटे पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त (उपाधि विक्रमादित्य) को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। लेकिन उसके ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त ने, जिसका अस्तित्व पहिले केवल साहित्य से ज्ञात था, पूर्वी मालवा में विद्रोह कर कुछ समय तक स्वतन्त्र रूप से शासन किया। पूर्वी मालवा से रामगुप्त की ताम्रमुद्रायें मिली हैं तथा दुर्जनपुर ग्राम से उसके शासन काल के तीन तिथिविहीन जैन प्रतिमा अभिलेख मिले हैं। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने किसी प्रकार उसे मार दिया और उसकी विधवा ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। द्वितीय चन्द्रगुप्त की एक अन्य रानी कुबेरनागा थी जिसके गर्भ से उत्पन्न प्रभावतीगुप्ता का विवाह द्वितीय रुद्रसेन वाकाटक से हुआ था। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने ही सम्भवतः गुप्त संवत् का प्रवर्त्तन किया था, यद्यपि उसने इसकी गणना की प्रथम चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से (दे०, पूर्वपीठिका 'अ')। उसकी ज्ञात तिथियां गु० सं० ५६ से ९३ (=३७६ से ४१२ ई०) हैं। उसके शासन काल के अनेक अभिलेख मथुरा, साञ्ची, उदयगिरि तथा गढ़वा आदि स्थलों से मिले हैं। बहुत से इतिहासकार मेहरौली-स्तम्भ लेख को भी उसी का मानते हैं। उसकी सुवर्ण मुद्रायें प्रचुरता से मिलती हैं तथा रजत मुद्रायें विरलतः। उसके उदयगिरि से प्राप्त एक तिथिविहीन अभिलेख में उसके द्वारा 'समस्त पृथिवी' विजय के हेतु वहां जाने का उल्लेख है। उसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि पश्चिमी भारत के शकों का उन्मूलन है जिसका ज्ञान उसकी रजत मुद्राओं से होता है। इसका उल्लेख उसके अभिलेखों में नहीं हैं—यद्यपि प्रथम कुमारगुप्त के तुमैन-अभिलेख में उसके द्वारा समुद्रपर्यन्त (अरबसागर तक) पृथिवी जीतने की चर्चा मिलती है।

प्रथम कुमारगुप्त—द्वितीय चन्द्रगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी प्रथम कुमारगुप्त (उपाधि 'महेन्द्रादित्य) की, जो ध्रुवदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, प्रथम ज्ञात तिथि गु० सं० ९६ (=४१५ ई०) है। गोविन्दगुप्त, जिसका उल्लेख एक वैशाली मुहर में तथा प्रभाकर के ४६७ ई० के मन्दसौर-लेख में मिलता है, उसका सगा भाई था; परन्तु उसने कभी शासन किया या नहीं यह प्रश्नातीत रूप से ज्ञात नहीं है। प्रथम कुमारगुप्त के शासन के अनेक अभिलेख बिल्सड़, मान्कुवर (मंकुवार), मथुरा, उदयगिरि, गढ़वा, दामोदरपुर, वेग्राम, जगदीशपुर, कुलैकुरी, तुमैन तथा करमदाण्डा आदि स्थलों से मिले हैं। इनसे उसके शासन काल की आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का ज्ञान होता है। बंगाल से प्राप्त उसके शासन काल के ताम्रपत्रलेख गुप्तकालीन भूमि-व्यवस्था तथा प्रशासन के अध्ययन के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। उसके किसी अभिलेख से उसकी किसी सैनिक विजय का ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

प्रथम कुमारगुप्त की अभिलेखों से ज्ञात अन्तिम तिथि गु० सं० १२८ (=४४९ ई०) है। स्मिथ आदि पुराने इतिहासकारों ने उसकी कुछ रजत मुद्राओं पर गु० सं० १३६ (=४५५ ई०) तक तिथियां पढ़ी थीं, इसलिये उसकी अन्तिम ज्ञात तिथि ४५५ ई० मानी जाती रही है। लेकिन अब पी० एल० गुप्त ने यह प्रदर्शित कर दिया है (गुप्त साम्राज्य, पृ० ११९ अ०) कि उसकी कोई भी रजत मुद्रा ऐसी नहीं है जिसकी तिथि निस्संदिग्ध रूप से गु० सं० १३० के बाद की मानी जा सके। दूसरी तरफ हमने जूनागढ़-लेख का विश्लेषण करके यह प्रमाणित कर दिया है कि स्कन्दगुप्त गु० सं० १३६ (=४५५ ई०) से, जब सुदर्शन झील का बांध टूटा, कई वर्ष पूर्व गद्दी पर बैठा होगा। इसलिये प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु अब ४५० ई० के बहुत बाद में हुई नहीं मानी जा सकती।

स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त और घटोत्कचगुप्त—प्रथम कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त (उपाधियां 'विक्रमादित्य' तथा 'क्रमादित्य') की ज्ञात तिथियां गु० सं० १३६ से १४८ (=४५५ से ४६७ ई०) हैं। यह मान्यता विवादग्रस्त है कि वह अपने पिता की किसी रखैल का पुत्र था और इसलिये अपने पिता का वैध उत्तराधिकारी नहीं था। संभवतः उसे अपने भाई पुरुगुप्त के विद्रोह का सामना करना पड़ा। बिहार शरीफ से प्राप्त द्वितीय पाषाण स्तम्भ लेख जिसे फ्लीट ने स्कन्दगुप्त का बताया था, सम्भवतः पुरुगुप्त का नहीं है। इसमें और उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया। घटोत्कचगुप्त (उपाधि 'क्रमादित्य'), जिसकी दो सुवर्ण मुद्रायें अभी तक मिली हैं, सम्भवतः स्कन्दगुप्त का दूसरा विद्रोही भाई था। उसका उल्लेख तुमैन अभिलेख में हुआ है। स्कन्दगुप्त के अभिलेख जूनागढ़, भितरी, इन्दौर, कहाऊं तथा सूपिया से मिले हैं। उसकी सुवर्ण, रजत और ताम्र मुद्रायें भी मिलती हैं। उसके जूनागढ़ तथा भितरी लेखों में उसकी महान् उपलब्धियों का वर्णन है जिनमें उसके द्वारा पुष्यमित्रों और हूणों पर विजय सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

परवर्ती गुप्त सम्राटों का अनुक्रम और तिथिक्रम

स्कन्दगुप्तोत्तर गुप्त सम्राटों के अनुक्रम और तिथिक्रम की समस्या—स्कन्दगुप्त के उपरान्त शासन करने वाले निम्नलिखित गुप्त सम्राटों की तिथियाँ ज्ञात हैं :—

१–द्वितीय कुमारगुप्त : गु०सं० १५४ (=४७३ ई०)। यह तिथि उसके सारनाथ अभिलेख में मिलती है। इसमें उसके पिता का नाम नहीं दिया गया है।

२–बुधगुप्त : स्कन्दगुप्त के भाई पुरुगुप्त का पुत्र। ज्ञात तिथियाँ गु०सं० १५७ (=४७६ ई०) से १७६ (=४९५ ई०)।

३–वैन्यगुप्त : पुरुगुप्त का एक अन्य पुत्र। ज्ञात तिथि गु०सं० १८७ (=५०६ ई०)।

४–भानुगुप्त : पिता का नाम अज्ञात है। एरण-लेख से उसकी तिथि गु०सं० १९१ (=५१० ई०) मालूम है।

५–विष्णुगुप्त : उसका उल्लेख सम्भवतः गु०सं० २२४ (=५४३ ई०) के पंचम दामोदरपुर-दानपत्र में हुआ है। इस लेख में उसके नाम का पूर्व भाग मिट गया है। हमने उसे अनुमानतः विष्णुगुप्त माना है। फिर भी इस लेख से कम से कम इतना सिद्ध है कि गुप्त वंश का अस्तित्व इस तिथि तक अवश्य था।

इन नरेशों के अलावा भितरी मुहर से पुरुगुप्त के एक अन्य पुत्र नरसिंहगुप्त के पुत्र एवं नरगुप्त के पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त का ज्ञान प्राप्त होता है। अभिलेखों से ज्ञात एक अन्य गुप्त नरेश प्रकटादित्य है। सारनाथ लेख से ज्ञात होता है कि वह उस बालादित्य का पुत्र था जिसके वंश में एक और बालादित्य हो चुका था। विष्णुगुप्त की नालन्दा मुहर में भी उसके पिता कुमारगुप्त तथा पितामह नरसिंहगुप्त का उल्लेख मिलता है। स्मरणीय है कि विष्णुगुप्त की इस नालन्दा मुहर में, जो खण्डित रूप में मिलती है, नरसिंहगुप्त को पुरुगुप्त का पुत्र नहीं कहा गया है।

मौद्रिक साक्ष्य से भी इन गुप्त नरेशों के विषय में सूचनायें मिलती हैं। इससे ज्ञात होता है कि नरसिंहगुप्त की उपाधि बालादित्य थी, कुमारगुप्त की क्रमादित्य, बुधगुप्त की विक्रम, वैन्यगुप्त की द्वादशादित्य तथा विष्णुगुप्त की चन्द्रादित्य। सिक्कों से हमें तृतीय चन्द्रगुप्त तथा प्रकाशादित्य नामक

गुप्त सम्राटों का अस्तित्व भी ज्ञात होता है। स्कन्दगुप्त के उपरान्त शासन करने वाले इन सभी राजाओं के सिक्कों में शुद्ध सुवर्ण की मात्रा ७० से ८० प्रतिशत तक है। केवल नरसिंहगुप्त बालादित्य तथा कुमारगुप्त क्रमादित्य के 'वर्ग ब' प्रकार के सिक्कों में शुद्ध सुवर्ण की मात्रा घट कर ५४ प्रतिशत हो जाती है और विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य के सिक्कों में केवल ४३ प्रतिशत। समय बीतने के साथ गुप्त सुवर्ण मुद्राओं का तौलमान बढ़ता जाता है और कलात्मकता गिरती जाती है। इन तथ्यों से हमें इन मुद्राओं की पहिचान अभिलेखों व साहित्य से करने एवं उनका साक्षेप तिथिक्रम निर्धारित करने में सहायता मिलती है।

साहित्य में परवर्ती गुप्त सम्राटों के विषय में उपलब्ध प्रमुख सूचनाएं निम्नलिखित हैं :—

१–परमार्थ (६ठी शती ई०) द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' के अनुसार विक्रमादित्य के उपरान्त बालादित्य ने शासन किया।

२–युवान-च्वांग के अनुसार नालन्दा में विहार बनवाने वाले सम्राटों में शक्रादित्य, बुद्धगुप्तराज, तथागतराज, बालादित्यराज, वज्र तथा 'मध्य देश का एक राजा' सम्मिलित थे।

३–युवान-च्वांग के ही अनुसार मिहिरकुल (लगभग ५१२-२७ ई०) का विजेता बालादित्यराज था।

४–'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में एक स्थान पर परवर्ती गुप्त सम्राटों का क्रम इस प्रकार दिया गया है :—'सकार (=स्कन्दगुप्त) बाल (=बालादित्य), कुमार (=कुमारगुप्त), उकार (वह जिसके नाम का प्रथम अक्षर 'उ' है)। एक अन्य स्थान पर इस ग्रन्थ में देव, चन्द्र, द्वादश तथा 'भकार' (वह जिनके नाम का प्रथम अक्षर 'भ' है) को क्रमशः एक दूसरे के बाद रखा गया है तथा एक तीसरे स्थल पर 'भकार' का उत्तराधिकारी 'प्रकार' (वह जिसके नाम का प्रथम अक्षर 'प्र' है) को बताया गया है। इनमें द्वादश स्पष्टतः वैन्यगुप्त द्वादशादित्य (५०६ ई०) तथा 'भकार' भानुगुप्त (५१० ई०) है क्योंकि इस ग्रन्थ में 'भकार' के मित्र गोप का नाम भी आता है जिसकी चर्चा भानुगुप्त के एरण-लेख में हुई है। इसलिये 'चन्द्र' को मुद्राओं से ज्ञात तृतीय चन्द्रगुप्त तथा 'देव' को बुद्धगुप्त (देव=बुद्ध=बुध) माना जा सकता है और 'प्रकार' की पहिचान मुद्राओं से ज्ञात प्रकाशादित्य से की जा सकती है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों का समन्वय करके स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों का क्रम निश्चित करना बड़ा दुष्कर कार्य है। इसका प्रधान कारण है **बालादित्य की समस्या**। भितरी-मुहर के कुमारगुप्त को ४७३ ई० के सारनाथ अभिलेख का कुमारगुप्त मान कर पन्नालाल ने 'मॉडर्न रिव्यु' (१९१९) में उसके पिता नरसिंहगुप्त बालादित्य को, जो पुरुगुप्त का पुत्र था, ४७० ई० के आसपास रखा था। लेकिन युवान-च्वांग के साक्ष्य से स्पष्ट है कि बालादित्य मिहिरकुल (५१२-२७ ई०) का समकालीन था। बालादित्य की तिथि की इस समस्या को सुलझाने के लिये आर० के० मुखर्जी और उनका अनुसरण करते हुए बी० पी० सिनहा तथा पी० एल० गुप्त आदि ने सुझाया है कि ४७३ ई० के सारनाथ लेख का कुमारगुप्त पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त का पुत्र नहीं था। ये सभी विद्वान् भितरी-मुहर के नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त को छठी शती ई० में रखते हैं। इसके पक्ष में वह ध्यान दिलाते हैं कि एलन ने कुमारगुप्त क्रमादित्य के सोने के सिक्कों को दो भागों में विभाजित किया था जो उनके भार, बनावट व शुद्ध सुवर्ण की मात्रा को देखते हुए दो अलग-अलग राजाओं के (जिनके बीच में अनुमानतः पचास वर्ष का अन्तर हो सकता है) माने जाने चाहिए। इसलिए वह उस कुमारगुप्त क्रमादित्य को, जिसने 'वर्ग अ' के हल्के तौलमान, अच्छी बनावट तथा ७० से ८० प्रतिशत सुवर्ण वाले सिक्के चलाये स्कन्दगुप्त का उत्तराधिकारी और ४७३ ई० सारनाथ अभिलेख का कुमारगुप्त मानते हैं और उस कुमारगुप्त क्रमादित्य को जिसने 'वर्ग ब' के अपेक्षया

भारी तौलमान वाले, बनावट में खराब तथा मात्र ५४% शुद्ध सुवर्ण वाले सिक्के चलाये, छठी शती ई० में मिहिरकुल को जीतने वाले नरसिंहगुप्त का पुत्र बताते हैं जो उनके अनुसार पुरुगुप्त का पुत्र था।

परन्तु इन विद्वानों ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा कर दी है। वह यह कि गुप्त वंश में केवल दो कुमारगुप्त क्रमादित्य ही नहीं, दो नरसिंहगुप्त बालादित्य भी हुए थे। प्रमाण : (१) प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख में दो बालादित्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है—एक प्रकटादित्य का पिता और दूसरा उसका पूर्वज। (२) साहित्यक साक्ष्य से दो बालादित्यों का अस्तित्व प्रमाणित है क्योंकि एक तरफ परमार्थ द्वारा रचित 'वसुबन्धु की जीवनी' में विक्रमादित्य (=स्कन्दगुप्त) का उत्तराधिकारी बालादित्य को बताया गया है तथा 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में 'सकार' (=स्कन्दगुप्त) के उपरान्त बाल (=बालादित्य) को रखा गया है तो दूसरी तरफ युवान-च्वाँग नालन्दा-विहार के निर्माताओं की सूची में बालादित्यराज को बुद्धगुप्त (=बुधगुप्त) के उपरान्त रखकर तथा अन्यन्त्र उसे मिहिरकुल का विजेता बताकर उसका समय छठी शती होने का संकेत देता है। इस प्रकार साहित्यक साक्ष्य दो बालादित्यों का अस्तित्व बताता है। (३) जिन आधारों पर कुमारगुप्त क्रमादित्य की मुद्रायें यह संकेत देती हैं कि उन्हें इस नाम के दो राजाओं ने चलाया था, उन्हीं आधारों पर नरसिंहगुप्त बालादित्य की मुद्राएँ भी यह प्रमाणित करती हैं कि इनको चलाने वाले दो राजा थे जिनके बीच में बहुत अन्तराल रहा होगा। स्वयं एलन ने नरसिंहगुप्त बालादित्य के सिक्कों को उसी प्रकार दो वर्गों में बाँटा था जिस प्रकार कुमारगुप्त क्रमादित्य के सिक्कों को।

इस प्रकार हमारे साक्ष्य दो नरसिंहगुप्त बालादित्यों और दो कुमारगुप्त क्रमादित्यों का अस्तित्व बताते हैं। हमारा विचार है कि इनमें प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य और कुमारगुप्त क्रमादित्य वे राजा थे जिनका उल्लेख भितरी मुहर में है। यह कुमारगुप्त, जो प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य से भेद करने के लिये द्वितीय कुमारगुप्त कहा जाना चाहिए, ४७३ ई० के सारनाथ अभिलेख के कुमारगुप्त से भी अभिन्न होगा। दूसरे शब्दों में भितरी मुहर का कुमारगुप्त तथा उसका पिता नरसिंहगुप्त, जो पुरुगुप्त का पुत्र था, स्कन्दगुप्त के बाद रखे जाने चाहिए तथा मुद्राओं से ज्ञात द्वितीय नरसिंहगुप्त तथा तृतीय कुमारगुप्त को मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर (सिक्कों की खराब बनावट तथा शुद्ध सुवर्ण की मात्रा केवल ५४ प्रतिशत होने के कारण) गुप्तवंश के इतिहास के अन्तिम भाग में रखना चाहिये। विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य को, जिसके सिक्कों में मात्र ४३ प्रतिशत सुवर्ण मिलता है, उसके बाद में रखना होगा। इन तीनों की पहिचान हम नालन्दा मुहर के राजाओं से कर सकते हैं जिसमें विष्णुगुप्त को कुमारगुप्त का पुत्र व नरसिंहगुप्त का पौत्र कहा गया है। इस मुद्रा में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके आधार पर इसमें उल्लिखित नरसिंहगुप्त को पुरुगुप्त का पुत्र माना जावे। इस सुझाव के प्रकाश में उपर्युक्त सब तथ्यों को समेटते हुए हम स्कन्दगुप्त के उपरान्त शासन करने वाले राजाओं का अनुक्रम तथा तिथिक्रम इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं :—

प्रथम नरसिंहगुप्त तथा द्वितीय कुमारगुप्त—स्कन्दगुप्त का कोई पुत्र ज्ञात नहीं है। गुप्त अभिलेखों में स्कन्दगुप्तोत्तरयुगीन राजाओं को पुरुगुप्त का वंशज बताया गया है और छठी शती में परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' तथा 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' से संकेतित है कि स्कन्दगुप्त का उत्तराधिकारी बालादित्य था। यह बालादित्य मुद्राओं से ज्ञात नरसिंहगुप्त बालादित्य होगा। उसने 'वर्ग अ' वाली मुद्राएं चलाईं। यह भितरी मुहर के कुमारगुप्त का पिता था। उसकी अपनी मुहर नालन्दा से मिली है। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार उसने ३६ वर्ष १ माह की आयु में आतमहत्या कर ली थी। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त क्रमादित्य था। उसकी भितरी तथा नालन्दा से मुहरें मिली हैं। उसे ४७३ ई० के सारनाथ-अभिलेख का कुमारगुप्त भी मानना चाहिये। ४७२ ई० का मन्दसौर-लेख, जो रेशम बुनने वालों की श्रेणि ने लिखवाया था, उसी के शासन काल का होगा। उसने क्रमादित्य उपाधि वाले 'वर्ग अ' प्रकार के सिक्के चलाये। अगर उसके पिता नरसिंहगुप्त ने ३६ वर्ष १ माह की आयु में

आत्महत्या कर ली थी तो राज्यारोहण के समय वह १३-१४ वर्ष का रहा होगा ।

बुधगुप्त—बुधगुप्त पुरुगुप्त का पुत्र और द्वितीय कुमारगुप्त का चाचा (या ताऊ) था । उसने अपने भतीजे को अल्पवयस्क देखकर साम्राज्य पर अधिकार कर लिया । युवान-च्वाँग ने उसके द्वारा साम्राज्य 'छीन' लिए जाने का उल्लेख किया है । इस चीनी यात्री ने बुद्धगुप्तराज (=बुधगुप्त) द्वारा नालन्दा में एक विहार बनवाये जाने का उल्लेख भी किया है । हो सकता है, युवान-च्वांग द्वारा उल्लिखित तथागतराज भी बुधगुप्त ही हो और चीनी यात्री गलती से तथागतराज (तथागत=बुद्ध) को भिन्न राजा समझ बैठा हो । बुधगुप्त की ज्ञात तिथियाँ गु० सं० १५७ (=४७६ ई०) से गु० सं० १७६ (=४९५ ई०) हैं । उसके अभिलेख सारनाथ, एरण, दामोदरपुर आदि स्थानों से मिले हैं, लेकिन उसकी मुद्रायें अत्यल्प हैं । उसके शासनकाल में साम्राज्य की अवनति और विघटन के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं ।

तृतीय चन्द्रगुप्त, वैन्यगुप्त द्वादशादित्य तथा भानुगुप्त—'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में एक स्थान पर देव, चन्द्र, द्वादश व भकार—इन चार राजाओं का उल्लेख है । इनमें स्पष्टतः द्वादश वैन्यगुप्त द्वादशादित्य (ज्ञात तिथि ५०६ ई०) है तथा 'भकार' भानुगुप्त (ज्ञात तिथि ५१० ई०) है । इसलिये इस सूची के 'चन्द्र' की पहिचान मुद्राओं से ज्ञात तृतीय चन्द्रगुप्त से की जा सकती है । 'देव' से आशय बुधगुप्त से हो सकता है (दे०, पीछे) । तृतीय चन्द्रगुप्त का कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं है । वैन्यगुप्त का एक दानपत्र गुणैधर से मिला है तथा एक मुहर नालन्दा से । भानुगुप्त का उल्लेख ५१० ई० के एरण लेख में है । इन राजाओं के शासनकाल में गुप्तवंश में आन्तरिक झगड़े हुए (जिनकी चर्चा आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में मिलती है) तथा तोरमाण के नेतृत्व में हूणों ने आक्रमण किया । ५१० ई० में भानुगुप्त ने सम्भवतः तोरमाण से ही युद्ध लड़ा था ।

प्रकाशादित्य, द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य, तृतीय कुमारगुप्त क्रमादित्य तथा विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य—'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में 'भकार' (भानुगुप्त) का पुत्र 'प्रकार' को कहा गया है । वह हूणों से मिल गया था । हमने उसकी पहिचान मुद्राओं से ज्ञात प्रकाशादित्य से की है । सम्भवतः उसके बाद द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य ने शासन किया जिसने बनावट में खराब, मात्र ५४ प्रतिशत शुद्ध सुवर्ण वाले सिक्के चलाये तथा तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल को जीता । प्रकाशादित्य तथा द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य का सम्बन्ध अज्ञात है, परन्तु हम तिथिक्रमिक दृष्टि से द्वितीय नरसिंहगुप्त को प्रकाशादित्य के उपरान्त रखते हैं क्योंकि (१) द्वितीय नरसिंहगुप्त के सिक्कों का पृष्ठ भाग प्रकाशादित्य के सिक्कों जैसा है तथा (२) 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार प्रकाशादित्य ने हूणों का प्रभुत्व मान लिया था जबकि युवान-च्वांग के अनुसार बालादित्यराज शुरू से ही हूणों को कर दिया करता था । अतः बालादित्यराज को प्रकाशादित्य के बाद रखा जाना चाहिए ।

द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य का एक पुत्र संभवतः प्रकटादित्य था जिसका उल्लेख एक सारनाथ-अभिलेख में है । इसमें प्रकटादित्य अपने को उस बालादित्य (=द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य) का पुत्र कहता है जिसके वंश में एक और बालादित्य (=प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य) हो चुका था । द्वितीय नरसिंहगुप्त बौद्ध था । उसने नालन्दा में एक विहार बनवाया, ऐसा युवान-च्वांग बताता है । उसके उपरान्त नालन्दा में विहार बनवाने वाला वज्र, हो सकता है, स्वयं प्रकटादित्य रहा हो । द्वितीय नरसिंहगुप्त को मिहिरकुल को परास्त करने का यश प्राप्त है ।

द्वितीय नरसिंहगुप्त के उपरान्त शासन किया तृतीय कुमारगुप्त क्रमादित्य ने । 'वर्ग ब' प्रकार के भद्दी बनावट, भारी तौलमान तक ५४ प्रातशत सुवर्ण वाले सिक्के जारी करने वाला कुमारगुप्त क्रमादित्य यही है । उसका पुत्र विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य था जिसके सिक्कों की तौल सर्वाधिक, बनावट हुबत खराब तथा शुद्ध सुवर्ण की मात्रा केवल ४३ प्रतिशत है । वह स्पष्टतः गुप्त वंश का अन्तिम नरेश

था। उसकी नालन्दा से मुहर मिलती है जिसमें उसे कुमारगुप्त का पुत्र व नरसिंहगुप्त का पौत्र कहा गया है। इन राजाओं को पुरुगुप्त के तत्काल बाद रखना स्पष्टतः गलत है। विष्णुगुप्त ही सम्भवतः वह सम्राट् है जिसके काल में ५४३ ई० का पंचम दामोदरपुर-दानपत्र जारी हुआ। इस दानपत्र में सम्राट् के नाम का प्रथम भाग मिट गया है, परन्तु उसका नाम दो अक्षर वाला था, इसलिये उसे विष्णुगुप्त माना जा सकता है।

विष्णुगुप्त का कोई उत्तराधिकारी ज्ञात नहीं है। एक जैन परम्परानुसार गुप्तों ने २३१ वर्ष शासन किया, इसलिये गुप्त साम्राज्य का पतन ५५० ई० में हुआ होगा। इसी समय के आस-पास मौखरि ईशानवर्मा (ज्ञात तिथि, ५५४ ई०) द्वारा 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण किया जाना इसका अतिरिक्त प्रमाण है। लेकिन एक अन्य जैन परम्परा के अनुसार गुप्त वंश का पतन २७० ई० में मानना होगा। इस तथ्य के प्रकाश में ५६७ ई० के एक अभिलेख में उड़ीसा में गुप्तों के शासन का उल्लेख महत्वपूर्ण हो जाता है। अतः हमें सरकार का यह अनुमान सत्य लगता है कि सम्भवतः इस दूसरी परम्परा में गुप्त शासन के उड़ीसा में अधिक समय तक बने रहने की स्मृति सुरक्षित है।

समुद्रगुप्त के शासनकाल (लग० ३५०-३७६ ई०) के अभिलेख

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त से गुप्तकालीन अभिलेखों का क्रम प्रारम्भ होता है। उसके अभी तक ५ अभिलेख मिले हैं जिनमें दो—गया और नालन्दा ताम्रपत्र—सन्दिग्ध माने जाते हैं। यह कूट अर्थात् जाली हैं या नहीं, यह विवादग्रस्त है परन्तु इतना निश्चित है कि अपने वर्तमान रूप में ये समुद्रगुप्त से बहुत बाद के हैं। मेहरौली-लौह-स्तम्भ लेख को अधिकांश विद्वान् द्वितीय चन्द्रगुप्त का मानते हैं, परन्तु हमें इसमें समुद्रगुप्त का वर्णन हुआ प्रतीत होता है।

१–इलाहाबाद तिथिविहीन पाषाण स्तम्भ-लेख (प्रयाग-प्रशस्ति)
२–एरण पाषाण स्तम्भ-लेख
३–नालन्दा (सन्दिग्ध) ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष ५
४–गया (सन्दिग्ध) ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष ७
५–मेहरौली तिथित्रिहीन लौह-स्तम्भ-अभिलेख

(राधाकृष्ण चौधुरी ने नौलागढ़ से प्राप्त एक मृत्तिका मुहर को, जिस पर गुप्त ब्राह्मी में 'श्री समुद्र' लिखा है और ऊपर त्रिशूल बना है, गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की बताया है [पी० आई० एच० सी०, १९६६, पृ० १३७ अ०]। पर यह मुहर किसी शैवमतावलम्बी नागरिक या पदाधिकारी की है)।

समुद्रगुप्त (लगभग ३५०–७६ ई०) की प्रयाग-प्रशस्ति

प्रयाग-स्तम्भ—समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति अर्थात् इलाहाबाद स्तम्भ लेख गुप्त काल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेख है। इसमें समुद्रगुप्त के जीवन और विजयों का इतने विस्तार से वर्णन किया गया है जितना भारतीय इतिहास में गुप्त काल के अन्त तक अशोक के अतिरिक्त किसी अन्य राजा के लेखों में नहीं मिलता)। अशोक के लेखों से भी राजनीतिक महत्व की उतनी घटनाएं ज्ञात नहीं होतीं जितनी इस अकेले अभिलेख से मालूम हो जाती हैं। (यह विचित्र संयोग है कि यह लिखा भी गया है अशोक के ही एक ३५ फुट ऊंचे स्तम्भ पर जो आजकल इलाहाबाद के किले में अवस्थित है परन्तु जिसे उस मौर्य सम्राट् ने सम्भवतः प्रयाग से २८ मील दूर स्थित कौशाम्बी (आधुनिक कोसम) में स्थापित कराया था। लगता है कि स्वयं समुद्रगुप्त ने इसे कौशाम्बी से लाकर अपनी राजधानी प्रयाग (दे०, आगे, श्लोक ७, टि० २) में स्थापित कराया था)। इस लेख की २९वीं-३०वीं पंक्ति में जिस गर्व के साथ इस स्तम्भ को उसकी देवलोकाभिमुख कीर्त्ति की घोषणा कहा गया है और उसके अपने स्तम्भ के रूप में उल्लिखित किया गया है (समुद्रगुप्तस्य···अयं स्तम्भः), वह पहिले से ही वहां स्थापित स्तम्भ के लिए सम्भव नहीं था। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह स्तम्भ इलाहाबाद में मध्यकाल में लाया गया होगा क्योंकि सातवीं शती ई० में युवान-च्वांग इसके प्रयाग में अवस्थित होने का उल्लेख नहीं करता। परन्तु युवान-च्वांग तो इसके कौशाम्बी में विद्यमान होने की चर्चा भी नहीं करता। अतः यह तर्क निस्सार है।

लेखक, भाषा, लिपि और वर्तनी—प्रयाग-प्रशस्ति का लेखक समुद्रगुप्त का सान्धिविग्रहिक, कुमारामात्य, महादण्डनायक हरिषेण था। इसकी भाषा संस्कृत है और लिपि चौथी शती ई० की उत्तर भारतीय वर्ग की ब्राह्मी। ब्राह्मी नाम का प्रयोग मौर्य तथा मौर्योत्तर काल की सर्वाधिक लोकप्रिय भारतीय लिपि के लिये किया जाता है। इसका इतिहास अशोक के काल से प्रारम्भ होता है और इसका रूप धीरे-धीरे बदलता जाता है। बहुत से विद्वान् इस लिपि के कुषाणकालीन रूप को कुषाण लिपि कहते हैं और गुप्तकालीन रूप को गुप्त लिपि। लेकिन जैसा कि दि० च० सरकार ने कहा है (स० इ०, पृ० २६३, टि० १) ये वंशीय नाम सन्तोषप्रद नहीं हैं क्योंकि हर प्रदेश में इस लिपि का कुछ भिन्न रूप विकसित हुआ था। इन रूपों को स्थूलतः उत्तरभारतीय तथा दक्षिण भारतीय इन दो वर्गों में बांट कर सरकार ने इनके तीन युग माने हैं—प्रारम्भिक (मौर्यकालीन), मध्यवर्ती (कुषाणकालीन) तथा परवर्ती (गुप्तकालीन)। इस दृष्टि से समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति तथा अन्य गुप्तकालीन अभिलेखों की लिपि उत्तर भारतीय वर्ग की परवर्ती ब्राह्मी कही जायेगी।

प्रयाग-प्रशस्ति के अक्षर $\frac{७}{१०}$" से लेकर $\frac{३}{४}$" तक आकार के हैं। इसकी वर्तनी की एक विशेषता 'ल' का प्रयोग है (जैसे 'व्याकुलितेन' और 'कोरालक' में)। श्लोकों के अन्त में संख्यावाचक अंकों का प्रयोग किया गया है। वर्तनी की कुछ अन्य विशेषताएं हैं 'विक्क्रम', 'पराक्क्रम' और 'क्क्रिया' जैसे शब्दों में अनुवर्ती 'र' के संयोग में 'क' का द्वित्व और 'अद्ध्येय' जैसे शब्दों में अनुवर्ती 'य' के संयोग में 'ध' का द्वित्व।

यह लेख **तिथिविहीन** है। इसमें गुप्त संवत् का अनुल्लेख इस बात का संकेत (यद्यपि निर्णायक संकेत नहीं, दे०, पूर्वपीठिका 'आ') माना जा सकता है कि इसके लिखे जाने तक गुप्त संवत् प्रचलन में नहीं आया था। इसीलिए पी० एल० गुप्त व सुधाकर चट्टोपाध्याय यह मानते हैं कि इस संवत् का प्रवर्त्तन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने किया होगा यद्यपि उसने इसकी गणना की होगी अपने वंश के प्रथम महाराजाधिराज प्रथम चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि से। क्योंकि यह लेख समुद्रगुप्त की दिग्विजय सम्पूर्ण होने के बाद लिखवाया गया था, इसलिए इसकी तिथि लगभग ३७० ई० मानी जा सकती है।

लेख योजना— प्रयाग-प्रशस्ति का आकार ६'८"×५'४" है। इसमें कुल ३३ पंक्तियां हैं जिन्हें तीन खण्डों में बांटा जा सकता है। अन्तिम पंक्ति स्तम्भ के आधार से करीब ६०" ऊंचाई पर है। प्रथम खण्ड में ८ श्लोक हैं। इनमें उसके द्वारा पराजित, उन्मूलित अथवा प्रभावान्तर्गत लाए गए राजाओं और राज्यों की चार सूचियां दी गई हैं और स्वयं समुद्रगुप्त की सर्वतोमुखी प्रतिभा का वर्णन है। तीसरा खण्ड गद्य पद्य दोनों में है। इसमें एक श्लोक है और शेष भाग गद्य में है। इसमें समुद्रगुप्त का वंशवृक्ष तथा इस प्रशस्ति के लेखक एवं अनुष्ठाता के विषय में कुछ सूचनाएं दी गई हैं। इस प्रकार यह लेख एक 'चम्पू' (गद्य-पद्य मिश्रित काव्य) है। इसमें प्रदत्त ९ श्लोकों के **छन्द** इस प्रकार हैं—१-२: अज्ञात; ३, ५ तथा ८: स्रग्धरा; ४ तथा ७: शार्दूल विक्रीडित; ६: मन्द्राकान्ता; ९: पृथिवी। अन्य अभिलेखों में वंश-वृक्ष जिसे 'पूर्वा' कहा जाता है, प्रायः लेख के प्रारम्भ में मिलता है, इसमें इसे अन्तिम खण्ड में रखा गया है।

खण्डित अंश—प्रयाग-प्रशस्ति के अन्तिम दो खण्ड बहुत अच्छी अवस्था में मिलते हैं। परन्तु प्रथम खण्ड को काफी क्षति पहुँच चुकी है। एक, इसकी पंक्तियों के मध्य और ऊपर बहुत से मध्यकालीन लेख खोद दिए गए हैं। दूसरे, इस भाग में यत्र तत्र स्तम्भ से प्रस्तर-खण्ड टूट गए हैं। तीसरे, प्रथम पंक्ति के प्रथम शब्द के ऊपर से १४ वीं पंक्ति तक वाले भाग में स्तम्भ में एक दरार पड़ गई है। इन कारणों से प्रथम खण्ड का काफी हिस्सा नष्ट हो गया है। प्रथम दो श्लोकों के तो मात्र कुछ ही अक्षर पढ़े जा सकते हैं, शेष श्लोकों में भी यत्र तत्र उनके काफी बड़े भाग को पढ़ना कठिन हो गया है। लेकिन इसके बावजूद इस खण्ड के मूल अभिप्राय को समझने में बहुत कठिनाई नहीं होती।

क्या प्रयाग-प्रशस्ति मरणोत्तर-लेख है ?—प्रिन्सेप ने १८३७ में यह मत प्रतिपादित किया था कि यह लेख समुद्रगुप्त का मरणोत्तर-लेख है। उन्होंने ३०वीं पंक्ति में 'आचक्षाण इव भुवो' के स्थान पर 'आचक्षाणः बभूव' पढ़ा और निष्कर्ष निकाला कि उस समय तक समुद्रगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी। १८८८ ई० में फ्लीट ने अपने 'कॉर्पस' में इस अंश का सही पाठ प्रकाशित किया परन्तु इसके बावजूद वह यह मानते रहे कि यह लेख समुद्रगुप्त की मृत्यूपरान्त उसके पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त ने लिखवाया था। उन्होंने २९वीं-३०वीं पंक्तियों में 'त्रिदशपतिभवनगमन' का अर्थ करते समय इन्द्रलोकगमन करने वाला स्वयं समुद्रगुप्त को बताया और इसकी व्याख्या करते समय पाद-टिप्पणी में 'अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाने पर' शब्द जोड़ दिए। लेकिन जैसा कि सर्वप्रथम ब्युलर ने १८८९ ई० में ही वीयना-अकादमी के मुख-पत्र में प्रकाशित जर्मन भाषा में लिखित एक लेख में दिखाया था, फ्लीट का यह अनुवाद अशुद्ध है। अब लगभग सभी विद्वान् यह मानते हैं कि यह लेख स्वयं समुद्रगुप्त के जीवन काल में लिखा गया था। प्रमाण: (१) २९वीं-३०वीं पंक्तियों में समुद्रगुप्त के स्वर्ग-गमन की नहीं वरन् मात्र उसकी कीर्त्ति के वहां तक पहुंचने की चर्चा है। इस प्रकार की बात तो उसके सिक्कों पर भी कही गई है यथा: अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति। (२) समस्त लेख में भूतकालिक क्रिया का अभाव है। (३) अगर यह लेख द्वितीय चन्द्रगुप्त ने लिखवाया होता तो इसमें उसका भी नाम मिलता (हालांकि ऐसा होना अनिवार्य

नहीं था—मेहरौली-लेख एक मरणोत्तर-लेख है परन्तु उसमें उसको लिखवाने वाले राजा का नाम नहीं है)। (४) समुद्रगुप्त ने अश्वमेध किया था यह उसके उत्तराधिकारियों के लेखों एवं स्वयं उसके अश्वमेध प्रकार के सिक्कों से प्रमाणित है। लेकिन इस लेख में अश्वमेध की चर्चा नहीं है। अतः अनुमान किया गया है कि इसे अश्वमेध किए जाने के पूर्व ही लिखवा दिया गया था। हमारे विचार से यह भी सम्भव है कि इसे स्वयं अश्वमेध के अवसर पर उत्कीर्ण कराया गया हो क्योंकि शास्त्रों के अनुसार अश्वमेध के अवसर पर यजमान के युद्धों का वर्णन किया जाना एक आवश्यक क्रिया थी (दे०, रायचौधुरी, पो० हि० ए० इ०, पृ० १७१)। यह भी हो सकता है कि स्वयं यह स्तम्भ अश्वमेध के अवसर पर कौशाम्बी से प्रयाग लाया गया हो और यज्ञ में शोभा-यूप के रूप में प्रयुक्त हुआ हो (गोयल, हि०इ०गु०, पृ० १८८)। (५) समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के लेखों में उसके लिए प्रयुक्त ‘चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्ता’, ‘चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसा’, ‘न्यायागतानेकगोकोटिहिरण्यप्रदस्य’ आदि उपाधियां इस लेख में नहीं मिलतीं। (६) इस लेख के अन्त में हरिषेण कहता है कि उसकी बुद्धि भट्टारक के ‘इन्हीं’ चरणों के (एषामेव भट्टारकपादानां) समीप क्रियाशील रहने के कारण विकसित हो गई थी। इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त उस समय भी जीवित था। अगर वह उस समय तक दिवंगत हो गया होता तो हरिषेण इस स्थल पर ‘भट्टारक’ के , उन्हीं’ चरणों (तेषामेव भट्टारकपादानां) की चर्चा करता।

अध्ययन-इतिहास—प्रयाग-प्रशस्ति का सर्वप्रथम प्रकाशन १८३४ ई० में पहिले कैप्टन ट्रॉयर ने शिलामुद्रण सहित जे० बी० ए० एस०, ३, (पृ० ११८) में और फिर उसी वर्ष उसी पत्रिका में (पृ० २५७) पादरी डब्ल्यू० एच० मिल ने किया। परन्तु उनके द्वारा प्रस्तावित पाठ एकदम अशुद्ध था। उदाहरणार्थ ट्रॉयर ने समुद्रगुप्त के पितामह का नाम ‘यज्ञकच’ पढ़ा था, और समुद्रगुप्त को चन्द्रगुप्त की उस रानी का पुत्र बताया जो ‘लिच्छ-विक्रुति’ की पुत्री थी और ‘महादिव्य कुमार’ वंश में उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार मिल ने १८वीं पंक्ति में समुद्रगुप्त की युद्धप्रिया और स्वतन्त्ररूपेण शासन करने वाली अनेक सासों का उल्लेख माना था जिनकी कन्याओं को समुद्रगुप्त ने युद्ध में जीत लिया (दे०, गोयल, हि० इ० गु०, पृ० ३-४)। १८३७ में उसी पत्रिका में (६, पृ० ९६९) में प्रिन्सेप ने इस लेख का अपना पाठ, अनुवाद व शिलामुद्रण छापा। १८७० में भाऊदाजी ने इस लेख पर एक शोध-निबन्ध रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा के सम्मुख पढ़ा, पर यह कभी प्रकाशित नहीं हुआ—मात्र इसकी जानकारी जे० बी० आर० ए० एस०, ९, पृ० १९६ पर छपी। अन्ततः फ्लीट ने १८८८ में इसे अपने कॉर्पस, ३, में सम्पादित किया (सं० १)। तब से लेकर अब तक ब्युलर, स्मिथ, भाण्डारकर, जायसवाल, सोहोनी, छाबड़ा, सरकार तथा अन्यान्य अनेक विद्वानों की शोधों से इसका सही पाठ लगभग पूर्णतः सुनिश्चित हो गया है। इसका अर्थ भी अब स्पष्ट है, केवल कुछ स्थलों की व्याख्या के विषय में मतभेद है जो कहीं-कहीं काफी गहन है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० ६ अ०; वही, भाण्डारकर द्वारा संशोधित तथा छाबड़ा एवं गायि द्वारा सम्पादित संस्करण, पृ० २०३-२२० (आगे यह ग्रन्थ ‘संशोधित कॉर्पस ३’ नाम से उल्लिखित है); भाण्डारकर-सूची, सं० १५३८; सरकार, स० इ०, पृ० २६२ अ०; पी०आई० एच० सी०, १९५४; जायसवाल, जे० बी० ओ० आर० एस०, १८, पृ० २०७ अ०; सोहोनी, ए० बी० ओ० आर० आई०, ३९, पृ० ३४ अ०; जे० बी० आर० एस०, ५१, पृ० २८-४७; हेरास, ए० बी० ओ० आर० आई०, १२, पृ० ४५५ अ०; शर्मा, दशरथ, पी० आई० एच० सी०, १९५३; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इ०, पृ० ७२ अ०; छाबड़ा, आई० एच० क्यु०, २४, पृ० १०४ अ०; आई० सी०, १४, अंक ४, पृ० १ अ०; दिस्कल्कर, सेलेक्शन्स, सं० ३; साधुराम, जे० ए० आई० एच०, १, पृ० ६५-७७; राघवन, जे० ओ० आर०, १६, पृ० १५९-६२; गोयल, पी० ओ० सो० गोहाटी सेशन, पृ० १५३ अ०; प्रशस्ति में वर्णित राज्यों व राजाओं की पहिचान के लिये देखें :—स्मिथ, जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० ८५९;

एलन, कैटेलॉग, पृ० २१ अ०; दुब्रील, एन्श्येण्ट हिस्टरी ऑव डकन; दीक्षित, के० एन०, पी० ओ० सी०. १; भाण्डारकर, आई० एच० क्यु०, १, पृ० २५ अ०; रामदास, जी०, वही, पृ० ६७६; शर्मा, तेजराम, पर्सनल एण्ड ज्योग्रोफिकल नेम्स इन द गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स; गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, ३, पृ० १०२ अ० ।

मूलपाठ

१. [यः]...कुल्यैः (?)...स्वै......ातस..................
२. [यस्य ?]............(॥*) [१*]
३. ...मुं (?) व...................
४. [स्फु] रद्वं (?).........क्षः स्फुटोद्ध [ं] सित......प्रवितत......(॥*) [२*]
५. यस्य प्र [ज्ञानु] षङ्गोचित-सुख-मनसः शास्त्र-त [त्त्व] ात्थ-भर्त्तुः
— —स्तब्धो‿— — —‿नि‿‿‿‿—नोच्छ्र— —‿— —(।*)
६. [स*] त्काव्य-श्री-विरोधान्बुध-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा
[वि] द्वल्लोके (ऽ*) वि [ना] [शि*] स्फुटबहु-कविता-कीर्त्ति-राज्यं भुनक्ति (॥*) [३]
IMP. ७. [आ] र्य्यो हीत्युपगुह्य भाव-पिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः रोंये खड़े हो गये। आ जाओ [illegible] राजा बनो
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षि [त]ः (।*)
८. [स्ने] ह-व्यालुलितेन बाष्प-गुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो नि [रीक्ष्य] निखि [लां*] [पाह्येव*] [मुर्वी] मिति (॥*) [४]
९. [दृ*] ष्ट्वा कर्माण्यनेकान्यमनुज-सदृशान्य [द्भु] तोद्भिन्न-हर्षा
भ [ा*] वैरास्वादय [न्तः*]‿‿‿‿‿‿‿— — — —‿[के*] चित् (।*)
१०. वीर्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्य वृत्ते (ऽ*) प्रणामे-
(ऽ*) प्य [र्त्ति ?]-[ग्रस्तेषु*]— —‿‿‿‿‿— —‿— — —‿— —(॥*) [५*]
११. संग्रामेषु स्व-भुज-विजिता नित्यमुच्चापकाराः
श्वः-श्वो मान-प्र‿‿‿— —‿— —‿— —(।*)
१२. तोषोत्तुङ्गैः स्फुट-बहु-रस-स्नेह-फुल्लैर्म्मनोभिः
पश्चात्तापं व‿‿‿‿— —‿म [?] स्य [ा] द्वसन्त [मृ ?] (॥*) [६*]
१३. उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य्य-रभसादेकेन येन क्षणा-
दुन्मूल्याच्युत-नागसेन-ग‿— — —‿— —‿—(*)
१४. दण्डैर्ग्राहयतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडता IMR.
सूर्य्ये (?) नित्य (?)‿— —तट‿— — — —‿— — — —‿—(॥*) [७]
१५. धर्म्म-प्राचीर-बन्धः शशि-कर-शुचयः कीर्त्तयः स-प्रताना
वैदुष्यं तत्त्व-भेदि प्रशम‿‿‿ कु—य्‿मु (सु?)—‿तात्थम् (?) (।*)
१६. [अद्ध्येयः] सूक्त-मार्ग्गः कवि-मति-विभवोत्सारणं चापि काव्यं
को नु स्याद्यो (ऽ*) स्य न स्याद्गुण-मति-[वि] दुषां ध्यानपात्रं य एकः (॥*) [८]
१७. तस्य विविध-समर शतावतरण-दक्षस्य स्वभुज-बल-पराक्रमैकबन्धोः पराक्रमाङ्कस्य परशु-शर-शङ्कु-शक्ति-प्रासासि-तोमर-
१८. भिन्दिपाल-न [ा] राच-वैतस्तिकाद्यनेक-प्रहरण-विरूढाकुल-व्रण-शताङ्क-शोभा-समुदयो-पचित-कान्ततर-वर्ष्मणः

१९. कौसलकमहेन्द्र-माह [ı*] कान्तारकव्याघ्रराज-क रालकमण्टराज-पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरि-
कौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमन-काञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तक-
२०. नीलराज-वैङ्गेयकहस्तिवर्म्म-पालक्ककोग्रसेन-दैवराष्ट्रककुबेर-कौस्थलपुरक-धनञ्जय-प्रभृति-सर्व्व-
दक्षिणापथराज-ग्रहण-मोक्षानुग्रह-जनित-प्रतापोन्मिश्र-माहाभाग्यस्य
२१. रुद्रदेव-मतिल-नागदत्त-चन्द्रवर्म्म-गणपतिनाग-नागसेनाच्युत-नन्दि-बल-वर्म्माद्यनेकार्य्यावर्त्तराज-
प्रसभोद्धरणोद्वृत्त-प्रभाव-महतः परिचारकीकृत-सर्व्वाटविक-राजस्य
२२. समतट-डवाक-कामरूप-नेपाल-कर्त्तृपुरादि-प्रत्यन्त-नृपतिभिर्म्मालवार्जुनायन-यौधेय-माद्रकाभीर-
प्रार्जुन-सनकानीक-काक-खरपरिकादिभिश्च सर्व्व-कर-दानाज्ञाकरण-प्रणामागमन-
२३. परितोषित-प्रचण्ड-शासनस्य अनेक-भ्रष्टराज्योत्सन्न-राजवंश-प्रतिष्ठापनोद्भूत-निखिलभु [व]
न-[विचरण-शा] न्त-यशसः दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि-शकमुरुण्डैः सैंहल-कादिभिश्च
२४. सर्व्व-द्वीप-वासिभिरात्मनिवेदन-कन्योपायनदान-गरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासन-[य] ाचनाद्युपाय-
सेवा-कृत-बाहु-वीर्य्य-प्रसर-धरणि-बन्धस्य पृथिव्यामप्रतिरथस्य
२५. सुचरित-शतालङ्कृतानेक-गुण-गणोत्सिक्तिभिश्चरण-तल-प्रमृष्टान्य-नरपति-कीर्त्तेः साध्व-
साधूदय-प्रलय-हेतु-पुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यवनति-मात्र-ग्राह्य-मृदुहृदयस्यानुकम्पावतो-(ऽ*) नेक-
गो-शतसहस्र-प्रदायिन [:]
२६. [कृप] ण-दीनानाथातुर-जनोद्धरण-स(म)न्त्रदीक्षाभ्युपगत-मनसः समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य
धनद-वरुणेन्द्रान्तक-समस्य स्वभुज-बल-विजितानेक-नरपति-विभव-प्रत्यर्प्पणा-नित्यव्यापृतायुक्त-
पुरुषस्य
२७. निशितविदग्धमति-गान्धर्व्वललितैर्व्रीडित-त्रिदशपतिगुरु-तुम्बुरुनारदादेर्व्विद्वज्जनोप-जीव्यानेक-
काव्य-क्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराज-शब्दस्य सुचिर-स्तोतव्यानेकाद्भुतोदार-चरितस्य
२८. लोकसमय-क्रियानुविधान-मात्र-मानुषस्य लोक-धाम्नो देवस्य महाराज-श्री-गुप्त-प्रपौत्रस्य
महाराज-श्री-घटोत्कच-पौत्रस्य महाराजाधिराज-श्री-चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य
२९. लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्री-समुद्रगुप्तस्य सर्व्व-
पृथिवी-विजय-जनितोदय-व्याप्त-निखिलावनितलां कीर्त्तिमितस्त्रिदशपति-
३०. भवन-गमनावाप्त-ललित-सुख-विचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः (।*)
यस्य ।

प्रदान-भुजविक्रम-प्रशम-शास्त्रवाक्योदयै-
रुपर्य्युपरि-सञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्ग्गं यशः (।*)
३१. पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटान्तर्गुहा-
निरोध-परिमोक्ष-शीघ्रमिव पाण्डु गाङ्गं [पयः*] (॥*) (१*)

एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपादानां दासस्य समीप-परिसर्प्पणानुग्रहोन्मीलित-मतेः
३२. खाद्य (कू*) टपाकिकस्य महादण्डनायक- ध्रुवभूति-पुत्रस्य सान्धिविग्रहिक-कुमारामात्य-म
[हादण्डनाय*] क-हरिषेणस्य सर्व्व-भूत-हित-सुखायास्तु ।
३३. अनुष्ठितं च परमभट्टारक-पादानुध्यातेन महादण्डनायक-तिलभट्टकेन ।

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ७ : फ्लीट ने प्रथम अक्षरों को 'आर्य्योहीं' पढ़ा हैं तथा छाबड़ा तथा सरकार ने 'एह्येहीं'। पंक्ति ६ : छाबड़ा व गायि 'लोके' के बाद 'विक्रुष्टं' पढ़ते हैं तथा राघवन 'विशाले'। पंक्ति ८ : छाबड़ा ने इस पंक्ति के अन्तिम अंश को 'निखिलाम् पाहि त्वमुर्व्वी मिति' (=समस्त पृथ्वी की

रक्षा तुम करो) पढ़ा है (आई० सी०, १४, अंक ४, पृ० १ अ०)। पंक्ति १३ : सातवें श्लोक में उल्लिखित अच्युत और नागसेन का उल्लेख २१वीं पंक्ति में भी है अतः वह राजा जिसके नाम का मात्र 'ग' अक्षर शेष है लगभग निश्चय ही गणपतिनाग होना चाहिये जो २१वीं पंक्ति में अच्युत और नागसेन के साथ उल्लिखित है। अतः सरकार ने १३वीं पंक्ति का पुनर्योजन इस प्रकार सुझाया है : उन्मूल्याच्युत-नागसेन-ग (णपत्यादीन् नृपान् सङ्गरे)। भाण्डारकर ने इसका पुनर्योजन 'गणपानाजौ समेत्यागतान्' सुझाया है। पंक्ति १९ : फ्लीट 'कौरालक' को सुधार कर 'कैरालक' पढ़ते हैं। पंक्ति २३ : 'प्रिथिव्या०' को 'पृथिव्या०' पढ़ें। पंक्ति ३० : 'यस्य' के उपरान्त विरामचिह्न अनावश्यक है। पंक्ति ३२ : भाण्डारकर ने प्रथम शब्द का पाठ 'खाद्यटपाकिक' दिया है।

ने इसे वहाँ का रहने वाला बताया है

मीनू स्जिष्ट करने वाला
Incharge of Royal Mess

शब्दार्थ

पं० १ कुल्यैः = सम्बन्धियों से

पं० ३ प्रवर्तित = फैला दिया; स्फुट = तोड़ दिया; उद्ध्वंस = विनाश

पं० ५ प्रज्ञा = विद्या, बुद्धि (ऐसी जो सत् और असत् में भेद कर सके); अनुषंग = संगति; भर्तृ = स्वामी, अधिकारी, पति; श्री = लक्ष्मी, सौन्दर्य, शोभा; विरोधान् = विरोधों, दोषों; बुध = विद्वान्; गुणित = निर्दिष्ट; हतानेवकृत्वा = मृत के समान करके अर्थात् नष्ट करके; स्फुट = स्पष्ट (अर्थवाली); भुनक्ति = उपभोग करता है

✓ पं० ७ आर्य = योग्य, श्रेष्ठ; उपगुह्य = आलिंगित करके; पिशुन = चुगली करना; भावपिशुन = भावों की चुगली करने वाले अर्थात् बताने वाले; उत्कर्णित = कान खड़े किये हुए सभ्य = सभासद; उच्छ्वस = (आनन्द या सन्तोष की) सांस लेना; तुल्यकुलज = समान कुल वाले, भाई-बन्धु; उद्वीक्ष = देखना; व्यालोल = कांपते हुए; व्यालुलित = व्याकुल; ईक्ष = देखना; तत्वेक्षिणा = तत्वदर्शी; वाष्पगुरुणा = अश्रुपूरित; पित्रा = पिता द्वारा; अभिहित = कहा गया; उर्वी = पृथिवी; पा = रक्षा करना

पं० ९ दृष्ट्वा = देखकर; अमनुज सदृश = अतिमानवीय; उद्भिन्न = प्रकट; आस्वादयन्तः = आस्वादन करते थे; केचित् = कोई, कुछ लोग; वृत्तेऽप्रणामे = प्रणाम करते थे; उत्तप्त = संतप्त

पं० ११ नित्यम् = नित्य, लगातार; अपकाराः = उपकार करने वाले; श्वःश्वः = कल-कल अर्थात् दिन प्रतिदिन; तोष = संतोष

पं० १३ उद्वेल = सीमा तोड़ कर बहने वाला; उद्वेलोदित = असीम; रभस = प्रचण्ड, वेग; एकेन = अकेले ही; उन्मूल्य = उन्मूलित कर दिये गये; दण्ड = सेना; पुष्पाह्वये = पुष्प (नामक नगर) में

पं० १५ प्रतन् = फैलना; वैदुष्यं = विद्वत्ता; अध्येयः = अध्ययन करने योग्य; सूक्तमार्गः = सूक्तों अर्थात् वेदों का मार्ग; उत्सारणं = हटाना अथवा मुक्त रूप से प्रकट करना; गुणमति-विदुषां = गुण और बुद्धि को पहिचानने में सक्षम विद्वान्

पं० १७ अवतरण = उतरना; शंकु = बर्छी; शक्ति = सांगा नाम का एक हथियार; प्रास = भाला; असि = तलवार; तोमर = गंडासा नाम का एक हथियार; भिन्दिपाल = ढेलवांस नाम का हथियार; नाराच = लौह बाण; वैतस्तिक = एक हथियार जो सम्भवतः भुजाली जैसा होता था; प्रहरण = शस्त्रास्त्र; विरूढ = उत्पन्न; आकुल = भरा हुआ; व्रण = घाव;

अंक = निशान; उपचित = बढ़ा हुआ, संर्वाधत; कान्ततर = और अधिक शोभायमान; वर्ष्मन् = शरीर

पं० १९ ग्रहण = पकड़ना; मोक्ष = छोड़ देना; अनुग्रह् = कृपा दिखाना; उन्मिश्र = संर्वाधत, बढ़ा हुआ; माहाभाग्य = महान् भाग्य, महान् समृद्धि

पं० २१ प्रसभ = बल; उद्धरण = समूल विनाश; उद्वृत्त = उठा हुआ, फैला हुआ; महतः = महान्; आटविक = वन्य; परिचारकीकृत = सेवक बनाया; प्रत्यन्त = सीमावर्ती; प्रचण्ड शासन = प्रचण्ड आज्ञाएं

पं० २३ भ्रष्टराज्य = राज्यविहीन; उत्सन्न = विनष्ट; देवपुत्र = 'देवपुत्र' परिवार का; मुरुण्ड = एक जाति का नाम, स्वामी; आत्मनिवेदन = अपने आपको निवेदित करना, स्वयं उपस्थित होना; उपायन = भेंट; कन्योपायनदान = कन्याओं को भेंट और दान (कन्यादान) में देना; गरुत्मत् = गरुड़; भुक्ति = प्रान्त; शासन = आज्ञापत्र; प्रसर = प्रसार

पं० २४ अप्रतिरथ = अप्रतिम, अद्वितीय, विष्णु का एक नाम; सुचरित = सुन्दर आचरण; उत्सिक्ति = उद्रेक, प्रभृष्ट = रौंदी हुई; उदय = उत्कर्ष; साधु = सज्जन; असाधु = दुर्जन; प्रलय = विनाश; हेतु = कारण; अचिन्त्य = विष्णु का एक नाम; अवनति = विनम्रता; अनेक शतसहस्र = लाखों; प्रदायिनः = देने वाला

पं० २६ कृपण = दुखी; दीन = गरीब; आतुर = आर्त्त; उद्धरण = उद्धार; उपगत = लगा हुआ; समिद्ध = ज्वलन्त; विग्रह = मूर्तरूप; धनद = कुबेर; अन्तक = यम; विभव = ऐश्वर्य, धन; प्रत्यर्पणा = लौटाना; व्यापृत = लगे हुए; आयुक्त पुरुष = पदाधिकारियों का एक प्रकार

पं० २७ निशित = तीक्ष्ण; विदग्ध = तीव्र, प्रखर; गान्धर्व ललितैः = गान्धर्व अर्थात् संगीत-विद्या के लालित्य द्वारा; व्रीडित = लज्जित; त्रिदशपति = इन्द्र; त्रिदशपतिगुरु = बृहस्पति; तुम्बुरु = एक गन्धर्व का नाम; उपजीव्य = कवियों को नवीन विचार देने वाले; शब्द = उपाधि; स्तोतव्य = प्रशंसा किये जाने योग्य; समय = नियम, व्यवहार; लोकसमय = लोक-व्यवहार; अनुविधान = निर्वाह, अनुष्ठान; लोकधाम्नः = (मानव) लोक में निवास करने वाला

पं० २९ सर्वपृथिवी विजयजनितोदय = समस्त पृथिवी की विजय से उत्पन्न; इतस् = यहां से; त्रिदशपतिभवनगमनावाप्त = इन्द्रलोक पहुंचने में; ललितसुखविचरणाम् = ललित और सुखमय गति वाली; आचक्षाण इव = घोषणा के समान है; उच्छ्रितः = उन्नत

पं० ३० प्रदान = दान; प्रशम = प्रशान्ति; शास्त्र वाक्य = शास्त्रीय मान्यता; उपर्युपरि = ऊपर ही ऊपर; उच्छ्रित = ऊपर उठता हुआ; उच्छ्रितमनेकमार्गः = अनेक मार्गो से ऊपर उठता हुआ; निरोध = बन्धन; पाण्डु = पीलापन लिए श्वेत; परिमोक्ष = मुक्ति

पं० ३१ एषामेव = इन्हीं; परिसर्प्पण = क्रियाशील होना; उन्मीलित = विकसित; खाद्यटपाकिक = राजकीय भोजनालय की देखरेख करने वाला पदाधिकारी; भूत = प्राणी; अनुष्ठित = पूरा किया (खुदवाया); पादानुध्यात = चरणों का ध्यान करने वाला।

अनुवाद

इस लेख की २९वीं-३०वीं पंक्तियों में कहा गया है कि वह स्तम्भ, जिस पर यह लेख उत्कीर्ण है, महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त की कीर्त्ति की घोषणा के समान है। अभिलेख के समस्त पूर्वगामी गद्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भाग में जो १७वीं पंक्ति में 'तस्य' से प्रारम्भ होता है, समुद्रगुप्त के चरित्र एवं सफलताओं का उसके विशेषणों के रूप में षष्ठी एकवचन में वर्णन किया गया है। गद्य भाग के पूर्व प्रदत्त आठ श्लोकों में भी 'तस्य' के विशेषण रूपी पदों में समुद्रगुप्त की योग्यता व उसके कुछ युद्ध आदि का वर्णन है। इस प्रकार अभिलेख के प्रथम दो खण्ड वस्तुतः एक महावाक्य है : यः-- तस्य-- समुद्रगुप्तस्य--- कीर्त्तिम्--- आचक्षाणः भुवोबाहुः इव अयं उच्छ्रितः स्तम्भः (वर्तते)।

पं० १ [जिसने]--- अपने सम्बन्धियों द्वारा----
[जिसका ?]----,----

पं० ३ [जिसने]--धनुष की टंकार---तोड़ दिया और विनष्ट किया---फैला दिया;--

पं० ५ जिसका मन विद्या की संगति के कारण उत्पन्न सुख की अनुभूति करने वाला है (अर्थात् विद्वन्मण्डली की संगति का व्यसनी है); जो शास्त्रों के तत्त्व (अर्थात् रहस्य) को जानने का अधिकारी (अर्थात् शास्त्रमर्मज्ञ) है;---निश्चल---;जो सत्काव्य और लक्ष्मी के विरोधों (अर्थात् सरस्वती और लक्ष्मी के पारस्परिक विरोध) को विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट (अपने) गुण रूपी आज्ञाओं द्वारा नष्ट करके स्पष्ट अर्थ वाली बहुत-सी कविताओं द्वारा कीर्त्ति रूपी राज्य का उपभोग करता है;—

पं० ७ वह जो सभासदों द्वारा आनन्द का उच्छ्वास लिये जाने पर बन्धु-बान्धवों द्वारा (ईर्ष्या से) मुरझाए चेहरों से देखा गया; जिसे स्नेह से व्याकुल, अश्रुपूरित तत्त्वदर्शी नेत्रों वाले, हृदय के भावों को प्रकट करने वाली खड़ी रोम-राशि वाले, पिता ने देखकर 'तुम सचमुच आर्य हो' कहकर गले लगा लिया और कहा 'इस भूमण्डल का पालन करो';—

पं० ९ कुछ लोग उसके अतिमानवीय अद्भुत कार्यों को देखकर हर्ष प्रकट करते हुए चाव से आस्वादन करते थे----कुछ, जो उसके शौर्य से संतप्त होते थे, शरणागत बनकर प्रणाम करते थे--------;—

पं० ११ लगातार अत्यधिक उपकार करने वालों को संग्राम में अपनी भुजाओं के बल से पराजित कर दिया, दिन प्रतिदिन मान----अतीव हर्ष एवं स्पष्ट तथा अत्यधिक आनन्द और स्नेह से प्रफुल्लित मन के साथ पश्चाताप----वसन्त----;—

पं० १३ जिसके द्वारा उसकी भुजाओं के असीम बल के वेग से अच्युत, नागसेन तथा ग(णपतिनाग आदि समस्त नृपति ?) उन्मूलित कर दिये गये; जिसने सेनाओं द्वारा कोतकुलज को पकड़वा मंगवा लिया, पुष्प नामक नगर में क्रीड़ा की, सूर्य--नित्य--तट---;—

पं० १५ जो धर्म की बन्धी हुई प्राचीर के तुल्य है; जिसकी निर्मल कीर्त्ति चन्द्रमा की किरणों की तरह चहुंदिश फैल रही है, जिसकी विद्वत्ता तत्त्वभेदि (अर्थात् मर्मस्पर्शिनी) है; --शान्ति--; जो वेदविहित मार्ग को ही अध्ययन के योग्य मानता है; जिसका काव्य कविमति (अर्थात् कवियों के ज्ञान) के विभव (अर्थात् अभिमान) को हटा देता है (अर्थात् चूर-चूर कर देता है) (अथवा, जिसका ज्ञान कवि विभव अर्थात् कवि-प्रतिभा की विभूति को मुक्त रूप से प्रकट कर देता है); जिसमें इस विश्व का कौन सा (गुण) नहीं है (अर्थात् जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं); जो गुण और बुद्धि पहिचानने में सक्षम विद्वानों के ध्यान का एक मात्र पात्र है;—

पं० १७ उसका, जो विविध प्रकार के शत समरों में उतरने में दक्ष है; जिसका एक मात्र बन्धु उसकी भुजाओं के बल का पराक्रम है; जो पराक्रम का सूर्य है (अथवा जिसकी उपाधि 'पराक्रमांक' है); जिसका शरीर परशु, बाण, बर्छी, सांगा, भाला, तलवार,

गंडासा, ढेलवांस, लौह-बाण, भुजाली आदि अनेक शस्त्रास्त्र (की चोट) से उत्पन्न सैकड़ों घावों के निशान से संवर्धित शोभा-समूह के कारण और अधिक शोभायमान हो गया है; —

पं० १९ कोसल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, केरल के मण्टराज, पिष्टपुर के महेन्द्रगिरि, कोट्टूर के स्वामिदत्त, एरण्डपल्ल के दमन, काञ्ची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तिवर्मा, पलक्क के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुबेर, कुस्थलपुर के धनञ्जय प्रभृति सभी दक्षिणापथ-नरेशों को पकड़ने तथा छोड़ देने और उन पर अनुग्रह दिखाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रताप से जिसकी महान् समृद्धि और बढ़ गई है; —

पं० २१ रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युतनन्दी (अथवा अच्युत और नन्दी) बलवर्मा प्रभृति अनेक आर्यावर्त-नरेशों को बलात् उन्मूलित करने से जिसका महान् प्रताप फैला हुआ है; —

जिसने सब आटविक राजाओं को अपना सेवक बना लिया है; जिसके प्रचण्ड आदेशों को समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि के प्रत्यन्त नृपति और मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खरपरिक आदि (जातियां) सर्वकरदान, आज्ञाकरण और प्रणाम करने के हेतु उपस्थित होकर सन्तुष्ट करती हैं; —

अनेक राज्यविहीन और विनष्ट राजवंशों को पुनः प्रतिष्ठापित कर देने के कारण उत्पन्न जिसका शान्त यश समस्त भुवन मण्डल में विचरण करता है; [दैवपुत्रषाहि, षाहानुषाहि, शक मुरुण्ड तथा सिंहलादि सब द्वीपों के निवासियों द्वारा आत्मनिवेदन, कन्याओं को दान और भेंट में देने तथा अपने-अपने विषयों और भुक्तियों पर (राज्य करते रहने के लिए) गरुड़ांकित आज्ञापत्रों की याचना आदि उपायों से सेवित जिसने अपनी भुजाओं के बल के प्रसार से सकल वसुधा को बांध दिया है (अर्थात् जिसने समस्त पृथिवी पर अपनी भुजाओं के बल से एकाधिराज्य स्थापित कर लिया है); —]

Imp.

पं० २४ जो पृथिवी पर (विचरण करने वाला) अप्रतिरथ (अर्थात् विष्णु) है; जिसने अपने सैकड़ों सुन्दर आचरणों से अलङ्कृत अपने गुणगणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्त्ति को अपने चरण तल से रौंद डाला है; जो सज्जनों के उत्कर्ष और दुर्जनों के अपकर्ष (अर्थात् विनाश) का कारण है; जो अचिन्त्य है; जिसका मृदु हृदय कृपालु होने के कारण भक्ति और विनम्रता मात्र से ग्राह्य है (अर्थात् वशीभूत हो जाता है); जिसने लाखों गौएं (दान) दी हैं; —

पं० २६ जिसका मन दुखी, गरीब, अनाथ और आर्त्त जनों के उद्धार मन्त्र (या यज्ञ) की दीक्षा में लगा हुआ है; जो लोक कल्याण का ज्वलन्त विग्रह है; जो कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान है; जिसके राजपुरुष उसके बाहुबल से जीते गये अनेक राजाओं के वैभव को लौटाने में नित्य (अर्थात् निरन्तर) व्यस्त रहते हैं; —

पं० २७ जो अपनी तीक्ष्ण एवं प्रखर बुद्धि से बृहस्पति को और संगीत कला के विलास में तुम्बुरु और नारद आदि को लज्जित करता है; जिसने विद्वानों को नवीन विचार देने वाले अनेक काव्यों की रचना द्वारा अपनी 'कविराज' उपाधि को प्रतिष्ठित कर लिया है; जिसके अनेक अद्भुत और उदार चरित (अर्थात् कार्य) चिरकाल तक प्रशंसा किये जाने योग्य हैं; जो लोक-व्यवहार के अनुष्ठान (अर्थात् पालन) मात्र की दृष्टि से ही

मनुष्य है (वरन्) पृथिवी पर (मानव रूप में) निवास करता हुआ देवता है;—

जो महाराज श्रीगुप्त का प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच का पौत्र, महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त का पुत्र (तथा) लिच्छवि दौहित्र है; जो महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न हुआ है—(उस) महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त की, समस्त पृथिवी विजय से उत्पन्न, अखिल भुवन मण्डल में व्याप्त, यहां से (अर्थात् इस लोक से) इन्द्रलोक पहुँचने में ललित और सुखमय गति रखने वाली कीर्त्ति की घोषणा के समान पृथिवी की भुजा जैसी यह उन्नत स्तम्भ (विराजमान है)। वह—

पं० ३० जिसकी कीर्त्ति दान, भुजबल, प्रशान्ति, शास्त्रीय मान्यताओं (के अध्ययन) के उदय से (अर्थात् विकास से) ऊपर ही ऊपर सञ्चित होती हुई (अर्थात् निरन्तर बढ़ती हुई) और अनेक मार्गों से बढ़ती हुई पशुपति की जटाओं के अन्तर्गुहा के बन्धन से मुक्त होकर वेगपूर्वक बहते हुए गंगा के पाण्डु जल के समान तीनों लोकों को पवित्र करती है।

और यह काव्य जो भट्टारक के इन्हीं चरणों के दास, (स्वामी के) समीप क्रियाशील रहने के कारण विकसित मति वाले, खाद्यट पाकिक महादण्डनायक ध्रुवभूति के पुत्र, सान्धिविग्रहिक, कुमारमात्य, महादण्डनायक हरिषेण की रचना है, सब प्राणियों के हित और सुख के लिये हो।

पं० ३३ और परमभट्टारक के चरणों का ध्यान करने वाले महादण्डनायक तिलभट्टक द्वारा यह अनुष्ठित हुआ (अर्थात् लिखवाया गया)।

व्याख्या

पंक्तियां ५–६ : श्लोक ३

(१) **सत्काव्य श्री विरोधान्**—इस पद में 'श्री' का अर्थ 'शोभा' और 'विरोधान्' का अर्थ 'दोष' मानने पर इसका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है : "जो सत्काव्य अर्थात् शास्त्र की दृष्टि से उत्तम काव्य की शोभा के दोषों को विद्वानों अर्थात् काव्यशास्त्रमर्मज्ञों द्वारा निर्दिष्ट (अपनी) गुण रूपी आज्ञाओं द्वारा…।" फ्लीट व गजेन्द्रगडकर ने इस पद का यही अर्थ किया है। लेकिन लक्ष्मी और सरस्वती का विरोध प्राचीनकाल में प्रसिद्ध था, इसलिये ऊपर दिया गया अनुवाद श्रेष्ठतर है।

तु० : परस्पर विरोधस्य तस्य राज्ये कथैव का।
संगतं श्री सरस्वत्योरपि येन प्रवर्तितम् ॥
—मदनवर्मा चन्देल का भगारी-शिलालेख (इ० आई०, १, पृ० २०६)।
निसर्ग भिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।
—रघुवंश ६. २९

परस्पर विरोधिन्योरेक संश्रय दुर्लभम्।
संगतं श्री सरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥
—विक्रमोर्वशीयम्, ५. २४

✓ **पंक्तियां ७–८ : श्लोक ४**

Imp

(१) **'तुल्यकुलज'** का अर्थ वैशम ने 'वह लोग जो गुप्तों के समान कुल के थे' किया है। परन्तु ऐसे लोग समुद्रगुप्त के चुनाव से दुःखी नहीं हो सकते थे। अतः यहां 'तुल्यकुलज' का अर्थ 'बन्धु-बान्धव' करना हीउचित होगा।

(२) इस श्लोक में स्पष्टत: प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा भरी सभा में समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने का उल्लेख है। यहाँ **सभा का उल्लेख** रोचक है। इसके सदस्यों की संख्या व कार्य अज्ञात हैं। सोहोनी के अनुसार यह ३ या ७ अथवा ९ सदस्यों की छोटी-सी सभा रही होगी। प्रभावतिगुप्ता के रिथपुर-दानपत्र में भी समुद्रगुप्त को प्रथम चन्द्रगुप्त के 'चरणों द्वारा स्वीकृत' बताया गया है :— महाराज श्री चन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादपरिगृहीत-लिच्छवि दौहित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराज श्री समुद्रगुप्तः। इसी प्रकार समुद्रगुप्त के एरण-अभिलेख (श्लोक ४) में कहा गया है कि समुद्रगुप्त अपने पिता (तात) द्वारा, जो उसकी भक्ति, नयशीलता एवं विक्रम से सन्तुष्ट था, अभिषेक एवं 'राजा' उपाधि (राज-शब्द-विभव) के सम्मान से पुरस्कृत किया गया था।

(३) प्रथम चन्द्रगुप्त के द्वारा समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित किये जाने का यह अनिवार्य अर्थ नहीं है कि समुद्रगुप्त को पैतृक साम्राज्य निर्विरोध प्राप्त हो गया था। यह सर्वथा सम्भव है कि '**तुल्यकुलजों**' अर्थात् उसके बन्धु-बान्धवों ने, जो उसके चुनाव से म्लानमुख हुए थे, उसके विरुद्ध विद्रोह किया हो। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने अपना उत्तराधिकारी अपने दूसरे पुत्र गोविन्द को चुना था परन्तु उसके बड़े लड़के स्तम्भ ने अपने पिता के फैसले को न मानकर विद्रोह कर दिया था (अल्तेकर, राष्ट्रकूटज एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ५९ अ०)। फादर हेरास (ए० बी० ओ० आर० आई०, १२, पृ० ४५५ अ०) ने ध्यान दिलाया है, प्रयाग-प्रशस्ति के ही अगले दो श्लोकों में, जो खण्डितावस्था में मिलते हैं, समुद्रगुप्त के कुछ शत्रुओं का उल्लेख करते समय 'पश्चाताप' और 'बहुरसस्नेह' से प्रफुल्लित हृदयों का और कुछ शत्रुओं द्वारा उसके अमनुजसदृश कार्यों को देखकर हर्षित होने का उल्लेख है। ऐसे शत्रुओं को उसके अपने सम्बन्धी—भाई आदि—मानना अधिक उचित होगा। उसके इन भाइयों में एक हो सकता है **काच** रहा हो जिसे मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर प्रथम चन्द्रगुप्त के बाद और द्वितीय चन्द्रगुप्त के पूर्व रखना अनिवार्य है। टॉमस आर० ट्रॉटमान (जे० आर० ए० एस०, १९७२, १, पृ० ४) ने भी यह सम्भावना मानी है। पी० एल० गुप्त ने उसकी पहिचान 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में उल्लिखित 'भस्म' के साथ सुझाई है (आई० एच० क्यु०, २२, पृ० ६१ अ०) जिसे यह ग्रन्थ समुद्रगुप्त का भाई बताता है (तस्याप्यनुजो विख्यातो भस्मात्यो नाम नामतः)। इस ग्रन्थ में राजाओं का उल्लेख करते समय कभी-कभी उनके नामों का पर्याय मात्र दे दिया गया है और 'काच' शब्द का एक अर्थ 'भस्म' भी होता है। विस्तृत अध्ययन के लिये दे०, गोयल, हि० इ० गु०, पृ० १९१ अ०; प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ९६; मजूमदार, को० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० १९-२०। विजयकुमार ठाकुर (जे० एन० एस० आई०, ३९, १९७७, पृ० १०८-१३) ने हमारा सुझाव स्वीकृत किया है।

(४) इस श्लोक का प्रथम शब्द फ्लीट ने '**आर्योहि**' पढ़ा था। छाबड़ा (आई० सी०, १४, अंक ४, पृ० १ अ०) ने इसे 'एह्येहि' पढ़ा है। इसके लिये उन्होंने 'विक्रमोर्वशीयम्' के अंक ५ व 'कादम्बरी' में कई स्थलों पर 'एह्येहि' के प्रयोग का उल्लेख किया है। हमको इसका सही पाठ पहिले 'अय्योहि' लगा था। परन्तु अब हमें फ्लीट का पाठ सही लगता है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने ध्यान दिलाया है कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में युवराज के लिये 'आर्य कुमार' का प्रयोग होता था। जातकों में भी युवराज को 'आर्य कुमार' कहा गया है—दे० पाणिनिकालीन भारत, पृ० ९३ तथा ३९२; दे० द्वितीय चन्द्रगुप्त के ६१वें वर्ष के मथुरा अभिलेख पर लिखित टि० ४। 'अभिधान चिन्तामणि' में 'आर्य' का एक अर्थ 'स्वामी' या 'प्रभु' बताया गया है (कॉर्पस ३, संशोधित संस्करण, पृ० २३९)।

(५) इस श्लोक में समुद्रगुप्त के मात्र **उत्तराधिकारी (युवराज) मनोनीत किए जाने का उल्लेख है अथवा प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा सिंहासन-त्याग का,** कहना कठिन है। ट्रॉटमान (पूर्वो०, पृ० ३) ने प्रथम विकल्प स्वीकार किया है। मजूमदार (वा० गु० ए०, पृ० १३९; को० हि० इ०, ३, भाग १,

य छाबड़ा (आई० सी०, १४, अंक ४, पृ० १ अ०) दूसरा विकल्प मानते हैं, जो सही हो सकता है। दे०, 'रामायण' में राम के यौवराज्याभिषेक का वर्णन 'रघुवंश' में कालिदास बताते हैं कि रघुवंशी नरेश वृद्धावस्था में सन्यास ग्रहण करके योग द्वारा शरीर त्यागते थे (वार्द्धे के मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्)। 'चन्द्रगर्भपरिपृच्छा' में महेन्द्रसेन, 'कथासरित्सागर में महेन्द्रादित्य, (इन दोनों की पहिचान प्रथम कुमारगुप्त से की गई है, दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० २०६) 'राजतरंगिणी' में कलश तथा स्वयं 'रघुवंश' में दिलीप वृद्धावस्था में अपने अपने पुत्रों को राज्य भार सौंप कर सन्यास लेते हैं। प्रथम कुमारगुप्त के 'अप्रतिघ' प्रकार के सिक्कों पर उसे मुनिवेश में दिखाया गया है और जूनागढ़-लेख में कहा गया है कि उसने आत्म शक्ति से स्वर्ग-लोक प्राप्त किया था (पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या)। इन दोनों साक्ष्य का यही अर्थ हो सकता है कि उसने वृद्धावस्था में सन्यास लेकर आत्म-साधना द्वारा देहत्याग किया था। अतः सम्भव है प्रथम चन्द्रगुप्त ने भी अपने अन्तिम वर्षों में सन्यास ले लिया हो। जायसवाल का यह मत कि चन्द्रगुप्त ने रणक्षेत्र में मरते समय समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था, निराधार है (दे०, गोयल, वही, पृ० ७८ अ०)।

पंक्तियां ९-२२: श्लोक ५-६

(१) तु० 'हर्षचरित' के दूसरे उच्छ्वास में बाण द्वारा हर्ष के ऐसे सामन्तों का वर्णन जो हर्ष के प्रताप अथवा उसके प्रति अनुराग के कारण (प्रतापानुरागागतैः) उसके प्रति आकृष्ट हुए और उसको ही अपनी एकमात्र शरण (अनन्यशरणैः) मानते थे।

(२) पांचवें और छठे श्लोकों में समुद्रगुप्त द्वारा ऐसे शत्रुओं को वशीभूत किए जाने का उल्लेख है जो सम्भवतः उसके निकट सम्बन्धी थे (दे०, पीछे, श्लोक ४ की टिप्पणी ३)।

पंक्तियां १३-१४ : श्लोक ७

(१) **अच्युत**—रेप्सन और स्मिथ के अनुसार सम्भवतः अहिच्छत्रा का (पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बरेली जिले का रामनगर, उत्तर पञ्चाल की प्राचीन राजधानी) शासक जहां से 'अच्यु' लेख वाली नाग शैली की कुछ ताम्रमुद्राएं मिली हैं। २१वीं पंक्ति में अच्युत के बाद आया शब्द 'नन्दि' अच्युत के नाम का ही दूसरा भाग हो सकता है। राजघाट से प्राप्त एक मुहर पर दक्षिण भारतीय गुप्त लिपि में महाराज श्री अच्युतवर्मा का नाम लिखा मिला है (जे० एन० एस० आई०, २३, पृ० ४१२)। लेकिन वह अच्युत कोई अन्य राजा होगा। **नागसेन**—रेप्सन के अनुसार सम्भवतः पद्मावती (ग्वालियर प्रदेश में नरवर से २५ मील उत्तर पूर्व की ओर स्थित पदम पवाया) का शासक। 'हर्षचरित' में उसका उल्लेख है : नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्य आसीत् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्। **गणपतिनाग**—भाण्डारकर ने इसे विदिशा का शासक माना है। परन्तु अल्तेकर का कहना है कि उसके सिक्के विदिशा से अधिक मथुरा में मिलते हैं। पुराणों में मथुरा के एक नाग वंश का उल्लेख है भी। इन तीन राजाओं के नागजातीय होने से लगता है कि समुद्रगुप्त की दृष्टि में उसके सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी और साम्राज्य निर्माण में सबसे बड़ी बाधा नाग राजा थे (दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ११६-२१)। हमारा यह सुझाव वी० पी० सिनहा को स्वीकार है (हि० बि०, पृ० २८)। कोतवंशी राजा अच्युत, नागसेन व गणपतिनाग को क्षण भर में उन्मूलित किये जाने से लगता है कि समुद्रगुप्त ने अपने इन शत्रुओं पर अचानक तेजी से आक्रमण किया था। इस दृष्टि से उसकी समरनीति नेपोलियन की समरनीति से तुलनीय हैं। **कोतकुलज**—सालेटोर ने उसे नाम साम्य के आधार पर कोटा प्रदेश में रखा है, जायसवाल ने उसकी पहिचान—कौमुदी महोत्सव' के कल्याणवर्मा और इसी लेख की २१वीं पंक्ति में उल्लिखित बलवर्मा से की है, रायचौधुरी ने गंगा की उपरली उपत्यका से प्राप्त 'कोट' लेख वाले सिक्कों के आधार पर उसे गंगा की उपरली उपत्यका

का शासक बताया है और रा० कु० मुकर्जी ने इन सिक्कों को 'श्रुत' सिक्कों के सदृश देख कर उसे श्रावस्ती का शासक माना है। लेकिन ये सभी मत अस्वीकार्य हैं (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० १०४ अ०)। प्रचलित धारणा के विपरीत उपर्युक्त सिक्कों का लेख 'कोट' है न कि 'कोत'। दूसरे 'कोत' तथा 'श्रुत' सिक्के कोसल से न मिलकर दिल्ली-पंजाब प्रदेश से मिलते हैं। (दे०, गुप्त, पी० एल०, गुप्त साम्राज्य, पृ० २५०)। कनिंघम ने इनकी तिथि भी ५०० से ८०० ई० आंकी है। हमारा विचार है कि कोतकुलज की पहिचान २१वीं पंक्ति में उल्लिखित **मतिल** से की जा सकती है। यह स्पष्ट ही है कि कोतकुलज अर्थात् कोतकुल में उत्पन्न राजा का उसके व्यक्तिगत नाम से उल्लेख २१वीं पंक्ति में भी होना चाहिए और उस सूची में परिगणित नरेशों में मतिल ही ऐसा है जो मथुरा, अहिच्छत्रा और पद्मावती नरेशों का पड़ौसी हो सकता है क्योंकि इस नाम का उल्लेख करने वाली एक मुहर उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले से प्राप्त हुई है।

(२) **पुष्प**—इस नगर की पहिचान प्रायः मगध की राजधानी पाटलिपुत्र से की जाती है जो 'दशकुमारचरित' तथा 'रघुवंश' आदि ग्रन्थों में कुसुमपुर या पुष्पपुर कही गयी है। इस श्लोक के आधार पर दि० च० सरकार आदि का यह भी सुझाव है कि पाटलिपुत्र या पुष्पपुर समुद्रगुप्त की राजधानी रहा होगा (स० इ०, पृ० २६४, टि० २)। लेकिन जैसा कि फ्लीट ने ध्यान दिलाया था इस श्लोक में यह स्पष्टरूपेण नहीं कहा गया है कि पुष्पपुर समुद्रगुप्त की राजधानी था। सरकार ने द्वितीय चन्द्रगुप्त के ४०१ ई० के उदयगिरि-लेख में उसके मन्त्री वीरसेन की 'पाटलिपुत्रक' उपाधि की ओर भी ध्यान दिलाया है। लेकिन पाटलिपुत्र अगर साम्राज्य की राजधानी होता भी तब भी कोई मन्त्री अपने को मात्र इसलिए 'पाटलिपुत्रक' नहीं कह सकता था क्योंकि वह मन्त्री होने के कारण वहां रहता था। आजकल केन्द्रीय सरकार का कोई मन्त्री अपने को मात्र देहली में रहने के कारण 'देहलवी' नहीं कहेगा। और अगर यह माना जाए कि वीरसेन जन्म से पाटलिपुत्र का नागरिक होने के कारण 'पाटलिपुत्रक कहलाया, तब उसके पाटलिपुत्रक होने से पाटलिपुत्र का राजधानी होना कैसे सिद्ध हुआ? इसी प्रकार मध्यकालीन अनुश्रुतियों में द्वितीय चन्द्रगुप्त को 'पाटलिपुत्रपुरवराधीश्वर' कहा जाना भी पाटलिपुत्र को साम्राज्य की राजधानी प्रमाणित नहीं करता क्योंकि इन्हीं अनुश्रुतियों में द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर भी कहा गया है। हमारे विचार से 'पुष्प' की पहिचान कान्यकुब्ज से करना अधिक उचित होगा। क्योंकि (१) युवान-च्वांग ने कन्नौज का एक अन्य नाम कुसुमपुर=पुष्पपुर भी बताया है (वाटर्स, ट्रेवेल्स. १, पृ० ३४१)। (२) दशरथ शर्मा (जे० ओ० आई०, १२, पृ० २८२–४) ने ध्यान दिलाया है कि आर्यक्षमीश्वर कृत 'चण्डकौशिक' की एक गाथा में कन्नौज को कुसुमपुर कहा गया है। (३) कन्नौज नगर मथुरा, अहिच्छत्रा और पद्मावती से लगभग समान दूरी पर, १२५ से १५० मील के करीब, था इसलिए हो सकता है समुद्रगुप्त ने इसे नागों के विरुद्ध अपने सैनिक अभियान का केन्द्र बनाया हो, यहां से तेजी के साथ इन नगरों पर आक्रमण किया हो (क्षणात्) और विजय प्राप्ति के उपरान्त यहां कुछ दिन आनन्द मनाया हो।

(३) जायसवाल का कहना था कि समुद्रगुप्त के आविर्भाव के समय पुष्पपुर (उनके मतानुसार पाटलिपुत्र) पर कोतकुलज का अधिकार था और समुद्रगुप्त ने उसे हरा कर इस नगर पर अधिकार किया था। पर श्लोक की भाषा से कोतकुलज का पुष्प के साथ कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। जायसवाल का यह भी मत था कि इस श्लोक में उल्लिखित सब नरेशों के साथ युद्ध कौशाम्बी में लड़ा गया था। परन्तु यह उनकी कल्पना मात्र ही है। सोहोनी का कहना है कि हरिषेण ने कोतकुलज के बन्दीकरण का नहीं, स्वतन्त्र किए जाने का उल्लेख किया है (ए० बी० ओ० आर० आई, ३६, पृ० ४१)। लेकिन यह अर्थ शुद्ध नहीं है।

पंक्तियां १५-१६ : श्लोक ८

(१) **धर्म प्राचीर बन्ध**—तु० अफसड़-लेख में माधवगुप्त को 'धर्मस्यसेतुर्द्दढ़:' कहा जाना।

पंक्तियां १७-१८

(१) **पराक्रमांक**—सोहोनी के अनुसार 'उन शत्रुओं पर आक्रमण जो उसके सामने नहीं झुके।' परन्तु 'पराक्रमांक' एक उपाधि थी जो समुद्रगुप्त के सिक्कों पर भी मिलती है। उसके व्याघ्रनिहन्ता और अश्वमेध प्रकार के सिक्कों पर यह क्रमशः 'व्याघ्र पराक्रमः' और 'अश्वमेध पराक्रमः' रूपों में मिलती है। 'विष्णुसहस्र नाम' में 'सत्य पराक्रम' तथा 'सत्य धर्म पराक्रम' विष्णु के नाम बताये गए हैं। उसके एक सिक्के पर उसे 'विक्रम' विरुद किया गया है जो 'पराक्रम' विरुद का ही पर्याय है (दे०, गोयल, एस० आर०, जे०, एन० एस० आई०, २७, पृ० १४२)।

(२) इस वाक्यांश में जिन **अस्त्र-शस्त्रों के नाम** आए हैं उनकी पहिचान कठिन है। कारण : एक, उनमें बहुत से मध्यकाल में अप्रचलित हो गए थे। दूसरे, हथियारों के नाम तो प्रायः पुराने चलते रहते हैं परन्तु उनकी बनावट प्रायः शनैः शनैः बदलती जाती है। तीसरे, एक ही हथियार, जैसे असि की बनावट कई तरह की हो सकती है। इसलिए इस वाक्यांश में उल्लिखित सब हथियारों को पहिचानना कठिन है। फिर भी यह सूची गुप्तकाल में प्रचलित अस्त्र-शस्त्रों की सर्वाधिक प्रामाणिक और पर्याप्त विस्तृत सूची होने के कारण महत्वपूर्ण है। युद्ध में लगे घाव आभूषणों से अधिक सुन्दर होते हैं यह एक पुराना विचार है। दे०, 'रघुवंश' का सोहोनी द्वारा उद्धृत एक प्रक्षिप्त श्लोक :

यौधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः।
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहास व्रणाङ्कैः॥

(३) सोहोनी ने '**स्वभुजबल**' को योद्धाग्रणी (=सेना के आगे चलने वाला मुख्य भाग) अर्थ में लिया है। परन्तु उस अवस्था में लेख का पाठ 'स्वबलभुज' होना चाहिये था।

पंक्तियां १९–२०

(१) **'दक्षिणापथ' :** राजशेखर ने 'बाल रामायण' में विन्ध्य पर्वत की दक्षिणी तलहटी में बहने वाली नर्मदा को आर्यावर्त और दक्षिणापथ की सीमा बताया है। विस्तृत अध्ययन के लिए द्र०, भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २१०–११।

(२) **कोसल**=दक्षिण कोसल (रायपुर, बिलासपुर सम्भलपुर, द्रुग जिले तथा गञ्जाम जिले का कुछ भाग)। तीवरदेव के राजीम-दानपत्रानुसार इसकी राजधानी श्रीपुर (रायपुर से ४० मील उत्तर पूर्व की ओर स्थित सिरपुर) थी। इसका राजा महेन्द्र अन्य साक्ष्य से अज्ञात है।

(३) **महाकान्तार** स्पष्टतः २१वीं पंक्ति में उल्लिखित आटविक प्रदेश से भिन्न था। 'महाभारत' (२।:१।१३–१५) में भी आटविकों और कान्तारकों में भेद किया गया। जी० रामदास ने इसकी पहिचान गञ्जाम जिले के झाड़खण्ड प्रदेश से की है, बनर्जी ने पूर्वी गोण्डवाना के वन्य प्रदेश से तथा जायसवाल और सथयेन्थियर ने कांकेर-बस्तर प्रदेश से। रायचौधुरी ने इसे बेनगंगा तथा प्राक्कोसल के मध्य स्थित माना है। लेकिन आजकल प्रायः मजूमदार का यह मत सही माना जाता है कि महाकान्तार उड़ीसा का जैपुर नामक वन्य प्रदेश होना चाहिए (वा० गु० ए०, पृ० १४०)। इसे एक प्राचीन लेख में महावन (=महाकान्तार) कहा गया है।

(४) **व्याघ्र**—अन्य साक्ष्य से अज्ञात है। कुछ लोग उसे नचने-की-तलाई और गञ्ज (बुन्देलखण्ड के भूतपूर्व जासो और अजयगढ़ राज्यों में स्थित) अभिलेखों में उल्लिखित व्याघ्रदेव मानते हैं जिसे

वाकाटक नरेश पृथिवीषेण का 'पादानुध्यात' कहा गया है। क्योंकि वाकाटक वंश में पृथिवीषेण नाम के दो राजा हुए— प्रथम पृथिवीषेण, जो समुद्रगुप्त का समकालीन था और द्वितीय पृथिवीषेण, जिसने स्थूलतः ४६०-८० ई० के मध्य शासन किया—इसलिये इन अभिलेखों के व्याघ्रदेव को या तो समुद्रगुप्त का समकालीन माना जा सकता है और या उसे पांचवीं शती के उत्तरार्द्ध में रखा जा सकता है। बुन्देलखण्ड प्रदेश में ही हमें व्याघ्र नामधारी एक अन्य राजा भी मिलता है। वह है उच्चकल्पवंशीय नरेश जयनाथ का पिता व्याघ्र। जयनाथ की ज्ञात तिथियां १७४ और १७७ हैं। इनको गुप्त संवत् की तिथियां मानने पर जयनाथ का समय लगभग ४८०-५०५ ई० और उसके पिता व्याघ्र का समय ४५५-८० ई० माना जायेगा। परन्तु जयनाथ की तिथियों को कल्चुरिचेदि संवत् की तिथियां मानने पर उसे पांचवीं शती के शुरू में और उसके पिता को चौथी शती ई० के उत्तरार्द्ध में रखना भी सम्भव हो सकता है। इस प्रकार यह व्याघ्र भी खींचतान कर समुद्रगुप्त का समकालीन माना जा सकता है। बहुत से विद्वानों का विचार है कि प्रयाग-प्रशस्ति का व्याघ्रराज नचने-की-तलाई और गञ्ज अभिलेखों का व्याघ्रदेव है, कुछ उसे उच्चकल्पवंशीय व्याघ्र मानते हैं और कुछ गञ्ज तथा नचने-की-तलाई अभिलेखों के व्याघ्रदेव और उच्चकल्पवंशीय व्याघ्र इन दोनों को ही प्रयाग-प्रशस्ति के व्याघ्रराज से अभिन्न समझते हैं। इस विषय में इन अभिलेखों की लिपि से विशेष सहायता नहीं मिलती। मिराशी नचने-की-तलाई और गञ्ज अभिलेखों के व्याघ्रदेव को पांचवीं शती ई० में रखते हैं और अतः इन लेखों की लिपि को पांचवीं शती ई० की बताते हैं (स्टडीज़ इन इण्डोलोजी, २, पृ० १६७ अ०) जबकि दिनेशचन्द्र सरकार, जो इस व्याघ्रदेव को चौथी शती ई० के वाकाटक राजा प्रथम पृथिवीषेण के अधीन मानते थे (क्ला०ए०, पृ० १७९), इन अभिलेखों की लिपि को चौथी शती ई० की बताते थे। लेकिन अब सरकार इन अभिलेखों को छठी शती ई० का मानते हैं (स०इ०, पृ० ४५६)। हमारा विचार है कि प्रयाग-प्रशस्ति के व्याघ्रराज का व्याघ्र नामधारी इन अन्य राजाओं से कोई सम्वन्ध नहीं है। प्रमाण : (१) भूमरा-सीमा-प्रस्तर-अभिलेख से स्पष्ट है, जयनाथ का पुत्र शर्वनाथ परिव्राजक राजा हस्ती का समकालीन था और हस्ती की निश्चित रूप से ज्ञात तिथियां गु०स० १५६ से १९८ तक हैं। उससे स्पष्ट है कि उसके समकालीन उच्चकल्पवंशीय नरेश शर्वनाथ की ज्ञात तिथियां (१९१ से २१४) गुप्त संवत् की ही होनी चाहिए। इसलिए शर्वनाथ के पिता जयनाथ की ज्ञात तिथियां (१७४ और १७७) भी गुप्त-संवत् की होंगी (=४९३ और ४९६ ई०) और तदनुसार जयनाथ के पिता व्याघ्र का समय पांचवीं शती के उत्तरार्द्ध के पूर्व नहीं माना जा सकता। (२) जहां तक नचने-की-तलाई और गञ्ज अभिलेखों के व्याघ्रदेव का प्रश्न है, वह उस प्रदेश का शासक था जहां समुद्रगुप्त के काल में आटविक राज्य थे और जहां बाद में परिव्राजक एवं उच्चकल्पवंशों के उपयुक्त राजाओं ने शासन किया। इसलिए इस व्याघ्रदेव को जयनाथ का पिता और द्वितीय पृथिवीषेण का 'पादानुध्यात' मानना ही ठीक होगा।

(५) **कोराल**—कीलहॉर्न, जायसवाल, सरकार, स्मिथ तथा बसाक आदि ने इसकी पहिचान कोलेर या कोल्लुरु झील के निकटवर्ती प्रदेश से की है। लेकिन रायचौधुरी और कृष्णराव का यह कथन उचित ही है कि कोलेर झील वाला प्रदेश वेंगी के हस्तिवर्मा के अधिकार में रहा होगा। बार्नेट ने इसे दक्षिण भारत के कोराड नामधारी अनेक गांवों में कोई एक माना है, कृष्णराव ने चांदा में स्थित कुलूट राज्य, रायचौधुरी ने गञ्जाम जिले का कोलड नामक स्थल, भाण्डारकर ने महानदी के किनारे स्थित प्राचीन ययातिनगर के आस-पास का प्रदेश (आधुनिक सोनपुर जिला) जहां 'पवनदूतम्' के रचयिता धोयी के अनुसार केरलियों का निवास था। परन्तु रायचौधुरी के अनुसार 'पवनदूतम्' का 'केरलीनाम्' पाठ सन्देह-ग्रस्त है। फ्लीट 'कौरालक' को सुधार कर 'कैरलक' पढ़ते हैं और इस प्रदेश को आधुनिक केरल मानते हैं। हमें उनका मत सही लगता है। प्रमाण : (१) कोराल नाम का कोई महत्वपूर्ण स्थान अभी तक अज्ञात है

जबकि केरल भारत का एक प्रसिद्ध प्रदेश रहा है । (२) कालिदास के 'रघुवंश' में रघु की दक्षिण-विजय का वर्णन करते समय, जिसे समुद्रगुप्त की दक्षिण-विजय के आधार पर लिखित माना जाता है, केरल तक का विस्तार से वर्णन है । (३) यह सुझाव इस मान्यता के विरुद्ध अवश्य है कि प्रयाग-प्रशस्ति के नामों को भौगोलिक क्रम से गिनाया गया है । परन्तु हरिषेण ने यह सूची अगर भौगोलिक क्रम से दी होती तो वेंगी का उल्लेख काञ्ची के पूर्व होता और एरण्डपल्ल का पिष्टपुर के पूर्व । कोराल=केरल का नरेश मण्टराज अन्य साक्ष्य से अज्ञात है ।

(६) प्रयाग-प्रशस्ति में मण्टराज के उपरान्त उल्लिखित **'पैष्टपुरक महेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्त'** वाक्यांश के विषय में बड़ा मतभेद है । फ्लीट के अनुसार इसमें 'पैष्टपुरकमहेन्द्र' और 'गिरिकौट्टूरक स्वामिदत्त' इन दो नरेशों का उल्लेख है । उनका कहना कि 'गिरि' शब्द केवल गोस्वामियों के नामों में प्रयुक्त होता है, अतः महेन्द्रगिरि किसी राजा का नाम नहीं हो सकता । परन्तु रायचौधुरी ने कोण्डविडु के रेड्डी राजा कुमारगिरि के नाम का उदाहरण देकर इसका खण्डन किया है । भाण्डारकर के अनुसार अगर 'गिरि' शब्द कोट्टूर' के साथ संयुक्त होता तो यहां लेख का पाठ 'गिरिकौट्टूरक' के स्थान पर 'गैरकोट्टूरक' होता । भाऊदाजी, स्मिथ, जायसवाल तथा भगवानलाल इन्द्रजी के अनुसार यहां हरिषेण ने पिष्टपुर, महेन्द्रगिरि तथा कुदुर (कोट्टूर) के नरेश स्वामिदत्त का उल्लेख किया है । परन्तु महेन्द्रगिरि किसी स्थान का नहीं एक सुप्रसिद्ध पर्वत का नाम है । जी० रामदास के अनुसार इस पद का अर्थ है 'स्वामिदत्त जिसकी राजधानियां पिष्टपुर और महेन्द्रगिरि के निकट कोट्टूर थीं' । लेकिन हरिषेण ने किसी और राजा की दो राजधानियों का उल्लेख नहीं किया है । इसलिए हमें सर्वोत्तम सुझाव भाण्डारकर का लगता है । इसके अनुसार इस स्थल पर हरिषेण ने 'पैष्टपुरक महेन्द्रगिरि' और कौट्टूरकस्वामिदत्त' इन दो नरेशों का उल्लेख किया है ।

(७) **कोट्टूर**—इसकी पहिचान स्मिथ (अ० हि० इ०, पृ० ३००) तथा दुब्रील ने गञ्जाम जिले के कोट्टूर स्थल से की है । सरकार व जायसवाल उनसे सहमत हैं । आयंगर ने इसे पिथापुरम् के समीप स्थित कोट्टूर या कोट्टुरू नाम का कोई स्थल बताया है और बी० ए० सालेटोर ने बेलारी जिले में स्थित कोट्टूर । लेकिन अगर फ्लीट का केरल विषयक सुझाव सही है तो कोट्टूर की पहिचान भी कोयम्बटूर जिले के कोट्टूर से की जा सकती है । आयंगर तथा एक समय स्मिथ (जे०'आर० ए० एस०' १८६७, पृ० २६) भी कोट्टूर को कोयम्बटूर प्रदेश में स्थित मानते थे । उसका राजा स्वामिदत्त अन्य साक्ष्म से अज्ञात है ।

(८) **पिष्टपुर**—गोदावरी जिले का आधुनिक पीठापुरम् । इसका उल्लेख पुलिकेशी के ऐहोले-लेख में हुआ है (षिष्टं पिष्टपुरं येन जातं दुर्गमदुर्गमम्—श्लोक २७) । इसका नरेश महेन्द्रगिरि अन्य साक्ष्य से अज्ञात है । **एरण्डपल्ल** की पहिचान फ्लीट ने खानदेश के एरण्डोल से की थी । इसका मतलब था यह मानना कि समुद्रगुप्त महाराष्ट्र भी गया था । लेकिन दुब्रील ने यह ध्यान दिलाया है कि उड़ीसा के तट पर चिकाकोल के समीप एरण्डपलि नाम के प्राचीन स्थल का उल्लेख देवेन्द्रवर्मा के सिद्धान्तम्-लेख में हुआ हैं । जी० रामदास का कहना है कि एरण्डपल का तादात्म्य विजगापटम में स्थित एंडिपल्ली अथवा एलोर के एण्डपिल्ली के साथ मानना चाहिए । परन्तु अब सब विद्वान् प्रायः दुब्रील का मत ही मानते हैं । इसका नरेश दमन अभी तक अज्ञात है परन्तु कुछ वर्ष पूर्व प्राचीन कलिंग के सिंहपुर नामक नगर से जारी किया गया लगभग ५वीं शती ई० का एक दानपत्र मिला हैं जिसमें शत्रुदमन नाम के एक राजा का उल्लेख है । हमारा विचार है वह प्रयाग-प्रशस्ति के दमन का वंशज रहा होगा । **काञ्ची**=आधुनिक काञ्जीवरम् । वहां पल्लव वंश का शासन था जिसमें इस युग में विष्णुगोप नामधारी राजा मिलते हैं । **अवमुक्त** और उसका नरेश नीलराज अभी तक अज्ञात है । रायचौधुरी ने इस प्रसंग में 'ब्रह्म पुराण' में चर्चित अविमुक्त

क्षेत्र की ओर, जो गौतमी (=गोदावरी) के तट पर स्थित था, तथा नीलपल्ली नाम के बन्दरगाह की ओर जो गोदावरी जिले में अवस्थित था, ध्यान दिलाया है। जायसवाल को अविमुक्त से हाथिगुम्फा-लेख में उल्लिखित आव प्रदेश का, जिसकी राजधानी पिथुण्ड थी, स्मरण होता था। **वेंगी**=गोदावरी जिले में एलौर से ६ मील उत्तर की तरफ स्थित आधुनिक वेगी अथवा पेडवेग्गी नामक स्थान। इसका नरेश हस्तिवर्मा शालंकायन वंश का था। उसका नाम शालंकायन लेखों में मिलता है। **पलक्क** की पहिचान स्मिथ ने मालाबार जिले के उत्तर में स्थित पालघाट से की थी, लेकिन अब सब विद्वान् दुब्रील के इस मत को मानते हैं कि इसकी पहिचान नेलौर जिले के पलक्कड से होनी चाहिए जिसे अभिलेखों में पल्लवों की एक प्रान्तीय राजधानी कहा गया है। इसके स्वामी उग्रसेन का परिचय अज्ञात है। **देवराष्ट्र** की पहिचान फ्लीट ने महाराष्ट्र से की थी और वाई० आर० गुप्ते और सथियन्थियर ने महाराष्ट्र के खानपुर तालुके के देवराठे ग्राम से। परन्तु दुब्रील ने ध्यान दिलाया है कि विजगापटम जिले से प्राप्त कसीमकोट-दानपत्र में देवराष्ट्र प्रान्त का उल्लेख है जिसे एलमञ्चीकलिंगदेश (येलमञ्चिली प्रदेश) का अंग बताया गया है। एक अन्य अभिलेख में पिष्टपुर को देवराष्ट्र राज्य का अंग बताया गया है। इसका समुद्रगुप्तकालीन शासक कुबेर अन्य साक्ष्य से अज्ञात है। **कुस्थलपुर** की पहिचान स्मिथ ने कुशस्थलपुर (=द्वारका) से की है, बार्नेट ने उत्तरी अर्काट के कुत्तलूर से तथा आयंगर एवं मुकर्जी ने कुशस्थली नदी वाले भूखण्ड से। परन्तु वस्तुतः कुस्थलपुर एवं इसका स्वामी धनञ्जय दोनों ही अभी तक अन्य साक्ष्य से अज्ञात हैं।

(९) **'ग्रहणमोक्षानुग्रह'** का अर्थ अधिकांश विद्वान् विजित राजाओं को 'पकड़ना, छोड़ देना और उनके राज्य उनको लौटा देना' करते हैं और कुछ अन्य इसका तात्पर्य 'पकड़ना और छोड़ देने का अनुग्रह दिखाना'। दोनों ही अवस्थाओं में निष्कर्ष निकलता है कि समुद्रगुप्त ने सभी बारह राजाओं को पकड़ लिया था। लेकिन कोसल से लेकर केरल तक के सभी राजा यथार्थतः बन्दी बना लिए गए होंगे, यह मानना असम्भव है। अतः हमारा विचार है कि इसमें एक नहीं दो नीतियों का उल्लेख है : 'पकड़ कर छोड़ देना (=ग्रहण-मोक्ष)' तथा '(विविध प्रकार से) अनुगृहीत करना (=अनुग्रह)'। दूसरी नीति उन राजाओं के साथ अपनाई गई होगी जिन्होने युद्ध न कर गुप्त सम्राट् के साथ स्वयमेव सन्धि करके अपने को उसकी कृपा का अधिकारी सिद्ध कर दिया होगा। सिकन्दर द्वारा पश्चिमोत्तर भारत में पुरु तथा आम्भी के साथ अपनाई गई नीतियाँ इन दोनों नीतियों का मिलता-जुलता उदाहरण हैं। हरिषेण ने एक वर्ग के राजाओं के साथ अपनाई गई एक से अधिक नीतियों का उल्लेख तीसरी और चौथी सूचियों में भी किया है। उदाहरणार्थ, चौथी सूची के राजाओं के सम्बन्ध में वह आत्म-निवेदन तथा शासन-याचन आदि अन्य नीतियों के साथ 'कन्योपायनदान' नीति का उल्लेख करता है। इसका अर्थ यह नहीं माना जा सकता कि सभी विदेशी नरेशों ने अपनी-अपनी कन्याएं समुद्रगुप्त के पास भेज दी थीं। यह नीति उस सूची के कुछ ही राजाओं ने अपनाई होगी। शेष ने 'आत्म-निवेदन' अथवा 'शासन-याचन' आदि नीतियां प्रयुक्त की होंगी। हमारा विचार है कि इसी प्रकार दक्षिण के केवल कुछ राजा ही बन्दी बनाकर छोड़े गए होंगे, शेष ने उसका 'अनुग्रह' अन्य साधनों से प्राप्त किया होगा। जी० रामदास ने यहां तीन नीतियों का—'पकड़ना, कृपा दिखाना और छोड़ना'—उल्लेख माना है (आई० एच० क्यु०, १, पृ० ६८८)। परन्तु किसी को छोड़ा तभी जा सकता है जब पहिले पकड़ा जाये। इसलिये यहां 'ग्रहण-मोक्ष' तथा 'अनुग्रह' इन दो नीतियों का उल्लेख मानना ही श्रेष्ठतर है।

(१०) **दक्षिणापथ पर आक्रमणों का उद्देश्य**—आयंगर, हेरास तथा बनर्जी के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण पर आक्रमण अश्वमेध करने के लिये किया था। परन्तु आखिर उसके मात्र दक्षिण पर आक्रमण का सम्बन्ध ही अश्वमेध से क्यों जोड़ा जाए? हमारे विचार से **समुद्रगुप्त का उद्देश्य दक्षिणी राज्यों के धन को लूटना था।** प्रमाण : (१) हरिषेण स्पष्टतः कहता है कि दक्षिण के राज्यों को जीतने के प्रताप

के परिणामस्वरूप उसके 'महाभाग्य' अर्थात् 'महान् समृद्धि' में वृद्धि हुई। अभी तक सभी विद्वान् 'भाग्य' को मात्र 'किस्मत' अर्थ में लेते रहे हैं। परन्तु 'भाग्य' का एक अर्थ वैभव या सम्पत्ति भी होता है (दे०, मोनियर विलियम्स्, डिक्शनरी, पृ० ७५२)। मजूमदार ने हमारी इस व्याख्या को, जो हमने हि० इ० गु० में लिखी थी, को० हि० इं०, ३, भाग १ में (पृ० २५) माना है। (२) आगे हरिषेण स्पष्टतः कहता है कि समुद्रगुप्त के आयुक्त पुरुष विजित नरेशों के धन को लौटाने (विभव-प्रत्यर्पणा) में संलग्न रहते थे। (३) दक्षिणी राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित न कर उनके वैभव को छीन लेना उत्तरी नरेशों की परम्परागत नीति थी। खारवेल ने पाण्ड्य नरेश को पराजित करके उसके अनन्त मणि और मोती छीने थे। पाण्ड्य राज्य के मोतियों की चर्चा १३वीं शती में वेनिस से आने वाले यात्री मार्कोपोलो ने भी की थी और १४वीं शती ई० में अलाउद्दीन का सेनापति मलिक काफूर उन्हें लूटने के लिए वहां पहुँचा था। गुप्तकालीन लेखक कालिदास अपने 'रघुवंश' में बताते हैं कि धर्मविजयी रघु ने कलिंग के राजा की 'श्री' अर्थात् लक्ष्मी को तो छीन लिया, उसके राज्य को नहीं लिया :

> गृहीत प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
> श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार, न तु मेदिनीम्॥
>
> —रघुवंश ४. ४३

इसके आगे भी रघु पाण्ड्यों के सारे मोती छीन कर और अपरान्त के राजा से मात्र कर लेकर इस नीति का अनुसरण करते हैं। (४) समुद्रगुप्त का समकालीन वाकाटक नरेश प्रथम पृथिवीषेण 'धर्मविजयी' कहा गया है। हमारे विचार से वह समुद्रगुप्त के प्रभुत्व को मानता था। अतः हो सकता है समुद्रगुप्त के दक्षिणापथीय अभियानों में भाग लेने के कारण वाकाटक लेखों में उसे 'धर्मविजयी' कह दिया गया हो। उसकी स्थिति कुछ वैसी ही रही होगी जैसी अलाउद्दीन के काल में देवगिरि-नरेश रामदेव की थी। (५) दक्षिण के जिस प्रदेश पर समुद्रगुप्त ने आक्रमण किया वह चौथी शती में विदेशी व्यापार के कारण बड़ा समृद्ध हो गया था। दक्षिण भारत में चौथी शती ई० तक के रोमक सिक्कों की कुल ५७ निधियां मिली हैं जिसमें ५० से अधिक पूर्वी समुद्रतटीय प्रदेश से लेकर मालाबार तक—जहां समुद्रगुप्त के आक्रमण हुए—उपलब्ध हुई हैं (ह्लर, रोम बियोण्ड दि इम्पीरियल फ्रण्टियर्स, पृ० १६४-६५)। दक्षिण पर आक्रमण करने से समुद्रगुप्त की महान् समृद्धि (महाभाग्य) में वृद्धि इस धन की लूट से भी हुई होगी। 'धर्मविजयी उपाधि का प्रयोग कानाखेड़ा-लेख में श्रीधरवर्मा शक के लिए हुआ है (सरकार, स० इ०, पृ० १८७)। क्या वह भी समुद्रगुप्त का समकालीन और उसके अधीन था ?

(११) समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर एक ही बार आक्रमण किया, यह पूर्वाग्रह निराधार है। जिस प्रकार उसने शेष सूचियों के विभिन्न राजाओं को विभिन्न युद्धों में परास्त किया होगा, वैसे ही **दक्षिण में भी हो सकता है उसने कई बार युद्ध लड़े हों**। इस सूची के आधार पर उसके दक्षिणापथ-अभियान-मार्ग अथवा प्रत्यागमन-मार्ग को तय करना उसी प्रकार असम्भव है जैसे महमूद गजनवी के द्वारा विभिन्न युद्धों में पराजित सब राजाओं की मात्र सूची बनाकर उसके आधार पर उसकी विजय-यात्रा का मार्ग निर्धारित करना।

(१२) समुद्रगुप्त के **दक्षिणी युद्धों में एक शायद लगभग ३६० ई० में लड़ा गया** था क्योंकि 'महावंस' के अनुसार लंका के राजा श्री मेघवर्ण के शासनकाल के नवें वर्ष (=३६१ ई०) में कलिंग की राजकुमारी हेममाला भगवान् बुद्ध के दन्तावशेष को लेकर लंका आई थी क्योंकि उसके राज्य पर किसी भयंकर शत्रु (=समुद्रगुप्त ?) ने आक्रमण कर दिया था। (सन्दर्भों के लिए दे०, गोयल, पूर्वो०)।

(१३) एक स्थल पर सरकार ने लिखा है कि शालंकायन महाराज हस्तिवर्मा के उन युद्धों में,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जिनमें उसने विजय प्राप्त की थी (पेडवेग्गी दानपत्र—अनेक समरावाप्तविजय), उसका समुद्रगुप्त के साथ युद्ध भी सम्मिलित रहा होगा (सक्सेसर्स ऑव दि सातवाहनज़, पृ० ९१)। स्पष्टतः सरकार यह मानते हैं कि समुद्रगुप्त हस्तिवर्मा के हाथों परास्त हुआ था । दुब्रील (एन्श्येण्ट हिस्टरी ऑव डकन, पृ० ६०) भी समुद्रगुप्त को दक्षिण में असफल हुआ मानते हैं । परन्तु ये मत पूर्णतः निराधार हैं ।

पंक्ति २१

(१) **आर्यावर्त**—इस सूची के समस्त नरेश आर्यावर्त में शासन करते थे । 'वशिष्ठ-धर्मसूत्र,' 'बौधायन-धर्मसूत्र' एवं पतञ्जलि के 'महाभाष्य' के अनुसार आर्यावर्त पश्चिम में अदर्शन (आधुनिक हिसार के समीप) से लेकर पूर्व में प्रयाग के समीप स्थित कालकवन तक एवं उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में पारियात्र तक विस्तृत था । लेकिन मनु ने आर्यावर्त को पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक तथा हिमालय से विन्ध्य तक प्रसरित बताया है :—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥
—मनु. २. २२

मनु के भाष्यकार मेधातिथि के अनुसार भी आर्यावर्त की यही सीमाएं थीं । इस अर्थ में आर्यावर्त भारतवर्ष का दक्षिणापथ के उत्तर में स्थित शेष भाग था । इस अर्थ में उत्तर भारत के लिए 'उत्तरापथ' नाम का प्रयोग भी होता था । चालुक्य लेखों में हर्ष को 'सकलोत्तरापथेश्वर' इसी अर्थ में कहा गया है । हरिषेण ने 'आर्यावर्त' शब्द का प्रयोग मनु के द्वारा प्रयुक्त अर्थ में किया है क्योंकि वह आर्यावर्त नरेशों में चन्द्रवर्मा को भी गिनाता है जिसका राज्य बंगाल में था । आर्यावर्त की बौधायनादि के द्वारा प्रदत्त परिभाषा मानने से चन्द्रवर्मा आर्यावर्त-नरेशों में नहीं गिना जा सकेगा । विस्तृत अध्ययन के लिये द्र०, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २०८-१० ।

(२) **रुद्रदेव**—रुद्रदेव की पहिचान सरकार ने शक महाक्षत्रप द्वितीय रुद्रदामा अथवा उसके पुत्र तृतीय रुद्रसेन (३४८-७८ ई० बीच में; ३५२-६३ ई० में शासन करने का प्रमाण नहीं) से की है । लेकिन समुद्रगुप्त ने शकों का चौथी सूची में पृथक्तः उल्लेख किया है । दूसरे, शकों के उन्मूलन का श्रेय समुद्रगुप्त को नहीं द्वितीय चन्द्रगुप्त को प्राप्त है । एस० चट्टोपाध्याय तथा एम० एम० नागर (जे० एन० एस० आई०, ११, पृ० १३) आदि कुछ विद्वान् रुद्रदेव को कौशाम्बी का स्वामी मानते हैं । परन्तु गुप्तों का उदय अगर प्रयाग-प्रदेश में हुआ, जैसा कि अब निश्चित है (दे०, गोयल, पूर्वो०, अध्याय २) तो प्रयाग के समीप स्थित कौशाम्बी उनके अधिकार में पहिले से ही रहा होगा । हमें जायसवाल, रा० कु० मुकर्जी व दण्डेकर का यह सुझाव सही प्रतीत होता है कि **रुद्रदेव की पहिचान वाकाटक नरेश प्रथम रुद्रसेन (लग० ३३५ से ३५५ ई०) से की जानी चाहिए । प्रमाण :** (१) वाकाटक नरेश की गणना उत्तर भारत के राजाओं में हो सकती थी क्योंकि वाकाटकों का उदय उत्तर भारत में हुआ था । (२) उनके अधिकार में आर्यावर्त का साञ्ची-एरण प्रदेश भी था । (३) समुद्रगुप्त ने उनसे केवल उनके उत्तर भारतीय प्रदेश ही छीने थे, दक्षिण भारतीय प्रदेश उनके ही पास छोड़ दिए थे । यह भी ध्यान रखना चाहिए कि (४) वाकाटकों को अपने अधीन किये बिना समुद्रगुप्त सुदूर दक्षिण पर आक्रमण नहीं कर सकता था । ऐसा प्रयास करने पर वाकाटक उसके आवागमन-मार्ग को काट सकते थे । (५) प्रथम प्रवरसेन के बाद किसी वाकाटक राजा ने 'सम्राट्' उपाधि धारण नहीं की । अल्तेकर का कहना है कि क्योंकि उसके उत्तराधिकारियों ने वाजपेय यज्ञ नहीं किया था, इसलिए वे यह उपाधि धारण नहीं कर सकते थे । परन्तु यशोधर्मा ने 'सम्राट्' उपाधि धारण की लेकिन उसके दो पर्याप्त लम्बे अभिलेखों में उसके द्वारा वाजपेय किए जाने की चर्चा नहीं है । स्मरणीय है कि धर्मशास्त्रों में इस विषय में परस्पर विरोधी नियम मिलते हैं । 'ऐतरेय ब्राह्मण' के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अनुसार 'सम्राट्' उपाधि राजसूय यज्ञ करने वाला धारण करता था जबकि 'शतपथ ब्राह्मण' में राजसूय को अभिषेक के समय किया जाने वाला सामान्य यज्ञ बताया गया है और 'सम्राट्' उपाधि के लिए वाजपेय का विधान है। अतः अगर प्रथम प्रवरसेन के बाद वाकाटक राजा मात्र 'महाराज' उपाधि से सन्तुष्ट रहे तो ऐसा उन्होंने विवशता से ही किया होगा न कि शास्त्रीय नियम का पालन करने की भावना से प्रेरित होकर। (६) उनकी 'महाराज' उपाधि चाहे परतन्त्रता का प्रमाण न हो, साम्राज्यिक सत्ता का प्रमाण कदापि नहीं मानी जा सकती जबकि 'सम्राट्' उपाधि साम्राज्यिक सत्ता का प्रमाण थी। स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा में यह अवनति अपनी मर्जी से नहीं की होगी। (७) विन्ध्य के उत्तर में स्थित जो प्रदेश वाकाटकों के हाथ में थे उन पर हम समुद्रगुप्त का अधिकार पाते हैं। एरण-लेख इसका प्रमाण है। ये तर्क सिद्ध करते हैं कि समुद्रगुप्त ने वाकाटकों को परास्त किया था (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० १२२-१२५)। मजूमदार (को० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० ४१-२) के अनुसार हमारे इस निष्कर्ष को 'असम्भव' कहकर नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता।

(३) **अन्य राजा**—इस सूची के शेष नामों में मतिल, नागसेन, गणपतिनाग तथा अच्युतनन्दि को हम पीछे पहिचान आये हैं (दे०, पृ० २८–९ श्लोक ७ की टि० १)। अगर **नन्दि** कोई पृथक् नरेश था तो हो सकता है वह कोई नाग राजा रहा हो। **नागदत्त**, जैसा कि उसके नाम से लगता है, कोई नाग राजा था। जायसवाल ने उसे लाहौर-ताम्र-मुहर में उल्लिखित महेश्वरनाग के पिता नागभट से अभिन्न माना है जबकि सरकार उसे परवर्ती गुप्त सम्राटों के 'दत्त' नामान्त गवर्नरों का पूर्वज बताते हैं। **चन्द्रवर्मा** को लगभग सभी विद्वान् चतुर्थ शती ई० की लिपि में लिखित सुसुनिया-लेख में उल्लिखित चन्द्रवर्मा मानते हैं। उसका राज्य पुष्करण (आधुनिक पोकरण, बांकुड़ा जिला, पश्चिमी बंगाल) के आसपास था। हमारा यह सुझाव कि पश्चिमी बंगाल की विजय में समुद्रगुप्त आर्थिक कारणों से प्रभावित हुआ होगा (प्रा० भा० रा० इ०, पृ० १२५), बी० पी० सिनहा को स्वीकार्य है (हि० बि०, पृ० २६)। सुसुनिया-लेख के चन्द्रवर्मा को मेहरौली-लेख का 'चन्द्र' अथवा मालवा के सिंहवर्मा का पुत्र मानने वाला मत अब धाराशायी हो चुका है (दे०, गोयल, ना० प्र० प० ६६, पृ० २६१–८१)। **बलवर्मा** को दीक्षित, बसु, दण्डेकर व भट्टसाली ने हर्षवर्धन के समकालीन कामरूप-नरेश भास्करवर्मा का पूर्वज माना है। परन्तु प्रयाग-प्रशस्ति में कामरूप का पृथक्रूपेण उल्लेख है। जायसवाल ने बलवर्मा को 'कौमुदी-महोत्सव' में चर्चित कल्याणवर्मा बताया है। हमारा विचार है कि बलवर्मा उपर्युक्त चन्द्रवर्मा का कोई सम्बन्धी—निकट पूर्वज या उत्तराधिकारी—हो सकता है। इन राजाओं के अतिरिक्त समुद्रगुप्त ने कुछ और राजाओं को भी उन्मूलित किया होगा जैसा कि 'आद्यानेकार्यावर्तराज' वाक्यांश से संकेतित है।

(४) रेप्सन (जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० ४२१) ने प्रयाग-प्रशस्ति के इन नरेशों की सामूहिक रूप से पहिचान पुराणों में वर्णित नवनागों से की थी। लेकिन प्रयाग-प्रशस्ति के राजाओं में कुछ ही नागजातीय थे। शेष नागेतर जातियों के थे।

(५) **प्रसभोद्धरण**—समुद्रगुप्त ने उत्तर भारत में शत्रुओं के 'प्रसभोद्धरण' अर्थात् समूल विनाश की नीति अपनाई। स्पष्टतः ये राजा मार डाले गए थे और उनके राज्य साम्राज्य में मिला दिए गए थे। साहित्य में इस नीति को 'असुर विजय' कहा गया है। दे०, समुद्रगुप्त का एरण-लेख, श्लोक ३। पुराणों में विश्वफणि नामक राजा को सब राजाओं को उन्मूलित करने वाला (उत्साद्यपार्थिवान्सर्वान्) तथा सब क्षत्रियों का विनाश करने वाला (उत्सादयित्वा क्षत्रं तु) कहा गया है। प्राचीन साहित्य में कहा गया है कि परशुराम ने क्षत्रियों का अनेक बार संहार किया था। क्या ब्राह्मण समुद्रगुप्त परशुराम से प्रेरित था? इस प्रसंग में उसका परशु को अपना विशेष हथियार बनाना महत्वपूर्ण हो सकता है। तु०, महापद्मनन्द को पुराणों में 'सर्वक्षत्रान्तक' और काच को उसके सिक्कों पर 'सर्वराजोच्छेत्ता' कहा जाना।

'सर्वराजोच्छेत्ता' उपाधि गुप्त अभिलेखों में स्वयं समुद्रगुप्त के लिए और प्रभावतिगुप्ता के दानपत्रों में द्वितीय चन्द्रगुप्त के लिये भी प्रयुक्त मिलती है।

(६) **आर्यावर्त में लड़े गये युद्धों की संख्या**—दुब्रील, दण्डेकर, जायसवाल, मुकर्जी, हेरास तथा चट्टोपाध्याय आदि के अनुसार आर्यावर्त में दो युद्ध लड़े गये थे—एक, वह जिसका उल्लेख सातवें श्लोक में हुआ है और दूसरा वह जिसका वर्णन इस सूची में हुआ है। लेकिन अच्युत, नागसेन तथा गणपतिनाग के लिये सातवे श्लोक में ही 'उन्मूलित' शब्द का प्रयोग हो गया है। यह सुझाव कि समुद्रगुप्त ने अच्युतादि नरेशों को दोबारा 'उन्मूलित' किया था (तेजराम शर्मा, प० ज्यो० ने०, पृ० ५३, टि० १५) हास्यास्पद है। त्रिपाठी, स्मिथ, एलन, सालेटोर तथा आयंगर आदि का कहना है कि आर्यावर्त में एक ही युद्ध लड़ा गया था। लेकिन क्या आर्यावर्त के विभिन्न प्रदेशों के नरेश एक ही युद्ध में उन्मूलित हो सकते थे? विद्वानों ने इस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है कि सातवें श्लोक में एक 'युद्ध' का वर्णन है जबकि प्रस्तुत 'सूची' में हरिषेण ने उन सब राजाओं को एक साथ गिनाया है जो समुद्रगुप्त द्वारा समय-समय पर उन्मूलित हुए। इसलिये इस सूची में उसने सातवें श्लोक के राजाओं को भी फिर से गिना दिया है। इसका अर्थ है कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त में विभिन्न समय पर अनेक युद्ध लड़े होंगे। इसी प्रकार शेष तीन सूचियों के राजाओं को भी उसने अपने अधीन विभिन्न समयों पर सुविधानुसार किया होगा। हरिषेण ने उन समस्त राजाओं की समुद्रगुप्त के द्वारा उनके लिये प्रयुक्त नीतियों के अनुसार (तिथिक्रमानुसार या भौगोलिक क्रमानुसार नहीं) चार सूचियाँ बना दी हैं।

पंक्तियां २१–२३

(१) **आटविक राज्य**—बुन्देलखण्ड से प्राप्त दो अभिलेखों में जिस पर गुप्त संवत् १९६ तथा २०९ तिथियां मिलती हैं, परिव्राजक महाराज हस्ती को डभाल अथवा डहाल एवं अष्टादश अटवी राज्यों का स्वामी (सरकार, स० इ०, पृ० ३९५) कहा गया है। डभाल निश्चितरूपेण मध्य प्रदेश का जबलपुर के आसपास वाला भूखण्ड था, इसलिये आटविक राज्यों को डहाल के पूर्व में स्थित छोटा नागपुर तक विस्तृत सघन वन्य प्रवेश माना जा सकता है। सन्ध्याकरनन्दी के ग्रन्थ 'रामचरित' की टीका में कोटाटवीं और कुछ लेखों में 'सहलाटवी' तथा 'वटाटवी' नाम मिलते हैं। 'महाभारत' में आटविकों और कान्तारकों में भेद किया गया है। लोकविग्रह के कनास-दानपत्र में 'तोसल्यां साष्टादशाटवीराज्यायाम्' की चर्चा (इ० आई०, ३८, पृ० ३३१) आई है। रायचौधुरी ने आटविक राज्यों के अन्तर्गत आलवक (गाजीपुर, उ० प्र०) को भी माना है। परन्तु वह प्रदेश गुप्तों के राज्य में पहिले से ही सम्मिलित रहा होगा। फ्लीट ने मोनियर विलियम्स् द्वारा चर्चित विन्ध्याटवी को नर्मदा से मथुरा तक विस्तृत माना है। परन्तु मथुरा के दक्षिणवर्ती भूखण्ड पर समुद्रगुप्त के अभ्युत्थान के समय नागों का शासन था।

(२) **परिचारकीकृत**—इस नीति को हरिषेण ने स्पष्ट नहीं किया है। 'हर्षचरित' में हर्ष के अधीन राजाओं द्वारा उसकी सेवा करने का (सेवाचामराणीवार्पयद्भिः) वर्णन हुआ है। कहा गया है कि वे 'अनन्यशरण' भाव से सम्राट् के दर्शन की अभिलाषा में दिन बिताते थे। शायद समुद्रगुप्त ने आटविक राजाओं को अपने अधीन करके बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड प्रदेश का राजनीतिक पुनर्गठन किया था और यहां कम से कम तीन नए वंशों की स्थापना की थी। एक, परिव्राजक वंश जिसके शासक अष्टादश अटवी राज्यों के स्वामी कहे ही गए हैं (दे०, पूर्वगामी टि०)। इसके संस्थापक सुशर्मा का समय लग० ३६०-८० ई० के मध्य पड़ेगा। दूसरा, उच्चकल्प वंश जिसका संस्थापक औघदेव भी समुद्रगुप्त का समकालीन रहा होगा (क्योंकि उसका चौथा वंशज जयनाथ समुद्रगुप्त के बाद की चौथी पीढ़ी के गुप्त सम्राट् बुधगुप्त का समकालीन था)। तीसरा राजवंश बम्हनी-दानपत्र से ज्ञात पाण्डव वंश है जिसका प्रथम नरेश जयबल समुद्रगुप्त का समकालीन प्रतीत होता है (क्योकि उसका तीसरा वंशज भरतबल लगभग ४५० ई० में शासन कर रहा था)। इस प्रदेश में समुद्रगुप्त के काल में एक साथ तीन राजवंशों की स्थापना होने से

लगता है कि समुद्रगुप्त ने इसका राजनीतिक पुनर्गठन किया था (विस्तृत अध्ययन के लिये दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० १२८–३०)।

(३) **'प्रत्यन्त' का अर्थ**—'अमरकोश' में 'प्रत्यन्त' का अर्थ म्लेच्छ देश बताया गया है (प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात्)। परन्तु सामान्यतः 'प्रत्यन्त' उन राज्यों को कहते थे जो किसी साम्राज्य की सीमा पर प रन्तु उसके अन्दर स्थित होते थे। 'राजोवादजातक' में 'पच्चन्त भूमि' किसी राज्य के सीमावर्ती प्रदेश को और 'पच्चन्तसीमा' उस प्रदेश व पड़ौसी राज्य के बीच की सीमा को कहा गया है (बरुआ, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, २, पृ० २३०)। कालिदास ने 'प्रत्यन्त' शब्द का प्रयोग किसी राज्य के सीमावर्ती प्रान्त के लिए ही किया है :—

स गुप्तमूल प्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्विजगीषया ॥

—रघुवंश, ४. २६

क्योंकि समुद्रगुप्त के 'प्रत्यन्त' राज्य उसे सर्वकरदान, प्रणामागमन और आज्ञाकरण आदि के द्वारा सन्तुष्ट रखते थे, इसलिए ये राज्य उसके साम्राज्य का अंग निश्चय ही थे।

(४) **प्रत्यन्त राज्यों की पहिचान**—'रिकार्डस्' तथा 'लाइफ' के सम्मिलित साक्ष्यानुसार कामरूप के दक्षिण, कर्णसुवर्ण (जि० मुर्शिदाबाद) के दक्षिण-पूर्व तथा ताम्रलिप्ति (जि० मिदनापुर) के पूर्व का प्रदेश—अर्थात् अविभाजित बंगाल का दक्षिण-पूर्वी भाग—**समतट** कहलाता था (सेन, बी० सी०, सम हिस्टोरिकल आस्पेक्ट्स् ऑव दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव बंगाल, पृ० ६१)। इसकी राजधानी कर्मान्त (तिपेरा जिले का बड़कामता नामक स्थान) थी (मजूमदार, हि० ब०, पृ० १७)। **डवाक** की पहिचान फ्लीट ने ढाका से की है, स्मिथ ने बोगरा, दीनाजपुर व राजशाही जिलों वाले प्रदेश से, बसाक ने ढाका के उत्तरी भाग व मैमनसिंह जिले वाले भूखण्ड से तथा टॉलेमी के 'ज्योग्रफीक' के आधार पर कर्नल जैरेनी ने उत्तरी बर्मा से। लेकिन आजकल सामान्यतः विद्वान् लोग बरुआ का अनुसरण करते हुए असम की कोपिली नदी की घाटी में नवगांग जिले के डबोक स्थल को डवाक से अभिन्न मानते हैं। **कामरूप** = ब्रह्मपुत्र की उपरली घाटी का गौहाटी प्रदेश (आधुनिक असम)। समुद्रगुप्त के काल में, स्पष्टतः गुप्त सम्राट् की कृपा से, यहां पुष्यवर्मा ने एक राजवंश की स्थापना की (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० १२७)। **नेपाल** से आशय गण्डक और कोसी के मध्य स्थित काठमाड़ौ की घाटी वाले प्रदेश से था। वहां उस समय लिच्छवि वंश का शासन था। **कर्त्तृपुर** को फ्लीट ने जालंधर जिले के कर्तारपुर से अभिन्न माना है, ओल्ढम, रायचौधुरी तथा स्मिथ ने कुमायूं-गढ़वाल तथा रोहिलखण्ड के भूतपूर्व कतूरिया राज्य से, दशरथ शर्मा ने मुल्तान और लोहनी के मध्य स्थित कहरोर से तथा भाण्डारकर ने 'काव्य मीमांसा' में वर्णित कार्त्तिकेयपुर से (जिसका उल्लेख पाण्डुकेशर तथा तालेश्वर लेखों में भी मिलता है और जो कुमायूं-गढ़वाल की सीमा पर स्थित था)। हमारे विचार से यह भी असम्भव नहीं है कि कर्त्तृपुर कश्मीर में कहीं स्थित रहा हो। युवान-च्वांग ने कुषाणोत्तर युग में शासन करने वाले एक कश्मीरी वंश को 'क्रितिय' नाम से उल्लिखित किया है। हो सकता है इस वंश की राजधानी कर्त्तृपुर रही हो और एक विदेशी के द्वारा लिखे जाने के कारण यह नाम बिगड़ कर 'क्रितिय' हो गया हो।

(५) **गण राज्यों की पहिचान**—प्रारम्भिक गुप्तकाल में **मालव** जाति अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश में बसी थी। उसकी राजधानी मालवनगर (आधुनिक नगर, जिला टोंक) थी। **आर्जुनायन** देहली-आगरा-जयपुर प्रदेश में निवास करते थे। **यौधेय** अविभाजित पंजाब के दक्षिणी-पूर्वी भाग और उत्तरी राजस्थान के विजयगढ़ (भरतपुर) तक विस्तृत प्रदेश में रहते थे। उनके उत्तर में, रावी-चिनाब दोआब में, **मद्रकों** का निवास था। **आभीरों** के प्रारम्भिक गुप्तकाल में कई उपनिवेश थे। एक उपनिवेश उत्तरी कोंकण में

था जहां उनका अभ्युत्थान सातवाहनों के ह्रासकाल में हुआ । सरकार ने इन्हीं आभीरों को प्रयाग-प्रशस्ति का आभीर माना है । दूसरा आभीर उपनिवेश, जो अहीरवाड़ा कहलाया, विदिशा और झांसी के मध्य था। अधिकांश विद्वान् इसे ही प्रयाग-प्रशस्ति के आभीरों का प्रदेश मानते हैं। तीसरा आभीर उपनिवेश पश्चिमी राजस्थान में था । इसकी चर्चा टॉलेमी के 'ज्योग्रेफीक' तथा 'पेरिप्लस' में अबीरिया नाम से हुई है । सम्भवतः ये वही आभीर हैं जिनकी चर्चा पतञ्जलि ने शूद्रों के साथ (शूद्राभीरान्) की है। पहिले वे पंजाब में रहते होंगे, बाद में पश्चिमी राजस्थान में आ बसे। हमारे विचार से यही प्रयाग-प्रशस्ति के आभीर होने चाहिएं । **प्रार्जूनों** का उल्लेख कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 'प्राज्जूणक' नाम से हुआ है । स्मिथ एवं भाण्डारकर ने उन्हें मध्य-प्रदेश के नरसिंहपुर जिले में रखा है परन्तु पी० एल० गुप्त उन्हें उत्तर-पश्चिम का निवासी मानते हैं । वह 'अर्थशास्त्र' की 'एक प्राचीन टीका' का उल्लेख करते हैं जिसमें प्रार्जूनों को 'चाण्डाल-राष्ट्र' कहा गया है (गुप्त, पूर्वो०, पृ० २६५) । द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल के एक उदयगिरि-लेख में एक **सनकानीक** जातीय 'महाराज' का उल्लेख मिलता है । इस आधार पर सनकानीकों को विदिशा प्रदेश का निवासी माना जाता है । विदिशा के समीप ही काकपुर नामक ग्राम तथा गुप्त संवत् ९३ के साञ्ची-लेख में काकनादबोट-महाविहार के उल्लेख के आधार पर स्मिथ, रायचौधुरी तथा सरकार आदि विद्वान् **काक** जाति को साञ्ची (प्राचीन नाम काकनादबोट) प्रदेश में रखते हैं । 'महाभारत' में काकों के साथ अन्य जातियों के अतिरिक्त साञ्ची के दक्षिण में विन्ध्य के पार निवास करने वाले विदर्भों का भी उल्लेख मिलता है (ऋषिका विदर्भाः काकस्तंगणाः परतंगणाः) । लेकिन पी० एल० गुप्त ने काकों का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम से माना है और बनर्जी ने उनकी पहिचान कश्मीर के काकों से की है । **खरपरिकों** का उल्लेख खर्पर नाम से बतियागढ़ से प्राप्त लेख में हुआ है, इसलिए भाण्डारकर ने इस लेख के प्राप्ति-स्थल के आधार पर इस जाति को मध्य प्रदेश के दामोह जिले में रखा है । लेकिन इस लेख में खर्परों के बारे में मात्र इतना कहा गया है कि सुल्तान महमूद ने मीर जुलाच को, जो खर्पर सेना के विरुद्ध लड़ा था, चेदि का गवर्नर बनाया था। इस कथन से खर्पर जाति के निवास-स्थल विषयक कोई संकेत नहीं मिलता । दशरथ शर्मा के अनुसार (आई० एच० क्यु०, ३२, पृ० ९६ अ०) खर्परों को मध्यकालीन लेखों में मंगोलजातीय माना गया है इसलिये खरपरिक मंगोल रहे होंगे । इन जातियों की पहिचान के विषय में पी० एल० गुप्त के उपर्युक्त सुझाव पी० आई० एच० सी०, १९५४, में प्रकाशित एक लेख पर आधृत हैं जिसकी चर्चा वह नहीं करते ।

(६) **'सर्वकरदान, आज्ञाकरण प्रणामागमन'**—ये नीतियां गुप्तकाल की सामन्तीय व्यवस्था पर प्रकाश देती हैं । बाण ने 'हर्षचरित' के दूसरे उच्छ्वास में हर्ष को प्रणाम करने के लिए आए (प्रणाम विडम्बना भय पलायमान मौलिभिरिव) अनेक प्रकार के सामन्तों का उल्लेख किया है जिनमें कुछ निर्जित होने के बाद भी सम्मानित होते थे (निर्जितैरपि सम्मानितैः) और कुछ उसके प्रति उसके प्रताप अथवा अनुराग के कारण आकृष्ट हुए थे (प्रतापानुरागागतैः) । 'सर्वकरदान' में 'कर' का अर्थ सामान्य कर है, 'कर' नाम का विशिष्ट कर नहीं । दे०, रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख । प्रणामागमन की नीति का रोचक वर्णन स्कन्दगुप्त के कहौम-स्तम्भ-लेख में है । "जिसका सभाभवन (=दरबार-ए-आम) सैकड़ों राजाओं के शीश झुकाने के कारण उत्पन्न वायु से हिल उठता है ।" इसी लेख में आगे उसको "सैकड़ों राजाओं का स्वामी" (=क्षितिप शतपतेः) कहा गया है (दे०, आगे) ।

पंक्तियां २३-२४

(१) **भ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठापन**—तु०, दक्षिण भारतीय राजाओं के साथ प्रयुक्त 'ग्रहण-मोक्षानुग्रह' नीति, जूनागढ़-लेख में प्रथम रुद्रदामा को 'भ्रष्टराजप्रतिष्ठापक' कहा जाना और पुराणों में विश्वफणि के लिए 'स्थापयिष्यति राजानो' पद का प्रयोग । 'रघुवंश' में इस नीति को 'उत्खातप्रतिरोपण' कहा गया है (४.३७) । और भी देखिए रघुवंश, ४.३५, ४.४३, ९.९ आदि ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(२) 'दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहिशकमुरुण्डैः' का अर्थ—इस पद में प्रयुक्त 'देवपुत्र' उपाधि महाकुषाणों के कनिष्क परिवार की थी और चीनी सम्राटों की 'तिएन्त्ज़ू' उपाधि का भारतीय रूपान्तर थी। ते० रा० शर्मा के अनुसार इसका प्रयोग स्वयं कुषाणों ने नहीं वरन् भारतीयों ने अपने कुषाण सम्राटों के लिये किया (प० ज्यो० ने०, पृ० १३०)। बुद्ध के लिये 'देवपुत्रवत्' उपाधि का प्रयोग बुधगुप्त के १५७ गु० स० के सारनाथ-अभिलेख में हुआ है। 'षाहि' और 'षाहानुषाहि' मूलतः ईरानी विरुद थे तथा साखा-मनीषियों के 'क्षायथिय' और 'क्षायथियक्षायथियानाम्' विरुदों से व्युत्पन्न थे। इनके पहलवी रूप थे 'शाओ' तथा 'शाओनानोशाओ', फारसी रूप बने 'शाह' और 'शाहान्शाह', यूनानी रूप थे 'बैसीलिओस' और 'बैसीलिओस बैसीलिओन', कुषाणकालीन रूप थे 'महरज' और 'महरज रजदिरज' तथा संस्कृत रूप थे 'राजा' और 'राजाधिराज'। 'षाहि' तथा 'षाहानुषाहि' पहलवी रूप 'शाओ' और 'शाओनानोशाओ' का संस्कृत रूपान्तर हैं। शक उस जाति विशेष का नाम था जो पश्चिमी भारत पर शासन करती थी, लेकिन इसका प्रयोग स्कीथियन परिवार की कुषाणादि आदि सभी जातियों के लिए भी होता था। स्टेन कोनो के अनुसार 'मुरुण्ड' शक भाषा में 'स्वामी' अर्थ में प्रयुक्त होता था, और शक-परिवार की एक जाति विशेष का नाम भी था (दे०, शर्वनाथ के खोह-दानपत्र में 'मुरुण्डदेवी' का उल्लेख)। हेमचन्द्र की 'अभिधान-चिन्तामणि' के अनुसार मुरुण्ड लम्पाक (=लमघान) में रहते थे (अन्य सन्दर्भों के लिये दे०, गोयल, पूर्वो०, अध्याय २)। कनिंघम का यह विचार कि 'मुरुण्ड' नाम अभी तक 'मुण्डा' नाम में सुरक्षित है, समीचीन नहीं है।

(३) 'दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहिशकमुरुण्डैः' की पहिचान—कनिंघम तथा बीवर (जे० एन० एस० आई०, १८, पृ० ३७-४१) ने इस सम्पूर्ण पद द्वारा केवल कुषाणों की ओर संकेत माना है। बीवर ने ध्यान दिलाया है कि कुषाण भी 'मुरुण्ड' कहलाते थे (दे०, जैडा-लेख में मुरुण्ड का 'मोरेड' रूप में 'राजा' अर्थ में कनिष्क के लिए प्रयोग)। फ्लीट तथा आयंगर ने इसमें पांच शक्तियों—देवपुत्र, षाहि, षाहानुषाहि, शक तथा मुरुण्ड—का उल्लेख माना है। पर भाण्डारकर ने ध्यान दिलाया है कि इस पद में 'देवपुत्र' नहीं 'दैवपुत्र' पाठ है। इसका अर्थ है यह शब्द स्वतन्त्र नहीं, अगले शब्द या शब्दों से सम्बन्धित है।

इन शक्तियों की सही पहिचान तत्कालीन पश्चिमोत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति की मार्टिन द्वारा प्रस्तावित रूपरेखा के प्रकाश में हो सकती है (जे० आर० ए० एस० बी०, एल०, ३, एन० एस०, ४७, पृ० २३ अ०)। मार्टिन के अनुसार ३५० ई० से ३७५ ई० के मध्य पश्चिमोत्तर प्रदेश में तीन बड़ी शक्तियां थीं—एक महाकुषाण, जो ३५० तक बैक्ट्रिया या वाह्लिक में रहते थे लेकिन ३५० ई० के आस-पास हूणों के दबाव के कारण अपने नेता किदार के नेतृत्व में गन्धार-काम्बोज में बसने के लिए बाध्य हुए। दूसरे हूण, जो ३५० तक बैक्ट्रिया में बस चुके थे और हिन्दुकुश को पार कर गन्धार में घुसने की चेष्टा कर रहे थे। तीसरे, ईरान का सासानी सम्राट् द्वितीय शापुर, जो इन दोनों शक्तियों को दबाने की चेष्टा कर रहा था परन्तु ३६७ ई० के लगभग किदार कुषाण के हाथों दो बार पराजित हुआ था। 'रघुवंश' में भी रघु द्वारा पश्चिमोत्तर भारत में काम्बोजों, हूणों तथा पारसिकों—इन तीन शक्तियों के पराजित किए जाने का उल्लेख है। इन तीनों की पहिचान क्रमशः किदार कुषाणों, हूणों तथा सासानियों से की जा सकती है। अब, किदार कुषाण महाकुषाण परिवार का होने के कारण 'देवपुत्र' था ही। लेकिन उसके सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसकी उपाधि मात्र 'शा' (=षाहि) थी। इसलिए उसकी पहिचान **'दैवपुत्रषाहि'** से की जा सकती है। **'षाहानुषाहि'** ईरानी सम्राट् की उपाधि थी ही। हमारा सुझाव है कि किदार ने समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार करके उसकी सहायता से ही 'षाहानुषाहि' अर्थात् द्वितीय शापुर को ३६७ ई० में परास्त किया था। इसीलिए हरिषेण ने इस सूची में 'षाहानुषाहि' को भी गिना दिया है। ते० रा० शर्मा ने (प० ज्यो० ने०, पृ० १५७-८) 'षाहि' और 'षाहानुषाहि' को जातिवाचक शब्द माना है, जो गलत है। उनका सासानियों

और पारसिकों में भेद करना भी निराधार है। हूणों की पहिचान मेहरौली-लेख के वाह्लिकों से की जा सकती है (विस्तृत अध्ययन व सन्दर्भों के लिए दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० १३३ अ०)। **शक-मुरुण्डों** को हमारे विचार से पंजाब के गडहर आदि उन विदेशी शासकों से अभिन्न माना जा सकता है जो पश्चिमी व मध्य पंजाब पर शासन कर रहे थे। वहां के कम से कम एक राजा ने 'समुद्र' नाम लिखे हुए सिक्के चलाए थे। उसकी चर्चा हरिषेण ने इस लेख में अवश्य की होगी और सम्पूर्ण लेख में केवल 'शक-मुरुण्ड' नाम ही ऐसा है जिसके अन्तर्गत उस गडहर राजा को उल्लिखित माना जा सकता है। यह भी सम्भव है कि इसमें पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप भी परिगणित किए गए हों जिन्होंने हो सकता है समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया हो। पर पी० एल० गुप्त गडहर सिक्के पर अंकित 'समुद्र' नाम को गुप्त सम्राट् का नाम न मान कर किसी गडहर राजा का नाम मानते हैं (गु० सा०, पृ० २६७)।

(४) **सिंहल**—आधुनिक लंका। वांग-हुएन्-त्से द्वारा लिखित चीनी ग्रन्थ 'हिंग-चुआन्' के अनुसार लंका-नरेश श्रीमेघवर्ण ने भारत-नरेश सो-म्यु-तो-लो-कि-तो (=समुद्रगुप्त) के पास दूतमण्डल भेजकर बोधगया में विहार बनवाने की अनुमति मांगी थी। **'सर्वद्वीपों'** से आशय द्वीपान्तर अर्थात् भारतीय द्वीप समूह (=आधुनिक दक्षिण-पूर्वी एशियायी द्वीपसमूह) से था। इन द्वीपों पर गुप्तकालीन संस्कृति की गहरी छाप मिलती है। मध्य जावा से द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक सिक्का मिला है। यहां के हिन्दू राज्यों के नरेश प्रायः भारत की यात्रा करते रहते थे। ऐसे ही किसी अवसर पर हो सकता है उनमें से कुछ समुद्रगुप्त के पास भी उपस्थित हुए हों।

(५) **आत्मनिवेदन**=प्रणामागमन। दे०, पीछे। **'कन्योपायनदान'** का शाब्दिक अर्थ है कन्याओं को उपायन अर्थात् भेंट रूप में देना और उनका दान (कन्यादान) करना अर्थात् कन्याओं को भेंट-स्वरूप और विवाह में देना। फ्लीट ने इसका अनुवाद 'कन्याओं को भेंट स्वरूप लाना' किया है और दीक्षितार (गुप्त पोलिटी, पृ० ३४२) तथा दिस्कल्कर ने 'कन्याओं तथा उपाहरों की भेंट लाना।' कक्कसूरि रचित 'नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध' (११·७०७) में करद राजाओं द्वारा अपनी कन्याओं को भेंटस्वरूप लाकर शक्तिशाली राजाओं से ब्याह देने की प्रथा उल्लिखित है—अथोपेत्य नृपाः केपि धन्याः कन्या उपायने। उपादाया मुदातेन भूभुजा पर्यणाययन् ॥७०७॥ इसमें उपायन व दान दोनों तत्त्व आ गये हैं। द्र०, पी० आई० एच० सी०, १९५४। पी० एल० गुप्त ने इस रचना का लाभ बिना आभार स्वीकार किये उठाया है (गु० सा०, पृ० २६७)। कन्योपायनदान नीति का प्रयोग अकबर ने भी किया था। 'पेरिप्लस' में (सेक्शन २६; मजूमदार द्वारा को० हि० इ०, ३, पृ० २६ पर उल्लिखित) कहा गया है कि बेरिगाजा में राजा के 'हरम' के लिये सुन्दर कुमारियां आयातित की जाती थीं। **'गरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचन'** के विषय में कुछ विद्वानों का विचार है (जे० बी० ओ० आर० एस०, १८, पृ० २०७) कि इस सूची में उल्लिखित नरेशों ने समुद्रगुप्त से अपने राज्यों पर (स्वविषयभुक्ति) शासन करते रहने और गरुड़ की मुहर वाले सिक्के (गरुत्मदंक) के प्रयोग के लिए अनुमति-पत्र (शासन) मांगे थे (याचन)। परन्तु यह सम्भव नहीं लगता। स्मरणीय है कि पंजाब के स्कीथियन राजाओं ने जो सिक्के चलाए उन पर समुद्रगुप्त का नाम तो मिलता है, गरुड़ध्वज का अंकन नहीं मिलता। 'विषय' और 'भुक्ति' यहां अधीन राज्यों के अर्थ में प्रयुक्त हैं। बाद में ये शब्द 'जिले' और 'प्रान्त' अर्थ में प्रयुक्त हुए।

(६) **'धरणिबन्ध'** का अर्थ है 'पृथ्वी को बांधने वाला' अर्थात् 'साम्राज्य का संस्थापक'। सोहोनी ने ध्यान दिलाया है कि 'धरणिबन्ध' शब्द प्राचीन भारतीय चित्रकला में 'चित्र बनाने के लिए समतल भूमि तैयार करना' अर्थ में प्रयोग आता था। (दे०, डी० एन० शुक्ल, हिन्दू केनन्स ऑव पेण्टिंग, पृ० ३४-४०)। उनके विचार से हो सकता है हरिषेण ने चित्रकला से यह पारिभाषिक शब्द लेकर उसका 'छोटे राज्यों का अन्त करके राजनीतिक भूगोल को सरल करने वाला' अर्थ में प्रयोग किया हो।

पंक्तियां २४-२५.

(१) **पृथिव्यामप्रतिरथस्य**—फ्लीट ने 'अप्रतिरथ' का अर्थ 'अप्रतिम' मानकर 'पृथिव्यामप्रतिरथ' का अर्थ 'वह जिसका पृथिवी पर कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है' किया है और सोहोनी ने 'अप्रतिम रथी'। वी० सी० पाण्डेय (जे० आई० एच०, ५१, २, पृ० ३४५-८) तथा मजूमदार (को० हि० इ०, ३, भाग १, १९८१, पृ० २९) फ्लीट से सहमत हैं परन्तु छाबड़ा ने ध्यान दिलाया है कि 'विष्णुसहस्रनाम' के श्लोक ६८ में 'अप्रतिरथ' विष्णु का एक नाम बताया गया है। इसलिए इसका अर्थ 'पृथिवी पर (विचरण करने वाला) अप्रतिरथ (अर्थात् विष्णु)' भी हो सकता है (छाबड़ा, जे० एन० एस० आई०, ९, पृ० १३७ अ०)। समुद्रगुप्त के धनुर्धारी प्रकार के सिक्के पर उपलब्ध 'अप्रतिरथो विजित्य क्षिति सुचरितैर्दिवंजयति' लेख में भी 'अप्रतिरथ' विशेषण न होकर नाम है। ऐसा लगता है यहां कवि ने समुद्रगुप्त पर विष्णु का व्यक्तित्व अध्यारोपित कर दिया है। तु०, भितरी-लेख आदि में द्वितीय चन्द्रगुप्त का **'स्वयं च अप्रतिरथ'** रूप में वर्णन जिसका अर्थ है 'साक्षात् अप्रतिरथ अर्थात् विष्णु'। प्रयाग-प्रशस्ति में इसके आगे भी इसी पद में समुद्रगुप्त को **'अचिन्त्य'** कहा गया है और 'विष्णुसहस्रनाम' के ८९वें श्लोक में यह भी विष्णु का एक नाम बताया गया है (तु०, द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि-लेख में उस नरेश को 'अचिन्त्य' कहा जाना तथा पुलुमावी के १९वें वर्ष के नासिक लेख का 'अपरिमितमखयमचितमभुतं' पद)। समुद्रगुप्त का 'साद्ध्वसाधूदय प्रलयहेतुपुरुषस्य' रूप में वर्णन तो 'गीता' में कृष्ण के इस कथन का अनायास स्मरण करा देता है :—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

—गीता, ४. ८

स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त अपने को विष्णु का अवतार मानता था। स्वयं उसके नाम 'समुद्र' का पर्याय 'अम्भोनिधि' विष्णु का एक नाम है। उसके द्वारा गरुड़ को अपने वंश का राजचिह्न बनाना एवं उसका 'परमभागवत' उपाधि धारण करना (दे०, उसके गया-और नालन्दा-दानपत्र, यद्यपि यह उपाधि उसके उत्तराधिकारियों के उपलब्ध लेखों में उसके लिए प्रयुक्त नहीं की गई है) इसका अतिरिक्त प्रमाण हैं। इस लेख में ही आगे हरिषेण उसे स्पष्टतः **'लोकधाम्नोदेवस्य'** अर्थात् 'पृथिवी पर वास करने वाला देवता' कहता है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के अनुसार (१.७.४.४) राजा अपने को विष्णु से पहिचान कर विश्व को जीत सकता है। 'वायु पुराण' (५७.७२) में चक्रवर्ती शासक में विष्णु का अंश बताया गया है। महाभारत' (१२.५९.१२७) में कहा गया है कि विष्णु वैन्य पृथु में समा गये जिससे वह पूजित होता था। दे०, कैवल्योपनिषद् (१.८), रघुवंश (१६.८२, अवैमि कार्यान्तर मानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुत्वाम्) तथा स्कन्दगुप्त का द्वितीय जूनागढ़-लेख जिसमें विष्णु को अपनी इच्छा से मनुष्य रूप धारण करने वाला (स्वतन्त्र विधिकारण मानुषस्य) कहा गया है। मतान्तर के लिये दे०, सोहोनी (पूर्वो०)। उन्होंने 'लोकधाम्नः' का अर्थ किया है 'वह जिसकी प्रभा समस्त विश्व में व्याप्त है, और 'देव' को सामान्य राजकीय उपाधि माना है। उन्होंने 'साद्ध्व साधूदय प्रलय हेतु पुरुषस्याचिन्त्यस्य' में 'पुरुष' को भी राजपुरुष (आफिससर) के अर्थ में लिया है, 'अचिन्त्य' को 'जिसका मन्त्र या इरादा ज्ञात न हो' अर्थ में और 'साधु असाधु' को 'अच्छी और बुरी योजना' अर्थ में (अर्थात् 'वह जिसके ऐसे राजपुरुष थे जो अच्छी और बुरी योजनाओं में भेद करके उनका समर्थन या विरोध कर सकते थे और जिनका इरादा मालूम नहीं हो पाता था)। ये अर्थ स्पष्टतः खींचतान करके किये गये हैं। स्मरणीय है कि गुप्त काल में राजाओं को देवता मानने का तात्पर्य केवल उनका महत्व बताना था, व्यवहार में उन्हें देवता के सदृश कभी नहीं माना गया।

(२) **सुचरित** की व्याख्या 'महाभारत' में इस प्रकार की गई है :

लोक संग्रह संयुतः विधात्रा विहितं पुरा ।
सूक्ष्म धर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ।।

इस प्रसंग में भितरी-लेख की पंक्ति ७-८ की टि० भी देखिये ।

(३) **अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः**—तु०, परवर्ती लेखों में समुद्रगुप्त का 'न्यायागतानेकरगोहिरण्यकोटिप्रदस्य' रूप में वर्णन । सोहोनी के अनुसार ये गायें समुद्रगुप्त द्वारा युद्ध में प्राप्त लूट का भाग रही होंगी । समुद्रगुप्त को 'शतसहस्र' (=लाख) के स्थान पर कोटि (=करोड़) दान देने वाला कहने की परम्परा हो सकता है द्वितीय चन्द्रगुप्त ने प्रारम्भ की हो । प० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का मत है कि राष्ट्रकूट अभिलेखों में द्वितीय चन्द्रगुप्त को 'लाख के स्थान पर करोड़' लिखवाने का अपराधी इसी कारण बताया गया होगा । समुद्रगुप्त के एरग-लेख में कहा गया है कि सुवर्णदान में उसने पृथु और राघव आदि को भी पीछे छोड़ दिया था और प्रसन्न होने पर वह धन के देवता कुबेर का स्मरण दिलाता था । तु०, ऋषभदत्त उर्फ उषवदात का 'त्रिगोशतसहस्रदेन' रूप में वर्णन (सरकार, स० इ०, पृ० १६७; १७१) । 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि रथ, घोड़े, हाथी छत्र, धन-धान्य, पशु, स्त्रियां और सब द्रव्य तथा घृतादि उसके होते हैं जो उनको जीतता है (रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः । सर्व द्रव्याणि कुप्यं च योयज्जयति तस्य तत् ।। ७.९६) । 'महाभारत' (अनुशासन पर्व, ६६.५४) में कहा गया है कि दस हजार गो दान करने वाला इन्द्र के साथ आनन्द भोगता है और लाख गायों का दान करने वाला अक्षय लोक प्राप्त करता है । इस महाकाव्य के इस पर्व में अध्याय ७२ से ८३ तक गोदान महिमा वर्णित है ।

पंक्ति २६

(१) **धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य**—ये चारों क्रमशः उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण के लोकपाल हैं (दे०, नानाघाट गुहालेख में आया 'चतुंनं लोकपालानं यम वरुन कुबेर वासवानं नमो' वाक्यांश (वासवः = इन्द्र) । यह पद गुप्तकाल में सम्राट् की दैवी अवधारणा की लोकप्रियता का अतिरिक्त प्रमाण है । तु० :

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः स्वप्रभावतः ।।
—मनुस्मृति ।

अर्थात् 'वह (अर्थात् राजा) अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण व इन्द्र होता है' । समुद्रगुप्त के लिए यह पद उसके उत्तराधिकारियों के लेखों में बराबर मिलता है । समुद्रगुप्त की तुलना चार लोकपालों से किये जाने का अर्थ यह हो सकता है कि (१) उसने चारों दिशाओं में विजय प्राप्त की या (२) वह कुबेर के समान धनपति, वरुण के समान समुद्रों का स्वामी, इन्द्र के समान यशस्वी और यम के समान शत्रुहन्ता था अथवा (३) वह कुबेर के समान धनी, वरुण के समान न्यायी, इन्द्र के समान शक्तिशाली और यम के समान अजेय था (दे०, आई० सी०, ९, पृ० १७८) । उसकी यम के साथ तुलना उसकी 'कृतान्त-परशुः' उपाधि में भी की गई है जो उसकी परशुधारी प्रकार की मुद्राओं और परवर्ती लेखों में मिलती है । 'विष्णुसहस्रनाम' में 'खण्डपरशु' विष्णु का एक नाम बताया गया है (श्लोक ३१) । इस ग्रन्थ में द्रविणप्रद (=कुबेर), वरुण, महेन्द्र (=इन्द्र) तथा अन्तक भी विष्णु के नामों में गिनाए गए हैं (श्लोक ५६, ५५, २९ एवं ६१) । हर्ष के बांसखेड़ा-दानपत्र में राज्यवर्द्धन को धनद, वरुण और इन्द्र आदि लोकपालों के तेज को धारण करने वाला बताया गया है ।

(२) **प्रत्यर्पणा**—विजित राजाओं का वैभव लौटाना । इससे स्पष्ट है कि उसने विजित राजाओं के वैभव को छीना भी था । दे०, पीछे, दक्षिणापथ नरेशों के साथ अपनाई गई नीति का विवेचन, टि० १०, पृ० ३३-४) ।

(३) **नित्यव्यापृतायुक्तपुरुष**—आयुक्त पुरुष का सामान्य अर्थ 'मन्त्री' अथवा 'प्रान्तीय राज्यपाल' है। यहां इस पदाधिकारी का सम्बन्ध राजकोष से लगता है। इसका दूसरा रूप आयुक्तक भी मिलता है। तु०, अशोक के अभिलेखों का 'युक्त' नामक पदाधिकारी। 'कामसूत्र' (५.५.५) में 'आयुक्त' का उल्लेख ग्राम-प्रशासन से सम्बन्धित अधिकारी के रूप में हुआ है। सोहोनी के अनुसार आयुक्त, नित्य तथा व्यापृत ये तीनों तीन प्रकार के पदाधिकारी थे—आयुक्त आर्थिक व्यवस्थापन करते थे, नित्य विविध दावेदारों के दावों को सुलझाते थे, तथा व्यापृत लौटाए जाने वाले धन को अधीन राज्यों में पहुँचाते थे। परन्तु 'व्यापृत' शब्द द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि-लेख में सम्भवतः 'नियुक्त' अर्थ में आया है (स० इ०, पृ० २८०; दे०, आगे)।

पंक्तियां २७-२८

(१) **बृहस्पति** को हिन्दू पुराकथाओं में देवताओं का गुरु और बुद्धि का देवता माना गया है। **तुम्बुरु** एक संगीत-विशारद गन्धर्व का नाम था। **नारद** वीणा के आविष्कारक कहे कए हैं। समुद्रगुप्त की संगीत विद्या में गति, विशेषतः उसका वीणा प्रेम, उसकी वीणावादक प्रकार की सुवर्ण मुद्राओं से प्रमाणित है। तु०, हाथिगुम्फा-लेख में खारवेल को 'गन्धर्व वेद बुधो' कहा जाना तथा बाण का हर्ष को वीणावादन में कुशल बताना (हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास)।

(२) **'कविराज'** शब्द आजकल 'कवियों में राजा के समान' तथा 'वैद्य', इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। लेकिन प्राचीन काल में इनमें प्रथम अर्थ ही माना जाता था। राजशेखर के अनुसार वह जो विविध भाषाओं एवं रसों में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रबन्ध लिख सकता था, 'कविराज' होता था। ऐसे कवि जगत में विरलतः होते थे और महाकवियों से भी प्रवीणतर माने जाते थे (काव्य मीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा प्रकाशन, पृ० ४८-४९)। समुद्रगुप्त की काव्य प्रतिभा के लिए पीछे, श्लोक ३ व ८ देखें। तु०, हाथिगुम्फा-लेख में खारवेल के लिये 'लेख रूप गणना ववहार विधि विसारदेन', तथा जूनागढ़-लेख में प्रथम रुद्रदामा के लिए प्रयुक्त 'अलंकृत गद्य पद्य काव्य विधान प्रवीणेन' पद। बाण ने भी हर्ष की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि हर्ष अपनी काव्यकथाः से अमृत रस की वर्षा करता था (काव्यकथास्वपीतमप्यमृतमुद्वमंतम्)। आजकल 'कृष्ण चरित' नामक एक काव्य के कुछ अंश उपलब्ध हैं जिनका रचयिता 'श्रीविक्रमांक महाराजाधिराज परमभागवत श्रीसमुद्रगुप्त' को बताया गया है। लेकिन यह ग्रन्थ आधुनिक काल में लिखा गया लगता है (ए० बी० ओ० आर० आई०, २६, पृ० ३१३-१८)।

(३) समुद्रगुप्त अनेक विद्वानों का संरक्षक था। स्वयं उसका मन्त्री और प्रयाग-प्रशस्ति का रचयिता हरिषेण एक कवि भी था। दूसरे, सम्भवतः कालिदास ने उसके और उसके पुत्र चन्द्रगुप्त के काल में गुप्त राजसभा की शोभा बढ़ाई थी। बसाक तथा भिड़े आदि विद्वानों के अनुसार उसने 'रघुवंश' में रघु की दिग्विजय का वर्णन समुद्रगुप्त की दिग्विजय के आधार पर ही लिखा था। हमारा विचार है कि कालिदास ने 'रघुवंश' की रचना ३९० ई० के लगभग की थी और अन्य अधिकांश ग्रन्थ ३५०-४०० ई० के बीच में लिखे थे (दे० गोयल, हि० इ० गु०, पृ० २२७ अ०)। तीसरे, वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार **चन्द्रगुप्त का पुत्र चन्द्रप्रकाश** विद्वानों का महान् संरक्षक था। इसकी व्याख्या करते हुए वामन ने लिखा है कि चन्द्रप्रकाश ने वसुवन्धु को अपना मन्त्री नियुक्त किया था :

सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनय चन्द्रप्रकाशो युवा,
जातो भूपतिराश्रयः कृतिधियां दिष्टया कृतार्थं श्रमः।
आश्रयःकृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु साचिव्यो पक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्।
—वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.२

इस चन्द्रप्रकाश की पहिचान स्मिथ, मजूमदार, मुकर्जी तथा वी० एस० अग्रवाल आदि ने समुद्रगुप्त से की है। मेहरौली-लेख में समुद्रगुप्त का उल्लेख 'चन्द्र' नाम से ही हुआ है (दे०, आगे)।

(४) **लोकधाम्नोदेवस्य**—इस पद के अन्त में समुद्रगुप्त को स्पष्ट रूप से देवता कहा गया है। प्रोफ़ेसर द्रविड़ ने इसको दो पद मानकर अर्थ किया है 'लोक का धाम अर्थात् शरणस्थल' तथा 'देव अर्थात् राजा'। दे०, पीछे, पृ० ४२।

(५) **'उपजीव्य'** का अर्थ फ्लीट ने 'जीविका का साधन बनने योग्य' किया है। लेकिन राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' आदि संस्कृत ग्रन्थों में 'उपजीव्य' उन ग्रन्थों को कहा गया है जो कवियों को नये विचार देते थे अर्थात् वे ग्रन्थ जिनका बाद के कवि अनुसरण करते थे। इस अर्थ में 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'श्रीमद्भागवत पुराण' को उपजीव्य काव्य माना जाता था। हरिषेण का आशय समुद्रगुप्त द्वारा ऐसे ही उपजीव्य काव्यों की रचना से है (दे०, जगन्नाथ अग्रवाल, भारतीय विद्या, ६; महाभारत, १.६२; क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरण, २.१)।

पंक्तियां २८-३०

(१) समुद्रगुप्त के प्रपितामह का नाम मात्र **'गुप्त'** था 'श्रीगुप्त' नहीं। अगर उसका नाम श्रीगुप्त होता तो यहां 'श्रीश्रीगुप्त' पाठ होता। देवबर्णार्क-अभिलेख में 'श्रीमती' नाम के साथ दूसरा 'श्री' सम्मान प्रकट करने के लिये प्रयुक्त है। मात्र गुप्त नाम असम्भव नहीं है। 'दिव्यावदान' में बौद्ध विद्वान् उपगुप्त के पिता का नाम केवल गुप्त बताया गया है, 'विष्णुसहस्रनाम' में 'गुप्त' विष्णु का एक नाम है तथा कुछ मुहरों पर 'गुप्तस्य' या 'गुतस्य' पाठ मिलता है (दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ४३)। इस गुप्त राजा की पहिचान ई-चिंग द्वारा उल्लिखित शी-लि-कि-तो (=श्रीगुप्त) से असम्भव है (दे०, वही, पृ० ४६ अ०)।

(२) **'महाराज'**—इस उपाधि के आधार पर जायसवाल, बनर्जी तथा चट्टोपाध्याय आदि बहुत से लेखक प्रथम दो गुप्त नरेशों को परतन्त्र मानते हैं। सिनहा (हिस्टरी ऑव बिहार, पृ० ३) चट्टोपाध्याय से सहमत हैं। परन्तु प्रारम्भिक गुप्त काल तक 'महाराज' उपाधि परतन्त्रता की द्योतक नहीं थी। इसे कुषाणों मघों, नेपाल के लिच्छवियों, पद्मावती के भारशिव-नागों तथा प्रथम प्रवरसेन वाकाटक (जो 'सम्राट्' उपाधिधारी भी था) ने भी धारण किया था। मजूमदार (कॉ० हि० इ०, ३, भाग १, १९८१, पृ० ७) उनकी प्रतिष्ठा के प्रश्न को अनिर्णीत छोड़ देने के पक्ष में हैं।

(३) इस **घटोत्कच** के नाम में 'गुप्त' शब्द किसी लेख में नहीं आया है, इसलिए वह वैशाली-मुहर (ए० एस० आई० आर०, १९०३-४, पृ० १०२) से ज्ञात घटोत्कचगुप्त नहीं हो सकता। प्रभावतिगुप्ता के रिथपुर-दानपत्र में प्रथम चन्द्रगुप्त के पिता घटोत्कच को 'गुप्तानामादिराजः' कहा गया है।

(४) प्रयाग-प्रशस्ति व अन्य गुप्त अभिलेखों की वंशावली में **गुप्तों के गोत्र या वर्ण का उल्लेख नहीं** है। मिराशी, सत्यकेतु, विद्यालंकार, पी० एल० गुप्त आदि बहुत से विद्वान् गुप्तान्त नामों के प्रयोग के कारण गुप्तों को वैश्य मानते हैं क्योंकि 'विष्णुपुराण' के एक श्लोक के अनुसार गुप्तान्त नाम वैश्यों को धारण करने चाहिए, वर्मान्त क्षत्रियों को, शर्मान्त ब्राह्मणों को और दासान्त शूद्रों को। परन्तु प्राचीनकाल में यह नियम व्यवहार में सर्वमान्य नहीं था। खगोलवेत्ता ब्रह्मगुप्त, विष्णुगुप्त कौटिल्य, काकुस्थवर्मा कदम्ब, 'नवसाहसांक-चरित' का लेखक पद्मगुप्त, 'शिवसूत्र' का लेखक वसुगुप्त, सुप्रथित विद्वान् अभिनवगुप्त एवं उसके गुप्तान्त नामों वाले अनेक सम्बन्धी (जिनके नाम 'तन्त्रालोक' में आये हैं) विजयादित्य चालुक्य के नेरूर-दानपत्र (शक सं० ६२७) में उल्लिखित दशवर्मा तथा महाकवि कालिदास—ये सब ब्राह्मण थे। द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावतिगुप्ता के दानपत्रों में उसे 'धारणसगोत्रा' कहा गया है। क्योंकि उसके पति का गोत्र 'विष्णुवृद्ध' था इसलिये 'धारण' गोत्र उसके पितृकुल का अर्थात् गुप्तों का होना चाहिये। अब, 'स्कन्द-

पुराण' में (ब्रह्मखण्ड, ३५.३७) 'धारण' गोत्र धर्मारण्य (मिर्जापुर प्रदेश) के ब्राह्मणों का बताया गया है। इससे संकेतित है कि गुप्त ब्राह्मणजातीय थे। दक्षिण के ब्राह्मणजातीय कदम्बों का अपनी कन्या का विवाह गुप्त कुल में करना (तालगुण्ड-लेख, स० इ०, पृ० ४७८) इसका निश्चायक प्रमाण है। सर्वप्रथम हमारे द्वारा प्रतिपादि इस मत के विस्तृत विवेचन के लिये दे०, गोयल, गोरखपुर विश्वविद्यालय पत्रिका, १९६०–६१; हि० इ० गु०, पृ० ७४ अ०; प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ३७ अ०)। डॉ० उदय नारायणराय (गुप्त सम्राट् एवं उनका काल, पृ० ४७ अ०) एवं डॉ० राजबली पाण्डेय (प्राचीन भारत) ने हमारे तर्कों को दोहराया है और निष्कर्ष को माना है, परन्तु हमारी उपर्युक्त रचनाओं की कहीं चर्चा तक नहीं की है। डॉ० राधेशरण (सम्राट् समुद्रगुप्त, पृ० ४१-२) भी हमारे मत से सहमत हैं। तेजराम शर्मा (प० ज्यो० ने०, पृ० १७ अ०) हमारे सुझाव से सहमत नहीं हैं क्योंकि (१) गुप्त सम्राट् अगर ब्राह्मण होते तो इस बात का गर्वपूर्वक उल्लेख करते। लेकिन वे इस विषय में उसी प्रकार मौन हैं जैसे पाल नरेश बौद्ध होने के कारण अपनी जाति के विषय में मौन रहे। (२) हो सकता है गुप्तों ने अपने गुरु का धारण गोत्र अपना लिया हो। परन्तु ये दोनों तर्क न होकर आग्रह मात्र हैं। वस्तुतः किसी वंश द्वारा अपनी जाति का गर्वपूर्वक उल्लेख (जैसे राजपूतों ने किया) उनकी रक्तशुद्धता में शंका का कारण माना जाना चाहिये न कि उनकी उच्चवंशीयता का। गुप्तकाल में राजवंशों द्वारा अपनी जातियों के उल्लेख की प्रथा बहु-प्रचलित नहीं थी। पालों के मौन का कारण तो स्वतः स्पष्ट है। गुप्तों ने 'धारण' गोत्र अपने गुरु से लिया था इस अनुमान को सिद्ध किये बिना इसे सिद्ध मान लेना भी स्पष्टतः तर्कसंगत नहीं है।

(५) **लिच्छवि दौहित्र**—गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त को 'लिच्छवि दौहित्र' कहे जाने का कारण सामान्यतः यह माना जाता है कि उसे अपने लिच्छवि नाना से महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई थी। इसके विपरीत वि० श० पाठक ने सुझाया है कि समुद्रगुप्त अपने पिता के साथ अपने नाना का भी उत्तराधिकारी माना गया था। उन्होंने यहां 'दौहित्र' शब्द को 'दौहित्र' वर्ग के पुत्र के अर्थ में लिया है (जे० एन० एस० आई०, १९, भाग २, पृ० १४१)। इसलिये वह समुद्रगुप्त को 'द्वयामुष्यायण' मानते हैं। हमने इस विषय में पाठक के मत का अनुसरण तथा वाकाटक इतिहास में प्रथम रुद्रसेन के लिये प्रयुक्त 'भवनाग दौहित्र' शब्द के प्रयोग का इस दृष्टि से अध्ययन करके इसका संवर्द्धन किया है (हि० इ० गु०, पृ० ९४ अ०)। बी० पी० सिनहा ने हमारे व डॉ० पाठक के सुझाव को माना है (को० हि० बि०, पृ० ११)। वी० सी० पाण्डे (जे० एन० एस० आई०, ३८, खण्ड १, पृ० ६१ अ०) तथा पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० २३८) ने भी इस विचार को स्वीकार किया है परन्तु पाठक जी की अथवा हमारी रचना को उद्धृत नहीं किया है। टॉमस आर० ट्रॉटमान ने समुद्रगुप्त को द्वयामुष्यायण मानने वाले 'पाठक-गोयल सिद्धान्त' की आलोचना के लिये लिखे गये अपने शोध-निबन्ध में ('लिच्छवि दौहित्र', जे० आर० ए० एस०, १९७२, १, पृ० २-१५) इसके विरुद्ध ये तर्क रखे हैं : (१) 'दौहित्र' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में 'पुत्रिकापुत्र' के पर्याय के रूप में नहीं हो सकता था। (२) सम्पत्ति के उत्तराधिकार का सामान्य नियम राजकीय उत्तराधिकार का नियम नहीं माना जा सकता। सामान्य नियम मात्र पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार से सम्बन्धित होता है जबकि राजकीय नियम राज्याधिकार से। ट्रॉटमान का कहना है कि समुद्रगुप्त अपने नाना के राज्य के साथ पिता का राज्य तभी पा सकता था जब उसके पिता के कोई और पुत्र नहीं होता। उनके विचार से समुद्रगुप्त व भवनाग ने अपने नानाओं का उल्लेख अपने सौतेले भाइयों से भिन्नता बताने या नाना के परिवार से प्राप्त राजनीतिक सहायता की ओर संकेत करने और या अपनी रक्त क़ी शुद्धता दिखाने के लिये किया है। लेकिन 'दौहित्र' का 'पुत्रिकापुत्र' के अर्थ में प्रयोग कुल्लूक ने किया है—दौहित्रो एव च हरेद् अपुत्रस्य अखिलं धनं। दूसरे, राजकीय उत्तराधिकार के नियमों के अस्पष्ट होने के कारण इस विषय में सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक सामान्य नियमों से सहायता लेना अनुचित नहीं है। तीसरे, यह सर्वथा सम्भव है कि

समुद्रगुप्त को लिच्छवि राज्य तो इसलिये मिला हो क्योंकि वह अपने लिच्छवि नाना का 'दौहित्र' वर्ग का पुत्र था और गुप्त राज्य उसे उसके पिता ने अपनी इच्छानुसार दिया हो। प्राचीन काल में राजा अपने उत्तराधिकारी के चुनने में अपने विशेषाधिकार का प्रायः प्रयोग करते थे। चन्द्रगुप्त ने ऐसा इसलिये किया होगा क्योंकि समुद्रगुप्त पहिले ही लिच्छवि राज्य का अधिकारी मनोनीत हो गया था, उसे गुप्त राज्य का अधिकारी मनोनीत किये जाने से गुप्त और लिच्छवि राज्य मिल कर एक हो जाते—जैसे वे अन्ततः हुए। ट्राटमान की आपत्ति तभी मान्य हो सकती है जब हम यह आग्रह करे कि समुद्रगुप्त को गुप्त राज्य स्वाभाविक रूप से बड़ा पुत्र होने के कारण मिला था। द्र०, मनुस्मृति (९.१२७)। 'महाभारत' (आदिपर्व २१४.२३-२५) में चित्राङ्गदा के साथ अर्जुन का विवाह इसी शर्त पर होता है कि उसका पुत्र चित्राङ्गदा के पिता का उत्तराधिकारी होगा।

(६) **'महाराजाधिराज'**—यह उपाधि इतिहास में सर्वप्रथम प्रथम चन्द्रगुप्त ने धारण की। इसके पूर्व विदेशी राजाओं ने 'रजदिरजः' (=राजाधिराज) आदि उपाधियां धारणा की थीं। इसका अर्थ है कि चन्द्रगुप्त ने अपने अधीन कुछ 'महाराजाओं' को शासन करते रहने की अनुमति दी थी। 'महादेवी' उपाधि 'महाराजाधिराज' की रानियों के लिए प्रयुक्त होती थी। बाद में इसका प्रयोग राजाओं की रानियों के लिये भी होने लगा (दे०, शर्वनाथ का खोह-दानपत्र)। 'महादेवी' शब्द अग्रमहिषी पद का द्योतक है अथवा नहीं, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। इस उपाधि का प्रयोग पुरुगुप्त के एक पुत्र नरसिंहगुप्त ने अपनी मां चन्द्रदेवी के लिये किया है और पुरुगुप्त के दूसरे पुत्र बुधगुप्त ने अपनी मां के लिये जो चन्द्रदेवी से भिन्न थी। इसी प्रकार द्वितीय चन्द्रगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी को उसका पुत्र कुमारगुप्त 'महादेवी' कहता है और चन्द्रगुप्त की दूसरी पत्नी कुबेरनागा को उसकी पुत्री प्रभावती इसी उपाधि से उल्लिखित करती है। इससे सामान्यतः यही निष्कर्ष निकालना चाहिए कि प्रत्येक गुप्त राजा अपनी मां को अपने पिता की महादेवी बता देता था। वस्तुतः अग्रमहिषी पद तो सम्राट् की कृपा पर निर्भर रहता होगा, इसलिये एक ही सम्राट् की विभिन्न समयों पर अलग-अलग अग्रमहिषी हो सकती थीं और एक ही रानी एकाधिक बार यह पद प्राप्त कर सकती और खो सकती थी।

(७) फ्लीट की धारणा थी कि २९वीं-३०वीं पंक्तियों में स्वयं समुद्रगुप्त के इन्द्रलोक जाने की चर्चा है, परन्तु इसमें केवल समुद्रगुप्त की कीर्त्ति के वहां तक पहुँचने की बात कही गई है। दे०, आगे। तु०, यशोधर्मा के तिथिविहीन मन्दसौर-लेख का श्लोक ७।

(८) 'उच्छ्रितः' शब्द 'स्तम्भ' तथा 'बाहु' दोनों के साथ लिया जा सकता है।

(९) समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की प्रयाग में स्थिति से यह संकेत मिलता है कि गुप्तों की शक्ति का केन्द्र **प्रयाग** नगर था। प्रयाग-प्रशस्ति कोई दानपत्र या पतिष्ठा शासन नहीं है। यह प्रकृत्या एक ऐसा अभिलेख है जिसे इसको लिखवाने वाला नरेश अपने राज्य की राजधानी या केन्द्रीय भाग में लिखवाना चाहता। इसलिये हमने गुप्तों के आदि राज्य की स्थिति पूर्वी उत्तर प्रदेश में सुझाई है और उनकी प्रारम्भिक राजधानी प्रयाग मानी है। इस मत के समर्थन में हमने गुप्त सुवर्ण मुद्रा-निधियों, प्राचीनतम गुप्त मुद्राओं, प्रारम्भिक गुप्त अभिलेखों आदि के प्राप्ति स्थलों से सम्बन्धित अन्य अनेक तर्क दिये गये हैं। 'विष्णु पुराण' में गुप्त राज्य की जो सीमाएं बताई गई हैं उनके विश्लेषण से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं (हमारे मत के विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, गोयल, हि० इ० गु०, पृ० ४१ अ०; प्रा० भा० रा० इ०, ३, पृ० ४८ अ०)। हमारा यह मत इस प्रचलित मत से, जो ई-चिंग के साक्ष्य पर आधृत है, सर्वथा भिन्न है कि गुप्तादिराज्य मगध में था और उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। अब हमारा मत धीरे-धीरे स्वीकार किया जाने लगा है। हमको लिखे गए एक पत्र में वी० वी० मिराशी ने हमारे इस तर्क की सबलता मानी है कि प्रयाग-प्रशस्ति एक ऐसा लेख जो समुद्रगुप्त अपनी राजधानी में लिखवाना

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चाहता । टॉमस ट्रॉटमान (पूर्वो०, पृ० ३) हमारा निष्कर्ष स्वीकार करते हैं यद्यपि वह 'विष्णु पुराण' के एतद्विषयक साक्ष्य की हमारी व्याख्या नहीं मानते । एस० के० मैती (द इम्पीरियल गुप्तज एण्ड देयर टाइम्स्, पृ० १९) को हमारे तर्क बहुत सबल प्रतीत हुए हैं । वासुदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ में (गुप्त अभिलेख, पटना १९७४, पृ० ४२३–२८) ने इस विषय में हमारे सभी तर्क और निष्कर्ष मान लिये हैं यद्यपि वह हमारे अनेक वर्ष पहिले प्रकाशित किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं करते । बी० पी० सिनहा ने भी हाल ही में अपने ग्रन्थ 'कॉम्प्रेहेन्सिव हिस्टरी ऑव बिहार' (जिल्द १, भाग २, पृ० २ में) निष्कर्ष निकाला है कि गुप्तादिराज्य 'पूर्वी उत्तर प्रदेश में, अयोध्या के पूर्व में' था । डॉ० राधेशरण (सम्राट् समुद्रगुप्त, पृ० ४४–५) डॉ० दि० च० शुक्ल (अर्ली हिस्टरी ऑव राजस्थान, १९७८, पृ० ८०) तथा डॉ० ओम प्रकाश (प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २५०) ने भी हमारा मत स्वीकार किया है ।

पंक्तियां ३०–३२

(१) ९वें श्लोक में **गंगावतरण** की प्रसिद्ध कथा की ओर संकेत है जिसके अनुसार भगीरथ के अनुरोध पर स्वर्ग से अवतरित गंगा के वेग से पृथिवी की रक्षा करने के लिए शिव ने उसे अपनी जटाओं में धारण किया था और दीर्घ काल तक उसे अपनी जटाओं की अन्तर्गुहा में रोके रखा था (दे०, यशोधर्मा का मंदसोर-लेख) । साहित्य में गंगा को 'त्रिपथगा' (आकाश, पृथिवी और पाताल, इन तीन पथों में विचरण करने वाली) कहा गया है । तु०, रघुवंश ६. ७७ ।

पंक्तियां ३१–३३

(१) **'भट्टारक'** का शाब्दिक अर्थ है 'श्रद्धेय' । लेकिन प्राचीन काल में यह एक राजकीय विरुद था । केवल अपवादरूपेण ही यह किसी आचार्य अथवा देवता आदि के लिये प्रयुक्त होता था । (दे०, फ्लीट, कॉर्पस, पृ० १७, टि० १) । सम्राट् के लिये सामान्यत: 'परमभट्टारक' उपाधि का प्रयोग होता था, लेकिन ऐसा आवश्यक नहीं था । स्वयं समुद्रगुप्त के लिये इन्हीं पंक्तियों में 'भट्टारक' और 'परमभट्टारक' दोनों का प्रयोग हुआ है । रानियों के लिये 'भट्टारिका' और 'परमभट्टारिका' विरुद प्रयोग में आते थे ।

(२) **खाद्यटपाकिक** शब्द निरर्थक है । सरकार ने इसे 'खाद्यकूटपाकिक' रूप में पुनर्योजित किया है । सम्भवत: इसका अर्थ 'भोजनालय से सम्बन्धित अधिकारियों का अध्यक्ष' था (सरकार, स० इ०, पृ० २६८, टि० १) । दिस्कल्कर ने इसे परिवार का नाम माना है । भाण्डारकर खाद्यटपाकिक का अर्थ 'खाद्यटपाक का निवासी' करते हैं । सोहोनी (जे० बी० आर० एस०, ५१, पृ० २८ अ०) का विचार है कि इस उपाधि का सम्बन्ध आयुर्वेद से हो सकता है । क्योंकि 'दण्ड' का अर्थ 'जुर्माना' और 'सेना' दोनों होता था, इसलिए **महादण्डनायक** का सम्बन्ध सेना, पुलिस व न्याय-प्रशासन तीनों से हो सकता था । फ्लीट तथा अल्तेकर ने उसे मुख्यत: सैनिक पदाधिकारी माना है और सरकार ने ऐसा सैनिक पदाधिकारी जो प्रशासकीय उत्तरदायित्व भी वहन करता था । **'सान्धिविग्रहिक'** का अर्थ है सन्धि और विग्रह से सम्बन्धित पदाधिकारी । इससे मिलते-जुलते पदनाम 'सन्धिविग्रहाधिकृत', 'सन्धिविग्रही', 'सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत' आदि हैं । उसे हम युद्ध और विदेश विभागों का मन्त्री मान सकते हैं । **'कुमारामात्य'** का अर्थ पहिले 'कुमार का अमात्य' अर्थात् 'राजकुमार का मन्त्री' माना जाता था । कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'कुमार के बराबर प्रतिष्ठित अमात्य' करते हैं । अल्तेकर का विचार है कि कुमारमात्य आधुनिक आई० सी० एस० (आई० ए० एस०) जैसे पदाधिकारियों का वर्ग था जिनमें से विषयपति (जिलाधीश) तथा उपरिक (गवर्नर) आदि उच्च **पदाधिकारियों की नियुक्ति** की जाती थी ।

(३) **'पादानुध्यात'**—पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इसका अर्थ **'चरणों का ध्यान करने वाला'** न

मानकर 'चरणों द्वारा अनुगृहीत' माना है (आई० एच० क्यु०, १८, पृ० ६४)। यह एक ऐसा पद है जिसका प्रयोग किसी राजकुमार, गवर्नर या अन्य पदाधिकारी द्वारा सम्राट् के प्रति अपनी निष्ठा का प्रदर्शन करने के लिये किया जाता था। उदाहरणार्थ ४०१ ई० के उदयगिरि-लेख में एक 'सनकानीक महाराज' अपने को द्वितीय चन्द्रगुप्त का 'पादानुध्यात' कहता है। प्रारम्भिक मैत्रक नरेश अपने को 'परमभट्टारक पादानुध्यात' कहते थे। किसी राजा का उत्तराधिकारी तो प्रायः अपने को अपने पिता का 'पादानुध्यात' कहता ही था। महाराज वैन्यगुप्त ने गुणैघर अभिलेख में अपने को 'महादेवपादानुध्यात' कहा है और एक दानपत्र में कुमारामात्य कुलवृद्ध ने अपने को 'भट्टारक पादानुध्यात' बताया है।

(४) **समीपपरिसर्पणा**—समुद्रगुप्त के समीप रहने के कारण हरिषेण की मति विकसित हो गई थी, इस कथन से भी समुद्रगुप्त की काव्य प्रतिभा की ओर संकेत मिलता है। हरिषेण के समान द्वितीय चन्द्रगुप्त का मन्त्री वीरसेन भी कवि (कवि पाटलिपुत्रकः) कहा गया है। (दे०, द्वितीय चन्द्रगुप्त का तिथिविहीन उदयगिरि-लेख)।

(५) क्या हरिषेण साहित्य में चर्चित साहित्यकार हरिचन्द्र से अभिन्न है? बाण हरिचन्द्र का उल्लेख 'भट्टार हरिचन्द्र' रूप में करता है। (दे०, सोह्वोनी, पूर्वो०)।

(६) 'तिलभट्टक' नाम वस्तुतः 'तिलकभट्ट' रहा होगा, वर्णविपर्य्य द्वारा 'तिलभट्टक' बन गया होगा।

प्रयाग-प्रशस्ति का महत्व

प्रयाग-प्रशस्ति की विश्वसनीयता—समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति प्राचीन भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिलेखों में से एक है। स्वयं समुद्रगुप्त के जीवनकाल में उसके सान्धिविग्रहिक कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेण द्वारा रचित एवं तथ्यात्मक शैली में लिखित होने के कारण यह, जहां तक तथ्यों का सम्बन्ध है, पूर्णतः विश्वसनीय है। हरिषेण ने अपने स्वामी के व्यक्तिगत चरित्र को अवश्य ही अतिरञ्जित रूप में लिखा है परन्तु उसकी विजयों का वर्णन याथार्थिक रूप में ही किया है। मजूमदार ने एक स्थल पर (जे० बी० आर० एस०, ४२, पृ० ६५२ अ०) प्रयाग-प्रशस्ति को 'अन्य साक्ष्य से असमर्थित' लेखों की श्रेणी में रखा है और प्रश्न उठाया है कि इस लेख के साक्ष्य में हम क्यों विश्वास करें जबकि हम 'गौडवहो' में यशोवर्मा की दिग्विजय के वर्णन को अतिरञ्जित मानते हैं। हम नहीं जानते कि मजूमदार ने इस लेख को किस आधार पर 'असमर्थित' कह दिया है। यह तथ्य कि समुद्रगुप्त ने बंगाल से लेकर पञ्जाब तक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया मात्र इसी बात से प्रश्नातीतरूपेण प्रमाणित है कि उसके उत्तराधिकारियों ने इस पर शासन किया था। दूसरे, उसकी सुवर्ण मुद्राएं इस समस्त प्रदेश से मिलती हैं। जहां तक दक्षिण की बात है वह वहां शासन करने का दावा करता ही नहीं। वैसे उसने वहां पराजित जिन राजाओं की चर्चा की है उनमें काञ्ची का विष्णुगोप तथा वेंगी का हस्तिवर्मा अन्य साक्ष्य से ज्ञात हैं। चौथी सूची के राजाओं के बारे में भी कठिनाई तभी उत्पन्न होती है जब हम यह मानें कि इस सूची में वर्णित सभी राजाओं के साथ तीनों प्रकार की नीतियां अपनाई गई थीं। लेकिन यह मानना आवश्यक नहीं है। अगर हम यह मानें (जो अधिक उचित बात होगी) कि उनमें कुछ ने उसे 'आत्मनिवेदन' द्वारा उसे सन्तुष्ट किया तथा कुछ ने 'कन्योपायनदान' आदि नीतियों द्वारा तो उन सबके ऊपर समुद्रगुप्त का नियन्त्रण मानना अनिवार्य नहीं रह जाता। रही परोक्ष प्रभाव की बात, सो उसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं ही। तीसरे, मजूमदार अब स्वयं इस प्रशस्ति को विश्वसनीय मानते हैं (को० हि० इं०, ३, भाग १, पृ० २५)।

राजनीतिक महत्व—प्रयाग-प्रशस्ति का सर्वाधिक महत्व राजनीतिक दृष्टि से है। एक, इससे गुप्ताधिराज्य की स्थिति का संकेत मिलता है (दे०, पंक्ति २८-३० की टि० ९, पृ० ४७-८)। दूसरे, इसमें समुद्रगुप्त की विजयों का जितने विस्तार से और सुनियोजित विवरण दिया गया है उतना इसके पूर्व किसी अभिलेख में नहीं मिलता। इस लेख के पहिले और दूसरे श्लोकों में सम्भवतः समुद्रगुप्त के प्रारम्भिक युद्धों का वर्णन था जो उसने हो सकता है अपने पिता के जीवनकाल में लड़े हों। अभाग्यवश ये श्लोक लगभग सम्पूर्णतः मिट गए हैं। इसके उपरान्त इसमें समुद्रगुप्त की विद्वत्ता (श्लोक ३) और चुनाव (श्लोक ४) का वर्णन करने के बाद पांचवें और छठे श्लोक में सम्भवतः गृहयुद्ध का वर्णन किया गया है। सातवें श्लोक में उसके द्वारा नाग-राज्यों के विरुद्ध लड़े गए संग्राम का वर्णन है। आठवें श्लोक में उसकी विद्वत्ता की पुनः चर्चा की गई है। इसके उपरान्त गद्य भाग है जिसमें समुद्रगुप्त की वीरता, संगीत-प्रेम व अन्य गुणों का वर्णन करने के अतिरिक्त उसके द्वारा उन्मूलित अथवा अपने प्रभावान्तर्गत लाए गए राजाओं और राज्यों की चार सूचियां दी गई हैं। बहुत से विद्वानों का मत है कि इन सूचियों को भौगोलिक-क्रम से तैयार किया गया था। परन्तु यह धारणा अशुद्ध है। अगर ऐसा होता तो इनमें पंजाब की मद्रक आदि जातियों के साथ कुषाण राजाओं का, दक्षिण के राजाओं के साथ सिंहल का और बंगाल के चन्द्रवर्मा के साथ समतट-नरेश का उल्लेख होता। इसी प्रकार इनमें किसी भी एक सूची में आन्तरिक दृष्टि से भौगोलिक-क्रम नहीं है (पंक्ति १९-२०, टि० ५, पृ० ३१-२) ये सूचियां तिथिक्रमिक दृष्टि से भी तैयार नहीं की गई थीं (दे०, पीछे, पंक्ति २१, टि० ६, पृ० ३७)। हमारे विचार से पहिले आठ श्लोकों में समुद्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन का पद्य में वर्णन करने के बाद हरिषेण ने गद्य भाग में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित अथवा उन्मूलित राजाओं को उनके साथ अपनाई गई विविध नीतियों के अनुसार चार सूचियों में बांट दिया है। अगर हम यह ध्यान रखें कि ७वें श्लोक में आर्यावर्त में लड़े गए एक युद्ध का वर्णन है और गद्य भाग में आर्यावर्त के समय-समय पर उन्मूलित राजाओं की सूची है तो किसी प्रकार का भ्रम पैदा नहीं होगा।

समुद्रगुप्त की विविध नीतियों की दृष्टि से भी प्रयाग-प्रशस्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। उसने (१) प्रसभोद्धरण (२) ग्रहण-मोक्ष (३) अनुग्रह (४) परिचारकीकरण (५) प्रत्यर्पणा (६) 'भ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंश प्रतिष्ठापन' आदि नीतियों का अवलम्बन किया जबकि बहुत से राजाओं ने उसे (७) सर्वकरदान (८) आज्ञाकरण (९) प्रणामागमन (१०) आत्म निवेदन (११) कन्योपायनदान तथा (१२) गरुत्मदङ्क-स्वविषय भुक्तिः शासनयाचन द्वारा परितुष्ट किया। इनसे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने साम, दाम और दण्ड इन तीनों नीतियों का तो अवलम्बन अवश्य ही किया था—शायद भेद नीति का भी किया हो। इन नीतियों का अध्ययन प्राचीन भारत के राजाओं के राजनीतिक दृष्टिकोण को समझने में बहुत सहायता देता है।

प्रयाग-प्रशस्ति का चक्रवर्ती-क्षेत्र की अवधारणा के विकास-क्रम पर प्रकाश देने वाले अभिलेखों के अन्तर्गत अनूठा स्थान है। चक्रवर्ती-क्षेत्र की कल्पना सातवाहन लेखों में 'तिसमुदतोयपीतवाहनस' (पुलुमावी का १९वें वर्ष का नासिक-लेख), चालुक्य लेखों में 'त्रिसमुद्रान्तवार्तभुवनमण्डलाधीश्वर,' गुप्तकालीन लेखों में 'चतुरुदधिसलिलास्वादित यशः' आदि लघु पदों में अथवा हिमालय से हिन्द महासागर तक और पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक विजय करने के दावे के रूप में मिलती है (दे०, सरकार, स० इ०, पृ० २८४, टि० १)। लेकिन समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति एक विजयी सम्राट् की विजयों की याथार्थिक और वैज्ञानिक सूची प्रस्तुत करती है।

प्रयाग-प्रशस्ति गुप्त सम्राट् के राजनीतिक आदर्शों को समझने में भी सहायता देती है। इससे स्पष्ट होता है कि समुद्रगुप्त अपने को विष्णु का अवतार, 'पृथिवी पर मानव रूप में विचरण करने वाला देवता' समझता था। विस्तार के लिए दे०, पंक्ति २४-२५ की टि० १, पृ० ४२।

प्रयाग-प्रशस्ति से परोक्ष रूप से समुद्रगुप्त के उदय के समय भारत की राजनीतिक स्थिति का ज्ञान होता है। कुषाण और सातवाहन साम्राज्यों के पतन के उपरान्त भारत में जो नए राज्य स्थापित हुए उनका एक ही अभिलेख में इतना विस्तृत वर्णन मिल जाने से तीसरी-चौथी शती ई० के इतिहास की अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के किसी और युग के राजनीतिक भूगोल का इतना विस्तृत ज्ञान किसी भी एक लेख से नहीं होता।

प्रयाग-प्रशस्ति से प्रथम चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के काल में गुप्त साम्राज्य का विस्तार ज्ञात होता है। अगर हम समुद्रगुप्त द्वारा विजित प्रदेशों को निर्धारित करलें तो उनके मध्य स्थित वे प्रदेश, जिन्हें जीतने का वह दावा नहीं करता परन्तु जो उसके अधिकार में थे, उसे अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त माने जाएंगे। इस विधि से ज्ञात होता है कि उसके पैतृक साम्राज्य में बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश सम्मिलित थे (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० ६८)। जहां तक स्वयं समुद्रगुप्त का सम्बन्ध है, प्रयाग-प्रशस्ति से स्पष्ट है कि उसकी विजयों से भारत का अधिकांश—कश्मीर के अधिकतर भाग, पश्चिमी राजस्थान, सिन्ध, गुजरात और पश्चिमी दक्षिणापथ को छोड़कर परन्तु छत्तीसगढ़, बरार, उड़ीसा, पूर्वी दक्षिणापथ, केरल व सिंहलादि द्वीपों सहित—उसके द्वारा शासित, नियन्त्रित अथवा न्यूनाधिक रूप से प्रभावित हुआ था।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने अपने साम्राज्य को 'सामन्तीय संघ' के रूप में संगठित किया था। इसका केन्द्रीय अथवा हृदय-भाग—जिसमें बंगाल का अधिकांश, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी मालवा आदि कुछ निकटस्थ प्रदेश सम्मिलित थे—स्वयं सम्राट् द्वारा शासित होता था। यह आटविक राज्यों, पांच प्रत्यन्त राज्यों और नौ गण राज्यों की एक प्राचीर से सुरक्षित था जो सम्राट् द्वारा संरक्षित और उसके करद थे। उनके परे पश्चिमोत्तर दिशा में शक, कुषाण और पारसिक आदि एवं दक्षिण व दक्षिण-पूर्व में दक्षिणापथ के बारह राज्य, सिंहल व द्वीपान्तर राज्य थे जो सम्राट् के मित्र थे अथवा उसके प्रति आदरभाव रखने के लिए विवश कर दिए गए थे। तु०, नेपोलियन के साम्राज्य का संगठन जिसका हृदय या केन्द्रीय भाग (फ्रांस तथा पड़ौस के डच, बेल्जियमी व इटालवी प्रदेश) संरक्षित राज्यों (स्पेन, राइन संघ, ग्राण्ड डची ऑव वारसा तथा नेपुल्स) की प्राचीर से सुरक्षित था जिसके परे प्रशा, आस्ट्रिया तथा रूसी साम्राज्य थे जो फ्रान्स के मित्र बना दिए गए थे।

प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्तयुगीन बहुत से पदनामों की चर्चा आती है जैसे आयुक्तपुरुष, खाद्यटपाकिक, महादण्डनायक, कुमारामात्य और सान्धिविग्रहिक। महादण्डनायक पद से दण्डनायक पद का अस्तित्व सिद्ध है। विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, पीछे, पंक्ति २६ व ३२ की टिप्पणियां।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व—प्रयाग-प्रशस्ति के महत्वपूर्ण होने का एक प्रमुख कारण है इसमें समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व के विविध पक्षों का वर्णन। इस वर्णन से लगता है कि उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह न केवल एक महान् योद्धा और सेनापति था वरन् एक कुशल राजनीतिज्ञ, उद्भट विद्वान, महान् संगीतज्ञ, और दानवीर भी था। भारतीय परम्परा में वीरों की तीन कोटियां मानी गई हैं: दानवीर, युद्धवीर और शान्तवीर। ऐसा लगता है कि हरिषेण समुद्रगुप्त में इन तीनों प्रकार के वीरों के गुण दिखाना चाहता था। लेकिन यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि यह वर्णन सम्राट् के एक प्रशंसक मन्त्री द्वारा अतिरञ्जित शैली में लिखा गया होने के कारण पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है। इससे हमें मात्र यह ज्ञात होता है कि हरिषेण सम्राट् को जनता के सम्मुख किस रूप में रखना चाहता था। उदाहरणार्थ, उसके वर्णन से हमें यह तो ज्ञात हो जाता है कि समुद्रगुप्त की संगीत व साहित्य में भी रुचि थी, लेकिन वह महाकवियों से भी श्रेष्ठतर माना जाना वाला कविराज था और संगीत के क्षेत्र में नारद और तुम्बुरु को लज्जित करने की क्षमता उसमें थी, यह जानने का कोई उपाय आज शेष नहीं है। इसी प्रकार जब हरिषेण समुद्रगुप्त की इसलिए प्रशंसा करता है

क्योंकि उसने दक्षिण के राजाओं को छोड़ देने एवं विजित राजाओं के वैभव को लौटा देने की कृपा दिखाई थी तो उससे सहमत नहीं हुआ जा सकता । बहुत से आधुनिक इतिहासकार हरिषेण का अनुसरण करते हुए इस नीति को समुद्रगुप्त की उदारहृदयता का प्रमाण मान लेते हैं । परन्तु समुद्रगुप्त अगर इतना ही उदार था तो उसने इन राजाओं पर आक्रमण किया ही क्यों था और उनकी सम्पदा उनसे छीनी ही क्यों थी ? और फिर उसने यह उदारता आर्यावर्त के राजाओं के साथ क्यों नहीं दिखाई ? अगर दक्षिण के राजाओं के प्रति अनुग्रह दिखाने से उसके हृदय की 'उदारता' सिद्ध होती है तो आर्यावर्त के राजाओं के उन्मूलन से क्या उसकी 'आसुरी' मनोवृत्ति सिद्ध नहीं होगी ? स्पष्ट है कि उसकी विजित राज्यों के प्रति नीति का उसके हृदय की उदारता अथवा कठोरता से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसने ये नीतियां अन्य कारणों से बाध्य होकर अपनाई होंगी। इसलिए उसका कुछ राजाओं को पराजित करके छोड़ देना ओर उनकी सम्पदा उनको लौटा देना उसकी नीतिज्ञता का प्रमाण है न कि दयालुता का। फिर भी इतना तो माना ही जा सकता है कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की व्यक्तिगत उपलब्धियों का जो वर्णन किया है उसमें सत्य का पर्याप्त अंश है क्योंकि उनका समर्थन अतिरिक्त साक्ष्य से भी प्रायः हो जाता है। हमने उसके व्यक्तित्व के विविध पक्षों का अध्ययन पीछे विभिन्न व्याख्यात्मक टिप्पणियों में किया है। अध्ययन की सुविधा के लिये हम यहां उसकी प्रतिभा के विविध पक्षों को संक्षेप में दोहरा देते हैं : (१) **सैनिक प्रतिभा और शूरता**—प्रयाग-प्रशस्ति की १६वीं व १७वीं पंक्तियों में उसे सैकड़ों विविध समरों में उतरने में दक्ष, अपने भुजबल के पराक्रम को अपना एक मात्र बन्धु समझने वाला, पराक्रमांक तथा विविध अस्त्र-शस्त्रों से लगे घावों से सुन्दर हो गये शरीर वाला कहा गया है । २६वीं पंक्ति में उसकी तुलना इन्द्र और अन्तक (=यम) से की गई है । ७वें श्लोक में उसके द्वारा नागों के विरुद्ध लड़े गये युद्ध का वर्णन है जिससे लगता है कि नेपोलियन के सदृश वह भी शत्रुओं को उन पर तेजी से आक्रमण करके (क्षणात्) हरा देने में विश्वास करता था । एरण-लेख में कहा गया है कि उसने पौरुष का शुल्क देकर दत्तदेवी को प्राप्त किया था (दत्तस्य पौरुष पराक्रम दत्त शुल्का) और पृथिवी के सकल नरेशों को उन्मूलित किया था । युद्ध में उसके पराक्रम का स्मरण कर उसके शत्रु अपने-अपने विषयों अर्थात् प्रदेशों में त्रस्त हो उठते थे । रुष्ट होने पर वह साक्षात् यम की याद दिलाता था । उसी लेख में वह 'अप्रतिवार्यवीर्य्यः' भी कहा गया है । उसके धनुर्धारी, व्याघ्रनिहन्ता और परशुधारी प्रकार के सिक्के उसकी रणप्रियता, शूरता और वीरोचित आखेटप्रियता की सचित्र झांकी प्रस्तुत करते हैं । (२) **शासन-प्रबन्ध और नीति निपुणता**—दे० पीछे, उसकी विविध नीतियों का वर्णन तथा उनसे सम्बद्ध टिप्पणियां । (३) **साहित्य-प्रेम व साहित्यकारों को संरक्षण**—दे०, श्लोक ३ व ८ तथा पंक्ति २७ का अनुवाद व उन पर दी गई टिप्पणियां । (४) **संगीत-प्रेम**—दे०, पंक्ति २७ का अनुवाद व टिप्पणियां । (५) **दानशीलता व दयालुता**—दे०, पंक्ति २५ व २६ का अनुवाद व टिप्पणियां । (६) **धर्मपरायणता**—प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को धर्म की बंधी हुई प्राचीर (धर्मप्राचीरबन्धः), विविध सुन्दर आचरणों से अलंकृत (सुचरित शतालङ्कृत), वेदविहित मार्ग को स्वीकार करने वाला (सूक्तमार्गः) तथा शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार आचरण करने वाला (श्लोक ६) कहा गया है । उसके सिक्कों पर उपलब्ध लेखों में कहा गया है कि वह अपने सुकर्मों से स्वर्ग जीतने वाला था । लेकिन उसका धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण न होकर उदार था । सिंहल नरेश को बोधगया में एक विहार बनवाने की अनुमति देना व वसुबन्धु नामक बौद्ध विद्वान् को शरण देना इसका प्रमाण हैं ।

प्रयाग-प्रशस्ति का साहित्यिक वैशिष्ट्य—समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति साहित्यिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है । यह अभिलेखों के रूप में लिखी गई साहित्यिक कृतियों का एक उत्कृष्ट नमूना है । इससे करीब दो सौ वर्ष पूर्व लिखी गई प्रथम रुद्रदामा की जूनागढ़-प्रशस्ति की भाषा भी संस्कृत है, परन्तु उसमें किसी-किसी शब्द में पालि और प्राकृत का कुछ प्रभाव मिलता है जबकि प्रयाग-प्रशस्ति विशुद्ध लौकिक

संस्कृत में लिखित है। 'प्रशस्ति' या 'पूर्वा' उन लेखों को कहा जाता था जिनमें किसी राजा की प्रशंसा होती थी। यह दो प्रकार की हो सकती थी : एक प्रतिष्ठा लेखों के अन्तर्गत लिखित प्रशस्ति जिनका मूल उद्देश्य तो किसी सरोवर, स्तम्भ अथवा मूर्त्ति आदि की स्थापना का वर्णन करना होता था लेकिन उसके साथ उसमें तत्कालीन नरेश की प्रशंसा भी लिखी होती थी (जैसे स्कन्दगुप्त की जूनागढ़-प्रशस्ति), और दूसरी विशुद्ध प्रशस्ति जिसका उद्देश्य ही होता था उसमें उल्लिखित नरेश की प्रशंसा करना। प्रयाग-प्रशस्ति दूसरे वर्ग की अर्थात् 'विशुद्ध प्रशस्ति' है। ऐसी प्रशस्तियां बहुत ही कम उपलब्ध हैं।

हरिषेण ने प्रयाग-प्रशस्ति को 'चम्पू' काव्य के रूप में लिखा है। (गद्यपद्यमयंकाव्यं चम्पूरित्यभिधीयते—साहित्य दर्पण)। वह एक उत्कृष्ट कोटि का कवि प्रतीत होता है। 'कृष्ण चरित' की प्रस्तावनानुसार (जिसे समुद्रगुप्त द्वारा रचित बताया गया है परन्तु जो एक आधुनिक जाली रचना प्रतीत होती है) हरिषेण स्वयं रघुकार कालिदास से अभिन्न (परन्तु नाटककार कालिदास से भिन्न) था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है यह प्रशस्ति एक महावाक्य है जिसे अवान्तर वाक्यों, विशेषणों और शब्दों के पुष्प पिरो कर एक माला का सा रूप दे दिया गया है। इस दृष्टि से हरिषेण को बाण और सुबन्धु की गद्य शैली का जनक माना जा सकता है। यह शैली अन्य अभिलेखों में उपलब्ध नहीं होती।

प्रयाग-प्रशस्ति के पद्य और गद्य की भाषा में मौलिक एक अन्तर है—हरिषेण ने पद्य भाग में वैदर्भी रीति का अवलम्बन करते हुए समास रहित सरल भाषा का प्रयोग किया है और गद्य भाग में लम्बे-लम्बे समासों का। इस प्रकार गद्य में कहीं-कहीं गौड़ी-बन्ध की झलक मिलती है। लेकिन लम्बे-लम्बे समासों के बीच में प्रायः छोटे-छोटे समासों और शब्दों का प्रयोग करके हरिषेण ने गद्य भाग को दुरूह होने से बचा लिया है।

प्रयाग-प्रशस्ति में कुल नौ श्लोक हैं, जिनमें प्रथम दो के छन्द अज्ञात हैं। छाबड़ा तथा गायि के अनुसार इनका छन्द स्रग्धरा है (संशोधित कॉपर्स ३, पृ० २११, टि० ८)। शेष सात में हरिषेण ने ४ छन्दों का प्रयोग किया है : ३रे, ५वें और ८वें में स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्द का, ४थे और ७वें में शार्दूल विक्रीड़ित का, ६ठे में मन्दाक्रान्ता का और ९वें पृथिवी का। जहां तक अलंकारों का सम्बन्ध है उसने अनुप्रास और श्लेष का बहुत कम प्रयोग किया है और रूपक का सर्वाधिक (दे०, श्लोक ३ व 'स्वभुज बलपराक्रमैकबन्धोः' तथा 'कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमन्त्रदीक्षाभ्युपगतमनसः' आदि पद)। कहीं-कहीं में उपमा का प्रयोग भी किया गया है यथा 'धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य' में। इसका सर्वोत्तम उदाहरण नवें श्लोक में मिलता है जिसमें कहा गया है कि समुद्रगुप्त की कीर्त्ति गंगा के पाण्डु जल के समान तीनों लोकों को पवित्र करने वाली है।

समुद्रगुप्त का तिथिविहीन खण्डित एरण पाषाण-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख का **प्राप्ति स्थल** मध्य प्रदेश के सागर जिले की खुराई तहसील में बीना नदी के तट पर बसा हुआ एरण नामक गांव है जो प्राचीन काल में ऐरिकिण नामक नगर था। अभिलेख एक चौकोर लाल बलुहे पत्थर पर उत्कीर्ण है। यह उस भग्न वराह-मन्दिर के ध्वंसावशेषों से कुछ ही दूर मिला था जिससे तोरमाण का एरण-अभिलेख प्राप्त हुआ है। आजकल यह **पाषाण-खण्ड** कलकत्ता संग्रहालय में रखा हुआ है। अभिलेख सम्पूर्ण पाषाण-खण्ड पर, जिसका आकार ९½″ × ३′ १″ है, उत्कीर्ण है। पाषाण के धरातल पर बहुत से छोटे-बड़े छिद्र बन जाने से इसका शिलामुद्रण अच्छा नहीं बन पाता। यह हमें खण्डित रूप में ही प्राप्त है। लेख की श्लोक संख्याओं से ज्ञात होता है कि पाषाण के उपरले भाग में, जो अब टूट कर खो गया है, छः पंक्तियां थीं। इनमें प्रथम श्लोक तथा द्वितीय श्लोक के प्रथम दो पाद थे। ७वीं पंक्ति से उपलब्ध पठ्य भाग प्रारम्भ होता है। इस पंक्ति में दूसरे श्लोक का तीसरा पाद था। इसके केवल दो शब्द अवशिष्ट हैं—'सुवर्ण दाने'। ८वीं पंक्ति में दूसरे श्लोक का चौथा पाद लिखा है और ९वीं से २४वीं पंक्तियों में प्रत्येक में तीसरे से छठे श्लोकों का एक-एक पाद है, केवल तीसरे श्लोक के दूसरे पाद को ९वीं पंक्ति से प्रारम्भ कर दिया गया है। ८वीं से २४वीं पंक्तियों तक लेख लगभग सम्पूर्णतः पठ्य है, केवल हर पंक्ति के प्रारम्भ के एक से लेकर तीन अक्षर तक पाषाण-खण्ड के इस किनारे पर किसी औजार के रगड़े जाने के कारण नष्ट हो गए हैं। २५वीं से २७ वीं पंक्तियों में प्रत्येक में एक-एक श्लोक के दो-दो पाद थे। अतः २५वीं और २६वीं पंक्तियां खण्डित हो जाने से ७वें श्लोक का प्रथम और तीसरा पाद अब अनुपलब्ध है और दूसरे तथा चौथे पाद के प्रारम्भिक अक्षर अपठ्य हो गये हैं। अन्तिम उपलब्ध पंक्ति २७वीं है। इसमें ८वें श्लोक के, जो २८वीं पंक्ति में समाप्त हुआ होगा, दूसरे पाद के कुछ ही अक्षर बचे हैं। इसके बाद अभिलेख में कितनी पंक्तियां और श्लोक और थे, यह निश्चयपूर्वक कहना असम्भव है। परन्तु हमारा विचार है कि लेख सम्भवतः २८वीं पंक्ति पर ही समाप्त हो गया था क्योंकि इसकी पंक्ति २५–२६ में ऐरिकिण में किसी निर्माण कार्य का, जिससे किसी के यश की वृद्धि की आशा की गई है, उल्लेख हुआ है। ऐसी चर्चा अभिलेखों के प्रायः अन्त में ही मिलती है। अतः हमारा अनुमान है कि इस लेख के ८वें श्लोक में मंगल-वचन अथवा किसी दान उल्लेख रहा होगा और उसके साथ ही लेख समाप्त हो गया होगा। स्कन्दगुप्त के भितरी-स्तम्भ-लेख के अन्तिम श्लोक इस प्रसंग में उदाहरणीय हैं।

एरण-अभिलेख की **भाषा** संस्कृत है। इसका उपलब्ध भाग पूर्णतः पद्यात्मक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसके उपलब्ध भाग में ८ श्लोक हैं। ये सभी वसन्ततिलका **छन्द** में है। लेख **तिथि-विहीन** है और इसका लेखक अज्ञात है। इसकी **लिपि** प्रधानतः पेटिका शीर्ष प्रकार की ब्राह्मी है जो हमें द्वितीय प्रवरसेन वाकाटक के दानपत्रों तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त के ८२वें वर्ष के उदयगिरि-लेख तथा तीवरदेव के राजीम-दानपत्र आदि में मिलती है। इस लिपि की विशेषता है इसके अक्षरों के शिरोभाग का चौकोर या पेटिका रूप में होना। लेकिन समय के अन्तराल के कारण अक्षरों के चोकोर भाग के बीच के प्रस्तरांश टूट-फूट जाने से अब इनके चौकोर भाग शिलामुद्रण में कम ही आ पाते हैं। लेख के कुछ शब्दों में

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(यथा, पंक्ति ८ में 'पृथुराघवाद्याः' तथा पंक्ति १० में 'समुद्रगुप्तः' में) कीलाकार ब्राह्मी का (जिसमें चौकोर शिरोभाग के बजाय ऐसा त्रिकोणात्मक शिरोभाग मिलता है जिसकी नुकीली रेखा नीचे की ओर होती है) प्रयोग भी मिलता है। श्लोकों की गणना के लिये संख्यात्मक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। **वर्तनी** में निम्नलिखित बातें उल्लेख्य हैं : (१) पंक्ति २६ में 'परिब्रिङ्हनार्त्थम्' में 'बृ' के बजाय 'ब्रि' लिखा है एवं अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग है तथा 'ण' के स्थान पर 'न' का। (२) पंक्ति १३ में 'विक्क्रम' में, पंक्ति १७ में 'पराक्क्रम' में तथा पंक्ति १२ में '०द्ध्रुतम्' में अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर 'क' तथा 'ध' का द्वित्व हो गया है।

प्रस्तुत अभिलेख लगभग निश्चितरूपेण गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के काल का है (दे०, आगे) जिसका नाम दसवीं पंक्ति में लिखा है। उसके उपरान्त इसके उपलब्ध भाग में किसी और शासक का उल्लेख नहीं आता। इसका **उद्देश्य** अज्ञात है। इसकी पंक्ति २५-२६ में ऐरिकिण में किसी निर्माण-कार्य का उल्लेख था और यह अभिलेख या तो उस निर्माण कार्य का एक भाग था और या उससे सम्बन्धित एक स्वतन्त्र लेख। निर्माण किस चीज का हुआ था, यह अज्ञात है। फ्लीट का अनुमान था कि जिस पाषाण खण्ड पर यह लेख लिखा है उसमें २५वीं पंक्ति के टूटे भाग के ऊपर कोई मूर्त्ति बनी रही होगी और यह मूर्त्तियुक्त पाषाण किसी मन्दिर का भाग रहा होगा जबकि कनिंघम का सुझाव था कि यह लेख विष्णु की उस विशाल प्रतिमा से सम्बन्धित रहा होगा जो एरण में वराह मन्दिर के तुरन्त बाद उत्तर की तरफ स्थित है।

अध्ययन इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—यह अभिलेख जनरल कनिंघम को १८७४ से १८७७ ई० के बीच कभी प्राप्त हुआ था। उन्होंने इसका प्रकाशन १८८० में ए० एस० आई०, १०, (पृ० ८९) में किया। फ्लीट ने इसे सर्वप्रथम अपने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (सं० २)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :— भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २२०-२५४; दि० च० सरकार, स० इ०, पृ० २८८-९०; पी० आई० एच० सी०, १७ (१९५४), पृ० ७२-७८; जे० यू० पी० एच० एस०, न्यु सीरीज, ३, पृ० ९२ अ० में पुनर्मुद्रित ; जगन्नाथ अग्रवाल, पी० आई० एच० सी०, १४, (१९५१), पृ० ६२ अ०; जे० आई० एच०, १९ (१९४०), पृ० २७-२९; दशरथ शर्मा, जे० आई० एच०, १४ (१९३५), पृ० ६७-२९; सोहोनी, जे० बी०, आर० एस०, ५१, पृ० ५० अ०; रा० ब० पाण्डेय, हि० लि० इ०, १९६२, पृ० ७७-७८; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १२५; भाण्डारकर-सूची सं० १५३९; साधुराम, के० यू० आर० जे०, १, भाग १, पृ० १३-१९; मिराशी, आई० ए०, तीसरी सीरीज, १, भाग ३, १९६४, पृ० १७४-६।

मूलपाठ

१ ——‿—‿‿‿—‿‿—‿——
२ ——‿—‿‿‿—‿‿—‿——(।*)
३ ——‿—‿‿‿—‿‿—‿——
४ ——‿—‿‿‿—‿‿—‿——(॥*)[१*]
५ ——‿—‿‿‿—‿‿—‿——
६ ——‿—‿‿‿—‿‿—‿——(।*)
७ ——‿—‿‿‿—‿**सुवर्ण्ण-दाने**
८ **[संवा*]रिता नृपतयः पृथु-राघवाद्याः (॥*) २**

९ [पुत्रो*] बभूव धनदान्तक-तुष्टि-कोप-
तुल्यः
१० [पराक्र*]म-नयेन समुद्रगुप्तः (।*)
११ [यं प्रा*]प्य पार्त्थिव-गणस्सकलः पृथिव्याम्
१२ [पर्य*]स्त-राज्य-विभव-द्ध्रु तमास्थितो(ऽ*)भूत् (।।*) ३
१३ [ताते*]न भक्ति-नय-विक्रम-तोषितेन
१४ [यो*] राज-शब्द-विभवैरभिषेचनाद्यैः (।*)
१५ [सम्मा*]नितः परम-तुष्टि-पुरस्कृतेन
१६ [सोऽयं ध्रु*][वो] नृपतिरप्रतिवार्य्य-वीर्य्यः (।।*) ४
१७ [दत्ता*]स्य पौरुष-पराक्रम-दत्त शुल्का
१८ [हस्त्य*]श्व-रत्न-धन-धान्य-समृद्धि-युक्ता (।*)
१९ [नित्य*]ङ्गृहेषु मुदिता बहु-पुत्र-पौत्र-
२० [स*]ङ्क्रामिणी कुलवधुः व्रतिनी निविष्टा (।।*) ५
२१ [यस्यो*]र्ज्जितं समर-कर्म्म पराक्रमेद्धं
२२ [पृथ्व्यां*] यशः सुविपुलम्परिबभ्रमीति (।*)
२३ [कार्या*]णि यस्य रिपवश्च रणोर्ज्जितानि
२४ [स्व*]प्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति (।।*) ६
२५ ——⌣–⌣⌣⌣—⌣⌣—⌣——
[स्त*][म्भ?]: स्वभोगनगरैरिकिण-प्रदेशे (।*)
२६ ——⌣—⌣⌣⌣—⌣——⌣——
[सं*]स्थापितस्स्वयशसः परिब्रिङ्हनार्त्थम् (।।*) ७
२७ ——⌣—⌣⌣⌣—⌣⌣—⌣——
——⌣वो नपतिराह यदा⌣——(।*)
२८ ——⌣—⌣⌣⌣—⌣⌣—⌣——
——⌣–⌣⌣⌣–⌣⌣—⌣——(।।*)[८*]

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ८ से २६ तक खण्डित अंशों का पुनर्योजन हमने सरकार के अनुमानानुसार किया है। अन्य विद्वानों के कुछ मुख्य सुझावों को इस पाठ-टिप्पणी में दे दिया गया है। स्मरणीय है इस विषय में सभी सुझाव अनुमानाश्रित है और अधिकाँश सुझावों के स्वीकार से अभिलेख के मूल आशय में अन्तर नहीं पड़ता। पंक्ति ७ : भाण्डारकर 'सुवर्णदाने' के पूर्व 'येनार्थिकल्पविटपेन' को पुनर्योजित करते हैं। पंक्ति ८ : जगन्नाथ अग्रवाल ने 'संवारिता' के स्थान पर 'विस्मारिता' सुझाया है ओर कुछ अन्य ने 'न्यक्कारिता'। 'नृपतयः' में 'त' पंक्ति के नीचे लिखा है। पंक्ति ९ : 'पुत्रो' के स्थान पर कुछ ने 'भूपो' पाठ सुझाया है और कुछ ने 'राजा'। पंक्ति १० : भाण्डारकर 'सदागम' पुनर्योजित करते हैं। पंक्ति १७ : 'दत्तास्य' के स्थान पर मिराशी 'एतस्य' पाठ सुझाते हैं, कुछ अन्य 'श्रीरस्य'। पंक्ति १९ ; नित्यङ्गृहेषु' के स्थान पर मिराशी ने 'तस्य गृहेषु' तथा साधुराम ने 'सेयङ्गृहेषु' पाठ माना है। पंक्ति २० : 'वधुः वधूर्व॰' को 'वधूर्वः' पढ़ें। पंक्ति २२ : अन्य जनों ने 'पृथ्व्यां' के स्थान पर 'शुभ्र'' 'दीप्तं' आदि पाठ सुझाये हैं। पंक्ति २३ :'कार्याणि' के स्थान पर अन्य सुझाये गये पाठ हैं 'वीर्याणि' तथा 'कर्माणि'। पंक्ति २४ : कुछ लोग 'स्वप्नान्तरे' को 'स्वप्रान्तरे' पढ़ते हैं। पंक्ति २५ : 'स्तम्भः' पाठ सन्देहग्रस्त है। फ्लीट मात्र '[..]प्तः (?)' पढ़ पाये हैं। पंक्ति २६ : 'परिब्रिङ्हनार्त्थम् को 'परिबृंहणार्त्थम्' पढ़ें।

शब्दार्थ

संवार=न्यूनता; संवारिता=न्यून कर दिये गये; नय=नीति; तुष्टि=प्रसन्नता; यं प्राप्य=जिसको पाकर; पर्यस्त=इधर-उधर फेंका गया, पदच्युत, वञ्चित; तात=पिता; राजशब्द='राजा' उपाधि; विभव=वैभव, सम्पत्ति; पुरस्कृत=संयुक्त, संलग्न; ध्रुव=अचल; अप्रतिवार्यवीर्यः=अप्रतिवार्य पराक्रम वाला; गृहेषु=घरों में; व्रतिनी=पतिपरायणा; शुल्क=स्त्रीधन; निविष्टा=ब्याही गई थी; संक्रमण=सहगमन; इद्धं=जला हुआ, प्रकाशित; पराक्रमेद्धं=पराक्रम से प्रकाशित; परिभृ=भ्रमण करना; विचिन्त्य=सोचकर; परित्रसन्ति=आतंकित हो जाते हैं; परिबृंहणार्थम्=वृद्धि के हेतु; भोग=जागीर ।

अनुवाद

(अभिलेख की प्रथम ६ पंक्तियां, जिनमें श्लोक १ तथा श्लोक २ के प्रथम दो पाद दिये गये थे, पूर्णतः अप्राप्य हैं ।)

पं० ७ ––––––(जिसके द्वारा) सुवर्णदान में पृथु और राघव आदि राजा न्यून कर दिये गये ॥२॥

पं० ९ समुद्रगुप्त नामक पुत्र था जो तुष्टि और कोप में (क्रमशः) धनद (=कुबेर) और अन्तक (=यम) के समान था, (तथा) जिसको पाकर (अर्थात् जिसके सामने) (उसके) पराक्रम और नीति द्वारा पृथिवी पर राजाओं का सकल समूह राज्यविभव से वञ्चित और उन्मूलित कर दिया गया ॥३॥

पं० १३ जो (अपनी अर्थात् समुद्रगुप्त की) भक्ति, नीति और विक्रम से प्रसन्न हुए परम सन्तोष युक्त पिता द्वारा (अर्थात् परम सन्तुष्ट प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा) 'राजा' उपाधि एवं अभिषेकादि वैभवों से सम्मानित किया गया, वही यह अचल (और) अप्रतिवार्य पराक्रम वाला नृपति है ॥४॥

पं० १७ जिसके द्वारा दत्ता (=दत्तदेवी) नाम की (वह) पतिपरायणा सहयोगिनी पत्नी ब्याही गई थी जिसका स्त्रीधन उसके (अर्थात् समुद्रगुप्त के) पौरुष और पराक्रम द्वारा दिया गया था (और) (जो) हस्ति अश्व, रत्न, धन-धान्य और समृद्धि की स्वामिनी थी (तथा) अपने महलों में बहुतेरे पुत्र-पौत्रों से मुदित रहती थी ॥५॥

पं० २१ जिसके युद्ध क्षेत्र में अर्जित कर्म पराक्रम से प्रकाशित हैं, (जिसका) सुविपुल यश पृथिवी पर (सर्वत्र) परिभ्रमण कर रहा है, और जिसके रण में अर्जित कार्यों को सोचकर शत्रुजन स्वप्नान्तरों में भी आतंकित हो जाते हैं ॥६॥

पं० २५ –––––अपने भोग के नगर ऐरिकिण प्रदेश में अपने यश की अभिवृद्धि के निमित्त स्तम्भ (?) की स्थापना की ॥७॥

पं० २७ –––––जबकि राजा ने कहा–––––––

(पंक्ति २७ के उपरान्त के बाद पंक्ति २८, जो अब अनुपलब्ध है, अभिलेख में मूलतः अवश्य ही रही होगी । उसके उपरान्त अगर कुछ और पंक्तियां थीं, जो हमें सम्भव नहीं लगता, तो वे भी अब अप्राप्य हैं) ।

व्याख्या

(१) **सुवर्णदाने**—कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इन शब्दों के पूर्व समुद्रगुप्त के किसी पूर्वज का वर्णन रहा था जिसे सुवर्णदान का श्रेय दिया गया होगा। परन्तु समुद्रगुप्त के सुवर्णदान का उल्लेख गुप्त अभिलेखों की वंशावली वाले भाग में मिलता है जहां उसे 'गोहिरण्यकोटिप्रदस्य' कहा गया है। 'महाभारत' के अनुशासन पर्व में सुवर्णदान का महात्म्य वर्णित है। तु० : सुवर्णं परं दानं सुवर्णं दक्षिणा परा। सुवर्णं पावनं शक्र पावनानां परं स्मृतम् (अनुशासन पर्व, ७४.६)।

(२) **धनदान्तक**—समुद्रगुप्त की तुलना गुप्त अभिलेखों में धनद, वरुण, इन्द्र और अन्तक से बराबर की गई मिलती है।

(३) **राजशब्दविभवैरभिषेचनाद्यैः**—एरण-लेख के चौथे श्लोक में किसके द्वारा किसके अभिषेक का उल्लेख है यह प्रश्न विवादग्रस्त है। सरकार का विचार है कि यहां प्रथम चन्द्रगुप्त के द्वारा समुद्रगुप्त के अभिषेक का उल्लेख हुआ है। लेकिन दशरथ शर्मा का कहना था कि समुद्रगुप्त, जो स्वयं 'महाराजाधिराज' था, किसी के द्वारा अभिषिक्त कैसे हो सकता था ? उनका विचार है कि यहां समुद्रगुप्त के द्वारा किसी सामन्त राजा के, जो ऐरिकिण का गवर्नर रहा होगा, अभिषिक्त होने का उल्लेख हुआ है। सम्राट् के द्वारा अधीन राजा के अभिषेक की चर्चा मैत्रक, गंग व कदम्ब अभिलेखों में मिलती है। इसके उत्तर में जगन्नाथ अग्रवाल ने उचित ही ध्यान दिलाया है कि समुद्रगुप्त का उसके पिता द्वारा राजा रूप में अभिषेक हुआ मानना सर्वथा संगत है। भाण्डारकर का भी यही मत है (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २२३)। दे०, रघुवंश में दिलीप द्वारा रघु को अभिषिक्त किये जाने का उल्लेख ३.३५; ३.७०, ४.१। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के अभिषिक्त किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। यह सुझाव कि इस श्लोक में समुद्रगुप्त द्वारा मुद्राओं एवं अजन्ता-लेख से ज्ञात काच के अभिषेक का उल्लेख था (स्टडीज इन इण्डियन एपिग्राफी, १, १९७४, पृ० ८३) सर्वथा कल्पनाश्रित है।

(४) **दत्तास्य पौरुष-पराक्रम-दत्त शुल्का**—प्राचीन साहित्य में राजकुमारियों को प्रायः 'वीर्य शुल्का' ='पराक्रम द्वारा जीती गई' बताया गया है। दे०, 'रामायण १.६७.२३ तथा २५; 'भागवत पुराण', गीता प्रेस का संस्करण, १.१०.२९ (या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे) तथा 'रघुवंश' ११.३८ तथा ४७। प्रस्तुत लेख में नामैकदेश 'दत्ता' दत्तदेवी के अर्थ में आया है। तु०, 'महाभाष्य' में 'सत्या' और 'भामा' को सत्यभामा का नामैकदेश बताया जाना। प्रभावती गुप्ता के रिथपुर-दानपत्र में कुबेरनागा को 'कुबेरनाग-देवी' कहा गया है। सोहोनी का आग्रह है कि गुप्त अभिलेखों में किसी भी रानी का उल्लेख 'देवी' शब्द-विहीन नहीं है। अतः वह यहां दत्तदेवी का उल्लेख नहीं मानते। उनका विचार है कि यहां समुद्रगुप्त की पत्नी के रूप में मात्र पृथिवी का वर्णन है। परन्तु यह तर्क सुचिन्तित नहीं है। 'देवी' शब्द का प्रयोग इस प्रकार के छन्दोवद्ध लेखों में अनिवार्य नहीं था। अगर मेहरौली-लेख में गुप्त सम्राट् का उल्लेख मात्र चन्द्र' नाम से—उसका पूरा नाम, वंश व तिथि बिना दिये—हो सकता था तो दत्तदेवी को केवल 'दत्ता' क्यों नहीं कहा जा सकता था ? दशरथ शर्मा भी ५वें श्लोक में समुद्रगुप्त की पत्नी का नहीं वरन् उसके किसी अधीनस्थ सामन्त की पत्नी का उल्लेख मानते हैं। फ्लीट लुप्तांश में 'दत्ता' पाठ का सुझाव नहीं दे पाये थे। उनका कहना था कि छन्द में ठीक न बैठने के कारण उसका नाम अनुल्लिखित है लेकिन वह यह अवश्य मानते थे कि इस स्थल पर समुद्रगुप्त की पत्नी तथा धनधान्यपूर्ण परिवार का वर्णन है। 'पौरुष-पराक्रमदत्तशुल्का' से जगन्नाथ ने निष्कर्ष निकाला है कि समुद्रगुप्त ने दत्तदेवी को खुली प्रतियोगिता में जीता था। पी० एल० गुप्त ने दत्तदेवी को कदम्ब नरेश काकुत्स्थवर्मा की पुत्री माना है (गु० सा०, पृ० २७६)। परन्तु काकुत्स्थवर्मा समुद्रगुप्त का समकालीन नहीं था (दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ४६०-४)।

(५) **संक्रामिणी कुलवधुः व्रतिनी निविष्टा**—तु०, अफसड़-लेख के श्लोक २३ में आदित्यसेन की पत्नी का वर्णन।

(६) **स्वभोगनगरैरिकिण प्रदेशे**—फ्लीट ने 'भोग' का अर्थ 'आनन्द' मानकर ऐरिकिण को 'आनन्द मनाने का नगर' माना था। परन्तु अनेक विद्वानों ने ध्यान दिलाया है कि 'भोग' शब्द जागीर के अर्थ में आता था। अत: 'स्वभोगनगर' का अर्थ 'अपनी जागीर का नगर' होगा (जायसवाल 'हिस्टरी ऑफ इण्डिया', पृ० १४१; दशरथ शर्मा, जे० आई० एच०, १४, पृ० २६; आर० एस० शर्मा, इण्डियन फ्युडलिज्म, पृ० १७-१८)। तु०, 'महाराजशर्वनाथभोग', 'महासामन्ताधिपतिश्रीधरभोग' आदि। भोग प्रायः विषय से छोटी प्रादेशिक इकाई भी होती थी। 'भुक्ति' और 'भोग' परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं। 'स्वभोग'=अपनी जागीर। फ्लीट के अनुसार यह बताना सम्भव नहीं है कि यहां आशय समुद्रगुप्त के 'अपने' 'भोग नगर' से है अथवा उसके किसी अधीन शासक के 'भोग नगर' से जिसकी चर्चा हो सकता है अभिलेख के खण्डित अंश में हुई हो। अगर यहां समुद्रगुप्त के किसी अधीन राजा का उल्लेख हुआ होगा तो यह लेख भी उसी ने लिखवाया होगा। प्रस्तुत लेख से यह स्पष्ट नहीं है कि उल्लिखित नगर के नाम की वर्तनी 'एरिकिण' थी या 'ऐरिकिण'। लेकिन तोरमाण के एरण-लेख में इसकी वर्तनी स्पष्टत: 'ऐरिकिण' है। वैसे इसे 'ऐरिकिणी' भी कहा जाता था (स० इ०, पृ० २७०, टि० १)। 'भोग' शब्द पर, विस्तृत अध्ययन के लिये दे०, भाण्डारकर, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २२३, टि० ४।

एरण-अभिलेख का महत्व

एरण-अभिलेख कई दृष्टि से बड़ा ही रोचक एवं महत्वपूर्ण अभिलेख है। एक, धन-धान्य और समृद्धियुक्त बहुत से पुत्र-पौत्रों से भरे सपत्नीक परिवार की चर्चा करके यह समुद्रगुप्त के पारिवारिक जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। दो, इसमें समुद्रगुप्त की युद्धप्रियता और विजयों का, जिनका विस्तार से वर्णन उसकी प्रयाग-प्रणस्ति में है, संक्षिप्तरूपेण उल्लेख किया गया है। उसकी 'सर्वराजोच्छेत्ता' उपाधि का, जो उसके लिये उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में प्रयुक्त मिलती है, तीसरे श्लोक में मानो भाष्य किया गया है। यह बड़ी रोचक बात है कि प्रयाग-प्रशस्ति के समान इस लेख में भी समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व का युद्धप्रियता वाला पक्ष सर्वाधिक उभड़ा है। इसके साक्ष्यानुसार उसका दत्तदेवी के साथ विवाह भी उसकी किसी युद्ध में विजय प्राप्त करने का परिणाम था—चाहे उसने दत्तदेवी को खुले संघर्ष में जीता था अथवा नहीं। अगर यह माना जाय कि उसने दत्तदेवी को खुले संघर्ष में जीता था, जैसा कि जगन्नाथ का विचार है, तो यह गुप्तकाल में प्रतियोगिता-प्रधान स्वयंवरों के आयोजन की प्रथा का रोचक प्रमाण होगा। तीसरे, इस लेख के चौथे श्लोक से प्रयाग-प्रशस्ति के चौथे श्लोक का साक्ष्य, जिसमें कहा गया है कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को भरे दरबार में अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था, स्पष्टतर होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त की भक्ति, राजनीतिज्ञता तथा शौर्य से सन्तुष्ट होकर उसे अपना उत्तराधिकारी चुना था और इसकी न केवल भरे दरबार में घोषणा की गई थी वरन् अभिषेक आदि क्रियायें भी सम्पन्न की गई थीं। चौथे, इस अभिलेख से संकेतित है कि ऐरिकिण प्रदेश समुद्रगुप्त का 'स्वभोग' (व्यक्तिगत जागीर) था। अगर यह अनुमान सही है तो किसी भी गुप्त सम्राट् की व्यक्तिगत जागीर के विषय में यह एकमात्र आभिलेखिक उल्लेख होगा। लेकिन फ्लीट और सरकार यह सम्भावना भी मानते हैं कि अभिलेख की अन्तिम खण्डित पंक्तियों में हो सकता है समुद्रगुप्त के एरण स्थित किसी अधीन राजा का उल्लेख रहा हो जिसने यह अभिलेख लिखवाया हो। उस अवस्था में ऐरिकिण को उस राजा का 'भोग' मानना होगा। सरकार का तो यह भी अनुमान है कि वह अधीनस्थ राजा दत्तदेवी का

कोई सम्बन्धी रहा होगा (स० इ०, पृ० २७०, टि० १)। दशरथ शर्मा (जे० आई० एच०, १४, अंक १-३, १९३५, पृ० २७-२९) तो यह निश्चित मानते हैं कि इस लेख के चौथे श्लोक में भी समुद्रगुप्त के द्वारा किसी अधीन राजा के अभिषिक्त किये जाने का उल्लेख है जिसने यह लेख लिखवाया था। उनका कहना है कि समुद्रगुप्त, जो स्वयं 'महाराजाधिराज' था किसी के द्वारा 'राजा' उपाधि से कैसे अभिषिक्त किया जा सकता था। एम० जी० शर्मा (स्टडीज इन इण्डियन एपिग्राफी, १, १९७४, मैसूर, पृ० ८२) का कहना है कि अभिषिक सामन्त अजन्ता की गुहा १७ के अभिलेख में उल्लिखित एवं सिक्कों से ज्ञात 'काच' रहा होगा और वह समुद्रगुप्त द्वारा अभिषिक्त हुआ होगा। अधीन राजाओं के सम्राट् के हाथों अभिषिक होने का उल्लेख मैत्रक, गंग व कदम्ब लेखों में मिलता है। लेकिन जैसा कि जगन्नाथ अग्रवाल ने (जे० आई० एच०, १९, १९४०) ने कहा है इस श्लोक में अभिषिक्त नरेश को 'अप्रतिवार्यवीर्यः' कहे जाने से स्पष्ट है कि वह सामन्त नहीं था। समुद्रगुप्त अपने पिता द्वारा अभिषिक्त किया गया था, अतः उस समय मात्र 'राजा' कहा जा सकता था (तु०, रघुवंश, ३.३५; ३.७०; ४.१)।

एरण-प्रशस्ति किसने और कब उत्कीर्ण करवाई थी, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। इस प्रसंग में ९वीं पंक्ति में (तीसरे श्लोक में) आया 'बभूव' शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। फ्लीट ने सुझाव रखा है कि इस भूतकालिक क्रिया का प्रयोग समुद्रगुप्त के किसी पूर्वज के लिये किया गया है जिसका वर्णन पूर्वगामी पंक्तियों में रहा होगा। लेकिन फ्लीट ने इस लेख को स्वयं समुद्रगुप्त का ही माना था क्योंकि उसके किसी उत्तराधिकारी का नाम न तो आगे आया है और न उनके अनुसार आगामी पंक्तियों (११वीं से २४वीं) के अपठ्य अक्षरों की जगह पुनर्योजित किया जा सकता है। सरकार ने सुझाव रखा है कि पंक्ति ९ में 'बभूव' शब्द के पूर्व 'पुत्रो' शब्द रहा होगा। इससे वह यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रथम श्लोक में, जो अब पूर्णतः अनुपलब्ध है, प्रथम चन्द्रगुप्त का वर्णन रहा होगा और दूसरे खण्डित श्लोक में स्वयं समुद्रगुप्त का। परन्तु जगन्नाथ अग्रवाल ने सरकार के द्वारा 'पुत्रो' शब्द के पुनर्योजन को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि यद्यपि सुवर्णदान तथा धनद आदि से तुलना किये जाने से स्पष्ट है कि यहां समुद्रगुप्त का उल्लेख है, परन्तु भूतकालिक क्रिया 'बभूव' के प्रयोग से यह भी सिद्ध है कि इस अभिलेख के लिखवाये जाने तक समुद्रगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी—अर्थात् यह अभिलेख समुद्रगुप्त का मरणोत्तर अभिलेख है। परन्तु सरकार का कहना है कि संस्कृत साहित्य एवं अभिलेखों में भूतकालिक लङ् और लिट् लकारों का प्रयोग वर्तमान काल (लट् लकार) के अर्थ में प्रयुक्त होने के असंख्य उदाहरण मिलते हैं (सरकार द्वारा प्रदत्त उदाहरणों के लिये दे०, जे० यू० पी० एच० एस०, न्यु सिरीज, ३, पृ० ९२–१००)। एरण-लेख में समुद्रगुप्त के लिये भूतकालिक क्रिया 'बभूव' का प्रयोग भी इसी प्रकार वर्तमान काल के अर्थ में हुआ है। लेकिन इस लेख को समुद्रगुप्त के काल का मानने के बावजूद डॉ० सरकार यह सम्भावना मानते हैं कि हो सकता है इसे समुद्रगुप्त के बजाय उसके किसी अधीनस्थ राजा ने लिखवाया हो (दे०, पीछे)।

एरण-अभिलेख परोक्षतः एरण स्थल के महत्व की ओर संकेत करता है। जैसा कि हमने अन्यत्र लिखा है (हि० इ० गु०, पृ० १४२) किसी भी उत्तर भारतीय विजेता के लिये ऐरिकिण का बड़ा युद्धनीतिक महत्व था—गंगा की उपत्यका की सुरक्षा के दृष्टि से भी तथा बुन्देलखण्ड, मालवा और दक्षिणापथ पर दबाव रखने की दृष्टि से भी। इसीलिये ऐरिकिण में अनेक महत्वपूर्ण युद्ध लड़े गये (दे०, शक महाक्षत्रप श्रीधरवर्मा का एरण-अभिलेख, जिसमें एरण में लड़े गये किसी युद्ध का वर्णन है तथा भानुगुप्त एवं गोपराज का ५१० ई० का अभिलेख जिसमें उस युद्ध का उल्लेख है जिसमें गोपराज दिवंगत हुआ था)। हो सकता है समुद्रगुप्त ने भी एरण में कोई महत्वपूर्ण युद्ध लड़ा हो और उसमें विजय

प्राप्त करने के उपलक्ष्य में वहां स्तम्भ या मन्दिर आदि कुछ बनवाया हो तथा यह प्रशस्ति उस निर्माण-कार्य का उल्लेख करने के लिये लिखवायी गयी हो।

इस प्रश्न का उत्तर देना ज्ञान की वर्तमान अवस्था में सम्भव नहीं है कि एरण-लेख प्रयाग-प्रशस्ति से पहिले लिखवाया गया था या बाद में। सरकार यह सम्भावना मानते हैं कि इसे प्रयाग-प्रशस्ति से पहिले लिखवाया गया होगा। सोहोनी का विचार है कि यह समुद्रगुप्त की नाग-विजय के उपरान्त लिखवाया गया था।

साहित्यिक दृष्टि से एरण-लेख एक मध्यम कोटि की रचना है। वैदर्भी रीति में रचित इस प्रशस्ति में छोटे-छोटे पदों का प्रयोग किया गया है। पंक्ति १८ में एक पंक्ति में एक समस्त पद दिया गया है। पंक्ति ११ में 'पार्थिवगणस्सकलः' में द्विरुक्ति दोष तथा पंक्ति २२ में 'परिबभ्रमीति' में दो प्रत्ययों का प्रयोग यद्यपि छन्द की आवश्यकताओं के कारण हुए जान पड़ते हैं परन्तु ये कवि की प्रतिभा की सीमाओं को भी इंगित करते हैं।

समुद्रगुप्त का सन्दिग्ध नालन्दा ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष ५

लेख-परिचय—प्रस्तुत ताम्रपत्र अभिलेख १९२७–२८ में **नालन्दा** (बिहार) में बड़गांव के (जहां नालन्दा-महाविहार के अवशेष विद्यमान हैं) पुरातात्विक उत्खनन के दौरान मिला था। आजकल यह ताम्रपत्र कलकत्ता-राष्ट्रीय-संग्रहालय में रखा हुआ है। इसका आकार १०$\frac{१}{२}$"×९" है और भार ४५ तोला। इसके साथ कोई मुहर जुड़ी नहीं मिली है। यह गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के काल का है, ऐसा इसके अन्दर कहा गया है। परन्तु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, अपने वर्तमान रूप में यह समुद्रगुप्त-कालीन नहीं माना जा सकता। लेकिन यह प्रश्न कि यह कोई कूट (=जाली) अभिलेख है या समुद्रगुप्त के किसी मौल (=असली) अभिलेख की नकल (=प्रतिलेख), बड़ा विवादग्रस्त है। यद्यपि हमने आगे परिशिष्ट में यह निष्कर्ष निकाला है कि वंशावली वाले भाग को छोड़कर यह सम्भवतः किसी असली दानपत्र की प्रतिलिपि है, तथापि इस समस्या का अन्तिमरूपेण समाधान शायद कभी नहीं हो पायेगा। इसलिये हमने इसे ऊपर समुद्रगुप्त का 'संदिग्ध' अभिलेख कहा है।

प्रस्तुत अभिलेख, जो एक ताम्रपट्टिका पर एक ही ओर लिखा है, नालन्दा में विहार सं० १ के उत्तरी बरामदे से प्राप्त हुआ था। यह टीले की खुदाई करने पर १९' नीचे, फर्श से करीब डेढ़ फुट ऊपर, मिला था। यह एक कोठरी के द्वार के सामने जले हुए मलबे में पड़ा था और इसका अलिखित पृष्ठ-भाग ऊपर की ओर था। इसके बिलकुल पास ही पाल-नरेश धर्मपाल (८वीं शती ई०) का एक दानपत्र और ६ फुट दूर पर किसी सैनिक के कवच के अवशेष मिले थे। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि यह अभिलेख कुछ अन्य दानपत्रों के साथ विहार में रखा हुआ था और विहार के भस्मीभूत किये जाने के समय मलबे में दब गया था।

नालन्दा-अभिलेख में १२ **पंक्तियां** हैं जिनका काफी भाग अपठ्य हो गया है, यद्यपि उनको गया ताम्रपत्र की सहायता से बहुत कुछ पुनर्योजित किया जा सकता है। लेख की **भाषा** संस्कृत है और यह सम्पूर्णतः गद्य में है। भाषा में व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं। विशेषतः पंक्ति एक से लेकर पंक्ति चार में 'दौहित्रस्य' शब्द तक समुद्रगुप्त के विरुद सम्बन्धकारक की विभक्ति में हैं और इसके बाद उसके शेष विरुद व नाम कर्त्ताकारक की विभक्ति में। इसकी **लिपि** उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी है और पंक्ति १० में ५ और २ अंकों का प्रयोग है। सरकार के अनुसार इसकी लिपि पांचवीं शती ई० की है यद्यपि इसके कुछ अक्षर, जैसे 'घ' और भी बाद के लगते हैं। **वर्तनी** की विशेषताओ में निम्नलिखित उल्लेख्य हैं—(१) अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर कहीं-कहीं 'त' का द्वित्व, यथा पंक्ति ३ में 'प्रपौत्त्रस्य' तथा 'पौत्त्रस्य' में (परन्तु 'पुत्रस्य' में नहीं); (२) कभी-कभी 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग, यथा पं० ६ में 'बो' तथा पं० १० में 'सम्बत्' में; (३) कभी कभी 'ब' के स्थान पर 'व' का प्रयोग, यथा पंक्ति १० में 'निवद्धं' तथा पंक्ति ११ में महावलाधिकृत' में।

प्रस्तुत लेख में ५वें वर्ष के माघ मास का दूसरा दिन—पक्ष को बताये बिना—तिथि रूप में

उल्लिखित है। यह समुद्रगुप्त के शासनकाल का वर्ष है अथवा गुप्त संवत् का, यह प्रश्न विवादास्पद है। अगर यह लेख जाली है तो यह प्रश्न सारहीन हो जाता है। इसका महत्व तभी है जब यह माना जाए कि यह लेख अपने वर्तमान रूप में कम-से-कम एक असली दानपत्र की सही प्रतिलिपि है।

नालन्दा-लेख किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है। इसका उश्द्देश्य यह घोषित करना है कि समुद्रगुप्त ने जयभट्टिस्वामी नामक ब्राह्मण को आनन्दपुर जयस्कन्धावार से ताविर्गुण्य विषय का भद्रपुष्करक ग्राम तथा क्रिमिला विषय का पूर्णनाग ग्राम दान दिये थे।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—नालन्दा-दानपत्र पर सर्वप्रथम हीरानन्द शास्त्री ने ए० एस० आई० ए० आर० (१९२७–२८) में एक छोटी-सी टिप्पणी प्रकाशित की (पृ० १३८)। तदुपरान्त ए० घोष ने इसे इ० आई०, २५, १९३९–४०, (पृ० ५० अ०) में प्रकाशित किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :— भाण्डारकर-सूची सं० २०७५; दि० च० सरकार, इ० आई०, २६, १९४१–४२, पृ० १३५–३६; स० इ०, पृ० २७० अ०; आर० सी० मजूमदार, आई० सी०, ११, १९४४–५, पृ० २२५–६; हीरानन्द शास्त्री, एम० ए० एस० आई०, १९६६, पृ० ७७–८; पी० एल० गुप्त, पी० आई० एच० सी०, १६, १९५३, पृ० ९४–५; शकुन्तला राव शास्त्री, आई० सी०, १०, पृ० ७७; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १२६; सोहोनी, जे० बी० आर० एस०, ५२, १९६६. पृ० २०–२८; सिनहा, कॉ० हि० बि०, पृ० ६६५–७; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २२२–२८; एस० आर० गोयल, जे० बी० आर० एस०, ५२, १९६६, पृ० ५२–५५।

मूलपाठ

१. १ॅ स्वस्ति (।*) महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावारानन्दपुर-वासका[त्स]र्व्वरा-[जोच्छे]-
त्तु (:*) पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-सलि[लास्वा]-
२. दित-यशसो धनद-वरुणे[न्द्रा]न्त(क*)-समस्य कृतान्त-परशोर्न्न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-
प्रदस्य चिरोत्स [न्ना]-
३. श्वमेधाहर्त्तुर्म्महाराज-श्री-गु(प्त*)-प्रपौत्त्रस्य महाराज-श्री-घटोत्कच-पोत्त्रस्य महारा-[जाधि]
राज-[श्री-चन्द्रगुप्त]-पुत्र-
४. स्य लिच्छवि-दौ[हि]त्त्रस्य महादेव्याङ्कुमारदेव्यामुत्पन्नᳶपरमभा[गवतो महाराजाधिराज-
श्रीसमुद्रगु]प्तः तावि [र्गुण्य](?)-
५. वै[षयिक]भद्रपुष्करकग्राम-क्रिमिलावैषयिकपू[र्णना]गग्रा[म(योः*)] [ब्राह्मण-पुरोग*]-ग्राम-
व[ल]त्कौशभ्या (?) माह (।*)
६. एव [·*] चाह विदितम्बो भवत्वेषौ ग्रा [मौ] [मया] [मा]तापित्तोरा[त्मनश्च] पु[ण्याभिवृद्ध] ये
जयभट्टिस्वामिने
७. * * * * [सोपरि] करो[द्द्रेशेना]ग्रहा[रत्वे]नातिसृष्टः(।*) तद्युष्मा-
भिर[स्य]
८. त्त्रैविद्यस्य श्रोत(त)व्यमाज्ञा च कर्त्त[व्या] [स]र्व्वे [च] [स]मुचिता ग्रा(म*)-प्रत्या-(या*) मेय-
हिरण्यादयो देया न चेतᳶप्र-
९. [भृ]त्यनेन त्त्रै[वि]द्येनान्य-ग्रामादि-करद-कुटुम्बि-[कारुक]ादयᳶप्रवेश[यित]व्या-[म]न्यथ[ा]
नियतमाग्रहाराक्षेपः
१०. [स्य]ादिति ॥ सम्बत् ५ माघ-दि० २ निबद्धः (।*)

११. अनुग्रामाक्षपटलाधि[कृत]-महापीलूपति-महावलाधि[कृ]त-गोपस्वामा(म्या) देश-लिखितः (।*)

१२. [कुमा*]र-श्री-चन्द्रगुप्तः (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'स्वस्ति' के पूर्व उत्कीर्ण चिह्न को फ्लीट ने 'ओ३म्' का प्रतीक माना है और सरकार ने 'सिद्धं' का। हीरानन्द शास्त्री ने स्कन्धावार का नाम 'आनन्दपुर' के स्थान पर 'नूपुर' पढ़ा है। पंक्ति ४ : सोहोनी ने 'ताविर्गुण्य' के स्थान पर 'राजगृह' पढ़ा है। पंक्ति ५ : शास्त्री 'भद्र०', को 'चन्द्र० ?' पढ़ते हैं तथा 'क्रिमिला' को 'क्रिविनद ?'। पंक्ति ६ : 'चाह विदितम्बो' को 'चार्थो विदितो वो' पढ़ें तथा 'भवत्वेषौ' को 'भवत्वेतौ'। पंक्ति ७ : खण्डित अंश में दान पाने वाले ब्राह्मण से सम्बन्धित कोई शब्द रहा होगा। पंक्ति ८ : अन्तिम शब्दों को इस प्रकार पढ़ें—'देयाः। न चैतत्प्र०'। पंक्ति ९ : 'तव्यामन्यथा' को 'तव्याः। अन्यथा' पढ़ें। पंक्ति १० : 'स्यादिति ।।' के उपरान्त तीन पट रेखायें बनी हैं। 'सम्बत्' को 'संवत्' पढ़ें तथा 'निवद्धः' को 'निबद्धः'। 'निबद्धः' के उपरान्त 'लेखः' होना चाहिये था। पंक्ति ११ : घोष गया-दानपत्र के आधार पर 'अनु०' को 'अन्य०' पढ़ते हैं। 'वलाधि०' 'बलाधि०' पढ़ें। शास्त्री को 'गोप' शब्द में शंका है।

पंक्ति १ से लेकर ४ में 'दौहित्त्रस्य' तक समुद्रगुप्त के विरुदों में सम्बन्धकारक के बजाय कर्त्ताकारक की विभक्ति होनी चाहिए थी। अतः इनका अनुवाद करते समय इनका पाठ इस प्रकार मानना चाहिए—सर्वराजोच्छेत्ता पृथिव्यामप्रतिरथश्चतुरुदधिसलिलास्वादितयशा धनद-वरुणेन्द्रातक-समः कृतान्तपरशुर्न्यायागतानेक-गो-हिरण्यकोटिप्रदश्चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्ता महाराज-श्री-गुप्त-प्रपौत्त्रो महाराज-श्री-घटोत्कच-पौत्त्रो महाराजाधिराज-श्री-चन्द्रगुप्त-पुत्त्रो लिच्छवि दौहित्त्रो — — — —

शब्दार्थ

वासक = स्थित; महानौ = जलपोत; स्कन्धावार = सैनिक शिविर; जयस्कन्धावार = विजयी सैनिक शिविर; अप्रतिरथ = विष्णु का एक नाम; चिरोत्सन्न = दीर्घकाल तक चलने वाला (अश्वमेघ); विषय = जिले जैसी प्रादेशिक इकाई; पुरोग = साथ में, युक्त; वलत्कौशन् = राजकर्मचारियों की एक उपाधि (?); सगोत्र = गोत्र में उत्पन्न; अतिसृष्टः = दिया जाता है; मेय = मापने योग्य वस्तु, अनाज के रूप में दिया जाने वाला भूमिकर; हिरण्य = सोना, नकदी के रूप में दिया जाने भूमिकर; प्रत्याय = सामान्य कर, आय; कारुक = शिल्पी; एतत्प्रभृति = अब से; कुटुम्बी = कृषक-गृहस्थ; आक्षेप = अपहरण, अतिक्रमण; पीलु = हाथी।

अनुवाद

पं० १ ओ३म्! सिद्धि हो! आनन्दपुर (नगर) में स्थित जलपोतों, हाथियों और घोड़ों से युक्त विजयी सैनिक शिविर से सर्वराजोच्छेता, पृथिवी पर अप्रतिरथ (= विष्णु) (के समान विचरण करने वाले), चारों समुद्रों के जल को (अपने) यश का आस्वादन कराने वाले, धनद (= कुबेर) वरुण इन्द्र (और) अन्तक (= यम) के समान, (क्रोधित होने पर) कृतान्त (= यमराज) के परशु (के सदृश), न्यायपूर्वक अर्जित करोड़ों गायों और सुवर्ण का (दान) देने वाले, चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेघ करने वाले परमभागवत महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त, जो महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री (प्रथम) चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छवि दौहित्र (तथा) महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न हैं ताविर्गुण्य विषय के भद्रपुष्करक ग्राम तथा क्रिमिला

विषय के पूर्णनाग ग्राम में स्थित ब्राह्मणों सहित ग्रामवलत्कौशों के प्रति कहते हैं (अर्थात् उन्हें निर्देश देते हैं)—

पं० ६ 'आप लोगों को विदित हो। ये दोनों ग्राम मेरे द्वारा (अपने) माता-पिता और अपने पुण्य की अभिवृद्धि के लिये……जयभट्टिस्वामी को उपरिकर सहित अग्रहार रूप में दिये जाते हैं।

पं० ७ इससे आप लोगों के द्वारा इस त्रिवेदी (अर्थात् जयभट्टिस्वामी की) आज्ञा श्रोतव्य तथा कर्त्तव्य (=पालनीय) है और इन्हें (आपके द्वारा) समुचित ग्राम-प्रत्याय मेय (एवं) हिरण्य आदि देय हैं। और अब से इस त्रिवेदी द्वारा (अर्थात् जयभट्टिस्वामी द्वारा) अन्य ग्रामों आदि से (यहां बसने या व्यवसाय चलाने के लिये) करदाता कृषक-गृहस्थ (तथा) शिल्पी आदि यहां (अर्थात् दान दिये गए ग्रामों में) प्रवेश्य नहीं हैं (अर्थात् अन्य ग्रामों के करदाता कृषकों और शिल्पियों को यहां लाकर बसाना निषिद्ध है) अन्यथा निश्चय ही अग्रहार - आक्षेप होगा (अर्थात् अन्य ग्रामों के कृषकों और शिल्पियों को यहां बसाना अग्रहार के अधिकारों का उल्लंघन होगा)। संवत् ५, माघ (मास) के २२रे दिन यह लेख निबद्ध किया गया।

पं० ११ (यह ताम्रपत्र) अनुग्रामाक्षपटलाधिकृत, महापीलूपति महाबलाधिकृत गोपस्वामी के आदेश से लिखा गया।

पं० १२ (इस लेख के दूतक) कुमार श्री चन्द्रगुप्त (हैं)।

व्याख्या

(१) **महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावारानन्दपुरवासकात्**—छठी शती ई० से अभिलेखों में राजाओं द्वारा स्कन्धावार अर्थात् सैनिक शिविर से जारी की गई आज्ञाओं के लिये दानपत्रों में महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावार' पद का प्रयोग मिलने लगता है। दे०, वैन्यगुप्त का गुणैघर-दानपत्र, हर्ष के मधुबन एवं बांसखेड़ा दानपत्र, आदि। 'महानौ' का उल्लेख जल सेना का महत्व बढ़ने का परिचायक है। परन्तु यहां नदियों में काम आने जलपोतों से तात्पर्य मानना चाहिये। स्कन्धावार के विस्तृत वर्णन के लिए दे०, हर्षचरित। आनन्दपुर की स्थिति अज्ञात है। हीरानन्द शास्त्री इसका पाठ 'नूपुर' मानकर इसकी पहिचान नालन्दा से १½ मील पश्चिम की तरफ स्थित नूपुर स्थान से करते हैं।

(२) वंशावली वाले भाग में समुद्रगुप्त के लिये प्रयुक्त विरुदों की व्याख्या के लिये दे०, प्रथम कुमारगुप्त के बिलसड़-लेख की वंशावली वाले भाग पर टिप्पणियां। समुद्रगुप्त के लिये 'परमभागवत' उपाधि का प्रयोग गया और नालन्दा अभिलेखों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता।

(३) **ताविर्गुण्यवैषयिकभद्रपुष्करकग्राम**—ताविर्गुण्य विषय का भद्रपुष्करकग्राम। ताविर्गुण्य की स्थिति अज्ञात है। सोहोनी ने ताविर्गुण्य के बजाय 'राजगृह' पाठ माना है। उन्होंने भद्रपुष्करक ग्राम की पहिचान बड़गांव से की है जहां नालन्दा के अवशेष मिलते हैं। उनका कहना है कि **'भद्रपुष्करकग्राम'** नाम से बाद में 'पुष्करक' शब्द का विलोप हो जाने पर 'भद्रग्राम' नाम बना जिसका बिगड़ा रूप बड़गांव है।

(४) **क्रिमिलावैषयिक पूर्णनागग्राम**—क्रिमिला विषय का पूर्णनाग ग्राम। सरकार के अनुसार क्योंकि यह दानपत्र जाली है इसलिये इससे यह सिद्ध नहीं होता कि चौथी शती में क्रिमिला नाम का विषय विद्यमान था (स्टडीज इन ज्योग्रेफी ऑव एन्श्येण्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया, पृ० १९७)। लेकिन पाल

और सेन युग में क्रिमिला नामक विषय अवश्य ही था (दे०, देवपाल का मुंगेर दानपत्र, मैती और मुकर्जी, पृ० ११८)। नालन्दा से कृमिला विषय का उल्लेख करने वाली एक मुहर मिली है (एम० ए० एस० आई० ६६, पृ० ५४) जिस पर 'कृमिलाविषये कवाल ग्रामे विषयमहत्तम नरस्वामिनः लेख लिखा है। बौद्ध साहित्य एवं पुराणों में क्रिमिलापुरी का उल्लेख आता है जो गंगा के किनारे स्थित थी। इसकी स्थिति मुंगेर जिले में मानी जाती है (दे०, तेजराम शर्मा, ज्यो० प० ने०, पृ० २१७-८)। पूर्णनागग्राम अज्ञात है।

(५) **वलत्कौशन्**—गया दानपत्र में 'वलत्कौषन्' पाठ है। फ्लीट ने इसे राजकीय पदनाम माना है, यद्यपि वह इसका अर्थ नहीं बता पाये थे। दीक्षितार के अनुसार इसमें दो प्रकार के पदाधिकारियों का उल्लेख है। दि० च० सरकार के अनुसार यहां लेख का पाठ कुछ अशुद्ध है। उन्हें इस शब्द से कुछ अभिलेखों के 'महावलाकोष्ठिक' में आए 'वलाकोष्ठिक' का स्मरण आता है। उनका विचार है कि 'ग्राम-वलत्कौशाभ्याम् [उद्दिश्य] ' द्वारा ग्रामवासियों तथा गांव में स्थित राजकीय प्रतिनिधियों की ओर संकेत है। (स० इ०, पृ० २७१, टि० ५)। पहिले उनका मत था कि 'वलत्कौशन्' का तात्पर्य ग्रामसभा हो सकता है (वही, १९४२, पृ० २६३, टि० ५)। सोहोनी का विचार है कि मूल दानपत्र में, जिसके शब्दों के अपठ्य हो जाने पर उसकी यथासम्भव नकल करके प्रस्तुत-लेख लिखवाया गया था, इसका पाठ 'करद-कुटुम्बिभ्यः' रहा होगा। पी० एल० गुप्त ने 'वलत्कौशन्' को भूकर अधिकारी माना है और भाण्डारकर (संशोधित, कॉर्पस, ३, पृ० २२८) ने दोनों गांवों के कोष से सम्बन्धित अधिकारी। परन्तु उस अवस्था में उसका उल्लेख अन्य अनेक लेखों में मिलता। वस्तुतः ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इस शब्द का सही अर्थ बताना मुश्किल है।

(६) **उपरिकर**—उपरिकर 'अतिरिक्त कर', 'अस्थायी कर', 'उन कृषकों पर आरोपित कर जिन्हें भूस्वामित्व के अधिकार प्राप्त नहीं हैं' आदि अर्थ में प्रयुक्त होता था। कभी-कभी इसे 'परिकर' भी कहा गया है। इसका उल्लेख अन्यत्र प्रायः 'उद्रंग' के साथ हुआ है।

(७) **अग्रहार**=गुरुकुलादावृत्तब्रह्मचारिणे देयं क्षेत्रादि। प्रधानतः 'अग्रहार' शब्द का प्रयोग उन अकरदेय गांवों या भूखण्डों के लिये होता था जो ब्राह्मणों को दान दिये जाते थे। 'अर्थशास्त्र' में इस अर्थ में 'ब्रह्मदेय' शब्द का प्रयोग मिलता है (२.१)। लेकिन कभी-कभी भट्टाग्रहारों (सैनिकों को दिये जाने वाले अग्रहार) देवाग्रहारों (देवताओं के लिए दिए गए अग्रहार) वैश्य-अग्रहारों (वैश्यजनों को प्रदत्त अग्रहार) का भी उल्लेख मिलता है (दे०, इ० आई०, ३०,३१)। इसलिये बाद में इस शब्द का प्रयोग किसी भी अकरदेय ग्राम के लिये होने लगा (दे०, वैन्यगुप्त का गुणैधर-दानपत्र, पं० ८)। अग्रहारों से उपलब्ध खनिज पदार्थों तथा यकायक मिलने वाले खजानों पर राज्य का अधिकार बना रहता था।

(८) **ग्रामप्रत्यायामेयहिरण्यादि**—प्रत्याय या प्रत्यय=सामान्य कर, आय। मेय=अनाज के रूप में दिया जाने वाला भूमिकर। यह 'भाग', 'भोग' आदि के विशेषण रूप में भी मिलता है। हिरण्य=सुवर्ण, नकद दिया जाने वाला भूमिकर। अग्रहार रूप में दान पाने वाला ब्राह्मण ये कर ग्रामवासियों से स्वयं वसूल करता था।

(९) **अनुग्रामाक्षपटलाधिकृत**—गया-दानपत्र में 'अनु' के बजाय 'अन्य' पाठ है। सोहोनी के अनुसार उस मूल दानपत्र में, जिसके जल जाने पर यह प्रतिलिपि तैयार की गई होगी 'सर्वग्रामाक्षपटलाधिकृत' पाठ रहा होगा। अक्षपटल=मोनियर विलियम्स् के अनुसार 'न्यायालय' अथवा 'वैधिक कागज पत्र रखने का स्थान' (रिकार्ड्स् आफिस)। 'अर्थशास्त्र' (२.२३.७) में अक्षपटल को एकाउण्ट्स् आफिस अर्थ में लिया गया है। अक्षपटलिक=वैधिक कागज-पत्रों को सुरक्षित रखने के लिये नियुक्त अधिकारी। कुछ

अभिलेखों में उल्लिखित 'अक्षशैलिक' का तात्पर्य भी अक्षपटलिक से हो सकता है।

(१०) महापीलूपति महाबलाधिकृत गोपस्वामी—पीलु = हाथी, महापीलुपति = गजसेनाधिकारी। महाबलाधिकृत = महासेनापति, 'फील्ड-मार्शल'। गोपस्वामी का उल्लेख गया-दानपत्र में भी है। लेकिन वहां उसके लिये ये दोनों पदनाम प्रयुक्त नहीं है। वहां उसे 'द्यूतगोपस्वामी' कहा गया है। 'द्यूत' का अर्थ 'जुआघरों का प्रधान निरीक्षक' हो सकता है। उसका दोनों दानपत्रों में उल्लेख होने से लगभग सिद्ध है कि वह कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं है। सोहोनी ने उसे वह पदाधिकारी माना है जिसके आदेश से ये प्रतिलेख तैयार करवाये गये थे, समुद्रगुप्तकालीन पदाधिकारी नहीं।

(११) कुमार श्री चन्द्रगुप्तः—इस लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त का कुमार रूप में उल्लेख रोचक है। सम्भवतः वह इस दानपत्र का दूतक था।

अभिलेख का महत्व

नालन्दा दानपत्र का महत्त्व इसकी विश्वसनीयता पर निर्भर है जिस पर हमने आगे परिशिष्ट (पृ० ७२-७६)। में विचार किया है। हमने निष्कर्ष निकाला कि यह दानपत्र समुद्रगुप्त के एक असली दानपत्र की परवर्ती युग में तैयार की गई प्रतिलिपि है, यद्यपि इसका वंशावली वाला भाग समुद्रगुप्त के किसी उत्तराधिकारी के दानपत्र में प्रदत्त वंशावली की सहायता से तैयार किया गया होगा। अतः समुद्रगुप्त के इतिहास के पुनर्निर्माण में प्रस्तुत दानपत्र के वंशावली वाले भाग की सहायता नहीं लेनी चाहिये। इस तथ्य के बावजूद यह बात ध्यान देने की है कि इस लेख से यह सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त ने 'परमभागवत' उपाधि धारण की थी क्योंकि इससे स्पष्ट है कि इसके प्रतिलेखक या कूटलेखक ने इसकी वंशावली तैयार करने के लिये समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के जिन दानपत्रों की सहायता ली उनकी वंशावली में समुद्रगुप्त को यह उपाधि दी गई थी। दूसरे, इस लेख में कुमार चन्द्रगुप्त (= द्वितीय चन्द्रगुप्त) का उल्लेख है। स्पष्टतः वह इस दानपत्र का दूतक था। अतः इस लेख की तिथि को गुप्त संवत् का वर्ष मानने पर स्वीकार करना होगा कि ३२४ ई० में वह लगभग बीस वर्ष का और तदनुसार ३७६ में सिंहासन पर बैठते समय लगभग ७२ वर्ष का रहा होगा। यह असम्भव है क्योंकि हम जानते हैं कि ३७६ ई० में सिंहासन पर बैठते समय उसने रामगुप्त को मारकर ध्रुवदेवी से प्रेम-विवाह किया था और लगभग ४१० ई० में शकयुद्ध में व्यक्तिगत रूप से भाग लिया था। इसलिये नालन्दा-दानपत्र की तिथि गुप्त संवत् का वर्ष न होकर समुद्रगुप्त के राज्यारोहण का वर्ष होनी चाहिये जो हमने लग० ३५० ई० में माना है। मजूमदार ने हमारे इस तर्क की सबलता मानी है (को० हि० इ०, ३, १९८१, पृ० १५, टि० ४४)।

प्रस्तुत दानपत्र से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के शासन काल में ब्राह्मणों को अग्रहार किन शर्तों पर दिये जाते थे।

समुद्रगुप्त का सन्दिग्ध गया ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष ९

लेख-परिचय—इस अभिलेख का **प्राप्ति-स्थल** बिहार का गया नामक सुप्रतिथ नगर है जहां से यह जनरल कनिंघम को १८८३ ई० के पहिले कभी किसी ब्राह्मण से मिला था। आजकल यह ब्रिटिश संग्रहालय में रखा है। नालन्दा दानपत्र के समान इसके अन्दर भी कहा गया है कि यह सम्राट् समुद्रगुप्त के काल का है, यद्यपि अपने वर्तमान रूप में इसे भी समुद्रगुप्तकालीन नहीं माना जा सकता। परन्तु यह प्रश्न कि यह कोई जाली दानपत्र है या असली दानपत्र की परवर्ती युग में तैयार की गई प्रतिलिपि, बड़ा विवादग्रस्त है। यद्यपि हमने आगे परिशिष्ट में यह निष्कर्ष निकाला है कि इसकी वंशावली वाले भाग को छोड़कर यह सम्भवतः किसी असली दानपत्र की प्रतिलिपि है, तथापि इस समस्या का अन्तिमरूपेण समाधान शायद कभी नहीं हो पाएगा। इसलिये हमने इसे ऊपर समुद्रगुप्त का 'सन्दिग्ध' ताम्रपत्र कहा है।

गया दानपत्र ८"×७$\frac{१}{२}$" आकार की एक ही **ताम्रपट्टिका** पर, जिसका मुहर सहित भार लगभग १ किलोग्राम है, उत्कीर्ण है। इसके किनारे न मोटे हैं और न पट्टियों के रूप में उभरे हैं। लेख काफी सुरक्षित अवस्था में है। इसका उत्कीर्णन भी बहुत अच्छा हुआ है। इसमें कुछ १५ पंक्तियां हैं जो एक ही ओर लिखी हैं। इसके अक्षर बहुत गहरे नहीं खुदे हैं और पीछे की ओर बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ते। ताम्रपट्टिका के दाहिनी ओर बीच में एक अण्डाकार मुहर संलग्न है जिसका आकार २$\frac{७}{८}$"×३$\frac{३}{८}$" है। इसका ताम्र शेष पट्टिका के ताम्र से भिन्न है। इसमें उपरले भाग में सामने की ओर देखते हुए पंख फैलाये गरुड़ की आकृति बनी है और नीचे पांच पंक्तियों में लेख लिखा है। यह मुहर-लेख लगभग सम्पूर्णतः नष्ट हो गया है, केवल अन्तिम पंक्ति में बड़ी कठिनाई से 'सम् [ु] द्र ग् [ु] प् [त]' पढ़ा जा सकता है। फ्लीट का यह अनुमान स्पष्टतः सही है कि इसमें शर्ववर्मा की असीरगढ़-मुहर तथा हर्ष की सोनीपत-मुहर के समान संक्षिप्त वंशावली रही होगी।

गया-दानपत्र सम्पूर्णतः गद्य में है। इसकी **भाषा** संस्कृत है जिस पर प्राकृत का कुछ प्रभाव है (यथा, पंक्ति ३-४ में संस्कृत 'उत्सन्न' के बजाय प्राकृत का 'उच्छन्न लिखा है)। नालन्दा दानपत्र के समान इसकी भाषा में भी व्याकरण की अशुद्धियां हैं जिनमें सबसे बड़ी अशुद्धि है पंक्ति १ से लेकर पंक्ति ५ में 'लिच्छवि दौहित्रस्य' तक समुद्रगुप्त के विरुद सम्बन्धकारक की विभक्ति में होना और तदुपरान्त उसके अन्य विरुदों और नाम में कर्त्ताकारक की विभक्ति का प्रयोग। इसकी **लिपि** उत्तर भारतीय वर्ग की ब्राह्मी है। अक्षरों का औसत आकार $\frac{३}{१६}$" है। पंक्ति १४ में ९ तथा १० अंकों का प्रयोग हुआ है। इसके कुछ अक्षर यथा 'क', 'म', 'प', 'र' तथा 'ह' अपेक्षया पुराने लगते हैं और कुछ (यथा, पंक्ति ८ में '०त्कौषभ्याहा' में 'ष') बहुत बाद के। फ्लीट के अनुसार इसकी लिपि आठवीं शती ई० की है लेकिन सरकार के अनुसार लिपि के आधार पर इस लेख को आदित्यसेन (७वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध) के उपरान्त नहीं रखा जा सकता। यहां यह स्मरणीय है कि इस लेख की मुहर के अक्षरों का रूप शेष लेख के अक्षरों से भिन्न

तथा प्राचीनतर है। **वर्तनी** की निम्नलिखित विशेषताएं उल्लेख्य हैं : (१) अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर कहीं-कहीं 'त' का द्वित्व (यथा, पंक्ति ८ में 'पित्त्रोः में); (२) अनुवर्ती 'य' के संयोग में 'ध' का द्वित्व यथा पंक्ति १ में 'अयोद्ध्या' में; (३) कभी-कभी 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग यथा पंक्ति ८ में 'बो' तथा पंक्ति १४ में 'सम्बत्' में तथा (४) कभी-कभी 'ब' के स्थान पर 'व' का प्रयोग (यथा, पंक्ति ७ और १० में 'व्राह्मण', पंक्ति ९ में 'वह्वृचाय' तथा पंक्ति ९-१० में 'सव्रह्मचारिणे' में)।

प्रस्तुत लेख में ९वें वर्ष के वैशाख मास का दसवां दिन—पक्ष बताये बिना—**तिथि** रूप में उल्लिखित है। यह वर्ष समुद्रगुप्त के शासनकाल का है अथवा गुप्त संवत् का, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। अगर यह लेख कूट या जाली है, तब यह प्रश्न सारहीन हो जाता है। नालन्दा-दानपत्र की तिथि के समान इसका महत्व तभी है जब यह माना जाय कि अपने वर्तमान रूप में यह लेख कम-से-कम एक असली दानपत्र की प्रतिलिपि है।

यह लेख किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है। इसका **उद्देश्य** समुद्रगुप्त द्वारा गोपदेवस्वामी नामक एक ब्राह्मण को गया विषय में रेवतिका नामक ग्राम दिये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास तथा सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस दानपत्र की उपलब्धि की सूचना सर्वप्रथम कनिंघम ने १८८३ में अपनी पुस्तक 'बुक ऑव इण्डियन एराज' (पृ० ५३) में दी। तदुपरान्त फ्लीट ने इसे अपने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (स० ६०)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २२८–३१; सरकार, स० इ०, पृ० २७२-७४; भाण्डारकर-सूची सं० १५४०; शकुन्तला-राव शास्त्री, आई० सी०, १०, पृ० ७७; आर० सी० मजूमदार, आई० सी०, ११, १९४४–५, पृ० २२५-३०; पी० एल० गुप्त, पी० आई० एच० सी०, १६, १९५३, पृ० ९४–५; जे० बी० आर० एस०, ४२, १९५६, पृ० ७३ अ०; एस० वी० सोहोनी, जे० बी० आर० एस०, ५२, १९६६, पृ० २०–२८; एस० आर० गोयल, जे० बी० आर० एस०, ५२ (१९६६), पृ० ५२-५५; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १२७; सिनहा, को० हि० बि, पृ० ६६५-७।

मूलपाठ

१ १˘ स्वस्ति (।।*) महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावाराजायोद्ध्या-वासकात्सर्व्व-राजो च्छेत्तु पृ-
२ थिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-सलिलस्वादित-यश (सो*) धनद-वरुणेन्द्रा-
३ न्तक-समस्य कृतान्त-परशोर्न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य चिरोच्छ-
४ न्नाश्वमेधाहर्त्तु महाराज-श्री-गुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्री-घटोत्कच-पौत्रस्य
५ महाराजाधिराज-श्री-चन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छिवि-दौहित्रस्य महादेव्या (ं*) कु-
६ मारदेव्यामुत्पन्न (:*) परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री-समुद्र-
७ गुप्तः गयावैषयिक-रेवतिकाग्रामे व्राह्मण-पुरोग-ग्राम-वल-
८ त्कौषभ्या (?) माह। एव (ं*) चार्थ विदितम्बो भवत्वेश ग्रामो मया मातापित्त्रोरा-
९ त्मनश्च पुण्याभिवृद्धये भारद्वाज-सगोत्राय वह्वृचाय स [व्र] ह्मचा-
१० रिणे व्राह्मण-गोपदेवस्वामिने से.परिकरोद्देशेनाग्रहारत्वेनाति-
११ सृष्टः (।*) तद्युष्माभिरस्य श्रोतव्यमाज्ञा च कर्त्तव्या सर्व्वे [च] [स] मुचिता ग्राम-प्र-
१२ त्यया मेय-हिरण्यादयो देयाः (।*) न चेतत्प्रभृत्येतदाग्रहारिकेणन्यद्ग्रा-
१३ मादि-करद-कुटुम्बि-कारुकादयः प्रवेशयितव्यामन्यथा नियतमाग्र-
१४ हाराक्षेप (:*) स्यादिति (।।*) सम्बत् ९ वैशाख-दि १० (।।*)
१५ अन्यग्रामाक्षपटलाधिकृत-द्यूत-गोपस्वाम्यादेश-लिखितः (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'स्वस्ति' के पूर्व उत्कीर्ण चिह्न को फ्लीट ने 'ओ३म्' का प्रतीक माना है और सरकार ने 'सिद्धं' का। '०वाराजायोद्ध्या०' को '०वारादयोध्या०' पढ़ें। '०च्छेत्तु' के बजाय लिपिक को '०च्छेत्तुः' उकेरना चाहिये था। 'पंक्ति ३-४ : 'चिरोच्छन्नाश्वमेधाहर्त्तुम०' के बजाय लिपिक को 'चिरोत्सन्ना- श्वमेधाहर्त्तुमं०' उकेरना चाहिये था। पंक्ति ५ : 'लिच्छिवि' की वर्तनी अन्य लेखों में प्रायः 'लिच्छवि' मिलती है। पंक्ति ६ : प्रथम अक्षर 'मा' को पहिले हाशिये के पास उत्कीर्ण किया गया था। उसे अस्पष्ट पाकर पुनः उकेरा गया। पंक्ति १० : छाबड़ा ने 'गोपदेव' को 'गोमदेव' पढ़ा है। पंक्ति ११ : 'सर्व्वे' के बाद पहिले 'स' और 'च' उकेरे गये थे। उन्हें शुद्ध कर क्रमशः 'च' और 'स' किया गया। पंक्ति ११-१२ : सरकार की पुस्तक का पाठ 'प्रत्व्या' सम्भवतः मुद्रण-दोष के कारण है। 'प्रत्यया' होना चाहिये था। 'चेतत्प्र०' को 'चैतत्प्र०' पढ़ें तथा '०णन्यद्ग्रा०' को '०णान्यग्रा०'। पंक्ति १३ : 'तव्यामन्यथा' को 'तव्या :। अन्यथा' पढ़ें। तथा 'नियतमाग्र० को 'नियतमग्र०'। पंक्ति १४ : 'सम्बत्' को 'संवत्' पढ़ें। कनिंघम ने वर्ष संख्या ४० पढ़ी थी। पंक्ति १५ : इस स्थल पर नालन्दा-दानपत्र में 'अन्य०' के बजाय 'अनु०' पाठ है।

पंक्ति १ से ५ तक समुद्रगुप्त के विरुदों में सम्बन्धकारक के बजाय कर्त्ताकारक की विभक्ति का प्रयोग होना चाहिये था। अतः इनका अनुवाद करते समय इसका पाठ उस प्रकार मानना चाहिये जैसा पीछे नालन्दा-दानपत्र की पाठ-टिप्पणी के अन्त में दिया गया है।

शब्दार्थ

(इस लेख के कठिन शब्दों के अर्थ के लिये दे०, नालन्दा-दानपत्र के शब्दों के अर्थ)।

अनुवाद

पं० १ ओ३म् ! सिद्धि हो ! अयोध्या (नगर) में स्थित जलपोतों, हाथियों और घोड़ों से युक्त विजयी सैनिक शिविर से सर्वराजोच्छेता, पृथिवी पर अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान विचरण करने वाले), चारों समुद्रों के जल को (अपने) यश का आस्वादन कराने वाले, धनद (=कुबेर) वरुण इन्द्र (और) अन्तक (=यम) के समान, (क्रोधित होने पर) कृतान्त (=यमराज) के परशु (के सदृश), न्यायपूर्वक अर्जित करोड़ों गायों और सुवर्ण का (दान) देने वाले, चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेध करने वाले, परमभागवत महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त, जो महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री (प्रथम) चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छिवि (=लिच्छवि) दौहित्र (तथा) महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न हैं, गया विषय के रेवतिका ग्राम में स्थित ब्राह्मणों सहित ग्राम वलत्कौषों के प्रति कहते हैं (अर्थात् उन्हें निर्देश देते हैं); —

पं० ८ आप लोगों को विदित हो। यह ग्राम मेरे द्वारा (अपने) माता-पिता और अपने पुण्य की अभिवृद्धि के लिये भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न बह्वृच शाखा के ब्रह्मचारी ब्राह्मण गोपदेवस्वामी को उपरिकर सहित अग्रहार के रूप में दिया जाता है।

पं० ११ इससे आप लोगों के द्वारा इनकी (अर्थात् गोपदेवस्वामी की) आज्ञा श्रोतव्य तथा कर्त्तव्य (=पालनीय) है और इन्हें (आपके द्वारा) समस्त समुचित ग्राम प्रत्यय, मेय (एवं) हिरण्य आदि देय हैं (=दिये जाने चाहिये)। और अब से इस (ग्राम) के अग्रहारिक

द्वारा अन्य ग्रामों आदि से (यहां बसने या व्यवसाय चलाने के लिये) करदाता कृषक-गृहस्थ (तथा) शिल्पी आदि प्रवेश्य नहीं हैं (अर्थात् अन्य ग्रामों के करदाता कृषकों और शिल्पियों को यहां लाकर बसाना निषिद्ध है) अन्यथा निश्चय ही अग्रहार-आक्षेप होगा (अर्थात् अन्य ग्रामों के करद कृषकों व शिल्पियों को यहां बसाना अग्रहार के अधिकारों का उल्लंघन होगा)। संवत् ९, वैशाख (मास) का १०वां दिन।

पं० १५ (यह ताम्रपत्र) एक अन्य ग्राम के अक्षपटलाधिकृत द्यूत गोपस्वामी के आदेश से लिखा गया।

व्याख्या

(१) **गयावैषयिकरेवतिकाग्रामे**—गया विषय के रेवतिका ग्राम में। यह ग्राम गया नगर के समीप कहीं रहा होगा। गया विषय की एक मुहर नालन्दा से मिली है जिस पर 'गयाविषयस्य' लेख लिखा है। एक अन्य मुहर पर 'गयाविषयाधिकरणस्य' लेख है (एम० ए० एस० आई०, पृ० ५१)। गया से ही कनिंघम को यह दानपत्र किसी ब्राह्मण से मिला था। सोहोनी ने रेवतिका की पहिचान गया के समीप बिशनपुर के पश्चिम में स्थित रेवोई तेतुरिया गांव से की है। यहां से एक प्राचीन बौद्ध विहार मिला है। एम० एस० पाण्डेय ने रेवतिका की पहिचान गया जिले के रिवोरु स्थान से की है।

(२) अन्य महत्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या के लिये दे०, समुद्रगुप्त के नालन्दा-दानपत्र की टिप्पणियां

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख में कुमार चन्द्रगुप्त का उल्लेख नहीं है। अन्य बातों में इसका वही महत्व है जो नालन्दा-दानपत्र का। दे०, आगे, परिशिष्ट, पृ० ७२-६।

रशिष्ट

क्या समुद्रगुप्त के नालन्दा और गया-दानपत्र कूट (=जाली) लेख हैं ?

समुद्रगुप्त के नाम से जारी किये गये नालन्दा और गया-दानपत्र असली (मौल) अभिलेख हैं, मौल अभिलेखों की प्रतिलिपियां (प्रतिलेख) हैं अथवा जाली (=कूट) अभिलेख हैं, यह प्रश्न बड़ा रोचक और पहेली जैसा है। यहां हम इस सम्बन्ध में जितने भी विकल्प हो सकते हैं उन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

सबसे पहिला विकल्प है कि ये दोनों ही मौल अभिलेख हैं। यह स्पष्टतः असम्भव है। गया अभिलेख मौल नहीं है यह फ्लीट ने ही स्पष्ट कर दिया था। प्रमाण : (१) इसकी लिपि निश्चय ही ७वीं-८वीं शती ई० की है। (२) इसकी भाषा पर प्राकृत का प्रभाव है और इसमें व्याकरण की ऐसी अशुद्धियां मिलती हैं जो मौल अभिलेखों में मिलनी असम्भव हैं। व्याकरण की सबसे बड़ी अशुद्धि समुद्रगुप्त के विरुद सम्बन्धकारक की विभक्ति में और उसका नाम कर्त्ताकारक की विभक्ति में लिखा होना है। (३) लेख में 'व' और 'ब' का अविवेक रूप से प्रयोग किया गया है। (४) लेख की प्रथम पंक्ति में 'महानौहस्त्यश्वजयस्कन्धावार' पद आता है जिसका अभिलेखों में प्राचीनतम प्रयोग फ्लीट को देवगुप्त (७वीं शती का उत्तरार्द्ध) के देवबरनार्क अभिलेख में देखने में आया था। (५) इस लेख की ताम्रपट्टिका की लिपि तथा ताम्र इसके साथ जुड़ी मुहर की लिपि तथा ताम्र से भिन्न हैं जिससे लगता है कि किसी ने असली मुहर को परवर्ती युग में तैयार किये गए अभिलेख से जोड़ दिया है।

फ्लीट के ये तर्क सबल थे। इसलिये आर० एन० दण्डेकर (हिस्टरी ऑव द गुप्तज, पृ० ४४) तथा आर० डी० बनर्जी (एज द इम्पीरियल गुप्तज, पृ० ७–८) को छोड़ कर, जो इसे मौल अभिलेख मानते रहे, अन्य इतिहासकारों ने फ्लीट के निष्कर्ष को स्वीकार किया।

१९२७–८ ई० में ५वें वर्ष का नालन्दा-दानपत्र प्रकाश में आया। इसकी लिपि समुद्रगुप्तकालीन न होने के बावजूद गया-दानपत्र की लिपि से निश्चय ही प्राचीनतर थी, इसलिये भाण्डारकर ने इसके मौल होने की सम्भावना मानी (भाण्डारकर-सूची स० २०७५; उनके मत के समर्थन के लिये दे०, जे० बी० आर० एस०, ४७, पृ० ३३० अ०)। बाद में भी उन्होंने यही आग्रह किया कि इसके कूट होने का कोई प्रमाण नहीं है (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २२६)। लेकिन भाषा, शैली तथा अन्य सभी बातों में यह दानपत्र गया-दानपत्र के समान है—यहां तक इसमें आदेश देने वाले पदाधिकारी का नाम भी गोपस्वामी ही दिया गया है—केवल उसकी उपाधियों में कुछ अन्तर है। इसलिये ए० घोष (इ० आई०, २५, पृ० ५०–५३) ने इसे प्रारम्भिक गुप्त युग में रचित कूट-लेख घोषित किया। दि० च० सरकार ने इस कूट-रचना का

समय छठी-सातवीं शती निर्धारित किया । उन्होंने आग्रह किया कि (१) यद्यपि इसकी लिपि कुछ पुरानी लगती है परन्तु इसके 'घ' अक्षर की बनावट सातवी शती ई० से पहिले की नहीं हो सकती । (२) 'महानौहस्त्यश्वजयस्कन्धावार' पद का प्रयोग हर्ष के मधुवन और बांसखेड़ा दानपत्रों में मिलता है । इससे भी इन लेखों की तिथि सातवीं शती ई० संकेतित है । (३) गया और नालन्दा दोनों दानपत्रों में समुद्रगुप्त के लिये 'परमभागवत' उपाधि का प्रयोग मिलता है । यह उपाधि उसके लिये किसी अन्य अभिलेख में प्रयुक्त नहीं मिलती । (४) इनमें समुद्रगुप्त के द्वारा अश्वमेध किये जाने का उल्लेख है । लेकिन यह सम्भव नहीं लगता कि समुद्रगुप्त अपने शासन के पांचवें वर्ष में अश्वमेध कर चुका था । स्मरणीय है कि उसके अश्वमेध का उल्लेख उसके शासन के अन्तिम वर्षों में कभी लिखी गई प्रयाग-प्रशस्ति तक में नहीं है । (५) अगर समुद्रगुप्त गुप्त संवत् के पांचवें वर्ष में अर्थात् ३२४ ई० में शासन कर रहा था तो मानना पड़ेगा कि समुद्रगुप्त, द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त ने कुल मिलाकर कम से कम १३१ वर्ष (३२४ से ४५५ ई० तक) अर्थात् औसतन् करीब ४४ वर्ष प्रति पीढ़ी शासन किया । यह औसत बहुत अधिक है । फिर, समुद्रगुप्त अगर ३२४ ई० में शासन कर रहा था तो उसे ३१९ ई० में प्रारम्भ होने वाले गुप्त संवत् का प्रवर्त्तक भी माना जा सकता है, जिससे यह औसत कुछ और बढ़ जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गया और नालन्दा-दोनों ही दानपत्र मौल नहीं है । अब हमारे सामने अगला विकल्प है कि ये किसी एक समय में एक ही व्यक्ति द्वारा अथवा दो अलग-अलग समयों में पृथक्-पृथक् व्यक्तियों द्वारा तैयार किये गये कूट-लेख हैं । प्राचीनकाल में जाली अभिलेख तैयार करवा लिये जाते थे, इसके प्रमाण मिलते हैं । याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

ज्ञात्वा कालं च देशं च कुशलाः कूटकारकाः ।
कुर्वन्ति सदृशं लेख्यं तद्यत्नेन विचारयेत् ॥

अनेक विद्वानों ने गया और नालन्दा अभिलेखों को प्राचीन काल में लिखा गया जाली अभिलेख ही माना है । पी० आर० श्रीनिवासन (जे० ए० आई० एच०, १०, १९७६–७७ पृ० १०६–९) ने विश्वास प्रकट किया है कि नालन्दा-लेख लग० ५०० ई० में तैयार किया गया था और गया-दानपत्र लग० ५२० ई० में । इनका कहना है कि इन दोनों को द्यूतगोपस्वामी ने लिखवाया होगा जो गया-दानपत्र में उल्लिखित दान को पाने वाला गोपदेवस्वामी भी है । सिनहा (को० हि० बि०, पृ० ६६५–७) तथा सरकार ने भी इन्हें जाली लेख बताया है । सरकार का कहना है कि दान दी गई भूमि तथा दान पाने वाले ब्राह्मणों के नामों के अतिरिक्त इनमें कुछ भी विश्वसनीय नहीं है । उनके अनुसार इन दोनों दानपत्रों की समानता यह संकेत देती है कि इन्हें किसी एक ही जालसाज ने तैयार किया होगा । उन्होंने भी अनुमान प्रकट किया है कि इन दोनों दानपत्रों को आदेश देने वाला गोपस्वामी तथा गया दानपत्र में भूमि पाने वाला ब्राह्मण गोपदेवस्वामी एक ही व्यक्ति थे (स० इ०, पृ० २७२, टि० ११) । परन्तु यह अनुमान निश्चय ही गलत है । अगर यह जालसाजी गोपस्वामी ने की थी तो यह स्वयं गया-दानपत्र में दिये गये दान को पाने वाला गोपस्वामी नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं उसकी जालसाजी के अनुसार गोपदेवस्वामी समुद्रगुप्त का समकालीन था जबकि वह स्वयं सातवीं शती ई० में जीवित था । लेकिन हम अगर इस जालसाजी के लिये उत्तरदायी गोपस्वामी को न मानकर किसी अन्य अज्ञात व्यक्ति को मानें, तब भी समस्या नहीं सुलझती । जैसा कि र० च० मजूमदार (आई० सी०, ११, पृ० २५५ अ०) ने ध्यान दिलाया है अकेले गया-दानपत्र को तो जाली मानने में कोई दिक्कत नहीं थी लेकिन नालन्दा-लेख के प्रकाश में आने के बाद इन्हें जाली मानने में ऐसी अनेक उलझनें आती हैं जिनका समाधान नहीं किया जा सकता । अगर ये दोनों दानपत्र एक ही जालसाज ने तैयार किये तो इनकी लिपि में इतना अन्तर

क्यों है ? एक ही व्यक्ति ने एक जाली लेख (नालन्दा-दानपत्र) तैयार करते समय तो प्राचीन गुप्त लिपि की नकल करने का प्रयास किया और दूसरे लेख (गया-दानपत्र) को तैयार करते समय अपने जमाने की लिपि का प्रयोग किया—यह क्यों ? उसने एक ओर तो इनको अलग-अलग स्थानों से और अलग-अलग तिथियों को जारी बताकर और एक में कुमार श्री चन्द्रगुप्त का उल्लेख करके अपने इतिहास-ज्ञान और चातुर्य का प्रमाण दिया लेकिन दूसरी ओर उसने अपनी जाली कृतियों में भाषा और व्याकरण की ऐसी भूलें कर दी जिससे उसकी कारगुजारी की तरफ हरेक का ध्यान चला जाय। यह बड़ी विचित्र बात है। फ्लीट ने गया-दानपत्र के बारे में लिखा था कि उसको उकेरने वाले को समुद्रगुप्त के अधिकांश विरुद उकेरने के बाद यह ध्यान आया कि उससे विरुद और नाम कर्त्ताकारक की विभक्ति में होने चाहिये, सम्बन्धकारक की विभक्ति में नहीं। तब उसने अपनी पिछली गलती को सुधारे बिना आगे कर्त्ताकारक की विभक्ति का प्रयोग किया। यह बात उस समय तर्कपूर्ण मानी जा सकती थी जब केवल गया-दानपत्र उपलब्ध था। अब नालन्दा-अभिलेख के मिल जाने पर प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि अगर इन दोनों दानपत्रों की जालसाजी करने वाला एक ही व्यक्ति था तो उसने ठीक वही गलती दूसरे दानपत्र में क्यों कर दी ? और अगर हम यह मानते हैं कि इन दानपत्रों को तैयार करने वाले जालसाज दो अलग-अलग समयों के पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे तो उनकी भाषा शैली और अशुद्धियों में इतनी समानता कैसे आ गई ? दोनों में आदेश देने वाले पदाधिकारी का नाम तक एक कैसे हो गया ?

ऊपर दिये गए तथ्यों से प्रमाणित है कि गया-और नालन्दा-दानपत्र न तो मौल है और न किसी एक समय में एक व्यक्ति अथवा विभिन्न युगों में दो जालसाजों द्वारा तैयार किये गये कूट-लेख। इस उलझन से बचने के लिये र० च० मजूमदार ने सुझाव रखा है कि ये दानपत्र वस्तुत असली दानपत्रों की अलग-अलग युगों में तैयार की गई प्रतिलिपियां हैं। ताम्रपत्रों के आग में जल जाने या अन्य किसी कारणवश खराब हो जाने पर प्राचीन काल में उनकी प्रतिलिपियां तैयार करवाई जाती थीं। भास्करवर्मा का निधानपुर-दानपत्र प्रतिलिपि रूप में ही प्राप्त है। इस विकल्प को मानने का अर्थ यह मानना है कि इन लेखों में समुद्रगुप्त के विषय में जो कुछ कहा गया है वह विश्वसनीय है। मजूमदार के इस मत को कई विद्वानों ने स्वीकृत किया है। शकुन्तलाराव शास्त्री ने (आई० सी०, १०, पृ० ७७) ने ध्यान दिलाया है कि 'कृष्ण-चरित' नामक ग्रन्थ के उपलब्ध अंश में (जिसे स्वयं समुद्रगुप्त द्वारा रचित बताया गया है) समुद्रगुप्त को 'परमभागवत' कहा गया है। लेकिन 'कृष्णचरित' का साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है। यह स्वयं आधुनिक युग की जाली रचना लगता है (दे०, जगन्नाथ, ए० बी० ओ० आर०, आई०, २६, पृ० ३१३ अ०; सरकार, जे० एन० एस० आई०, ६, पृ० ३४)। फिर भी इन अभिलेखों से यह निश्चायकरूपेण प्रमाणित हो जाता है कि समुद्रगुप्त ने 'परमभागवत' उपाधि धारण की थी क्योंकि इनके प्रतिलेखकों या कूटलेखकों ने इन्हें लिखने के लिये गुप्तकाल के जिन असली दानपत्रों का प्रयोग किया होगा उनमें यह अवश्य प्रयुक्त रही होगी। मजूमदार का आग्रह है कि समुद्रगुप्त अपने शासन के पांचवें वर्ष में अश्वमेध कर सकता था। उसे प्रभावती-गुप्ता के पूना-दानपत्र में 'अनेकाश्वमेधयाजी' कहा गया है। परन्तु नालन्दा और गया-दानपत्रों में उसे 'चिरोत्सन्न' प्रकार का अश्वमेध करने का श्रेय दिया गया है जो विशेषतः उसी की उपलब्धि थी। प्रश्न है कि क्या अपने शासन के पांचवें वर्ष के पूर्व वह 'चिरोत्सन्न' प्रकार का अश्वमेध कर पाया होगा ? शायद नहीं। मजूमदार को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि समुद्रगुप्त ने ३१९ ई० में प्रारम्भ होने वाले गुप्त संवत् का प्रर्त्तवन किया और तदनुसार तीन पीढ़ी के तीन गुप्त सम्राटों ने १३६ वर्ष शासन किया। कुछ पीढ़ियों के राजाओं के शासनकाल का इस प्रकार का लम्बा औसत अपवादरूपेण अन्य वंशों में भी मिलता है। इसके विपरीत पी० एल० गुप्त (जे० बी० आर० एस०, ४२, पृ० ७४) तथा हमने

(जे० बी० आर० एस०, ५२, पृ० १४ अ०) सुझाव रखा है कि नालन्दा-दानपत्र में कुमार चन्द्रगुप्त का उल्लेख (जिसे इस दानपत्र की तिथि को गुप्त संवत् की तिथि मानने पर ३२४ ई० में युवक मानना होगा) यह प्रमाणित करता है कि इस दानपत्र की तिथि गुप्त संवत् की न होकर समुद्रगुप्त के राज्यारोहण का वर्ष है। अतः इन लेखों को असली दानपत्रों की प्रतिलिपियां मानने पर तिथि सम्बन्धी कठिनाई नहीं आती। जहां तक 'महानौ०' आदि पद के प्रयोग का प्रश्न है इसका प्रयोग ५०६ ई० के गुणैधर-दानपत्र में भी हुआ है। हो सकता है इसका विरलतः प्रयोग समुद्रगुप्त के काल में प्रारम्भ हो गया हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मजूमदार के इस मत में बहुत सार है कि गया और नालन्दा लेख असली दानपत्रों की बाद में तैयार की गई प्रतिलिपियां है। याज्ञवलक्य ने कहा है :

देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा।
भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने लेख्यमन्यत्तुकारयेत्॥

परन्तु प्रस्तुत दानपत्रों के विषय में प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये अगर समुद्रगुप्त के असली दानपत्रों की दो विभिन्न युगों में तैयार की गई प्रतिलिपियां हैं तो इनमें एक-सी अशुद्धियां कैसे पैदा हो गईं? विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि दोनों ही दानपत्रों में समुद्रगुप्त के विरुद 'लिच्छिविदौहित्रस्य' शब्द तक सम्बन्धकारक की विभक्ति में चलते हैं और तदुपरान्त कर्त्ताकारक की विभक्ति में। यह बात संयोग मात्र नहीं हो सकती। इस बात को जब हम इन लेखों की अन्य समानताओं से मिलाते हैं तो निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि इन दोनों का प्रारूप तैयार करने वाला एक ही व्यक्ति था। दूसरे शब्दों में ये प्रतिलिपियां अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग समय में तैयार नहीं की गई थीं। सोहोनी (जे० बी० आर० एस०, ५२, पृ० २३) ने सुझाव रखा है कि नालन्दा और गया दानपत्र की मूल प्रतियां नष्ट हो जाने पर उकेरने वाले ने पहिले नालन्दा-दानपत्र की (जो कम खराब हुआ होगा) नकल की होगी और उसकी मूल लिपि के अक्षरों की बनावट का अनुकरण करने में काफी सफलता पा ली होगी। इसके बाद उसने नालन्दा दानपत्र की प्रतिलिपि की सहायता से गया दानपत्र की (जो शायद ज्यादा खराब हो गया था) प्रतिलिपि बनाई होगी और उसे अपने युग की लिपि में उकेर दिया होगा। इस दानपत्र के साथ मूल दानपत्र की मुहर, जो उस समय उपलब्ध थी, जोड़ दी गई। इस सुझाव को हम अपने इस पुराने संशोधन के साथ (दे०, जे० बी० आर० एस०, ५२, पृ० ५२-५५ में प्रकाशित हमारा लेख) स्वीकृत करने के लिये प्रस्तुत हैं कि गया और नालन्दा दानपत्र जिन मूल अभिलेखों की प्रतिलिपियां हैं उनका वंशावली वाला भाग पूर्णतः अपठ्य हो गया होगा जिससे इनका प्रारूप तैयार करने वाले अधिकारी ने इस अंश को गुप्त वंश के परवर्ती दानपत्रों की सहायता से तैयार किया और असावधानी के कारण, या जल्दी के कारण अथवा अपने अनाड़ीपन के कारण उसने उकेरने वाले व्यक्ति को जो प्रारूप (ड्राफ्ट) दिया उसमें वंशावली वाले भाग में समुद्रगुप्त के विरुद 'लिच्छिवि दौहित्रस्य' तक सम्बन्धकारक की विभक्ति में रहने दिये। फ्लीट का अनुमान था कि यह गलती उकेरने वाली की थी। यह बात नहीं हो सकती। उकेरने वाला तो जो प्रारूप में लिखा होता था, वही उकेरता था। वह तो बहुधा बहुत पढ़ा-लिखा भी नहीं होता था। दूसरे, अगर वह स्वयं भाषा को बदल सकता था तो फिर दूसरा लेख उकेरते समय वह वही गलती क्यों दोहराता? इसलिये भाषा की अशुद्धियों का दोष प्रारूप (ड्राफ्ट) तैयार करने वाले का था। और क्योंकि दोनों लेखों में ठीक एक-सी अशुद्धियां हैं अतः उनका प्रारूप एक ही व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया होगा।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सम्भवतः नालन्दा और गया दानपत्र असली दानपत्रों की प्रतिलिपियां हैं यद्यपि इनकी वंशावली वाला भाग परवर्ती लेखों से लिया गया प्रतीत होता है। अतः इसकी सूचनाओं

से समुद्रगुप्त के इतिहास के पुनर्निर्माण में कोई सहायता नहीं लेनी चाहिये। उदाहरणार्थ इनसे यह सिद्ध नहीं मान लेना चाहिये कि समुद्रगुप्त अपने शासन के पांचवें वर्ष तक चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेध कर चुका था। इनसे केवल यह सिद्ध होगा कि उसके उत्तराधिकारी यह जानते थे कि उसने चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेध किया था।

'चन्द्र' (समुद्रगुप्त) का तिथिविहीन मेहरौली-लौह-स्तम्भ-लेख

लेख-परिचय—इस लेख का **प्राप्ति-स्थल** देहली से ९ मील दक्षिण की ओर स्थित मेहरौली नामक स्थान है जहां यह कुतुबमीनार के पास स्थित एक लौह-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसमें उल्लिखित नरेश का नाम 'चन्द्र' दिया गया है जिसकी पहिचान हमने समुद्रगुप्त से की है। पहिले यह देहली लौह-स्तम्भ लेख नाम से प्रसिद्ध था, फ्लीट ने इसे मेहरौली-लौह-स्तम्भ-लेख नाम दिया। उनके अनुसार मेहरौली 'मिहिर-पुरी' नाम का विकृत रूप हो सकता है और 'मिहिरपुरी' मिहिरकुल का स्मरण दिलाता है। **मेहरौली-स्तम्भ** २३′८″ ऊंचा है। इसका व्यास आधार के पास १६″ और शीर्ष के पास १२″ है। इस पर यह लेख २′९½″ × १०½″ क्षेत्रफल में लिखा है। लेख की सबसे निचली पंक्ति धरातल पर बने चबूतरे से ७′ से भी अधिक ऊंचाई पर है। लेख अत्यन्त सुरक्षित रूप में उपलब्ध है। इसके अक्षरों का आकार ५/१६″ से ½″ तक है।

मेहरौली-लेख **तिथिविहीन** है, अतः इसकी स्थूल तिथि का निर्णय **लिपि** के आधार पर ही, जो उत्तर भारतीय वर्ग की ब्राह्मी है, किया जा सकता है। प्रिन्सेप ने इसे ३री-४थी शती की माना है, हॉर्नले ने लगभग ४१० ई० की, भाऊदाजी ने गुप्तोत्तरकाल की, सरकार ने ५वीं शती ई० की तथा फ्लीट ने अक्षरों में लोहे की कठोरता के कारण उत्पन्न होने वाले काठिन्य को छूट देते हुए समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के सदृश। लेकिन उनके अनुसार इसके अक्षरों में स्थूल शिरोरेखाओं का प्रयोग एक ऐसी विशेषता है जो प्रथम कुमारगुप्त के बिलसड़-लेख से अधिक मिलती है। अतः इस लेख की लिपि स्थूलतः ४०० ई० की मानी जा सकती है। फर्ग्युसन ने भी मेहरौली-स्तम्भ की कला पर उपलब्ध ईरानी प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए इसकी तिथि ४०० ई० के लगभग ही मानी थी।

भाषा और वर्तनी तथा लेखक—मेहरौली-लेख की **भाषा** संस्कृत है और यह सम्पूर्णतः गद्यात्मक है। इसमें कुल तीन **श्लोक** हैं और तीनों ही शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में हैं। इसका **लेखक** कोई अज्ञात कवि था। कुछ इतिहासकारों ने कल्पना की है कि इसका लेखक द्वितीय चन्द्रगुप्त का मन्त्री वीरसेन शाव रहा होगा (दे०, द्वितीय चन्द्रगुप्त के तिथिविहीन उदयगिरि-लेख का महत्त्व)। परन्तु यह अनुमान सर्वथा निराधार है। जहां तक **वर्तनी** का सम्बन्ध है, इसकी अन्तिम पंक्ति में 'प्रांशुः' के स्थान पर 'प्रान्शुः' पाठ उल्लेखनीय है। हो सकता है यह गलती लिपिक ने की हो। इसकी प्रथम पंक्ति में 'शत्त्रु' में अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर 'त' का द्वित्व तथा पंक्ति ३ में 'कीर्त्या' तथा 'मूर्त्या' में केवल एक 'त' का प्रयोग भी उल्लेख्य विशेषताएं हैं।

उद्देश्य और विशेषताएं—अधिकांश तत्कालीन लेखों के विपरीत इस लेख में इसके नरेश 'चन्द्र' का न पूरा नाम दिया है और न इसमें उसके वंश का वर्णन है। यह प्रकृत्या एक वैष्णव-लेख है जिसका **उद्देश्य** 'चन्द्र' के द्वारा विष्णुपदगिरि पर विष्णुध्वज के रूप में इस स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्तम्भ पर गरुड़ की प्रतिमा स्थापित की गई थी। आनुषङ्गिकरूप से ध्यान दिलाया जा सकता है कि यह स्तम्भ गुप्तकाल में हिन्दुओं द्वारा धातुशास्त्र में प्राप्त उपलब्धियों का

एक सुन्दर उदाहरण है। छः टन भारी इस लौह स्तम्भ की ढलाई एक साथ हुई थी और यह इतने अच्छे लोहे का बना है कि इसमें अभी तक जंग नहीं लगा है।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—मेहरौली-लेख सर्वप्रथम १८३४ ई० में 'जर्नल ऑव बंगाल एशियाटिक सोसायटी', ३ में, प्रिन्सेप द्वारा एक शिलामुद्रण सहित प्रकाशित किया गया था। १८३८ में प्रिन्सेप ने ही इसे पुनः प्रकाशित किया। १८७५ में 'जर्नल ऑव द बाम्बे ब्राञ्च ऑव द रायल एशियाटिक सोसायटी' १०, में भाऊदाजी ने इसका बहुत अच्छा पाठ छापा और राजा का नाम 'चन्द्र' पढ़ा। तदनन्तर १८८८ में इसे फ्लीट ने अपने 'कॉर्पस' में प्रकाशित किया (स० ३२)। तब से इस पर बहुत से विद्वानों ने शोध-निबन्ध लिखे हैं। उनमें अधिकांश का उद्देश्य प्रधानतः 'चन्द्र' को पहिचानना रहा है। लेकिन इस पुस्तक के लेखक ने 'चन्द्र' की पहिचान तय करने के अतिरिक्त उसके विषय में प्रदत्त तथ्यों का अध्ययन भारतीय और मध्य-एशिया के इतिहास की पृष्ठभूमि में करने की चेष्टा भी की है। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ एवं निबन्ध :—भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २५७-६०; सरकार, स० इ०, पृ० २८३ अ०; जे० आर० ए० एस० बी० (एल०), ५, पृ० ४०७ अ०; पी० वी० काणे फेतिशक्रिफ्त वॉल्यूम, पृ० ४६९ अ०; भाण्डारकर, जे० ए० एच० आर० एस०, १०, पृ० ८६ अ०; मजूमदार, जे० आर० ए० एस० बी० (एल०), १९४३, पृ० १७९ अ०; शर्मा, जी० आर०, आई० एच० क्यु०, २१, पृ० २०२ अ०; शर्मा, दशरथ, आई० सी०, ५, पृ० २०६; जे० आई० एच०, १६, पृ० १७ अ०; कर, आर० सी०, आई० एच० क्यु०, २६, पृ० १८४ अ०; आयंगर, स्टडीज इन गुप्त हिस्टरी, पृ० २४, अ०; जगन्नाथ, जे० आई० एच०, २१, पृ० १६१-२; चक्रवर्ती, सी० एच०, ए० बी०, ओ० आर० आई०, ८, पृ० १७२-६; दिस्कलकर, सेलेक्शन्स्, स० २, पृ० १७; सेठ, एच० सी०, पी० आई० एच० सी०, १९४३, पृ० १२७-९; जे० आई० एच०, १६, पृ० ११७; एन० पी० जोशी, जर्नल ऑव जी० एन० झा केन्द्रीय इन्स्टीट्यूट, १९७६, पृ० २२३-३८; राणा, जर्नल ऑव विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इन्स्टीट्यूट, ६, १९६८, पृ० १०६ अ०; गोयल, एस० आर०, पी० ओ० सी०, गोहाटी सेशन, पृ० १५३-६८; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, स० २०२१, ६९, पृ० २६१ अ०; प्रा० भा० रा० इ०, पृ० १४५ अ०; हि० इ० गु०, पृ० २०० अ०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ८०; तेजराम शर्मा, पर्सनल एण्ड ज्योग्रेफिकल नेम्स् इन गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ३०९-१३; दीनबन्धु पाण्डेय, एन० पी० पी० ३, पृ० ६१ अ०।

मूलपाठ

१ य [स्यो] द्वर्त्तयतः प्रतीपमु [र] सा शत्रून्समेत्यागता-
न्वङ्गेष्वाहव-वर्त्तिनो (ऽ*) भिलिखिता खड्गेन कीर्त्ति [र्भु] जे (।*)
२ तीर्त्वा सप्त मुखानि येन [स] म [रे] सिन्धोर्ज्जिता [व] ह्लिका 87
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्य्यानिलैर्द्दक्षिणः (॥*) १
३ [खि] न्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्ग्गामाश्रितस्येतरां
मूर्त्या कर्म्म-जितावनिं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ (।*)
४ शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा-
न्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशित-रिपोर्य्यत्नस्य शेषः क्षितिम् (॥*) २
५ प्राप्तेन स्व-भुजार्ज्जितञ्च सुचिरञ्चैकाधिराज्यं क्षितौ
86 चन्द्राह्वेन समग्र-चन्द्र-[स] दृशीं वक्त्र-श्रियं बिभ्रता (।*)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

६ तेनायं प्रणिधाय भूमि-पतिना धावेन विष्णो मतिं
प्रान्शुर्व्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः (।।*) ३

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति २ : भाऊदाजी ने ‘वाहि्लका’ को ‘बाल्हिका’ पढ़ा है । पंक्ति ३ : जिताबर्नि’ को ‘जितावर्नि’ पढ़ें जो फ्लीट का पाठ भी है । फ्लीट ‘कीत्यी’ और ‘मूत्यी’ को सुधार कर कीर्त्त्या और ‘मूर्त्त्या’ पढ़ते हैं । पंक्ति ६ : सरकार ने ‘धावेन’ के स्थान पर ‘भावेन’ पढ़ा है और वह इस सुधार कर ‘देवेन’ पढ़ने का सुझाव देने का लोभ संवरण नहीं कर पाते । ‘विष्णो’ को ‘विष्णौ’ पढ़ें और ‘प्रान्शुः’ को ‘प्रांशुः’ ।

शब्दार्थ

श्लोक १

उद्वर्त्तन = धकेलना; प्रतीपं = पीछे की ओर; उरसा = वक्ष स्थल से; समेत्यागतान् = एक साथ अर्थात् संघ बनाकर आए हुए; आहव = युद्ध; तीर्त्वा = पारकर के; सिन्धु = समुद्र, एक नदी का नाम; अधिवास्यते = सुगन्धित हो रहा है; जलनिधि = समुद्र; अनिल = पवन; वीर्य = शौर्य

श्लोक २

खिन्नस्येव = खिन्न हुए के समान; विसृज्य = छोड़कर; गां = लोक; इतर = दूसरा; कर्मजितावनिम् = कर्म से जीते हुए लोक को अर्थात् स्वर्गलोक को; गतवतः = गया हुआ; कीर्त्या = कीर्ति द्वारा; हुतभुजः = अग्नि; उत्सृजति = छोड़ता है; प्रणाशः = नाश; प्रणाशितरिपोः = शत्रुओं का नाश करने वाले का; मूर्त्या = देह से

श्लोक ३

क्षितौ = पृथिवी पर; आह्‌व = नाम; वक्त्र = मुख; विभ्रता = रखता था (विभृ = रखना); प्रणिधाय = लगाकर, श्रद्धा रखकर; धावेन = शुद्ध हृदय वाले ने; प्रांशु = उन्नत; समग्रचन्द्र = पूर्ण चन्द्र

अनुवाद

पं० १ जिसकी भुजाओं पर वंग देशों में एक साथ (अर्थात् संघ बनाकर) आए युद्ध के लिए समुद्यत शत्रुओं को वक्षस्थल से पीछे की ओर धकेल कर खड्ग से कीर्त्ति लिखी गई; जिसके द्वारा सिन्धु के सात मुखों (अर्थात् सप्तसिन्धु प्रदेश) को पार करके रणक्षेत्र में वाह्लिकों को जीत लिया गया; जिसके शौर्य की पवन से दक्षिण जलनिधि आज भी सुवासित हो रहा है;—

पं० ३ जिस नरेश का महान् प्रताप—जो (पृथिवी का भार वहन करते-करते थक जाने अथवा अविजित देशों के अभाव से क्षुब्ध होकर) खिन्न हुए के समान इस लोक को छोड़कर (नए देशों को जीतने के हेतु) दूसरे लोक को चला गया है; जो देह से स्वर्ग चला गया है परन्तु कीर्त्ति से पृथिवी पर विद्यमान है—महावन की शान्त हो गई अग्नि के समान है; शत्रुओं का संहार करने वाले जिस (नरेश) के यत्न का शेष आज भी पृथिवी को नहीं छोड़ता है (अर्थात् पृथिवी पर बना हुआ है);—

पं० ५ जिसने पृथिवी पर अपनी भुजाओं से अर्जित एकाधिराज्य का चिरकाल तक उपभोग

किया; जो पूर्ण चन्द्र के समान मुखश्री धारण करने के कारण 'चन्द्र' नाम से विख्यात था; जो शुद्ध हृदय वाला था;—उस राजा द्वारा विष्णु में श्रद्धा रखते हुए विष्णुपदगिरि पर यह उन्नत विष्णुध्वज स्थापित कराया गया।

व्याख्या

श्लोक १

(१) **वंगेषु**—अर्थात् वंग देशों में। प्रदेशों के नाम अभिलेखों में बहुवचन में प्रायः मिलते हैं। यथा, स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में 'सुराष्ट्रान्'। कुछ विद्वान् 'वंग' शब्द को बंगाल के निवासियों के अर्थ में लेते हैं और मानते हैं कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने उन्हें जीत कर पुण्ड्वर्धनभुक्ति (उत्तरी बंगाल) के रूप में परिणत किया था। लेकिन वंग एक विशिष्ट प्रदेश का नाम था जो पुण्ड्वर्धन प्रदेश से भिन्न था। 'रघुवंश' (४.३६) में इस को गंगा के मुहाने वाला प्रदेश बताया गया है :

वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गंगास्रोतोन्तरेषु सः॥

वंग के पश्चिम में ब्रह्मपुत्र, उत्तर में वारेन्द्र अथवा पुण्ड्वर्धन और दक्षिण में बंगाल की खाड़ी माने जाते थे। कभी-कभी इसमें समतट (अविभाजित बंगाल का दक्षिण-पूर्वी भाग) भी सम्मिलित माना जाता था। १३वीं शती ई० के नरेश विश्वरूपसेन के मदनपाड़-दानपत्र में फरीदपुर जिले में स्थित कोटालिपाड़ा को वंग में स्थित बताया गया है (डी० आर० भाण्डारकर वॉल्यूम, पृ० ३५६, टि० २)। के० डी० वाजपेयी ने (मिराशी फेलिसिटेशन वॉल्यूम, पृ० ३५५ अ०) 'महाभारत' के एक श्लोक के आधार पर वंग की पहिचान मकरान प्रदेश से की है। परन्तु न तो गुप्तों का इस प्रदेश से कोई सम्बन्ध था और न 'महाभारत' के मात्र एक श्लोक के आधार पर, जिसका पाठ अशुद्ध हो सकता है, इतना महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

(२) **सप्तमुखानिसिन्धोः**—'सप्तमुखानिसिन्धो' का अर्थ सरकार, आयंगर, बसाक, चट्टोपाध्याय आदि ने 'सिन्धु नदी का मुहाना' किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत में 'नदी के मुख' का अर्थ प्रायः मुहाना होता है। (उदाहरणार्थ 'रघुवंश'—नदी मुखेनैव समुद्रमाविशद्)। टॉलेमी के ज्योग्रेफीक (७·१·२) में सिन्धु के मुहाने की सात धाराओं का उल्लेख मिलता भी है। परन्तु उत्तर भारत के किसी नरेश के लिए आक्रमणकारी वाह्लिकों को परास्त करने के लिये जाते समय सिन्धु के मुहाने को पार करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा। इसलिये जायसवाल (जे० बी० ओ० आर० एस०, १८, पृ० ३२) एवं मजूमदार (जे० आर० ए० एस० बी०, एल०, १९४३, ६, पृ० १८० अ०; को० हि० इं०, ३, भाग १, पृ० ५५, टि० २०) आदि यहां 'मुख' का अर्थ उद्गम स्थान मान कर सिन्धु में सात मुखों से तात्पर्य सिन्धु और उसकी छः सहायक नदियों से मानते हैं। उस अवस्था में 'चन्द्र' सप्तसिन्धु प्रदेश को पार करके उत्तर-पश्चिम से आने वाले वाह्लिकों का प्रतिरोध कर सकता था। मजूमदार व जायसवाल का निष्कर्ष सही हो सकता है। अगर प्राचीन काल में सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के प्रदेश को सप्तसिन्धु कहा जा सकता था तो सिन्धु के सात मुखों का उल्लेख भी हो सकता था। फोगल ने तो इस पद से तात्पर्य 'ऋग्वेद' के सप्तसिन्धु प्रदेश से माना ही है। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि यहां 'सिन्धु' शब्द को 'सिन्धु नदी' के अर्थ में नहीं वरन् 'समुद्र' अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो। दूसरे शब्दों में यहां पंजाब की सात नदियों को सिन्धु अर्थात् समुद्र के सात मुख कहा गया हो। क्योंकि समुद्र इन नदियों के मार्ग से जल को प्राप्त करता है इसलिये इन्हें समुद्र के 'मुख' कहना असंगत न होगा। इस अर्थ को मान लेने से यह निष्कर्ष तो यथावत् रहता है कि 'चन्द्र' ने पंजाब या सप्तसिन्धु प्रदेश को पार करके

वाह्लिकों को परास्त किया था, परन्तु 'मुख' शब्द का अर्थ उद्गम स्थान मानने की आवश्यकता नहीं रहती ।

(३) **अभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे**—तु०, प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त का 'प्रहरण विरुढाकुल व्रण-शतांक-शोभासमुदयोपचित कान्ततरवर्ष्मणः' रूप में वर्णन । हो सकता है वंग युद्ध में समुद्रगुप्त की भुजाओं पर कुछ घाव लगे हों ।

(४) **वाह्लिका**—वाह्लिक से प्राचीनकाल में तात्पर्य बैक्ट्रिया या बल्ख प्रदेश से होता था । बैक्ट्रिया को पहलवी भाषा में 'बाख्ल' अथवा 'बहल' कहते थे । उसी से संस्कृत का 'वाह्लिक' नाम निकला है । डी० आर० भाण्डारकर, एस० के० आयंगर, रा० गो० बसाक व एलन ने 'रामायण' के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर, जिसमें विष्णुपद, विपाशा तथा शाल्मली को परस्पर निकटवर्ती और वाह्लिक देश में स्थित बताया है, वाह्लिकों को पंजाब निवासी माना है,

ययुर्मध्येन वाह्लिकान् सुदामानञ्च पर्वतम् ॥
विष्णोः पदं प्रेषमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम् ।
--रामायण २.६८.१८-१९

लेकिन जैसा कि दि० च० सरकार ने ध्यान दिलाया है (काणे फेतिशक्रिफ्त वॉल्यूम, पृ० ४६९ अ०) इस श्लोक का 'वाह्लिकान्' पाठ अशुद्ध है । इसका शुद्ध पाठ होना चाहिये 'वाहीकान्' । पुराणों व 'महाभारत' में अनेक स्थलों पर पंजाब को वाहीक प्रदेश कहा गया है । 'कर्णपर्व' में बताया गया है कि वही तथा हीक नामक पिशाचों की सन्तान होने के कारण इस प्रदेश के निवासी 'वाहीक' कहलाएः—

वहिश्चनाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ ।
तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः ॥
—महाभारत, कर्णपर्व, ४४-४१

दूसरे, स्मरणीय है कि 'चन्द्र' का वाह्लिकों से युद्ध सप्तसिन्धु अर्थात् पंजाब के पार हुआ था । अगर वाह्लिक पंजाब के निवासी होते तो चन्द्र को उनसे लड़ने के लिये पंजाब 'पार करके' (तीर्त्वा) न जाना पड़ता । पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० २८९) का यह कहना गलत है कि मेहरौली-प्रशस्ति में वाह्लिकों को सिन्धु-स्थित कहा गया है ।

चौथी शती ई० के मध्य तक बैक्ट्रिया में हैफ्थेलाइट हूणों का अधिपत्य स्थापित हो गया था । उनको चीनी साहित्य में जुआन-जुआन और ह्युंग-नु कहा गया है तथा रोमक इतिहास में चियोनाइट । चीनी यात्री फाशियेन ने, जो पांचवीं शती ई० के प्रारम्भ में भारत आया था, लिखा है कि उसके आने के पहिले बैक्ट्रिया के हैफ्थेलाइटों ने गन्धार पर आक्रमण किया था । हमने १९६६ में लिखित अपने शोध-प्रबन्ध में सुझाया है कि मेहरौली-अभिलेख में उल्लिखित वाह्लिक वस्तुत हूण ही थे (हि० इ० गु०, पृ० १७५-८०; दे०, पी० ओ० सी०, गौहाटी सेशन, पृ० १५३-६८; प्रा० भा० रा० इ०, पृ० १३८ अ०) । अब इस सुझाव को स्वीकार किया जाने लगा है (दे०, पी० आई० एच० सी०, १९७७, पृ० ३८३ अ०) ।

(५) **जलनिधिर्वीर्य्यानिलैर्दक्षिणः**—अभिलेख की भाषा से स्पष्ट है कि 'चन्द्र' ने दक्षिण में सामरिक सफलताएं अर्जित की थीं । उसका यश उस प्रदेश में वहां 'शौर्य' दिखाने के कारण फैला था, न कि दूत आदि भेजने अथवा विवाह सम्बन्धों के कारण । मजूमदार (को० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० ५८, टि० २९) यहां द्वितीय चन्द्रगुप्त की शक-विजय की ओर संकेत मानते हैं । पर यह असम्भव है । प्राचीन भारत में 'दक्षिण जलनिधि' का अर्थ गुजरात प्रदेश वाला समुद्रतटीय भाग नहीं हो सकता था ।

श्लोक २

(१) इस श्लोक में 'शान्त' का अर्थ अग्नि का शान्त होना भी है और राजा का शान्त होना अर्थात् स्वर्गगामी होना भी। इसी प्रकार इसमें 'प्रताप' शब्द का प्रयोग भी अग्नि के प्रखर ताप और राजा के प्रताप दोनों के लिये हुआ है। आशय है कि राजा के स्वर्गगामी हो जाने के बावजूद उसका प्रताप इस पृथिवी पर उसी प्रकार बना हुआ है जिस प्रकार वनाग्नि के शान्त हो जाने पर भी उसका प्रकृष्ट ताप अवशिष्ट रहता है। तुलनीय, इत्थं पार्त्थिवराजराजिविजयव्यापारपारंगतश्चक्रे शक्रजयाय कृष्ण नृपतिः स्वर्लोक-यात्रा-गतम् (हेमाद्रि, सरकार द्वारा उद्धृत, स० इ०, पृ० २८४)।

(२) **क्या यह मरणोत्तर-लेख नहीं है?**—भाण्डारकर (जे० ए० एच० आर० एस०, १०, पृ० ८६) व दशरथ शर्मा (जे० आई० एच०, १६, पृ० १७–१८) के अनुसार इस लेख के लिखे जाने के समय 'चन्द्र' शासन तो नहीं कर रहा था परन्तु जीवित अवश्य था। उनका निष्कर्ष लेख के इस कथन पर आधारित है कि 'चन्द्र' का प्रताप इस लेख के लिखे जाने के समय भी उसी प्रकार बना हुआ था जिस प्रकार दावाग्नि के बुझ जाने पर भी उसकी गर्मी अवशिष्ट रहती है। परन्तु जैसा कि दि० च० सरकार ने साग्रह कहा है, इस लेख की तीसरी पंक्ति के इस कथन का कि 'चन्द्र' ने खिन्न होकर 'इस लोक को छोड़ दिया है' (विसृज्य गां) और 'दूसरे लोक को चला गया है' (गामाश्रितस्येतरां) स्वाभाविक अर्थ यही हो सकता है कि वह उस समय तक दिवंगत हो चुका था। इसी प्रकार इसी पंक्ति में ही स्पष्टतः कहा गया है कि वह देह से तो अपने कर्मों से अर्जित स्वर्ग जा चुका है (मूर्त्या कर्म्म-जितावनिं गतवतः) लेकिन 'कीर्त्ति से पृथिवी पर विराजमान है' (कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ)। साहित्य में स्वर्ग जाने का इस प्रकार वर्णन प्रायः मिलता है। 'रघुवंश' में कहा गया है कि राजा अतिथि अपना राज्य अपने पुत्र निषध को सौंपकर 'कर्मों से परलोक को चले गए' (द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह—१८.३)। इसी प्रकार इसी ग्रन्थ में वज्र नाम नामक राजा को सुकृतों से उपलब्ध लोक को जाने वाला कहा गया है (गते द्यां सुकृतोपलब्धां—१८.२२)। इतना ही नहीं प्राचीन काल में दिवंगत राजाओं को कभी-कभी सदेह स्वर्ग जाने वाला भी कह दिया जाता था। (दे०, राजतरंगिणी, तरंग ३, श्लोक ३७७)। इसी प्रकार इस लेख की दूसरी पंक्ति का यह कथन कि "उसके शौर्य की पवन से दक्षिण जलनिधि 'आज भी' (अद्यापि) सुवासित हो रहा है" तथा चौथी पंक्ति का यह वाक्य कि "उसके यत्न का शेष 'आज भी' पृथिवी को नहीं छोड़ता है" यह संकते देते हैं कि इन पंक्तियों के लिखे जाने तक 'चन्द्र' की मृत्यु हो चुकी थी। प्राचीन लेखों व ग्रन्थों में इस प्रकार के कथन दिवंगत राजाओं के लिए प्रायः मिलते हैं। अफसड़-लेख में महासेनगुप्त का 'लौहित्य तटेषु———अद्यापि स्फीतं,यशोगीयते' रूप में वर्णन तथा 'राजतरंगिणी' में (तरंग १, श्लोक १५४) एक दिवंगत राजा को 'अद्यापि श्रूयते यस्य प्रभावो 'भुवनाद्भुतः' कहा जाना (दे०, सरकार, स० इ०, पृ० २८४, टि० ४; राय, पूर्वो०, पृ० ५४७–४८) इस प्रसंग में उदाहरणीय हैं।

श्लोक ३

(१) **स्वभुजार्जित एकाधिराज्यं**—'चन्द्र' ने अपनी भुजाओं के बल से एकाधिराज्य अर्थात् साम्राज्य स्थापित किया था। तु०, प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को 'बाहुवीर्य प्रसर धरणिबन्धस्य' कहा जाना। 'चन्द्र' ने जिस साम्राज्य को स्वयं जीता वह निश्चय ही पंजाब से लेकर बंगाल तक विस्तृत था क्योंकि उसी अवस्था में वह वंग नरेशों तथा वाह्लिकों के विरुद्ध युद्ध कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि 'चन्द्र' ने लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत को स्वयं जीता था।

(२) **विष्णुध्वज**—विष्णु के सम्मान में स्थापित ध्वज-स्तम्भ। देवताओं के सम्मान में ध्वज-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्थापन का प्राचीन भारत में बहुत प्रचलन था। दे०, हेलियोडोरस द्वारा गरुड़-ध्वज की स्थापना (वेसनगर-लेख) व बुधगुप्त के काल में ध्वज-स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख (गु० स० १६५ का एरण-लेख)।

(३) **चन्द्राह्वेन समग्र चन्द्र सदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता**—इस पद के दो अर्थ सम्भव हैं : 'उसका नाम चन्द्र था और उसकी मुखश्री पूर्णचन्द्र के तुल्य थी' एवं 'जो पूर्णचन्द्र के समान मुखश्री धारण करने के कारण चन्द्र नाम से विख्यात था'। फ्लीट ने यह दोनों अर्थ सही माने हैं। एलन को भी ये दोनों अर्थ स्वीकार्य हैं। जैसा कि इन दोनों विद्वानों ने माना है, इनमें दूसरा अर्थ ग्रहण करने का संकेत मिलता है कि इस राजा का मूल नाम 'चन्द्र' नहीं था, वह अपनी मुखश्री चन्द्रवत् होने के कारण 'चन्द्र' नाम से भी विख्यात था।

(४) **धावेन**—प्रिन्सेप इसे 'धावेन' पढ़ते हैं तथा भाऊदाजी 'भावेन'। फ्लीट के अनुसार लिखा तो 'धावेन' है, परन्तु इसका कारण लिपिक की असावधानी होना चाहिए क्योंकि लेख का मूल पाठ 'भावेन' हो रहा होगा (फ्लीट, कॉर्पस, पृ० १४२, टि० २)। आयंगर इसे 'धावेन' पढ़ते हैं और 'धाव' का अर्थ 'शुद्ध हृदय वाला' करके इसे 'भूमिपति' का विशेषण मानते हैं। यही मत ग्राह्य है। मजूमदार ने 'धाव' को 'शाव' के समान एक नाम—चन्द्र का दूसरा नाम—बताया है (को० हि० इ० ३, भाग १, पृ० ६३)। सरकार ने इस शब्द को 'भावेन' पढ़ा है परन्तु उनका सुझाव है कि इसे संशोधित करके 'देवेन' पढ़ा जा सकता है। यही मत दण्डेकर का है। परन्तु यह उनका पूर्वाग्रह मात्र है।

(५) **विष्णुपदगिरि**—विष्णुपदगिरि की, जहां यह स्तम्भ स्थापित कराया गया था, पहिचान कठिन है। आयंगर (ए० इ० सा० इ० हि० क०, १, पृ० १९२–२१०) का विचार था कि देहली के समीप बयाना को प्राचीन काल में 'श्रीपद' कहते थे, इसीलिए हो सकता है स्वयं वह स्थान जहां यह स्तम्भ इस समय विद्यमान है, विष्णुपद कहा जाता रहा हो। यह तथ्य कि भूमि के नीचे स्तम्भ को सहारा देने के लिए उसी लोहे के टुकड़े लगे हैं जिससे यह स्तम्भ बना था (कॉर्पस, ३, पृ० १४१) इस मत का समर्थन करता है। लेकिन इस स्थान को 'गिरि' नाम से पुकारना कठिन है। दूसरे, एक मध्यकालीन अनुश्रुति के अनुसार वर्तमान स्थान पर इस स्तम्भ की स्थापना तोमर नरेश अनंगपाल ने की थी। इस प्रसंग में फिरोजशाह द्वारा अशोक के एक स्तम्भ को टोपरा से दिल्ली लाना उल्लेखनीय है। चक्रवर्ती (ए० बी० ओ० आर० आई०, ८७, पृ० १७२) और जायसवाल (जे० बी० ओ० आर० एस०, १८, पृ० ३२) ने विष्णुपदगिरि को हरिद्वार के समीप स्थित माना था, स्मिथ (जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० १३) ने मथुरा के समीप, जयचन्द्र विद्यालंकार (जे० बी० ओ० आर० एस०, २०, पृ० ९७), ज० च० घोष (आई० सी०, १, पृ० ५१८) और भाण्डारकर (जे० ए० एच० आर० एस०, १०, पृ० ८६) ने पंजाब की पहाड़ियों में विपाशा के समीप तथा दशरथ शर्मा (जे० आई० एच०, १६, पृ० १३) ने अम्बाला जिले में सिधौरा कस्बे के पास। 'रामायण' के एक श्लोक में (२.६८.१८–१९) विष्णुपद, विपाशा तथा शाल्मली को परस्पर निकट स्थित बताया गया है :

> ययुर्मध्येन वाह्लीकान् (=वाहीकान्) सुदामानञ्च पर्वतम् ॥
> विष्णोः पदं प्रेषमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्।

इसी प्रकार 'महाभारत' (३.१३८.८) में विष्णुपद तीर्थ को विपाशा के समीप स्थित बताया गया है :

> एताद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।
> एषा नदी विपाशा च नदी परम पावनी ॥

'महाभारत' के ही एक अन्य श्लोक में 'विष्णुपद' को कुरुक्षेत्र के परे स्थित बताया गया है :

> गत्वा हि श्रद्ध्या युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वहः ।
> ···ततो गच्छेत धर्मज्ञो विष्णोः स्थानमुत्तमम् ॥
> —वनपर्व, ३.७३. ८

(६) मेहरौली स्तम्भ पर जंग न लगने के अनेक कारण सुझाये गये हैं। द्र० उर्मिला अग्रवाल, जे० यू० पी० एच० एस०, एन० एस०, ५, अंक १, पृ० ३७ अ०। बी० जी० पाण्डेय ने ध्यान दिलाया है कि 'बृहत्संहिता' में लोहे को जंग से बचाने के लिये छः प्रकार के लेप बताये गये हैं (वही, ७, अंक २, पृ० ८०–४)।

'चन्द्र' की पहिचान

प्रचलित मतों की समीक्षा—मेहरौली-लेख में उल्लिखित नरेश 'चन्द्र' की पहिचान निर्धारित करने के लिए अब तक अनेक मत रखे जा चुके हैं। आजकल सम्भवतः कोई व्यक्ति स्टीन के इस मत को नहीं मानेगा कि इस नरेश की पहिचान हो ही नहीं सकती (एन० आई० ए०, १, पृ० १९८) और न अब हरिश्चन्द्र सेठ का यह मत ही श्रद्धेय माना जाता है कि विष्णुध्वज (लौह-स्तम्भ) की स्थापना कराने वाला 'चन्द्र' **चन्द्रगुप्त मौर्य** था और इस पर लेख उत्कीर्ण कराया था द्वितीय चन्द्रगुप्त ने (पी० आई० एच० सी०, १९४३, पृ० १२७ अ०)। चन्द्रगुप्त मौर्य के ७०० वर्ष शासन करने वाले गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त को यह मालूम ही कैसे हो सकता था कि इस स्तम्भ की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने कराई थी। और फिर चन्द्रगुप्त मौर्य न तो वैष्णव था, न उसने वाह्लिकों को परास्त किया था और न मेहरौली-लौह-स्तम्भ की कला को ३०० ई० पू० के लगभग की माना जा सकता है। (रमेशचन्द्र मजूमदार ने एक 1 समय यह सुझाव रखा था कि मेहरौली-लेख का 'चन्द्र' प्रथम कनिष्क हो सकता है (जे० आर० ए० एस० बी० एल०, ९, पृ० १७९–८३) क्योंकि एक खोतनी पाण्डुलिपि में कनिष्क को 'चन्द्र कनिष्क नौम' कहा गया है। परन्तु जैसा कि गो० रा० शर्मा ने ध्यान दिलाया है (आई० एच० क्यु०, २१, पृ० २०२ अ०) कनिष्क न तो वैष्णव था, न उसने दक्षिण में कोई सामरिक सफलता अर्जित की थी और न उसने वाह्लिकों को हराया था। वाह्लिक या बैक्ट्रिया प्रदेश तो उल्टे उसका एक प्रकार से मूल निवास स्थान था। अब तो स्वयं मजूमदार अपने इस मत को छोड़कर हमारे सुझाव को स्वीकार कर 'चन्द्र' को समुद्रगुप्त से अभिन्न मानने के पक्ष में हो गए लगते हैं (दे०, मजूमदार, प्राचीन भारत, १९६८ का संस्करण, पृ० २३४, टि०)।

बहुत से विद्वान् 'चन्द्र' को प्रारम्भिक गुप्तकाल में या गुप्तों के ठीक पहिले रखते हैं। 2 रायचौधुरी की धारणा है कि 'चन्द्र' की पहिचान पुराणों में उल्लिखित नागजातीय नरेश **चन्द्रांश अथवा सदाचन्द्र** से करनी चाहिए जबकि हरप्रसाद शास्त्री, राखालदास बनर्जी, विन्सेण्ट स्मिथ व एम० के० भट्टसाली उसे सुसुनिया-लेख में चर्चित **पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मा** मानते हैं और एस० के० आयंगर तथा रा० गो० बसाक उसको गुप्त सम्राट् **प्रथम चन्द्रगुप्त** से अभिन्न बताते हैं (सन्दर्भों के लिए दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० १४७)। इन मतों के स्वीकार में अन्य कठिनाइयों के अतिरिक्त सबसे बड़ी बाधा यह है कि कुषाणोत्तर-युग में समुद्रगुप्त द्वारा साम्राज्य स्थापन तक सारा उत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था जिनका अन्त किए बिना कोई नरेश उन सफलताओं को नहीं पा सकता था जिनको पाने का दावा 'चन्द्र' करता है। स्मरणीय है कि 'चन्द्र' के साम्राज्य में बंगाल से लेकर पंजाब तक का

विस्तृत भूभाग था और बंगाल और सप्तसिन्धु के पार लड़े गए युद्ध उसके साम्राज्य के सीमान्त युद्ध थे। ऐसे विशाल साम्राज्य का स्वामी इनमें कोई भी राजा नहीं था।

अनेक विद्वानों ने चन्द्र को गुप्तोत्तर युग में रखा है, जैसे भाऊदाजी ने। फ्लीट का विचार उसे प्रथम चन्द्रगुप्त से अभिन्न मानने का था, किन्तु उन्होंने हूणराज **मिहिरकुल के किसी अज्ञात अनुज** से भी उसका तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की है (कॉपर्स, ३, पृ० १४०, भू० १२-१३)। लेकिन अब सब पुरालिपिशास्त्री यह मानते हैं कि मेहरौली-लेख की लिपि लगभग ४०० ई० की है। इसे छठी शती ई० के उत्तरार्द्ध तक नहीं घसीटा जा सकता (दे०, पीछे)। बी० सी० सेन का यह सुझाव तो कि 'चन्द्र' पुराणों में उल्लिखित **देवरक्षित वंश का सदस्य** होगा (सम हिस्टोरिकल आस्पेक्ट्स ऑव दि इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव बंगाल, पृ० २०५-७) नितान्त कल्पनाप्रसूत ही है।

3· **द्वितीय चन्द्रगुप्त से पहिचान विषयक मत और उसकी आलोचना**—सर्वश्री का० प्र० जायसवाल, आर० एन० दण्डेकर, रा० कु० मुकर्जी, गंगा प्रसाद मेहता, हॉर्नले, दि० च० सरकार, जी० आर० शर्मा, सु० चट्टोपाध्याय, आर० सी० कर, न० ना० घोष आदि ने 'चन्द्र' की पहिचान **द्वितीय चन्द्रगुप्त** विक्रमादित्य से की है। उनके प्रमाण समवेत इस प्रकार रखे जा सकते हैं: (१) दोनों राजाओं के नाम एक हैं। (२) 'चन्द्र' के समान चन्द्रगुप्त वैष्णव था और (३) पंजाब से लेकर बंगाल तक विस्तृत प्रदेश का स्वामी था (४) यह सर्वथा सम्भव है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने वंग तथा वाह्लिकों के विरुद्ध युद्ध लड़े हों। (५) दक्षिण भारत पर भी उसका प्रभाव था क्योंकि उसने अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह वाकाटक नरेश द्वितीय रुद्रसेन से किया था और साहित्यिक परम्परानुसार कालिदास को दूत बनाकर कुन्तल देश भेजा था।

लेकिन **इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि** (१) 'चन्द्र' ने एकाधिराज्य की स्थापना अपनी भुजाओं के बल से की थी (स्वभुजार्जित एकाधिराज्य) जब कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने बंगाल से लेकर पंजाब तक विस्तृत साम्राज्य अपने पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। (२) द्वितीय चन्द्रगुप्त ने बंगाल को स्वयं नहीं जीता था। यह उसे अपने पिता से उत्तराधिकार में मिला था। (३) द्वितीय चन्द्रगुप्त ने वाह्लिकों के विरुद्ध युद्ध लड़ा इसका भी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। वस्तुतः पश्चिमोत्तर प्रदेश पर उसके प्रभाव का कोई प्रमाण है ही नहीं। (४) 'चन्द्र' ने दक्षिण में सामरिक सफलता अर्जित की थी जबकि द्वितीय चन्द्रगुप्त के दक्षिणी राजाओं से अधिक-से-अधिक राजनीतिक और वैवाहिक सम्बन्धों का प्रमाण मिलता है। (५) द्वितीय चन्द्रगुप्त की एकमात्र ज्ञात सामरिक सफलता पश्चिमी भारत के शक-राज्य की विजय है। लेकिन इस दिशा में 'चन्द्र' ने कोई सफलता प्राप्त की इसका मेहरौली-लेख में संकेत तक नहीं है। इस प्रकार न तो द्वितीय चन्द्रगुप्त की सफलता 'चन्द्र' पर आरोपित हो सकती है और न 'चन्द्र' की सफलताएं द्वितीय चन्द्रगुप्त पर।

४· **'चन्द्र' और समुद्रगुप्त अभिन्न थे**—हमारे विचार से 'चन्द्र' की पहिचान विषयक समस्या अब तक इसलिए नहीं सुलझ पाई है क्योंकि सब विद्वान् उसकी पहिचान किसी ऐसे राजा से करना चाहते हैं जो हमें 'चन्द्र' नाम से ज्ञात हो। परन्तु 'चन्द्र' नामधारी ऐसा कोई राजा भारतीय इतिहास में ज्ञात नहीं है जिस पर इस लेख में वर्णित सभी बातें लागू की जा सकें। इसलिए हमारा सुझाव है कि उसकी पहिचान करने के लिए नाम का सूत्र पकड़ कर चलने के बजाय हमें उसके विषय में ज्ञात अन्य तथ्यों और सफलताओं का सूत्र पकड़ कर चलना चाहिए। प्राचीनकाल में एक ही राजा का अभिलेखों में उल्लेख प्रायः कई-कई नामों से मिलता है। स्वयं द्वितीय चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम देवगुप्त था। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में स्कन्दगुप्त को 'विविधाख्य' कहा गया है। यशोधर्मा का उल्लेख स्वयं उसके अपने ही लेखों में विष्णुवर्द्धन नाम से भी हुआ है। द्वितीय प्रवरसेन वाकाटक का दूसरा नाम दामोदरसेन था। राजपूतकाल के तो एक राजा

के एक से अधिक नामों के अनेक उदाहरण ज्ञात हैं ही (जैसे, मिहिरभोज, महेन्द्रपाल, इत्यादि) । इस तथ्य के प्रकाश में अगर हम 'चन्द्र' की पहिचान उसके नाम के स्थान पर उसकी सफलताओं और उसके विषय में ज्ञात तथ्यों के आधार पर करें तो समस्या सरल हो जाती है । अब हमें यह खोजना मात्र रह जाता है कि लगभग ४०० ई० (जब यह लेख लिखवाया गया) के कुछ पहिले ऐसा कौन सा नरेश है जिसे मेहरौली-लेख में वर्णित सफलताओं को पाने का श्रेय दिया जा सकता है । इसका स्पष्ट उत्तर है—समुद्रगुप्त । **प्रमाण** : (१) समुद्रगुप्त को 'स्वभुजार्जित एकाधिराज्य' स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है । दे०, प्रयाग-प्रशस्ति में उसके द्वारा साम्राज्य-स्थापन का वर्णन । वास्तव में चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद राजपूत-युग तक वही एक मात्र नरेश है जिसके लिए यह दावा किया जा सकता है । (२) उसने बंगाल के चन्द्रवर्मा को उन्मूलित किया और समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल) डवाक (डबोक प्रदेश) तथा कामरूप (असम) को अपना प्रत्यन्त राज्य बनाया था । इसलिए स्पष्टतः उसने वंग को भी अवश्य ही स्वयं जीता होगा । (३) समुद्रगुप्त ने दक्षिण के बारह राजाओं को परास्त कर कम से कम काञ्ची और सम्भवतः केरल तक की यात्रा की । इसलिए दक्षिण-जलनिधि उसके 'शौर्य से सुवासित' कहा जा सकता था । (४) प्रयाग-प्रशस्ति का 'दैवपुत्रषाहि', जिसकी पहिचान हमने पेशावर पर शासन करने वाले कुषाण राजा किदार से की है, समुद्रगुप्त के अधीन था । उसके ऊपर लगभग ३७० ई० में वाह्लिक से आने वाले हूणों ने आक्रमण किया था (दे०, पीछे, श्लोक १, टि० ४) । समुद्रगुप्त अपने अधीन मित्र की सहायतार्थ सप्तसिन्धु को पार कर वाह्लिकों का प्रतिरोध करने गया होगा । बहरहाल, इतना निश्चित है कि पश्चिमोत्तर भारत के विदेशी राजा समुद्रगुप्त के प्रभाव को मानते थे । द्वितीय चन्द्रगुप्त के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता । (५) समुद्रगुप्त वैष्णव था । उसने गरुड़ को अपना राजचिह्न बनाया था । (६) उसने दीर्घकाल तक शासन भी किया था । (७) क्योंकि यह एक मरणोत्तर-लेख है अतः इसको द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में लिखवाया गया होगा और इसलिए इसकी लिपि लगभग ४०० ई० की प्रतीत होती है ।

इन तथ्यों के प्रकाश में समुद्रगुप्त और 'चन्द्र' को एक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । जो लोग 'चन्द्र' नाम पर बहुत बल देते हैं उनके सन्तोष के लिए हम यह ध्यान दिला दें **समुद्रगुप्त का एक अन्य नाम 'चन्द्रप्रकाश'** भी था, ऐसा वामन द्वारा उद्धृत एक श्लोक से ज्ञात होता है । दे०, पीछे, प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति, २७-८, टि० ३) । सर्वश्री वासुदेवशरण अग्रवाल, स्मिथ, मुकर्जी तथा मजूमदार जैसे विद्वान् वामन द्वारा उल्लिखित 'चन्द्रगुप्त के पुत्र चन्द्रप्रकाश' की पहिचान समुद्रगुप्त से ही करते हैं (सन्दर्भों के लिए देखें, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० १५१) । इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त 'चन्द्र' नाम से भी पुकारा जाता था । अतः उसकी पहिचान मेहरौली-लेख के चन्द्र से करना अनुचित नहीं होगा ।

'चन्द्र' और समुद्रगुप्त की अभिन्नता विषयक मत के विरुद्ध दिये गये तर्क—समुद्रगुप्त और मेहरौली-अभिलेख के 'चन्द्र' की अभिन्नता विषयक हमारा सुझाव सर्वप्रथम 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (संवत् २०२१, ६९, पृ० २६१ अ०) में प्रकाशित हुआ । इसके उपरान्त इसका प्रतिपादन हमने पी० ओ० सी० (गोहाटी अधिवेशन, पृ० १५३-६९) में प्रकाशित अपने एक अंग्रेजी निबन्ध एवं अपनी दो पुस्तकों 'ए हिस्टरी ऑव द इम्पीरियल गुप्तज़' (इलाहाबाद, १९६७, पृ० २०१-९) तथा 'प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास' (इलाहाबाद, १९६९, पृ० १४५ अ०) में किया । तब से लेकर अब तक इस पर अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं । डॉ० आर० सी० मजूमदार (प्राचीन भारत, १९६८, पृ० २३४ टि०) ने स्वीकार किया है कि 'चन्द्र' के विषय में ज्ञात सभी तथ्य समुद्रगुप्त पर लागू होते हैं और हमारे इस निष्कर्ष को कि 'चन्द्र' और समुद्रगुप्त एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं, 'युक्तियुक्त' बताते हुए इसकी तरफ अपना झुकाव प्रकट किया है । डॉ० राधेशरण की पुस्तक 'सम्राट् समुद्रगुप्त' (पृ० ९७) में भी इस मत को माना गया है । परन्तु सर्वश्री बी० पी० सिनहा (ए हिस्टरी ऑव बिहार,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पृ० १०२ टि० १६६), एस० एस० राणा (जर्नल ऑव विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इन्स्टीट्यूट ६, १९६८, पृ० १०६ अ०), तेजराम शर्मा (पर्सनल एण्ड ज्योग्रेफिकल नेम्स इन द गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, परिशिष्ट १, पृ० ३०९-१३), एन० पी० जोशी (जर्नल ऑव गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, ३२, १९७६, पृ० २२३-३८) तथा दीनबन्धु पाण्डेय (एन० पी० पी०, ३, पृ० ६१), आदि ने इसके विरुद्ध कुछ आपत्तियां उठाई हैं और 'चन्द्र' की पहिचान द्वितीय चन्द्रगुप्त से करने वाले मत का समर्थन किया है। गुप्तकालीन इतिहास पर हमारे द्वारा सम्पादित एक शीघ्र प्रकाश्य ग्रन्थ में डॉ० लल्लनजी गोपाल एवं कान्ति गोपाल ने भी हमारे मत के विरुद्ध आग्रह किया है कि मेहरौली-लेख के 'चन्द्र' की पहिचान निर्धारित करते समय उस समय राजा का नाम 'चन्द्र' होना एक आवश्यक मूल शर्त है। इन सब विद्वानों के तर्कों को समवेत इस प्रकार रखा जा सकता है: (१) मेहरौली-अभिलेख में इसमें उल्लिखि नरेश का नाम (आह्व) 'चन्द्र' बताया गया है, इसलिये उसकी पहिचान द्वितीय चन्द्रगुप्त से ही की जानी चाहिये जिसे मुद्राओं पर प्रायः मात्र 'चन्द्र' नाम से भी उल्लिखित किया गया है। (२) अगर समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'चन्द्र' होता तब भी मेहरौली-लेख का लेखक इस अपेक्षया अप्रचलित नाम का प्रयोग नहीं करता क्योंकि इससे व्यर्थ में भ्रान्ति उत्पन्न होती है। (३) अगर समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'चन्द्र' था तो अन्य गुप्त अभिलेखों में इसका प्रयोग क्यों नहीं हुआ है? (४) वामन द्वारा उद्धृत श्लोक की टीका में चर्चित चन्द्र-प्रकाश की समुद्रगुप्त के साथ अभिन्नता विवादग्रस्त है। (५) प्रयाग-प्रशस्ति में कहीं भी समुद्रगुप्त द्वारा वाह्लिकों को जीतने का उल्लेख नहीं आता। (६) बंगाल पर गुप्तों का अधिकार सर्वप्रथम प्रथम कुमार-गुप्त के दामोदरपुर, बैग्राम आदि दानपत्रों से ज्ञात होता है, इसलिये यह मानना समीचीन होगा कि इस प्रदेश को द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में जीता गया था। समुद्रगुप्त ने तो बंगाल का मात्र एक भाग—समतट—जीता था। कामरूप और डवाक की विजय से उसकी वंग-विजय सिद्ध नहीं होती। (७) द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा वंग-विजय और वाह्लिक-विजय की सम्भावना के विषय में लल्लनजी गोपाल एवं कान्ति गोपाल का कहना है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को इन विजयों का श्रेय देने के लिये पृथक् स्पष्ट प्रमाण की अपेक्षा करना आवश्यक नहीं है; इन विजयों की ऐतिहासिक सम्भावना ही पर्याप्त है। (८) 'चन्द्र' ने दक्षिण में कोई विजय प्राप्त नहीं की थी, पर उसकी कीर्त्ति वहां तक फैली थी इसके प्रमाण उपलब्ध है। उसकी पुत्री प्रभावती को वाकाटक राज्य के प्रशासन के सञ्चालन में गुप्त अधिकारियों ने सहायता दी थी यह सभी जानते हैं। (९) प्राचीन प्रशस्तिकार थोड़ी-बहुत विजय प्राप्त करने वालों को भी 'स्व-भुजार्जित एकाधिराज्य' की स्थापना का श्रेय देते थे। गिरनार-अभिलेख में प्रथम रुद्रदामा अपने को स्वयं 'अधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना' कहता है और ओगोंडू-दानपत्र में द्वितीय स्कन्दवर्मा के लिये 'स्व-वीर्य-अधिगत-राजस्य-महाराजस्य' पद आया है (१०) समुद्रगुप्त का वैष्णव होना पूर्णतः सिद्ध नहीं है।

आलोचना का उत्तर—लेकिन उपर्युक्त विद्वानों के ये सभी तर्क 'चन्द्र' और समुद्रगुप्त की अभिन्नता को असिद्ध नहीं करते। (१) हमने यह कहीं नहीं कहा है कि मेहरौली-लेख के नरेश को 'चन्द्र' नाम द्वारा नहीं पुकारा गया है। यह तो निर्विवाद तथ्य है कि इस लेख में उसका नाम (आह्व) चन्द्र दिया गया है। हमें यह मानने में भी कभी कोई आपत्ति नहीं थी और न है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को प्रायः 'चन्द्र' कहा जाता था। आजकल की तरह प्राचीन काल में भी व्यक्ति को प्रायः उसके नाम के प्रथम अंश द्वारा ही पुकारा जाता था। इसलिये सिक्कों पर कुमारगुप्त को कुमार, स्कन्दगुप्त को स्कन्द और चन्द्रगुप्त को चन्द्र कहा गया है। हमने इस प्रसंग में जिस तथ्य पर बल दिया है वह सर्वथा भिन्न है। वह यह है: मेहरौली-अभिलेख के राजा की पहिचान उसके नाम से करना सम्भव नहीं है। अगर उसे उसके नाम से पहिचाना जा सका होता तो इस विषय में इतना विवाद ही नहीं होता। इसलिये हमने सुझाव रखा है कि उसकी पहिचान करते समय नाम का सूत्र नहीं उसकी उपलब्धियों का सूत्र पकड़ कर विचार करना

चाहिए। उसकी उपलब्धियां बहुत बड़ी, विशिष्ट और महत्वपूर्ण थीं। उनकी पुनरावृत्ति अनायास नहीं हो सकती थी। प्राचीन भारत के इतिहास में ऐसे राजा हुए ही कितने हैं जो पूर्व में बंगाल तक, उत्तर-पश्चिम में वाहि्लकों पर और दक्षिण में समुद्र तक विजय प्राप्त कर पाये हों और अपनी भुजाओं के बल से 'एकाधिराज्य' की स्थापना करने का दावा कर सके हों? ऐसी स्थिति में अगर हम यह पाते हैं कि प्राचीन भारत में राजाओं के एक से अधिक नाम प्रायः हुआ करते थे तो यह आग्रह करना हमें पूर्णतः तर्कसंगत लगता है कि मेहरौली-लेख के चन्द्र की पहिचान हमें उसके नाम के बजाय उपलब्धियों के आधर पर करने का प्रयास करना चाहिये क्योंकि सम्भव है यह राजा इतिहास में किसी अन्य नाम से विख्यात हो गया हो। इस प्रसंग में ये प्रश्न उठाना कि मेहरौली-लेख के कवि ने उसके प्रचलित नाम के बजाए उसका अपर नाम प्रयुक्त क्यों किया और अन्य गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त के दूसरे नाम का प्रयोग क्यों नहीं मिलता, एकदम व्यर्थ हैं। ऐसे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं होता। क्या कोई बता सकता है कि अशोक के अभिलेखों में एक-दो अपवादों को छोड़कर, उसका अपर नाम 'प्रियदर्शी' क्यों प्रयुक्त है (अब यह निश्चित है कि 'प्रियदर्शी' नाम है, उपाधि नहीं—दे०, गोयल, भारतीय अभिलेख संग्रह, १, पृ० ३५)। इसी प्रकार, क्या कोई बता सकता है कि स्वयं द्वितीय चन्द्रगुप्त के दौहित्र द्वितीय प्रवरसेन वाकाटक के अभिलेखों में उसका प्रचलित नाम चन्द्रगुप्त प्रयुक्त न करके अपेक्षया अप्रचलित नाम देवगुप्त क्यों प्रयुक्त किया गया है? इससे आधुनिक काल में भी बड़ी भ्रान्ति फैली और फ्लीट बराबर यही मानते रहे कि द्वितीय प्रवरसेन परवर्ती गुप्तवंश के शासक देवगुप्त (७वीं शती का उत्तरार्द्ध) का दौहित्र था। बाद में प्रभावती के दानपत्र प्रकाशित होने के बाद ही यह सिद्ध हो पाया कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ही द्वितीय प्रवरसेन का नाना देवगुप्त था। इसलिए हमारा आग्रह है कि मेहरौली-लेख के 'चन्द्र' की पहिचान करते समय अगर हम उसके नाम का सूत्र पकड़ कर समस्या को नहीं सुलझा पा रहे हैं तो हमें उसके विषय में ज्ञात तथ्यों पर विचार करके उसको पहिचानने का प्रयास करना चाहिए।

(२) जहां तक वामन द्वारा उद्धृत श्लोक की टीका में चर्चित चन्द्रप्रकाश को समुद्रगुप्त मानने का प्रश्न है हम अपने पुराने कथन को दोहराना चाहेंगे: 'हमारा सुझाव (कि 'चन्द्र' और समुद्रगुप्त अभिन्न हैं) वामन के साक्ष्य पर निर्भर नहीं है। अगर हमें कहीं यह उल्लिखित न भी मिले कि समुद्रगुप्त का दूसरा नाम चन्द्रप्रकाश भी था तब भी **उसकी तथा 'चन्द्र' की निकट समकालीनता और दोनों की विशिष्ट उपलब्धियों के सादृश्य** के आधार पर उन्हें एक मानना चाहिए।' वामन के साक्ष्य से तो मात्र यह संकेत मिलता है कि समुद्रगुप्त वस्तुतः 'चन्द्र' नाम से भी विख्यात था। हमारा उद्देश्य वामन के साक्ष्य का सहारा लेकर समुद्रगुप्त और मेहरौली-लेख के 'चन्द्र' की अभिन्नता सिद्ध करने का न था और न है।

(३) समुद्रगुप्त ने वाहि्लकों को जीता था इसका उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में नहीं है परन्तु इसमें कम से कम उत्तर-पश्चिम में 'दैवपुत्र-षाहिषाहानुषाहि' पर उसके प्रभाव का वर्णन तो है ही। द्वितीय चन्द्रगुप्त का तो इस प्रदेश पर प्रभाव तक किसी साक्ष्य से ज्ञात नहीं होता। हमें इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि जो विद्वान् विशुद्ध कल्पना का सहारा लेकर द्वितीय चन्द्रगुप्त को वाहि्लकों को हराने का श्रेय देने को प्रस्तुत हैं वे समुद्रगुप्त को इस सफलता का श्रेय देने के लिये प्रयाग-प्रशस्ति से भी अधिक विश्वसनीय प्रणाम मांगते हैं।

(४) यही बात 'चन्द्र' की वंग-विजय के विषय में है। यह कहना निश्चय ही हठवादिता है कि समुद्रगुप्त ने बंगाल नहीं जीता था। उसके द्वारा उन्मूलित चन्द्रवर्मा निश्चय ही पश्चिमी बंगाल के सुसुनिया-लेख में उल्लिखित चन्द्रवर्मा है। दूसरे, अगर समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल), डवाक और कामरूप (दोनों आधुनिक असम में) समुद्रगुप्त के प्रत्यन्त राज्य थे तो पूर्वी और उत्तरी बंगाल की विजय समुद्रगुप्त ने की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

होगी। इसमें शंका करना भूगोल को विस्मृत कर देना है। इसके विपरीत यह विश्वास कि बंगाल को द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में गुप्त साम्राज्य में मिलाया गया था या उसने बंगाल में हुए विद्रोह का दमन किया था, विशुद्ध कल्पना पर आधृत है।

(५) लल्लनजी गोपाल एवं कान्तिगोपाल का कहना है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त की इन सफलताओं के लिए किसी समर्थक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, स्वयं मेहरौली-लेख का प्रमाण पर्याप्त है। प्राचीन भारतीय इतिहास में सब तथ्यों के लिये समर्थक प्रमाण नहीं मिल पाते। लेकिन यह सिद्धान्त उन साक्ष्य पर ही लागू हो सकता है जो विवादहीन और स्वयंसिद्ध हैं—जैसे प्रयाग-प्रशस्ति, जिसके विषय में यह शंका नहीं की जा सकती कि इसमें समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन है। परन्तु मेहरौली-प्रशस्ति जैसे अभिलेखों के विषय में ऐसा दावा करना बड़ा खतरनाक सिद्ध होगा। आखिर यह सिद्ध करने के लिये तो डॉ० गोपाल को प्रमाण देना होगा ही कि वह मेहरौली-लेख के चन्द्र को प्रथम चन्द्रगुप्त न मानकर द्वितीय चन्द्रगुप्त क्यों मानते हैं? और यह वह तभी कर सकते हैं जब वह इस लेख में प्रदत्त तथ्यों को द्वितीय चन्द्रगुप्त पर आरोपित करने के लिये प्रमाण दें।

(६) जहां तक दक्षिण का सम्बन्ध है, मेहरौली-प्रशस्ति की भाषा से स्पष्ट है कि इसका कवि यहां भी चन्द्र की सामरिक सफलताओं का उल्लेख कर रहा है। इस कथन का कि "दक्षिण जलनिधि 'चन्द्र' के 'शौर्य' की पवन से आज भी सुवासित हो रहा है," और क्या आशय हो सकता है? इसकी व्याख्या यह कह कर करना कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती को वाकाटक राज्य के सञ्चालन में सहायता दी थी, कदापि सम्भव नहीं है। हमें तो इस बात में भी शंका है कि चन्द्रगुप्त ने प्रभावती की सहायता के लिये गुप्त पदाधिकारी भेजे थे या नहीं। इसका एक मात्र आभिलेखिक संकेत प्रभावती के रिथपुर और पूना दानपत्रों में (१) गुप्त वंशावली का उल्लेख एवं (२) उसके पूना दानपत्र में उत्तर भारतीय लिपि का कुछ प्रभाव है। परन्तु इन लेखों के प्रारूप तैयार करने में अगर गुप्त पदाधिकारियों का सहयोग रहा होता तो इनमें प्रयुक्त गुप्त वंशावली में अशुद्धियां क्यों होंती (यथा, रिथपुर-दानपत्र में प्रथम चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त को मात्र 'महाराज' उपाधि दिया जाना, दोनों लेखों में समुद्रगुप्त के विरुदों का द्वितीय चन्द्रगुप्त पर आरोपण, आदि)? पूना-दानपत्र की लिपि में उत्तर भारतीय लिपि का प्रभाव होने से मात्र इतना निश्चित होता है कि इसको उकेरने वाला उत्तर भारत का निवासी था। इससे यह कहां सिद्ध होता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने वाकाटक प्रशासन के सञ्चालन के लिये अपने साम्राज्य के पदाधिकारी भेजे थे? ताम्रपट्टों पर लेख उकेरने वाले उच्च पदाधिकारी नहीं होते।

(७) कहा गया है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को 'स्वभुजार्जित एकाधिराज्य' स्थापित करने का श्रेय दिया जा सकता है क्योंकि समुद्रगुप्त की मृत्यूपरान्त जब साम्राज्य की जड़ें हिल गई थीं तब उसने अपने बल और नीति से उसे पुनः स्थायित्व प्रदान किया। लेकिन इस कल्पना के लिये प्रमाण कहां हैं? उसके शासनकाल के अभिलेख उसकी सामरिक गतिविधि पर बिलकुल मौन हैं। यह मान्यता कि 'स्वभुजार्जित एकाधिराज्य' स्थापित करने का दावा वैसा ही है जैसा प्रथम रुद्रदामा द्वारा स्वयं महाक्षत्रप उपाधि धारण कर लेने का उल्लेख—बड़ी ही विचित्र है। इन दोनों बातों में गुणात्मक अन्तर है। प्रथम रुद्रदामा के इस कथन में मात्र एक उपाधि धारण किये जाने का उल्लेख है। इसके विपरीत चन्द्र के विषय में प्रयुक्त पद 'स्वभुजार्जित एकाधिराज्य' में न केवल एक विशाल साम्राज्य की स्थापना का दावा किया गया है वरन् वंग तथा वाह्लिकों के विरुद्ध युद्ध लड़ने का उल्लेख करके 'एकाधिराज्य' की सीमाएं भी बताई गई हैं।

(८) यह कहना कि समुद्रगुप्त के वैष्णव होने से द्वितीय चन्द्रगुप्त के वैष्णव होने के प्रमाण अधिक हैं, निरर्थक तर्क है। यह सिद्ध करने के लिये कि समुद्रगुप्त वैष्णव था उसके द्वारा भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ को अपना राजचिह्न बनाया जाना ही पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त गया और नालन्दा अभिलेखों में

उसे 'परमभागवत' भी कहा गया है (दे०, पृ० ७४)।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में हमें यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि हमारा यह सुझाव कि मेहरौली-लेख में समुद्रगुप्त की कीर्त्ति वर्णित है, इस समस्या का सर्वोत्तम समाधान है।

अभिलेख का महत्व

मेहरौली-अभिलेख गुप्त काल का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिलेख है। यह प्रकृत्या एक प्रशस्ति है और वैष्णव धर्म से सम्बन्धित है। इसका महत्व विशेषत: राजनीतिक दृष्टि से है क्योंकि इससे इसमें उल्लिखित नरेश 'चन्द्र' अर्थात् समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाएं ज्ञात होती हैं। इससे पता चलता है कि उस नरेश ने पूर्व में बंगाल, उत्तर-पश्चिम में सप्तसिन्धु तथा दक्षिण में हिन्द महासागर तक विजय यात्रा की थी। उसके द्वारा वाह्लिकों को परास्त करने का उल्लेख तो मात्र इसी अभिलेख में मिलता है। दि० च० सरकार (स० इ०, पृ० २८४, टि० १, स्टडीज इन ज्योग्रफी०, पृ० १ अ०) का कहना है कि इस वर्णन में सत्य का कुछ अंश हो सकता है परन्तु यह शब्दशः सही न होकर चक्रवर्ती-क्षेत्र की उस आदर्शभूत कल्पना का एक उदाहरण है जिसके अनुसार उत्तर में हिमालय, दक्षिण में सिंहल, मलय अथवा महेन्द्र पर्वत, रामेश्वरम् या दक्षिण पयोधि, पूर्व में पूर्वी समुद्र, उदयाचल अथवा लौहित्य नदी तथा पश्चिम में पश्चिम पयोधि अथवा मन्दार पर्वत तक विस्तृत प्रदेश चक्रवर्ती राजा के साम्राज्य का क्षेत्र माना जाता था। सरकार के अनुसार इस लेख में इस काल्पनिक क्षेत्र की सीमायें पूर्व में वंग, पश्चिम में 'सप्तमुखानिसिन्धोः', उत्तर में वाह्लिक और दक्षिण में दक्षिण जलनिधि बताई गई हैं। परन्तु इस अभिलेख का वर्णन अत्यन्त तथ्यात्मक है, काल्पनिक नहीं। सरकार जैसे विद्वानों को इसमें कल्पना का पुट इसलिए मानना पड़ता है क्योंकि वह 'चन्द्र' की पहिचान द्वितीय चन्द्रगुप्त से करते हैं जिसके द्वारा इस लेख में वर्णित सफलताएं प्राप्त किये जाने का कोई प्रमाण है ही नहीं। अगर इस लेख के 'चन्द्र' को समुद्रगुप्त माना जाए तो इसके वर्णन को काल्पनिक मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, यह पूर्णतः याथार्थिक लगेगा। दूसरे, ध्यान रखना चाहिए कि इस लेख में 'सप्तमुखानिसिन्धोः' का उल्लेख देश या साम्राज्य की पश्चिमी सीमा के रूप में नहीं वरन् वाह्लिकों को परास्त करने के लिए जाने वाले मार्ग के रूप में हुआ है।

मेहरौली-अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य को चौथी शती ई० के उत्तरार्द्ध में वाह्लिकों से संकट उत्पन्न हुआ था जिसे 'चन्द्र' ने दूर किया। मध्य एशिया की पृष्ठभूमि में इस लेख के साक्ष्य का अध्ययन करके वाह्लिकों की पहिचान श्वेत हूणों से करने का सुझाव सम्भवतः सर्वप्रथम हमने ही रखा था (दे०, गोयल, पी० ओ० सी०, गोहाटी अधिवेशन, पृ० १५३-६८; हि० इ० गु०, १९६७, पृ० १७५-८०; प्रा० भा० रा० इ०, १९६९, पृ० १३७-९)। अब इस मत को शनैः शनैः स्वीकार किया जाने लगा है (दे०, पी० आई० एच० सी०, १९७७, पृ० ३८३ अ०)। इस प्रकार यह अभिलेख भारत पर हुए प्रथम हूण आक्रमण का उल्लेख करता है।

मेहरौली-लेख का रचयिता एक अज्ञात कवि है। पं० चट्टोपाध्याय और उनका अनुसरण करते हुए उदयनारायण राय ने उसकी पहिचान उदयगिरि-लेख में उल्लिखित वीरसेन नामक मन्त्री से की है। लेकिन यह उनका मात्र अनुमान है। यह लेख इतना छोटा है कि इससे कवि की पूर्ण प्रतिभा का परिचय मिलने की आशा नहीं की जा सकती। लेकिन अपनी लघुता के बावजूद यह प्रसाद गुण और वैदर्भी तथा पाञ्चाली रीति के छोरों को छूता प्रतीत होता है। इसके कवि की समस्या है एक महान् नरेश की दिग्विजय का संक्षेप में वर्णन करना। सरल तथा असमस्त या लघु समस्त पदों का प्रयोग करके उसने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ भाषा के प्रवाह को बनाए रखा है। राजा का स्वर्ग प्राप्त करने के उपरान्त भी कीर्त्ति

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रूपी शरीर से पृथिवी पर बने रहना और उसके शत्रुओं के विनाश के उपरान्त भी उसके प्रताप का भूमण्डल को नहीं छोड़ना, ये दोनों उक्ति वैचित्र्य हृदय को छूने वाले हैं। इसके तीनों श्लोक शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में है। प्रथम श्लोक में राजा के शौर्य पर अनिल का आरोपण है और दूसरे में 'चन्द्र' के स्वर्गगामी होने की उत्प्रेक्षा इस प्रकार की गई है मानो वह पृथिवी का भार वहन करते-करते थके हुए के समान लोकान्तर-गामी हो गया है। इसी स्थल पर राजा के प्रताप की उपमा महावन को जला डालने वाली अग्नि से दी गई है और अन्तिम श्लोक में चन्द्र की मुखश्री की उपमा समग्र अर्थात् पूर्ण चन्द्र से। इस प्रकार मात्र तीन श्लोक में कवि ने रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा जैसे अर्थालंकारों का प्रयोग कर अलंकार-शास्त्र से अपना पर्याप्त परिचय प्रकट कर दिया है।

रामगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगप्त (ज्ञात तिथियां ३७६ ई०–४१३ ई०) के शासन काल के अभिलेख

समुद्रगुप्त के उपरान्त शासन करने वाले गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त (ज्ञात तिथियाँ ३७६ से ४१३ ई०) को अपने अग्रज रामगुप्त के विद्रोह का सामना करना पड़ा था । रामगुप्त के अब तीन जैन प्रतिमा-अभिलेख विदिशा के समीपस्थ दुर्जनपुर ग्राम से उपलब्ध हैं, स्वयं चन्द्रगुप्त के अब तक ध्रुवस्वामिनी की वैशाली मुहर सहित ८ लेख मिले हैं । उसके गढ़वा प्रस्तर-लेख को अभी तक विद्वान् एक ही लेख बताते आये हैं परन्तु हमें ये स्पष्टतः दो अभिलेख लगते हैं जो अलग-अलग तिथियों को लिखे गये थे ।

रामगुप्त के अभिलेख

१—३ : दुर्जनपुर तिथिविहीन जैन प्रतिमा-अभिलेख

द्वितीय चन्द्रगुप्त के अभिलेख

१—मथुरा पाषाण-स्तम्भ लेख : गु० स० का वर्ष ६१ व शासन का वर्ष ५
२—उदयगिरि गुहा-लेख : वर्ष ८२
३—तिथिविहीन गढवा प्रस्तर-अभिलेख
४—गढवा प्रस्तर-अभिलेख : वर्ष ८८
५—साञ्ची प्रस्तर-अभिलेख : ९३
६—उदयगिरि तिथिविहीन गुहा-लेख
७—मथुरा तिथिविहीन प्रस्तर-अभिलेख
८—ध्रुवस्वामिनी की वैशाली-मुहर

(इनके अतिरिक्त मेहरौली से प्राप्त लौह-स्तम्भ-अभिलेख को भी अधिकांश विद्वान् द्वितीय चन्द्रगुप्त का मानते हैं, परन्तु जैसा कि हमने पीछे दिखाया है, इस अभिलेख में सम्भवतः समुद्रगुप्त का वर्णन है) ।

रामगुप्त के दुर्जनपुर (विदिशा) तिथिविहीन जैन-प्रतिमा अभिलेख

लेख-परिचय—आधुनिक वेसनगर, प्राचीन विदिशा, **स्थल** से दो मील दूर स्थित दुर्जनपुर नामक ग्राम से एक खेत को बुलडोजर से साफ करते समय तीन जैन प्रतिमाएं प्राप्त हुई थीं। बुलडोजर से टकराने के कारण इनके ऊपरी व पार्श्व भाग कुछ खण्डित हो गए हैं। ये आजकल विदिशा-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनकी चरणचौकी (पादमूल) पर गुप्तकालीन लिपि में इन प्रतिमाओं को बनवाने वाले 'महाराजाधिराज' रामगुप्त का उल्लेख है। लेकिन इनमें इसकी वंशावली या **तिथि नहीं** दी गई है। मूर्तियों की चरण चौकियों पर अभिलेखों के मध्य चक्र बना है और दोनों ओर सिंहों की आकृतियां हैं। रामगुप्त ने ये मूर्तियां क्षपण चेल्ल के उपदेश को मानकर बनवाई थीं। प्रथम प्रतिमा अर्हत् चन्द्रप्रभ की है, द्वितीय अर्हत् पुष्पदन्त की और तीसरी सम्भवतः पद्मप्रभ की। इन तीनों में केवल प्रथम लेख ही सम्पूर्णतः पठ्य है, दूसरे की तीसरी पंक्ति अंशतः और चौथी सम्पूर्णतः नष्ट हो गई है। तीसरे लेख के तो कुछ ही शब्द पढ़े जा सकते हैं। लेकिन ये लेख मूलतः लगभग एक से रहे होंगे यह स्पष्ट है। इन लेखों की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** दक्षिणी वर्ग की गुप्तकालीन ब्राह्मी। जी० एस० गायि तथा के० डी० बाजपेयी के अनुसार इनके अक्षर द्वितीय चन्द्रगुप्त के गु० स० ९३ के साञ्ची-अभिलेख के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। गायि ने कुछ अक्षरों, जैसे 'य', 'र', 'ल', तथा 'ह' को, समुद्रगुप्त के एरण-लेख जैसा भी बताया है। (दे०, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २३१)। यही विश्वास वी० वी० मिराशी का है। अतः ये विद्वान् इन लेखों को लिपिशास्त्रीय दृष्टि से चौथी शती ई० के उत्तरार्द्ध का मानने को प्रस्तुत हैं। इसके विपरीत सरकार को इन लेखों के कुछ अक्षरों की (यथा 'भगवतो' में 'व', 'चन्द्रप्रभ' में 'च', 'प' तथा 'क्षमण' में अधोलिखित 'ष' की) बनावट साञ्ची-लेख के अक्षरों की बनावट से काफी बाद की लगती है। वह इस लेख को लिपिशास्त्रीय दृष्टि से छठी शती ई० के पूर्वार्द्ध का मानते हैं। **वर्तनी** की दृष्टि से 'सर्प्पसेन' में 'र' के संयोग में अनुवर्ती 'प' का द्वित्व तथा 'चन्द्रप्रभ', 'पुष्पदन्त' तथा 'चन्द्रक्षमा' में सही आनुनासिक का प्रयोग उल्लेख्य हैं।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इन प्रतिमा-लेखों की प्राप्ति की घोषणा मार्च १९६९ में हुई (दे०, दि हिन्दुस्तान टाइम्स्, मार्च १८, १९६९)। जी० एस० गायि ने इन्हे जे० ओ० आर०, १८, अंक, ३, पृ० २४७ अ० तथा इ० आई०, ३८, पृ० ४६–५० में सम्पादित किया है। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध :—मिराशी, स्टडीज इन इण्डियन एपिग्राफी, मैसूर, ३, पृ० २६–३४; वा उपाध्याय, गु० अ० पृ० १२८; सरकार, जे० ए० आई० एच०, ३, पृ० १४५–५१; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २३१–३४।

मूलपाठ

प्रथम प्रतिमा-लेख

१ भगवतोऽर्हतः चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता म-

२ हाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपा-
३ त्रिक चन्द्रक्षमाचार्य्य क्षम (प) ण-श्रमण-प्रशिष्य (स्य) चा-
४ र्य्य सर्प्पसेनक्षम (प) ण शिष्यस्य गोलक्यान्त्या
(:) सत्पू(त्पु)त्रस्य चेल्ल क्षम(प)णस्येति ॥

द्वितीय प्रतिमा-लेख

१ भगवतोऽर्हतः पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता म-
२ हाराजाधिराज श्रीरामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक
३ चन्द्र क्षम(प) [णाचा] र्य्य [क्षम(प)ण]-श्रमण प्रशि[ष्य]— —
४ — — — — — — — — — — — — — — — — —ति

तृतीय प्रतिमा-लेख

१ भगव[तो]र्हं[तः] [पद्म] प्रभस्य प्रतिमेयं[का]रिता महा[राजा]धिरा[ज]-
२ श्री[रामगुप्ते]न उ[पदेशात्] [पा]णि [पात्रि]— — — — — — — —
३ — — — — — — — — — — — — — — — — — —
४ —

पाठ टिप्पणी—प्रथम लेख-पंक्ति ३: 'क्षमा०' के अक्षर कुछ धूमिल हो गये हैं। बाजपेयी तथा गायि 'चेल्ल' को 'चेलु' पढ़ते हैं। पंक्ति ४: गायि ने 'सत्पूत्र' को 'सत्पुत्र' पढ़ा है। द्वितीय-लेख—पंक्ति ३ : इसमें 'चन्द्रक्षमणाचार्य' पाठ है जबकि प्रथम लेख में 'चन्द्रक्षमाचार्य' पाठ है।

अनुवाद

प्रथम लेख

भगवान् अर्हत् चन्द्रप्रभ की यह प्रतिमा महाराजाधिराज श्री रामगुप्त द्वारा पाणिपात्रिक-आचार्य क्षपण श्रमण चन्द्रक्षमा के प्रशिष्य, आचार्य सर्पसेन के शिष्य, गोलक्यान्ति सत्पुत्र क्षमण चेल्ल के उपदेश से बनवाई गई।

द्वितीय लेख

भगवान् अर्हत् पुष्पदन्त की यह प्रतिमा महाराजाधिराज श्री रामगुप्त द्वारा पाणिपात्रिक आचार्य क्षपण श्रमण चन्द्रक्षमण के प्रशिष्य— — — — — — — —के उपदेश से बनवाई गई।

तृतीय लेख

भगवान् अर्हत् पद्मप्रभ की यह प्रतिमा महाराजाधिराज श्री रामगुप्त द्वारा पाणिपात्रिक— — — — — — —बनवाई गई।

व्याख्या

(१) **पाणिपात्रिक**=पाणि अर्थात् हाथ ही पात्र हो जिसका। तु०, आधुनिक काल में प्रचलित करपात्री उपाधि।

(२) **क्षमण**=प्राकृत खमण=संस्कृत का क्षपण अथवा क्षपणक।

(३) **'चेल्ल'** का शाब्दिक अर्थ है 'शिष्य'। तु०, हिन्दी का 'चेला' शब्द। कहना कठिन है कि 'चेल्ल क्षमण' को विशेषत: 'गोलक्यान्ति का सत्पुत्र' रूप में वर्णित करने का उद्देश्य क्या है।

(४) **प्रशिष्य**—अभिलेख की भाषा का शाब्दिक अर्थ होगा कि आचार्य सर्पसेन आचार्य चन्द्रक्षमा के प्रशिष्य थे। परन्तु ऐसा लगता है कि यहां लेखक ने असावधानीवश 'प्रशिष्य' में षष्ठि विभक्ति का प्रयोग नहीं किया है। अगर यहां लेख का पाठ 'प्रशिष्यस्य' माना जाय तब क्षपण चेल्ल को आचार्य चन्द्रक्षमा का शिष्य माना जा सकता है। यह विकल्प सही लगता है।

(५) इन अभिलेखों से रामगुप्त का जैन धर्म के प्रति आदरभाव तो प्रकट होता है, उसका व्यक्ति रूप से जैन होना प्रमाणित नहीं होता—उसी प्रकार जैसे सारनाथ बौद्ध प्रतिमा लेखों से द्वितीय कुमारगुप्त और बुधगुप्त का बौद्ध होना प्रमाणित नहीं होता।

अभिलेखों का महत्व

रामगुप्त और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की कथा—रामगुप्त के विदिशा से प्राप्त ये अभिलेख लघु होने के बावजूद अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनसे गुप्त इतिहास में रामगुप्त की समस्या पर नया प्रकाश मिला है। गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त (लग० ३५०–७६ ई०) के उत्तराधिकारी के रूप में उसके पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त (३७६–४१४ ई०) का उल्लेख है। लेकिन विशाख के द्वारा लिखित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक के उपलब्ध अंशों से, जो अब से लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रकाश में आये, रामगुप्त नामक राजा का अस्तित्व ज्ञात हुआ जिसके छोटे भाई का नाम चन्द्रगुप्त और पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। राखालदास बनर्जी ने इस रामगुप्त का द्वितीय चन्द्रगुप्त का बड़ा भाई मानकर यह प्रतिपादित किया कि रामगुप्त ने समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त के मध्य कुछ समय शासन किया था। बाद में उसे द्वितीय चन्द्रगुप्त ने मार डाला, सिंहासन पर अधिकार कर लिया एवं उसकी विधवा रानी ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के प्रकाश में आने के उपरान्त मिराशी, सालेटोर, जायसवाल, अल्तेकर, भाण्डारकर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने इस दिशा में खोज की और रामगुप्त-कथा के बहुत से सूत्र बाण के 'हर्षचरित', 'हर्षचरित' की शंकरार्य द्वारा लिखित टीका, राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' तथा राष्ट्रकूटों के सञ्जन-, कैम्बे- व सांगली-दानपत्रों में तथा इस कथा का पूर्ण रूप अबुलहसनअली की 'मजमल-उत्-तवारीख' में खोज निकालने में सफलता पाई। लेकिन रायचौधुरी, बसाक, मुखर्जी एवं सरकार आदि अनेक विद्वान् रामगुप्त को ऐतिहासिक नरेश मानने से इंकार करते रहे।

रामगुप्त की ऐतिहासिकता के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों की समीक्षा—रामगुप्त की ऐतिहासिकता न मानने वाले विद्वानों का कहना है कि रामगुप्त-कथा का उल्लेख करने वाले सब साक्ष्य परस्पर विरोधी हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। रामगुप्त-कथा पर प्रकाश देने वाले साक्ष्य परस्पर विरोधी नहीं, एक दूसरे के पूरक हैं। (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० १५९ अ०)। केवल 'काव्यमीमांसा' में प्रदत्त सूचना का अन्य साक्ष्य से कुछ विरोध है। परन्तु इसका कारण राजशेखर का अज्ञान हो सकता है। रामगुप्त की ऐतिहासिकता के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि गुप्त वंशावलियों में उसका नाम नहीं मिलता। लेकिन अन्य गुप्त राजाओं के अभिलेखों में रामगुप्त का नाम इसलिए नहीं मिलता क्योंकि उनमें वंशावली पिता-पुत्र परम्परानुसार लिखी जाती थी। रामगुप्त के उपरान्त शासन किया द्वितीय चन्द्रगुप्त के वंशजों ने, इसलिए गुप्त वंशावली में रामगुप्त का नाम नहीं है,) ठीक वैसे ही जैसे पुरुगुप्त के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में स्कन्दगुप्त का नाम नहीं मिलता। रामगुप्त की ऐतिहासिकता के विरोधियों का यह भी कहना है कि रामगुप्त-कथा में द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा वेताल-साधना का उल्लेख है जिसके कारण यह भूत-

प्रेत की कहानी लगती है। लेकिन प्राचीन भारतीय लेखक और राजा अगर वेताल-साधना में विश्वास करते थे तो क्या इससे उनकी ऐतिहासिकता संदिग्ध मान लेनी चाहिये ? यह तो कुछ वैसी ही बात हुई जैसे कोई यह कहे कि जूलियस सीजर ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था क्योंकि शेक्सपीयर के 'जूलियस सीजर' नाटक में जूलियस सीजर की आत्मा के आने का उल्लेख है। रामगुप्त की ऐतिहासिकता में सन्देह का एक कारण द्वितीय चन्द्रगुप्त के द्वारा अपनी विधवा भाभी ध्रुवदेवी से विवाह करने का उल्लेख माना गया है। निश्चय ही उसका यह कार्य तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध था। परन्तु हमारे विचार से यह तथ्य कि उसके इस कार्य की प्राचीनकाल में घोर निन्दा हुई (दे०, राष्ट्रकूटों के उपर्युक्त लेख) इस बात का सबल संकेत माना जाना चाहिए कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने यह 'अपराध' करके सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन अवश्य किया था। अगर वह ऐसा न करता तो इस घटना को लेकर प्राचीनकाल में ही उसकी आलोचना न हुई होती।

रामगुप्त की ऐतिहासिकता के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठाई गई थी कि उसके सिक्के नहीं मिलते। २ किसी राजा के सिक्के न मिलना बहुत बड़ी बात नहीं है, विशेषतः उस स्थिति में जबकि उसने कुछ ही समय शासन किया हो। आखिर बुधगुप्त के, जिसने कम से कम बीस वर्ष शासन किया, सोने के केवल तीन सिक्के मिले हैं और भानुगुप्त का अभी तक एक भी सिक्का नहीं मिला है)। परन्तु अब रामगुप्त के ताम्बे के बहुत से सिक्के पूर्वी मालवा से उपलब्ध हो गए हैं। बाजपेयी ने इन्हें सिंह, गरुड़, 'बॉर्डर लीजेण्ड' तथा गरुड़ध्वज प्रकारों में बांटा है। (यह तथ्य रोचक है कि सिंह प्रतीक का प्रयोग रामगुप्त के प्रस्तुत अभिलेखों तथा ध्रुवस्वामिनी की, जो रामगुप्त की पत्नी रही थी, वैशाली मुहर पर भी मिलता है)। लेकिन इन सिक्कों की उपलब्धि के बाद भी सरकार (स्टडीज इन इण्डियन क्वायन्स्, पृ० २२७), बी० एस० वाककर (आई० एन० सी०, १०, अंक १-२, १९७२, पृ० ११-१४) आदि कुछ विद्वान् रामगुप्त को गुप्त सम्राट् मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। वे कहते हैं कि यह रामगुप्त पूर्वी मालवा का कोई स्थानीय राजा रहा होगा। लेकिन इन सिक्कों में कुछ पर गरुड़ध्वज और गरुड़ का अंकन उनकी शंका को दुर्बल बनाने वाला है।

रामगुप्त की ऐतिहासिकता के विरुद्ध यह शंका भी उठाई जाती थी कि उसके अपने अभिलेख भी ३ नहीं मिलते। यह आपत्ति भी अपने आप में बहुत बड़ी नहीं थी क्योंकि किसी राजा के अभिलेख मिलना संयोग की ही बात होती है। प्रथम तीन गुप्त नरेशों ने करीब ५० वर्ष शासन किया परन्तु उनका एक भी लेख नहीं मिलता)। पुरुगुप्त, तृतीय चन्द्रगुप्त, तृतीय कुमारगुप्त आदि का भी कोई लेख अभी तक नहीं मिला है। (लेकिन अब रामगुप्त के ये अभिलेख मिल जाने से, जो गुप्तकाल लिपि में लिखे हैं और उसे स्पष्टतः 'महाराजाधिराज' कहते हैं, उसकी ऐतिहासिकता प्रश्नातीत रूप से स्वीकार कर ली जानी चाहिए)। भाण्डारकर, मिराशी और गायि ने इससे यही निष्कर्ष निकाला है।

इन लेखों के रामगुत को चन्द्रगुप्त का भाई मानने के विरुद्ध सरकार के तर्कों की समीक्षा—लेकिन सरकार महोदय रामगुप्त की ऐतिहासिकता को अब भी शंकाग्रस्त ही मानते हैं। मजूमदार को भी रामगुप्त की ऐतिहासिकता में अभी शंका है (को० हि० इं०, ३, भाग १, पृ० ४६-५२)। सरकार का कहना है कि (१) यह रामगुप्त जैन था जबकि अन्य गुप्त सम्राट् वैष्णव थे। यह आपत्ति ५. सर्वथा असंगत है। वैन्यगुप्त गुप्तवंशीय सम्राट् था लेकिन उसे उसके गुणैघर-दानपत्र में स्पष्टतः शैव (महादेवपादानुध्यात) कहा गया है। आखिर यह किसने तय कर दिया है कि गुप्त वंश के सभी सम्राट् वैष्णव थे ? यह भी स्मरणीय है कि प्रस्तुत अभिलेखों में रामगुप्त को स्पष्ट रूप से जैन नहीं बताया गया है। इनमें उसके द्वारा मात्र जैन मूर्तियां बनवाये जाने का उल्लेख है। लेकिन प्राचीन भारतीय राजा अन्य सम्प्रदायों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार करते थे और उन्हें सहायता देते थे, यह सर्वज्ञात है।

शिलाहार नरेश गण्डरादित्य ने, जो स्वयं महालक्ष्मी-भक्त था, जैन, बौद्ध और शैव मन्दिर बनवाये थे (ऐसे अन्य उदाहरणों के लिये दे०, जे० ए० आई० एच०, ३, पृ० ३२, टि० ३)। (२) सरकार का दूसरा तर्क है कि ''यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि 'रामगुप्त' लेख वाले सिक्के जो पूर्वी मालवा से प्राप्त हुए हैं, इन अभिलेखों के रामगुप्त ने ही जारी किये थे।'' यह तर्क बड़ा ही विचित्र है और सरकार महोदय की हठवादिता का प्रमाण है। 'रामगुप्त' लेख वाले सिक्के ये औरअभिलेख एक ही लिपि में लिखे हैं, एक ही प्रदेश से मिलते हैं और एक ही नाम के राजा के हैं। इन तथ्यों के अलावा इन सिक्कों और लेखों के नरेश को एक मानने का और प्रमाण हो भी क्या सकता है ? क्या सरकार महोदय की मांग यह है कि रामगुप्त के इन सिक्कों का विवरण उसके किसी लेख में मिलना चाहिए ? (३) सरकार का यह भी कहना है कि रामगुप्त के लेखों की लिपि चौथी शती ई० के उत्तरार्द्ध की नहीं पांचवीं शती ई० के अन्त अथवा छठी शती ई० के प्रारम्भ की लगती है। इसलिए हो सकता है कि यह रामगुप्त परवर्ती गुप्त वंश का सदस्य, 'प्रथम जीवितगुप्त का कोई छोटा भाई,' रहा हो। सरकार का यह आग्रह विशुद्ध उनकी हठ है। वह बिना किसी आधार के यह कल्पना करने को प्रस्तुत हैं कि रामगुप्त परवर्ती गुप्त वंश का सदस्य होगा जबकि परवर्ती गुप्त वंश ने कहां शासन किया यह भी अभी तक विवादग्रस्त है। वह इस वंश के नरेश प्रथम जीवितगुप्त (लग० ५२०-४०) ई० को 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण करने का श्रेय भी देने को तैयार हैं जबकि ज्ञान की वर्तमान अवस्था में परवर्ती गुप्त वंश का प्रथम नरेश जिसने यह उपाधि धारण की थी, आदित्यसेन (सातवीं शती ई० का उत्तरार्द्ध) था। लेकिन वह इस साहित्यिक परम्परा को स्वीकार न करने की मानो कसम खाए बैठे हैं कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक बड़ा भाई रामगुप्त नाम का था जिसने कुछ समय सम्राट् रूप में शासन किया था। जहां तक सरकार महोदय के इस आग्रह का प्रश्न है कि इन लेखों की लिपि महाराज गौरी के छोटी सादड़ी (४६१ ई०) लेख की लिपि का स्मरण दिलाती हैं, हम कहना चाहेंगे कि मात्र लिपि के आधार पर रामगुप्त के इन लघु खण्डित लेखों की तिथि को इस प्रकार सीमित समय में तय करना उचित नहीं है। स्मरणीय है कि नचने-की-तलाई व अन्य अभिलेखों की लिपि को मिराशी ने पांचवीं शती के उत्तरार्द्ध की बताया था और सरकार ने चौथी के मध्य की (क्ला० ए०, पृ० १७६)। बाद में स्वयं सरकार ने अपने इस मत में संशोधन किया और इन लेखों की लिपि को छठी शती ई० की माना (स० इ०, पृ० ४५६, टि० १)। इसी प्रकार फ्लीट ने लिपि के आधार पर द्वितीय प्रवरसेन वाकाटक के अभिलेखों को सातवीं शती के अन्त का माना था जबकि बाद में वे पांचवीं शती ई० के पूर्वार्द्ध के प्रमाणित हुए। हमारे विचार से यह अधिक अच्छा होगा अगर सरकार महोदय लिपि के आधार पर किसी लेख की तिथि के निर्धारण के विषय में स्वयं अपना यह सिद्धान्त याद रखें जो उन्होंने कनिष्क की तिथि पर विचार करते समय कुषाण अभिलेखों की लिपि के विषय में प्रतिपादित किया है : ''लिपिशास्त्र से हम किसी लेख की तिथि को बहुत अधिक सीमित समय में तय नहीं कर सकते (क्योंकि) पुराने ढर्रे के लोग पुरानी लिपि को, जो उनके जमाने में लोकप्रिय नहीं होती थी, प्रयोग करते रहते थे……। इसीलिए कुषाण लेखों की लिपि एक तरफ मथुरा और पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों के लेखों की लिपि से मिलती-जुलती लगती है तो दूसरी तरफ गुप्त अभिलेखों की लिपि से।'' (बैशम द्वारा सम्पादित, 'पेपर्स ऑन दि डेट ऑव कनिष्क' में सरकार का लेख, पृ० २७८-९)। प्रश्न उत्पन्न होता है कि अगर सरकार महोदय इतने अधिक कुषाण अभिलेखों की लिपि की तिथि को तय करना दुष्कर पाते हैं तो एक-दो अक्षर की बनावट के आधार पर रामगुप्त के इन लघु लेखों को निर्विवाद रूप से छठी शती ई० के प्रारम्भ का मानने का आग्रह कैसे कर सकते हैं ? अब यह उनकी हठ हो गई लगती है कि वह रामगुप्त को तब तक गुप्त सम्राट् नहीं मानेंगे जब तक उसकी सुवर्ण मुद्राएं न मिल जाएं अथवा उसका ऐसा कोई लेख न मिल जाए जिसमें उसे गुप्त सम्राटों का वंशज कहा गया हो। लेकिन समझ में नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आता कि ऐसी जबरदस्ती वह रामगुप्त के विषय में ही क्यों करते हैं ? भानुगुप्त भी तो, जिसका ५१० ई० के एरण-लेख में उल्लेख है, उनकी उपर्युक्त दोनों शर्तों में एक भी पूरी नहीं करता, परन्तु वह फिर भी उसको गुप्तवंशीय मानते हैं। (४) प्रस्तुत अभिलेख चौथी शती ई० के बाद के नहीं हैं, यह बात इस तथ्य से भी सिद्ध है कि इन जैन मूर्त्तियों की पादपीठ पर तीर्थङ्करों के लाञ्छन नहीं बने हैं, इन पर मात्र 'चक्र' और कुषाणकालीन प्रतिमाओं के सदृश सिंहों जा अंकन हैं। जैन मूर्त्तियों पर लाञ्छन अंकित करने की प्रथा पाँचवीं शती में शुरु हुई। अगर ये मूर्त्तियां छठी शती में निर्मित हुई होतीं, जैसा कि डॉ० सरकार मानते हैं, तो इन पर तीर्थङ्करों के लाञ्छन अवश्य बने होते।

रामगुप्त के **अभिलेखों का प्राप्ति-स्थल बड़ा महत्वपूर्ण है**। ये लेख उसी प्रदेश से मिले हैं जहां से उसके सिक्के मिले थे। इन अभिलेखों की उपलब्धि के पूर्व हमने उसके सिक्कों के प्राप्ति-स्थल के आधार पर उसके इतिहास का पुनर्निर्माण इस प्रकार किया था : रामगुप्त समुद्रगुप्त के काल में पूर्वी मालवा का गवर्नर था। समुद्रगुप्त की मृत्यु हो जाने पर द्वितीय चन्द्रगुप्त ने, जो उस समय राजधानी में था, अपने को सम्राट् घोषित कर दिया लेकिन रामगुप्त ने उसके प्रभुत्व को नहीं माना। इस पर चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त का उन्मूलन कर उसकी विधवा ध्रुवदेवी से, जिससे वह पहिले से ही प्रेम करता था, विवाह कर लिया। उसके इन 'अपराधों' के कारण उत्पन्न बदनामी को दूर करने के हेतु उसने अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक लिखवाया जिसमें रामगुप्त को कायर और नपुंसक बताकर सारा दोष उसी पर मढ़ने की चेष्टा की गई थी। चालुक्य वंश के षष्ठ विक्रमादित्य का अपने बड़े भाई द्वितीय सोमेश्वर को मार कर बिल्हण से 'विक्रमांकदेवचरित' लिखवाना, जिसमें द्वितीय सोमेश्वर को जानबूझ कर बदनाम किया गया था, ऐसा ही एक और उदाहरण है (दे०, पाठक, एन्श्येण्ट हिस्टोरियन्स ऑव इण्डिया; गोयल, हि० इ० गु०, अध्याय ४)। हमारे विचार से रामगुप्त के अभिलेखों की पूर्वी मालवा से उपलब्धि से हमारे इस पुराने सुझाव का समर्थन होता है कि उसने केवल पूर्वी मालवा पर ही शासन किया था।

द्वितीय चन्द्रगुप्त का मथुरा स्तम्भ-लेख

वर्ष ६१=३८० ई० ✓

11

लेख-परिचय—यह अभिलेख जिस पाषाण-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, उसका **प्राप्ति-स्थल** उत्तर प्रदेश के मथुरा नगर में रंगेश्वर महादेव के निकट स्थित चण्डूल-मण्डूल की वाटिका है जिसकी दीवार में यह लगा हुआ था। इसे श्री भोलानाथ ने जुलाई १९२८ में खोजा था। आजकल यह मथुरा-संग्रहालय में रखा हुआ है। ४'४" ऊंचे इस **स्तम्भ** का आधार एवं उपरला भाग चौकोर है तथा बीच का अष्टकोणीय। एक मत के अनुसार यह सम्भवतः किसी कक्ष अथवा पोर्च का अंग था। भाण्डारकर ने इसे भित्तिस्तम्भ (पिलास्टर) बताया है। परन्तु यह सम्भव नहीं लगता। इसके उपरले भाग में त्रिशूल बना है। उसके नीचे अष्टकोणीय तने के पांच पहलुओं पर २'३"×१'६½" क्षेत्रफल में लेख लिखा है तथा निचले भाग में खड़े हुए पुरुष (भैरव ?) की एक फुट ऊंची एक प्रतिमा बनी है। उसके तीन नेत्र हैं। पैर टूट गये हैं। अभिलेख स्तम्भ के जिन पांच पहलुओं पर अंकित हैं उनमें तीसरा क्षतिग्रस्त हो गया है। यह अभिलेख गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल का है और यह गुप्त वंश का प्रथम लेख है जिसमें गुप्त संवत् में **तिथि**—६१वां वर्ष—दी गयी है। इसके अतिरिक्त इसमें शब्दों में द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल का वर्ष भी दिया गया है जिसका पाठ कुछ विद्वान् 'प्रथमे' मानते हैं तथा कुछ 'पंचमे'। इस लेख की **भाषा** संस्कृत है यद्यपि इस पर प्राकृत का कुछ प्रभाव मिलता है जैसे पंक्ति ४ में 'एक षष्टे' अथवा 'एक षष्टितमे' के बजाय 'एक षष्ठे' और पंक्ति १० में 'कुर्युः इति' के स्थान पर 'कुर्य्यादिति' के प्रयोग में। **वर्तनी** की विशेषताओं में 'व' 'य' तथा 'त' का 'र' के संयोग में द्वित्व ('कीर्त्ति' को छोड़कर) तथा पंक्ति १२ में जिह्वामूलीय का प्रयोग उल्लेख्य हैं। यह लेख सम्पूर्णतः गद्य में है लेकिन इसकी अन्तिम पंक्ति आर्या या गीति **छन्द** का अर्द्धांश हो सकती है। इसकी **लिपि** चौथी शती की पेटिका शीर्ष प्रकार की ब्राह्मी है जो परवर्ती कुषाण लिपि से सादृश्य रखती है। इसका कारण इसके लिपिक की रुचि को माना जा सकता है। लेख का **उद्देश्य** उदिताचार्य नामक पाशुपत द्वारा अपने गुरु उपमित विमल तथा परमगुरु (गुरु के गुरु) कपिल विमल की स्मृति में उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर नामक प्रतिमाएं स्थापित कराये जाने का वर्णन करना है।

M. Imp. Point

Imp. Poin

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख को सर्वप्रथम डी० बी० दिस्कल्कर ने प्रकाशित किया था (ए० बी० ओ० आर० आई०, १८, पृ० १६६-१७०)। उसके उपरान्त इसे डी० आर० भाण्डारकर ने सम्पादित किया (इ० आई०, २१, पृ० १-९)। उनके पाठ में दि० च० सरकार (आई० एच० क्यु०, १८, पृ० २७१-७५ तथा स० इ०, पृ० २७७-८) ने मामूली से संशोधन किये। इस पर विचार करने वाले अन्य विद्वान हैं :—भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २३४-४२; एन० आर० रे, आई० ए०, ७१, पृ० ११७-८; वा० श० अग्रवाल, जे० यू० पी० एच० एस०, २४-२५, पृ० १४३-५; रा० ब० पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ७८-९; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० ३६८; साधुराम, के० यू० आर० जे०, १, पृ० १३; पी० आर० श्रीनिवासन, जे० ए० आई० एच०, ३, पृ० ११३-२२; जोशी, एन० पी०, जे० यू० पी० एच० एस०, एन० एस०, ८, अंक २, पृ० ७९-८२।

मूलपाठ

१ सिद्धम् (।*) भट्टारक-महाराज-[राजाधि]राज श्री समुद्रगुप्त-स-
२ [त्पु]त्रस्य भट्टारक-म[हाराज]-[राजाधि*]राज-श्री-चन्द्रगुप्त-
३ स्य विज(य*)-राज्य-संवत्स[रे*] [पं]चमे [५] कालानुवर्त्तमान-सं-
४ वत्सरे एकषष्ठे ६० (+*)१......[प्र]थमे शुक्लदिवसे पं-
५ चम्यां (म्याम्) (।*) अस्यां पूर्व्वा[यां] [भ]गव[त्कु]शिकाद्दशमेन भगव-
६ त्पराशराच्चतुर्थेन [भगवत्क*]पि[ल]विमल-शि-
७ ष्य-शिष्येण भगव[दुपमित*]विमल-शिष्येण
८ आर्य्योदि[ता*]चार्य्ये[ण*] [स्व*]-पु[ण्या]प्यायन-निमित्तं
९ गुरूणां च कीर्त्य[र्थमुपमितेश्व]र-कपिलेश्वरौ
१० गुर्व्वायतने गुरु......प्रतिष्ठापितो (।*) नै-
११ तत्ख्यात्यर्थमभिलि[ख्यते] (।*) [अथ*] माहेश्वराणां वि-
१२ ज्ञप्तिः क्रियते सम्बोधनं च (।*) यथाका[ले]नाचार्या-
१३ णां परिग्रहमिति मत्वा विशङ्क[ं] [पू]जा-पुर-
१४ स्कार[ं] परिग्रह-पारिपाल्यं [कुर्य्या]दिति विज्ञप्तिरिति (।*)
१५ यश्च कीर्त्यभिद्रोहं कुर्य्या[द्]य[श्चा]भिलिखित]मुप]र्य्यधो
१६ वा [स] पंचभिर्महा[*]पातकैरुपपातकैश्च संयुक्तस्स्यात् (।*)
१७ जयति च भगवा[ण्डण्डः] रुद्रदण्डो (ऽ*)ग्र[ना]यको नित्य[ं] (त्यम्) (।।*)

[illegible]

भगवान उदित से पाँचवें

अपने पुण्य और गुरु की कीर्ति को शिवलिङ्ग इन नामों से स्थापित किये

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ३ : भाण्डारकर ने 'विजय' के बाद 'रज्ये' पढ़ा है और सरकार ने 'राज्य'। इस पंक्ति में 'संवत्स' के बाद और 'काला०' पूर्व के अक्षर मिट गये हैं। इस स्थान में प्रथम अक्षर तो 'रे' होगा ही जिससे 'संवत्सरे' शब्द पूरा हो सके। भाण्डारकर ने इसके बाद ४ अक्षरों की खाली जगह दी है और 'काला०' के पूर्व 'गुप्त' शब्द भी पढ़ा है। सरकार ने 'संवत्सरे' और 'काला०' के मध्य 'पंचमे ५' पाठ माना है, दिसकल्कर ने 'प्रथमे गुप्त' तथा पी० आर० श्रीनिवासन ने 'गुप्तानां'। पंक्ति ४: 'एकषष्ठे' को को 'एक षष्टे' या 'एक षष्टितमे' पढ़ें। 'प्रथमे' के पूर्व भाण्डारकर ने 'आषाढ़-मासे' पुनर्योजित किया है क्योंकि ३८० ई० में दो आषाढ थे। 'पंचम्यां' को सरकार सुधार कर 'पंचमे' पढ़ते हैं। लेकिन पाण्डेय के अनुसार यहां तिथि का उल्लेख है अतः 'पंचम्यां' पाठ ठीक है। पंक्ति १०: भाण्डारकर रिक्त स्थान में 'प्रतिमायुतौ' पाठ सुझाते हैं और श्रीनिवासन 'समाधौ'। 'प्रतिष्ठापितो' को 'प्रतिष्ठापितौ' पढ़ें। पंक्ति १२: 'परिग्रहमिति' को 'परिग्रहः इति' पढ़ें। पंक्ति १४: 'कुय्यदिति' के स्थान पर 'कुर्युःइति' पाठ अच्छा होता। पंक्ति १६: भाण्डारकर 'वा' के उपरान्त 'उच्छिन्द्यात्' या ऐसा ही कोई शब्द सुझाते हैं। पंक्ति १६: भाण्डारकर 'भगवाण्डण्ड:' को सुधार कर 'भगवान्दण्ड: स' पढ़ते हैं।

शब्दार्थ

आप्यायन = अभिवृद्धि, सन्तोष; गुर्वायतन = गुरु का पवित्र स्थान, गुरुप्रतिमागृह; विज्ञप्ति = सादर अनुरोध, प्रार्थना; विशंक = निस्संकोच रूप से; मत्वा = जानकर; पुरस्कार = आदर; परिग्रह = सम्पत्ति, भेंट; अभिद्रोह = हानि; उपरि = ऊपर (यहां अतिक्रमण अर्थ में प्रयुक्त है); अधः = नीचे (यहां तिरस्कार अर्थ में प्रयुक्त है); रुद्रदण्ड = त्रिशूल

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो ! भट्टारक महाराज राजाधिराज श्री समुद्रगुप्त के सत्पुत्र भट्टारक महाराज राजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त के विजयराज्य के पांचवें ५ वर्ष में, संवत् के अनुसार गणना करने पर इकसठवें वर्ष ६० (+)१ के प्रथम (आषाढ मास में?) शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को, इस पूर्वोक्त तिथि को—

पं० ५ भगवत् कुशिक से दशवें (अर्थात् शिष्य-परम्परा में दसवीं पीढ़ी में), भगवत् पराशर से चौथे (अर्थात् शिष्य-परम्परा में चौथी पीढ़ी में), भगवत् कपिल विमल के प्रशिष्य, भगवत् उपमितविमल के शिष्य आर्य उदिताचार्य द्वारा—

पं० ८ अपने पुण्य की अभिवृद्धि के निमित्त और गुरुओं की कीर्त्ति के हेतु गुर्वायतन में उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर (नामक शिवलिंग), (जिन के साथ) गुरु (प्रतिमा संयुक्त थी), प्रतिष्ठापित किए गए ।

पं० १० इसे (अर्थात् इस अभिलेख को) (मेरी) ख्याति के लिये नहीं लिखवाया गया है। माहेश्वरों (=शिव के उपासकों) से सादर अनुरोध किया जाता है और (उन्हें) सम्बोधित किया जाता है : यह जानकर कि यह (=आयतन) आचार्यों की सम्पत्ति है (माहेश्वर जन) इसे यथाकाल निशंक रूप से पुरस्कार (=आदर) से पूजें और भेंट द्वारा परिपालित करें। यह सादर अनुरोध है ।

पं० १५ और जो (इस) कीर्त्ति (=आयतन) को क्षति पहुँचायेगा और जो (इस) अभिलेख का अतिक्रमण अथवा तिरस्कार (करेगा) वह पंच महापातकों और उपपातकों से संयुक्त होगा (अर्थात् उनका भागी होगा) ।

पं० १७ और भगवान् दण्ड (अर्थात्) रुद्रदण्ड (= रुद्रदण्डपुरुष) जो (शैवों के) अग्रनायक हैं, सदैव विजयी हों ।

व्याख्या

(१) **सत्पुत्र**—कुछ विद्वान् इस लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त को समुद्रगुप्त का 'सत्पुत्र' कहा जाना महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका सुझाव है कि उसे ऐसा इसलिये कहा गया जिससे रामगुप्त की दुर्बलता और कायरता की तुलना में चन्द्रगुप्त की महत्ता स्पष्ट हो सके। परन्तु यह आग्रह सर्वथा निराधार है ।

(२) **विजय राज्य संवत्सरे पंचमे ५**—सरकार ने इस लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन के ५वें वर्ष का उल्लेख माना है। दिसकल्कर ने 'पंचमे ५' के स्थान पर 'प्रथमे गुप्त' पाठ पढ़कर प्रथम वर्ष का उल्लेख माना है। यही मत भाण्डरकर का है (संशोधित कॉपर्स ३, पृ० २३६)। इस तरह सरकार के अनुसार गुप्त संवत् ६१ (=३८० ई०) द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन का पांचवा वर्ष था और दिसकल्कर तथा भाण्डारकर के अनुसार पहिला। परन्तु पी० आर० श्रीनिवासन का कहना है कि 'संवत्सरे' तथा 'काला०' के मध्य केवल तीन अक्षरों के लिये स्थान है। वह यहां 'गुप्तानां' शब्द पढ़ते हैं जिसके कुछ चिह्न पढ़ने में आते हैं, ऐसा उनका दावा है। इस तरह उनका इस सम्पूर्ण पद का पाठ इस प्रकार है—विजयराज्य संवत्सरे गुप्तानां कालानुवर्त्तमान संवत्सरे········। लेकिन सरकार का कहना है कि (१) दो अक्षरों के बीच रिक्त स्थान में कितने अक्षर रहे होंगे, यह तर्क समस्यामूलक है। (२) श्रीनिवासन के मत को मानने का अर्थ होगा यह स्वीकार करना कि इस लेख में वर्ष संख्या-६१—के लिये 'संवत्सर' शब्द दो बार आया है। इसकी तुलना में यह सम्भावना स्पष्टतः अधिक है कि जिस प्रकार 'कालानुवर्त्तमान

संवत्सरे' के बाद एक संख्या दी गई है वैसे ही 'विजयराज्य संवत्सरे' के बाद दूसरी संख्या लिखी गई हो। 'कालानुवर्त्तमान' पद के ऐसे ही प्रयोग के लिये दे०, लूडर्स, मथुरा इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० १३३।

(३) **भगवत् कुशिक**—इस लेख में भगवत् कुशिक का उल्लेख बड़ा महत्वपूर्ण है। पुराणों में उन्हें शिव के अवतार लकुलीश का, जो पाशुपत मत के संस्थापक थे, शिष्य बताया गया है। इस प्रश्न पर हमने आगे विचार किया है (पृ० १०४)।

(४) **आर्य्योदिताचार्य**—उदिताचार्य के नाम के साथ 'आर्य' शब्द का प्रयोग रोचक है। भाण्डारकर का सुझाव है कि 'आर्य' का अर्थ है 'स्वामी' या 'मालिक' (उनके अनुसार यहां तात्पर्य गुर्वायतन के स्वामी से होगा)। इसके समर्थन में वह चिन्त्रा-प्रशस्ति का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जिसके ३४वें श्लोक में कहा गया है कि त्रिपुरान्तक नामक आचार्य को पहिले 'आर्य' (=स्वामी) बनाया गया और तदुपरान्त छठा 'महत्तर' (आर्यमेनं विनिर्माय षष्टं (ष्ठं) चक्रे महत्तरं)। 'आर्य' का प्रयोग उत्तराधिकारी के लिये भी होता था। दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, श्लोक ४, टि० ४। 'अभिधान चिन्तामणि' में 'आर्य' का अर्थ 'प्रभु' बताया गया है। श्रीनिवासन ने 'आर्य' को पुरोहित अर्थ में लिया है। उनका कहना है कि त्रिपुरान्तक पहिले मात्र सामान्य पाशुपत रहा होगा, बाद में उसे 'आर्य अर्थात् पुरोहित या गुरु बना दिया गया होगा। इस प्रकार उदिताचार्य को 'आर्य' कहे जाने का अर्थ है कि वह उस समय तक गुरु या पुरोहित बन चुका था। लेकिन सरकार ने विचार रखा है कि मथुरा अभिलेख में 'भगवत्' शब्द का प्रयोग मृत गुरुओं के लिये किया गया है और 'आर्य' का जीवित गुरु के लिए। जे० एन० बनर्जी (पौराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलीजन, पृ० ८९) का यह कथन गलत है कि प्रस्तुत लेख में आर्य उदिताचार्य को 'महत्तर' कहा गया है।

(५) **गुर्व्वायतन**—गुरुओं का पवित्र वासस्थान या गुरु-मन्दिर। स्पष्टतः यहां उस भवन से आशय हैं जहां गुरुओं की प्रतिमाएं स्थापित की जाती थीं (गुरु-प्रतिमागृह)। इस प्रसंग में देवकुलों के निर्माण की प्रथा अनायास स्मरणीय है। कुषाणों का एक देवकुल (जहां उनके पूर्वजों की प्रतिमाएं स्थापित की जाती थीं) मथुरा में था और एक अन्य सुर्खकोतल में। भास ने 'प्रतिमा नाटक' में इक्ष्वाकुओं के देवकुल का उल्लेख किया है जहां दशरथ की प्रतिमा देखकर भरत को उनकी मृत्यु का पता चला था। सातवाहनों का देवकुल नानाघाट में था। पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० १२) का यह कहना गलत है कि इस लेख में उदिताचार्य द्वारा गुर्वायतन के निर्माण का उल्लेख है। यह गुर्वायतन (=गुरु प्रतिमागृह) पहिले से मौजूद था।

(६) **भगवत्**—श्रद्धास्पद, पूजार्ह, पावन. देवी, पवित्र। यह शब्द या तो 'भगवान्' के अर्थ में देवता के लिये प्रयुक्त होता था या पुजारियों और सन्तों के लिये। प्रस्तुत लेख में यह स्वर्गवासी हो गये दो आचार्यों के लिये प्रयुक्त हुआ है। तु०, चालुक्य नरेश द्वितीय विक्रमादित्य का पट्टकदल अभिलेख, पं० ५ तथा ६ जहां यह आचार्यों के लिये प्रयुक्त है। 'भगवान्' अर्थ में यह सभी सम्प्रदायों में प्रयुक्त होता था परन्तु भागवत सम्प्रदाय में इसका विशेष महत्व था।

(७) **उपमितेश्वर—कपिलेश्वरौ गुर्व्वायने गुरु (प्रतिमायुतौ) प्रतिष्ठापित**—इस पद में 'गुरु' और 'प्रतिष्ठापितौ' शब्दों के मध्य के अक्षर अपठ्य हैं। भाण्डारकर ने यहां 'प्रतिमायुतौ' पाठ सुझाया था। उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर उन शिवलिंगों का नाम था जो उदिताचार्य ने अपने गुरु उपमित तथा परमगुरु कपिल के नाम पर स्थापित कराये थे। भाण्डारकर ने सुझाव रखा कि 'गुरु प्रतिमा युतौ' का तात्पर्य है कि उन शिवलिंगों पर उपमित और कपिल के चित्र बने थे। सरकार का कहना है कि ये मूर्तियां ऐसे बनाई गई होंगीं जिससे लगे कि उपमित और कपिल उन लिंगों को अपने सिर पर धारण किये हुए हैं। श्रीनिवासन का आग्रह है कि इस पंक्ति में 'प्रतिमायुतौ' शब्द के लिये स्थान नहीं है। वह यहां 'समाधौ' पाठ सुझाते हैं। उनका विचार है कि उदिताचार्य ने उपमित और कपिल की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समाधियों पर शिवलिंग स्थापित कराये थे। आजकल भी योगियों की समाधि पर शिवलिंग स्थापित करने की प्रथा मिलती है। लेकिन भाण्डारकर ने इस स्थल पर पांच अक्षरों के लिये पर्याप्त स्थान माना है। सरकार भाण्डारकर से सहमत हैं।

(८) **यथाकालेन.........विज्ञप्तिरिति**—इस पद का अनुवाद सरकार, भाण्डारकर तथा श्रीनिवासन ने अलग-अलग तरह से किया है।

(९) **यश्चकीर्त्यभिद्रोहं.........वा**—इस पद का अर्थ भाण्डारकर ने (जो 'वा' के उपरान्त 'उच्छिन्द्यात्' जैसा कोई शब्द मानते हैं) इस प्रकार किया है : 'जो इस कीत्ति को क्षत करेगा या अभिलेख को ऊपर या नीचे (नष्ट करेगा)'। लेकिन श्रीनिवासन ने इसका जो अनुवाद प्रस्तुत किया है वह अधिक संगत है। हमने ऊपर श्रीनिवासन का अनुवाद माना है।

(१०) **पंचभिर्महापातकैरुपपातकैश्च**—पांच महापातक और उपपातकों द्वारा। पंच महापातक पाँच गम्भीर पापकृत्य हैं। 'मनुस्मृति' (९.२३५ तथा ११.५४) में इन्हें इस प्रकार गिनाया गया है : ब्रह्महत्या, मदिरापान, (ब्राह्मण के सुवर्ण की) चोरी, गुरुपत्नी से व्यभिचार तथा इन पापकृत्यों के करने वालों का संसर्ग। 'मनुस्मृति' में कुछ अन्य पापकृत्यों को इन्हीं के समान बताया गया है (११.५५-५९)। उपपातक दूसरी श्रेणी के पापकृत्य हैं जैसे गोहत्या, ऋण न चुकाना, दुष्टों के लिये यज्ञ करना आदि (मनुस्मृति, ११.६०-६७)।

74 (११) **जयति च भगवान् दण्डः रुद्रदण्डोऽग्रनायको नित्यम्**—भाण्डारकर ने इसका अनुवाद किया 7 है : "और भगवान् दण्ड, जिनका दण्ड (=ध्वज) रुद्र अर्थात् भयंकर है, और जो अग्रनायक हैं, सदैव विजयी हो।" लेकिन श्रीनिवासन ने रुद्रदण्ड को त्रिशूल अर्थ में लिया है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि प्राचीन अभिलेखों में शिव के त्रिशूल को 'शक्ति' आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था। रुद्रदण्ड इसका एक अन्य नाम रहा होगा। श्रीनिवासन यह भी मानते हैं कि रुद्रदण्ड को यहां देवता माना गया है और भगवान् दण्ड तथा शैवों का अग्रनायक कहा गया है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि सम्भवतः जिस स्तम्भ पर यह लेख उत्कीर्ण है स्वयं वही 'रुद्रदण्ड' के रूप में उल्लिखित है। भाण्डारकर ने इसे भित्ति स्तम्भ (पिलास्टर) बताया है परन्तु इस स्तम्भ के उपरले भाग में त्रिशूल बना है, अतः इसके मध्यवर्ती अष्टकोणीय भाग को त्रिशूल का दण्ड माना जा सकता है। इसके नीचे बनी खड़े हुए पुरुष की मूर्ति को भाण्डारकर ने लकुलीश बताया है। परन्तु श्रीनिवासन का कहना है कि यह 'रुद्रदण्डपुरुष' की प्रतिमा होनी चाहिए। हो सकता है तत्कालीन शैवधर्म में रुद्रदण्डपुरुष की अवधारणा उसी प्रकार से प्रचलित रही हो जैसी भागवत धर्म में चक्रविक्रम या चक्रपुरुष की थी। शिवराममूर्ति का कहना है कि केवल विष्णु के आयुधों की कल्पना ही आयुध पुरुषों के रूप में की गई थी, शिव के त्रिशूल आदि की आयुधपुरुष रूप में कल्पना कहीं नहीं मिलती। लेकिन एन० पी० जोशी ने ध्यान दिलाया है कि (१) इलाहाबाद संग्रहालय में एक त्रिशूल मुकुटधारी पुरुष मूर्ति रखी है (म्युजियम सं० ए० सी० २९८४)। यह छठी शती ई० की है। (२) ऐसी ही एक मूर्ति लखनऊ संग्रहालय में है। (३) ऐसी मूर्ति का एक और नमूना उड़ीसा से मिला है। (४) 'पूर्वकरणागम' तथा 'उत्तरकरणागम' में आयुध पुरुषों में दण्ड, त्रिशूल, वज्र, चक्र आदि की गणना की गई है (दे०, गोपीनाथ कविराज, एलीमेण्ट्स ऑव हिन्दू आइकोनोग्राफी, १, भाग २, पृ० ७७ अ०; जे० यू० पी० एच० एस०, ८, अंक २, पृ० ७९-८२)।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख अनेक दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण है। राजनीतिक दृष्टि से इसका महत्व इसमें गुप्त

[illegible] तिथि 319 + 61 = 380

संवत् में तिथि का उल्लेख होने के कारण है। यह गुप्त संवत् का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख है और निर्णायिक रूप से सिद्ध करता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ३८० ई० में शासन कर रहा था। दूसरे, इसमें (2) चन्द्रगुप्त के शासन के पांचवें वर्ष का उल्लेख है जिसे उसके राज्यारोहण की तिथि ३७६ ई० सिद्ध होती है। अगर इसमें चन्द्रगुप्त के शासन के वर्ष का पाठ 'प्रथमे' है (जैसा कि दिसकल्कर का आग्रह है) और या इसमें उसके शासन का वर्ष दिया ही नहीं गया है (जैसा कि श्रीनिवासन की मान्यता है) तो भी इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि इस लेख से द्वितीय चन्द्रगुप्त का ३८० ई० में शासन करना तो सिद्ध हो ही जाता है। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में, जब हम द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन के प्रारम्भिक वर्षों के विषय में रामगुप्त-घटना के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते, तब इस बात से विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि वह ३७६ ई० में गद्दी पर बैठा था या ३८० ई० में।

(3) इस अभिलेख से **पाशुपत सम्प्रदाय के इतिहास** पर बड़ा ज्ञानवर्द्धक प्रकाश मिला है। इसमें कहा गया है कि आर्य उदिताचार्य, जिसने यह लेख लिखवाया भगवत् कुशिक की शिष्य परम्परा में दसवीं पीढ़ी में हुए। अब महाभारत के नारायणीयपर्व (शान्तिपर्व, ३४९, ५०, ६४) में कहा गया है कि शिव श्रीकण्ठ ने जो उम पति और भूतों के स्वामी हैं, पाशुपत ज्ञान का प्रकाशन किया था। डॉ० विश्वम्भरण पाठक (हिस्टरी ऑव शैव कल्ट्स् इन नॉर्दर्न इण्डिया, पृ० ४-८) ने सिद्ध किया है कि श्रीकण्ठाचार्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे जिनके द्वारा रचित ग्रन्थों के उद्धरण अब तक उपलब्ध हैं। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शैव पुराणों के अनुसार पाशुपत सम्प्रदाय की स्थापना लकुलीश या नकुलीश ने की थी। 'वायु पुराण' (अध्याय २३), 'लिंग पुराण' (अध्याय २४), 'कूर्म पुराण' (अध्याय ५३) तथा 'शिव पुराण' (अध्याय ५) आदि में प्रदत्त कथा के अनुसार भगवान् शिव-महेश्वर ने ब्रह्मा को बताया था कि युगों के अट्ठाइसवें प्रत्यावर्तन में जब कृष्ण द्वैपायन के समय वासुदेव जन्म लेंगे तब वह अर्थात् शिव पश्चिमी भारत में कायावरोहण या कायावतार नामक स्थान में श्मशान में पड़े मृत शरीर में प्रविष्ट होकर लकुलिन् नामक ब्रह्मचारी के रूप में उत्पन्न होंगे। लकुलिन् के चार शिष्य होंगे—कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य जो पाशुपत मत के अन्तर्गत अलग-अलग सम्प्रदायों की स्थापना करेंगे। अन्त में ये पाशुपत अपने शरीर में भस्म रमा कर माहेश्वर योग को करते हुए रुद्रलोक जाएंगे। ९७१ ई० की एकलिंग जी-मन्दिर-प्रशस्ति (राजस्थान) में भी शिव के भृगुकच्छ देश में लकुटधारी पुरुष के रूप में जन्म लेने एवं पाशुपत योग के (4) ज्ञाता कुशिक आदि मुनियों का उल्लेख है। इसी प्रकार चिन्त्रा प्रशस्ति में, जो सोमनाथ के मन्दिर से मिली थी और १२७४ और १२९६ ई० के बीच लिखी गई थी, कहा गया है कि शिव भट्टारक लकुलीश के रूप में अवतरित होकर कायावरोह नामक स्थान में रहे। उनके चार शिष्य थे कुशिक, गर्ग, कौरूष और मैत्रेय जो चार सम्प्रदायों के संस्थापक हुए (ततस्तपस्विनां तेषां चतुर्द्धाजातिरुद्रता—श्लोक १७)। चिन्त्रा प्रशस्ति स्वयं पाशुपतों के गार्ग्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि पाशुपत मत (5) के संस्थापक लकुलीश थे और कुशिक उनके चार शिष्यों में एक थे। आर० जी० भाण्डारकर ने पुराणों के इस कथन के आधार पर कि लकुलीश वासुदेव-कृष्ण के समकालीन थे, नारायणीय पर्व में उल्लिखित पाशुपत मत के उदय को दूसरी शती ई० पू० में रखा है (वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० १३४)। स्पष्टतः वह लकुलीश का समय भी यही मानते थे। उनका यह मत सुदीर्घ काल तक सामान्यतः स्वीकार किया जाता (6) रहा। परन्तु प्रस्तुत मथुरा-अभिलेख के प्रकाश में आने से स्थिति बदल गई। इस लेख में भगवान् कुशिक का उल्लेख है। जैसा कि डी० आर० भाण्डारकर ने सुझाया था यह निश्चय ही वह कुशिक हैं जिन्हें अन्य साक्ष्य लकुलीश का शिष्य बताते हैं। इस लेख में 'माहेश्वरों' को सम्बोधित किये जाने से इसका समर्थन होता है। इस तरह इस लेख से प्रमाणित है कि उदिताचार्य कुशिक की शिष्य-परम्परा में दसवीं पीढ़ी में तथा लकुलीश से ग्यारहवीं पीढ़ी में हुए। इसलिये एक पीढ़ी के लिए पच्चीस वर्ष का औसत समय मानने

पर लकुलीश को दूसरी शती ई० के पूर्वार्द्ध में रखा जा सकता है। यह निष्कर्ष बड़ा महत्वपूर्ण है। (१) इससे लकुलीश की ऐतिहासिकता लगभग सिद्ध हो जाती है। (२) बहुत से विद्वान् यह मानते रहे हैं कि पतञ्जलि (द्वितीय शती ई० पू०) ने जिस शिव-भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख किया है वह पाशुपत सम्प्रदाय से अभिन्न था। परन्तु प्रस्तुत अभिलेख से सिद्ध हो जाता है कि शिव-भागवत सम्प्रदाय पाशुपत सम्प्रदाय से बहुत पुराना और भिन्न था यद्यपि यह मानना अब भी सर्वथा सम्भव है कि शिव-भागवतों की कुछ बातें पाशुपतों ने अपना ली थीं (दे०, बनर्जी, पूर्वो०, पृ० ९०)। (३) अगर पाशुपत मत द्वितीय शती ई० में अस्तित्व में आया तो यह प्रायः प्रचलित मत कि कुषाण राजा 'माहेश्वर' विमकडफिसिज (प्रथम शती ई०) पाशुपत मत को मानता था, स्वतः निष्प्राण हो जाता है। (४) इस अभिलेख से सिद्ध है कि जिस प्रकार पाशुपातों के गार्ग्य सम्प्रदाय का केन्द्र गुजरात था (चिन्त्रा प्रशस्ति) उसी प्रकार कुशिक द्वारा संस्थापित सम्प्रदाय का केन्द्र मथुरा था।

इस अभिलेख में उदिताचार्य के लिए प्रयुक्त 'आर्य' उपाधि और 'गुर्व्वायतन' के अस्तित्व का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार इसमें सम्भवतः 'रुद्रदण्डपुरुष' की कल्पना मिलती है। इन सब पर पीछे टिप्पणियों में विचार किया गया है। 7

द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल का उदयगिरि गुहा-लेख

वर्ष ८२ (=३८१ ई०)

लेख-परिचय—इस लेख का, जो गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन काल का है, **प्राप्ति स्थल** मध्य प्रदेश के भूतपूर्व ग्वालियर राज्य में भीलसा (विदिशा) नगर से दो मील उत्तर-पश्चिम की ओर उदयगिरि नामक पहाड़ी (ज्रिसके पास इसी नाम का एक छोटा सा गांव है) में बना हुआ गुहा-मन्दिर है। गुहा लगभग भूमि-स्तर पर ही है। कनिंघम ने इसे 'चन्द्रगुप्त-गुहा' नाम दिया था। अभिलेख दो मूर्तियों—दो पत्नियों से सेवित विष्णु तथा द्वादश भुजी कोई देवी—के ऊपर स्थित २'४$\frac{१}{२}$" चौड़े तथा १'६" ऊंचे समतल किये हुए पाषाण-पट्ट पर २'३$\frac{१}{२}$" चौड़े और ४$\frac{३}{४}$" ऊंचे क्षेत्रफल में लिखा है। यह काफी सुरक्षित अवस्था में है और चन्द्रगुप्त के नाम के 'ग' और दाता के नाम के प्रथम दो अक्षरों को छोड़कर स्पष्टतः पढ़ा जा सकता है। अक्षरों का औसत आकार $\frac{५}{१६}$" है। **लिपि** दक्षिणी प्रकार की पेटिका-शीर्ष ब्राह्मी है यद्यपि शिलामुद्रण में अक्षरों के शिरोभाग का वर्गाकार अंश स्पष्ट नहीं है। इस की **भाषा** संस्कृत है। यह सम्पूर्णतः गद्य में है और मात्र दो पंक्तियों में लिखा है। **वर्तनी** में 'अनुद्ध्यात' में अनुवर्ती 'य' के साथ पूर्वगामी 'ध' का द्वित्व उल्लेख्य है। लेख की **तिथि** गुप्त संवत् ८२ के आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी है। इसका उद्देश्य सनकानीक जाति अथवा वंश के किसी राजा (जिसके नाम के प्रथम दो अक्षर मिट गये हैं) के दान या भेंट का उल्लेख करना है। क्योंकि गुहा वैष्णव सम्प्रदाय की लगती है, अतः लेख भी वैष्णव कहा जा सकता है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख की ओर सर्वप्रथम कनिंघम ने १८५४ में ध्यान आकर्षित किया जब उन्होंने अपने 'भीलसा टोप्स' ग्रन्थ में इसका पाठ, अनुवाद व शिलामुद्रण प्रकाशित किया। इसके बाद उसे एडवर्ड टॉमस ने १८५८ में प्रिन्सेप के स्वसम्पादित 'एस्सेज़' (१, पृ० २४६) में अपने पाठ तथा विल्सनकृत अनुवाद के साथ छापा तथा १८८० में कनिंघम ने ए० एस० आई० (१०, पृ० ५०) में संशोधित रूप में प्रकाशित किया। तदनन्तर इसे फ्लीट ने अपने 'कॉर्पस' में छापा (स० ३)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—सरकार, स० इ०, पृ० २७९; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १३०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ७९; भाण्डारकर, छाबड़ा और गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २४२-४४; भाण्डारकर की सूची स० १२६० (अन्य सन्दर्भों के लिये)।

मूलपाठ

१ सिद्धम् ॥ संवत्सरे ८० (+*) २ आषाढ-मास-शुक्ले (क्लै) कादश्याम् परमभट्टारक-महाराजाधि (राज*)-श्री-चन्द्र [गु] प्त-पादानुद्ध्यातस्य।

२ महाराज-छगलग-पौत्रस्य महाराज-विष्णुदास-पुत्रस्य सनकानिकस्य महा [राज*] * * लस्यायं दे [यधर्म्मं]ः।

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : फ्लीट ने 'परमभट्टारक' के पूर्व विराम चिह्न पढ़ा है। पंक्ति के अन्त में विराम चिह्न अनावश्यक है। पंक्ति २ : 'सनकानिकस्य' में दूसरे 'न' पर ह्स्व 'इ' की मात्रा है जबकि प्रयाग-प्रशस्ति में इस नाम में दीर्घ 'ई' की मात्रा का प्रयोग है। '०लस्यायं' के पूर्व दो अक्षरों की जगह है। फ्लीट के अनुसार इनमें दूसरा 'ढ' हो सकता है और सरकार के अनुसार पूरा नाम सोढल। भाण्डारकर के अनुसार उसका नाम चार अक्षरों का था।

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो ! संवत्सर ८०(+) २ में आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में एकादशी के दिन महाराज छगलग के पौत्र, महाराज विष्णुदास के पुत्र महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त के पादानुध्यात सनकानिक महाराज (सोढ ?)ल का यह धर्मदान है।

व्याख्या

(१) संवत्सरे ८०+२—यह स्पष्टतः नहीं कहा गया है कि यह व्यतीत वर्ष है या प्रचलित वर्ष। फ्लीट ने इसे प्रचलित वर्ष माना है। 'संवत्सरे' में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग तथा 'अतीत' शब्द के अभाव से ऐसा ही संकेत मिलता है।

(२) पादानुध्यात—दे० समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति ३३, टि० ३।

(३) महाराज छगलग—छगलग नाम आर्येतर लगता है। छगल का अर्थ है 'बकरा'। परन्तु उसके पुत्र विष्णुदास का नाम विशुद्ध आर्य है।

(४) देयधर्म—इसका शाब्दिक अर्थ है 'धर्म (का दान) जो दातव्य है'। मोनियर विलियम्स् ने इसका अर्थ 'दान, दया का कर्त्तव्य' किया है, डाउसन ने 'व्रतपालनार्थ दत्तदान', ब्युलर तथा इन्द्रजी ने 'श्लाघ्य दान' अथवा 'धर्मदान'। हमें इसका तात्पर्य 'धर्म या पुण्य के अर्जन के हेतु किया जाने वाला दान' प्रतीत होता है। सनकानीक महाराज ने केवल वे मूर्तियां दान में दी थीं, जो लेख के नीचे बनी हैं, या सम्पूर्ण गुफा—यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु गुहा-दान की सम्भावना अधिक है।

अभिलेख का महत्व

इस अभिलेख का महत्त्व इसमें सनकानि(नी)क जाति के किसी महाराज का, जिसका नाम दि० च० सरकार के अनुसार हो सकता है सोढल रहा हो, उल्लेख होने के कारण है। सनकानीकों का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में एक गण जाति के रूप में हुआ है जबकि यहां उनको एक 'महाराज' द्वारा, जो गुप्तों के अधीन था, शासित कहा गया है। इस तथ्य की ओर अभी तक भली भांति ध्यान नहीं दिया गया है कि गुप्त संवत् ८२(=४०१ ई०) में शासन करने वाला यह सनकानीक नरेश अपनेवंश का तीसरा शासक था। इसलिये उसके वंश की स्थापना ३५०-६० ई० में कभी हुई होगी। अतः यह मानना निराधार नहीं होगा कि यह राजवंश समुद्रगुप्त की कृपा से अस्तित्व में आया। यही बात मालव जाति के इतिहास में मिलती है जहां दशपुर पर शासन करने वाले औलिकर वंश की स्थापना समुद्रगुप्त के काल में हुई सिद्ध की जा सकती है। समुद्रगुप्त की कृपा से बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड में पाण्डव, उच्चकल्प और परिव्राजक वंश भी अस्तित्व में आये थे। इसलिये हमारा सुझाव है कि सनकानीक एवं मालव आदि गणजातियों में राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति लागू करके उनका गणाधीन राज्यों

के रूप में अन्त स्वयं समुद्रगुप्त ने किया था, द्वितीय चन्द्रगुप्त ने नहीं जैसा कि अनेक विद्वान् मानते रहे हैं (दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, ३, पृ० १२६-३०)। इस प्रकार सनकानीक महाराज का वंश, जिसका उल्लेख प्रस्तुत लेख में है, उन राजवंशों में एक सिद्ध होता है जो समुद्रगुप्त ने बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड के राजनीतिक पुनर्गठन के समय स्थापित किये थे। इस दृष्टि से यह लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

इस लेख के आधार पर सनकानीक जाति का निवास स्थान पूर्वी मालवा में विदिशा के आसपास माना जाता है। परन्तु पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० २६५) का कहना है कि भाण्डारकर ने विदिशा में प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित गणपतिनाग को भी रखा था। इससे असंगत स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्वयं पी० एल० गुप्त का विचार है कि यह सनकानीक महाराज उन पदाधिकारियों में रहा होगा जो चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती-गुप्ता की सहायतार्थ भेजे थे। परन्तु (१) गणपतिनाग और सनकानीक जाति—इन दोनों को विदिशा के आस पास रखने से कोई असंगति पैदा नहीं होती। सनकानीक जाति हो सकता है गणपतिनाग के अधीन रही हो। (२) गणपतिनाग को विदिशा में रखना अनिवार्य नहीं है। अल्तेकर को गणपतिनाग के सिक्के विदिशा की तुलना में 'मथुरा में अधिक' मिले थे। आजकल अधिकांश विद्वान्, स्वयं पी० एल० गुप्त भी (वही, पृ० २५०), गणपतिनाग को **मथुरा में ही रखते हैं**।

बहुत से विद्वान् इस लेख का एवं गुप्त संवत् के ९३ के सांची अभिलेख व द्वितीय चन्द्रगुप्त के तिथिविहीन उदयगिरि अभिलेख का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त की शक-विजय से जोड़ते हैं। परन्तु प्रस्तुत लेख में ऐसी कोई बात नहीं कही गई है जिससे लगे कि इस सनकानीक महाराज ने शक-युद्ध में भाग लिया था। इस समस्या पर हमने विस्तार से विचार चन्द्रगुप्त के तिथिविहीन उदयगिरि-अभिलेख के अध्ययन के समय किया है।

द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल के दो गढवा अभिलेख

लेख-परिचय—ये लेख जो द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल के हैं, एक चौकोर पाषाण-खण्ड पर उत्कीर्ण हैं। इस पाषाण-खण्ड का **प्राप्ति स्थल** उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले का करछना तहसील में स्थित गढवा नाम का गांव है जो बारा परगने में बारा कस्बे से आठ मील दूर स्थित भटगढ या बरगढ गांव से डेढ़ मील दक्षिण की ओर स्थित है। इस पाषाण-खण्ड पर द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक तिथिविहीन लेख, उसके शासन काल का वर्ष ८८ का एक अन्य लेख तथा प्रथम कुमारगुप्त के काल के दो लेख लिखे हैं। **यह पत्थर** गढवा गांव के दुर्ग की प्राचीर के भीतर बने एक आधुनिक मकान में लगा था। १८७१ में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द इसे वहां से ले आये थे। पाषाण-खण्ड बहुत छोटा—९$\frac{१}{२}$" लम्बा, ४" चौड़ा तथा २' ६$\frac{१}{२}$" ऊंचा—है। आजकल यह कलकत्ता संग्रहालय में है। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त के लेख इसके दो ओर लिखे हैं—जिस रूप में यह संग्रहालय में रखा है उस तरह देखने पर पार्श्वों की ओर। सामने की ओर भी एक लेख लिखा है, परन्तु वह पूर्णतः अपठ्य हो गया है। पार्श्वों की तरफ का पीछे वाला भाग टूटा हुआ है इसलिये पार्श्वों पर अंकित लेखों का भी आधा-आधा भाग ही मिलता है।

चन्द्रगुप्त के प्रस्तुत लेख बाएं पार्श्व पर हैं और ४" × १' ४$\frac{१}{४}$" क्षेत्रफल में लिखे हैं। प्रथम लेख में ९ पंक्तियां हैं। इसके ठीक नीचे दूसरा लेख लिखा है जिसमें आठ पंक्तियां हैं। प्रथम लेख की पहली दो पंक्तियां अप्राप्य हैं तथा दोनों लेखों की शेष पंक्तियों का उत्तरार्द्ध टूटा हुआ है। इन दोनों लेखों में ही राजा का नाम अप्राप्य है, परन्तु द्वितीय लेख में संवत्सर ८८ तिथि सूचक संख्या लिखी है जो द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में पड़ती है तथा 'परमभागवत' उपाधि पढ़ी जा सकती है जिसे द्वितीय चन्द्रगुप्त ने धारण किया था। अतः वह लेख निश्चय ही द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल का है। दूसरी तरफ प्रथम लेख और द्वितीय लेख की लिपि की समानता से लगता है कि इन्हें एक ही व्यक्ति ने उकेरा था, इसलिये प्रथम लेख को भी द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल का माना जा सकता है।

फ्लीट ने इन दोनों अभिलेखों को एक ही लेख के दो भाग बताया है, और इसलिये इसमें कुल १७ पंक्तियां मानी हैं। परन्तु (१) वह स्वयं मानते हैं कि प्रथम लेख की प्रथम पंक्ति में द्वितीय चन्द्रगुप्त का नाम व उपाधियां थीं और द्वितीय लेख पुनः चन्द्रगुप्त के उल्लेख से प्रारम्भ होता है जैसाकि इसकी प्रथम पंक्ति में 'परमभागवत' उपाधि से स्पष्ट है। (२) **दूसरे अभिलेख की तिथि ८८ है** जबकि प्रथम लेख की तिथि पृथक्तः लिखी थी जैसा कि तृतीय पंक्ति में आए 'दिवस पूर्व्वायां' शब्द से स्पष्ट है। अतः ये दोनों अलग-अलग अभिलेख माने जाने चाहियें—चाहे दोनों की तिथियों में मामूली-सा ही अन्तर क्यों न रहा हो।

प्रस्तुत दोनों अभिलेखों की **भाषा** संस्कृत है तथा **लिपि** प्रयाग-प्रशस्ति की लिपि के सदृश। इनके अक्षरों का औसत आकार $\frac{५}{१६}$" है। प्रथम लेख की सातवीं पंक्ति में १० संख्या अंकों में लिखी है और द्वितीय लेख की दूसरी पंक्ति में ८० तथा ८ तथा सातवीं पंक्ति में १० संख्याएं अंकों में ही लिखी हैं। **वर्तनी** में 'संय्युक्त' (प्रथम लेख पं० ९) तथा 'संव्वत्सरे' (द्वितीय लेख, पं० २) में अनुस्वार के बाद क्रमशः 'य' और 'व' का द्वित्व उल्लेख्य हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—इन लेखों को सर्वप्रथम कनिंघम ने ए० एस० आई०, ३, पृ० ५५ में शिलामुद्रण सहित प्रकाशित किया। तदुपरान्त फ्लीट ने इन्हें 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (स० ७)। दे०, भाण्डारकर सूची सं० १२६१; उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १३१; भाण्डारकर, छाबड़ा और गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २४४-४७।

मूलपाठ

प्रथम लेख

१. [परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तराज्य]
२. [संव्वतरे]——[अस्यां]
३. दिवसपूर्व्वायां————————
४. कमातृदास प्र[मुख]——————[पुण्या]—
५. प्यायनात्थं रचि[त]———————[स]—
६. दा-सत्त्र-सामाण्य(न्य) — — ब्राह्म[ण]————
७. दीनारैर्द्दशभिः　१०————[॥*]
८. यश्चैनं धर्म्मस्कन्द(न्धं) [व्युच्छिन्द्यात्स पञ्चमहापातकैः सं]
९. य्युक्त [:] स्यादिति। [॥]

द्वितीय लेख

१. परमभागवत महा [राजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तरा]—
२. ज्यसंव्वत्सरे ८० (+)८——[अस्यां दिवस]—
३. पूर्व्वायां पाटा(ट)लिपुत् [त्] र—————[गृ]—
४. हस्थस्य भार्या य् ——————————
५. आत्म पुण्योपचय् [ात्थं]—————
६. सदा-सत्त्र-सामान्य-ब्र(ाह्मण)——————
७. दीनाराः दश १० —————[॥] [यश्चैनं]
८. धर्म्मस्कन्दं (न्धं) व्युच्छिन्द्या [त्स पञ्चमहापातकैः संय्युक्तः स्यादिति [॥]

पाठ-टिप्पणी—प्रथम लेख—पंक्ति १ : इसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त का नाम व उपाधियां फ्लीट के सुझावानुसार हैं। इस लेख की लिपि और द्वितीय लेख की लिपि के सादृश्यता के अतिरिक्त इसके लिये कोई और आधार नहीं है। पंक्ति ३ : 'पूर्व्वायां' के उपरान्त 'तिथौ' समायोजित करें। द्वितीय लेख—पंक्ति ३ : 'पूर्व्वायां' के उपरान्त 'तिथौ' समायोजित करें।

शब्दार्थ

आप्यायन=वृद्धि, सन्तोष; सामान्य=वर्ग, समूह; सत्रसामान्य ब्राह्मण=सत्र से सम्बद्ध ब्राह्मण; स्कन्ध=शाखा

अनुवाद : प्रथम लेख

पं० १　[परम भागवत महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त के शासनकाल में संवत्सर में] ———ऊपर (निर्दिष्ट) दिवस (आदि तिथि) के अनुसार—————

पं० ३ ———मातृदास की प्रमुख(ता)——[पुण्य] वृद्धि के हेतु———निर्मित———— सदा चलने वाले सत्र से सम्बद्ध ब्राह्मण———दस (अथवा अंकों में) १० दीनारों द्वारा———

पं० ८ और जो भी इस धर्मस्कन्ध (=धर्म की शाखा) के प्रति [व्यवधान उपस्थित करेगा वह पांच महापातकों से] संयुक्त (=उनके अपराध का भागी) होगा।

अनुवाद : द्वितीय लेख

पं० १ परमभागवत महाराजाधिराज [श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त] के शासन काल में संवत्सर ८०(+)८————ऊपर (निर्दिष्ट) दिवस (आदि तिथि) के अनुसार—

पं० ३ पाटलिपुत्र————गृहस्थ की पत्नी————अपने पुण्य की वृद्धि [के हेतु]———सदा चलने वाले सत्र से सम्बद्ध ब्राह्मण— ——दस (अथवा अंकों में) १० दीनारों———

पं० ७ [और जो भी] धर्म की (इस) शाखा के प्रति व्यवधान उपस्थित करेगा [वह पांच-महापातकों से संयुक्त (=उनके अपराध का भागी) होगा।]

अभिलेखों का महत्व

ये अभिलेख ब्राह्मण धर्मावलम्बियों में दान के प्रति रुचि को स्पष्ट करते हैं। प्रथम अभिलेख के अनुसार सम्भवतः मातृदास नामक व्यक्ति ने दस दीनार (=सुवर्ण मुद्रायें) सदा चलने वाले सत्र के ब्राह्मणों के लिये दान दी थीं। दूसरे अभिलेख के अनुसार इतना ही दान किसी गृहस्थ की भार्या ने सम्भवतः उसी सत्र को उसी उद्देश्य के हेतु दिया था। दूसरे लेख में पाटलिपुत्र का उल्लेख भी है, परन्तु यह नहीं कहा गया है कि साम्राज्य की राजधानी था।

द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल का साञ्ची पाषाण-लेख

वर्ष ९३ (=४१२ ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख जो द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन काल का है, मध्य प्रदेश में, भूतपूर्व भोपाल या भूपाल राज्य में, दीवानगञ्ज तहसील के प्रमुख नगर दीवानगञ्ज से लगभग बारह मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित **साञ्ची स्थल से** मिला है। इस स्थल को कभी-कभी साञ्ची-कानाखेड़ा भी कहा जाता है। इस स्थल पर स्थित अशोक के सुप्रतिथ महास्तूप के पूर्वी तोरण के बाहर दाहिनी ओर वेदिका के ऊपर यह लेख उत्कीर्ण है। लेख का क्षेत्रफल २'६$\frac{१}{४}$"×१'९" है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और यह आद्यन्त गद्य में है। इसमें कुल ११ पंक्तियां हैं। यह काफी सुरक्षित अवस्था में मिला है—सिवाय इसके कि इसकी आठवीं पंक्ति तक प्रत्येक पंक्ति के दो-तीन अक्षर क्षत हो गये हैं। इसकी **लिपि** दक्षिणी वर्ग की ब्राह्मी है और फ्लीट के मत में कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्मा के मन्दसौर-लेख से सादृश्य रखती है। अक्षरों का औसत आकार $\frac{५}{८}$" है। इसकी **तिथि** वर्ष ९३ के भाद्रपद मास की चतुर्थी है। पक्ष नहीं बताया गया है। वर्ष और दिवस संख्या प्रतीकों में लिखी हैं। **वर्तनी** में पंक्ति ४ में 'यशस्पताकः' में 'प' के साथ विसर्ग या उपध्मानीय के स्थान पर दन्त्य 'स' का प्रयोग उल्लेख्य है। यह एक बौद्ध लेख है। इसका **उद्देश्य** चन्द्रगुप्त के सेनापति आम्रकार्दव (अथवा अम्रकार्दव) द्वारा काकनादबोट के बौद्ध संघ को भिक्षुओं के भोजन और प्रकाश की व्यवस्था के निमित्त ईश्वरवासक गांव या क्षेत्र तथा २५ दीनारों के दान दिये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख को सर्वप्रथम १८३४ में जेम्स प्रिन्सेप ने बी० एच० हॉग्सन द्वारा तैयार की गई प्रतिलिपि की सहायता से जे० बी० ए० एस०, ३ (पृ० ४८८ अ०) में प्रकाशित किया। १८३७ में प्रिन्सेप ने उसी पत्रिका में इस लेख का अपना पाठ व अनुवाद छापा। तदनन्तर इसे फ्लीट ने अपने 'कॉर्पस' में प्रकाशित किया (सं० ५)। इस पर लिखने वाले अन्य विद्वान् हैं : सरकार, स० इ०, पृ० २८०-८१; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १३२; समरेश बन्धोपाध्याय, जे० ए० आई० एच०, ४, पृ० २१४ अ०; अजयमित्र शास्त्री, जे० ए० आई० एच०, ५, पृ० १९९ अ०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २४७-५२।

मूलपाठ

[सिद्धम् ॥*]

१ **का [कना*] दबोट-श्रीमहाविहारे शील-समाधि-प्रज्ञा-गुण-भावितेन्द्रियाय परम-पुण्य-**

२ **क्षे [त्र] [ग*] ताय चतुर्हिगभ्यागताय श्रमण-पुङ्गवावसथायार्य्य-सङ्घाय महाराजाधि-**

३ **रा [ज-श्री] चन्द्रगुप्त-पाद-प्रसादाप्यायित-जीवित-साधनः अनुजीवि-सत्पुरुष-सद्भाव-**

४ **वृ [त्यर्थं*] जगति प्रख्यापयन् अनेक-समरावाप्त-विजय-यशस्पताकः सुकुलिदेश-न**

५ **ष्टी * * * वास्तव्य उन्दान-पुत्राम्रकार्द्दवो मज-शरभङ्गाम्रात-राजकुल-मूल्य-क्री-**

६ त-[म] * * * * ईश्वरवासकं पञ्च-मण्डल्या [ं*] प्रणिपत्य ददाति पञ्चविंशतिश्च
दीना-
७ रान् (।।*) * * * * * * * यादर्द्धेन महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्य देवराज
इति प्रि-
८ य-ना [म्नः*] * * * * * रितस्य सर्व्व-गुण-संपत्तये यावच्चन्द्रादित्यौ तावत्पञ्च
भिक्षवो भुंज-
९ तां र [त्न*]-गृ [हे*] [च*] [दी*] [प] को ज्वलतु (।*) मम चापरार्द्धात्पञ्चैव भिक्षवो
भुंजतां रत्न-गृहे च
१० दीपक इ [ति] (।।*) [त] देतत्प्रवृत्तं य उच्छिन्द्यात्स गो-ब्रह्म-हत्यया संयुक्तो
भवेत्पञ्चभिश्चान-
११ न्तर्य्यैरिति (।।*) सं ९० (+*) ३ भाद्रपद-दि ४ (।।*)

पाठ-टिप्पणी—'सिद्धम्' शब्द प्रथम पंक्ति के ऊपर लिखा है और मुश्किल से पढ़ा जा सकता है। पंक्ति १ : 'प्रज्ञा' में लिपिक ने पहिले 'प' के बजाय 'व' खोदा था। पंक्ति २ : फ्लीट ने 'क्षेत्रगताय' को 'क्र···ताय' पढ़ा है। सरकार ने 'क्षेत्रगताय'। पंक्ति ६ : 'विंशतिश्च' को 'विंशतिञ्च' पढ़ें। पंक्ति ७ : 'रान् ।।' के बाद फ्लीट 'तद्दत्त' पढ़ते हैं। पंक्ति ८ : फ्लीट ने खण्डित अंश इस प्रकार पुनर्योजित किया है : नामामात्यो भवत्ये तस्य।

शब्दार्थ

भावित = रूपान्तरित किया गया, पावन किया गया; चतुर्दिगभ्यागत = चारों दिशाओं से आए हुए; श्रमण-पुङ्गव = अत्यन्त श्रेष्ठ श्रमण; आवसथः = निवास स्थान; आप्यायित = सन्तुष्ट, तृप्त; जीवित-साधनः = जीविका का साधन; अनुजीवी = (राजा का) आश्रित; अवाप्त = प्राप्त; वास्तव्य = निवासी; राजकुल = राजकुल या राजसभा का सदस्य, रावल; पञ्चमण्डली = आधुनिक पञ्चायत जैसी प्राचीन संस्था; प्रणिपत्य = प्रणिपात करके; दीनार = सुवर्ण मुद्राएं; संपत्तये = उत्कर्ष के लिये; भुंजतां = भोजन खिलाया जाय; अपरार्द्धात् = दूसरे आधे से; आनन्तर्यम् = व्यवधान रहित आसन्नता; आनन्तर्यकर्म = तुरन्त परिणाम देने वाला कर्म।

अनुवाद

पं० १ सिद्धम्! काकनादबोट के श्री महाविहार में आर्य संघ को—जिसमें (इसके सदस्यों की) इन्द्रियां शील, समाधि और प्रज्ञा गुणों द्वारा पावन हो गई हैं, (जिसके सदस्य) परम पुण्य क्षेत्रगत (अर्थात् परम पुण्य तीर्थ स्थलों का दर्शन करने वाले) हैं, जो चारों दिशाओं से आने वालों से निर्मित है (अर्थात् जिसमें सभी प्रदेशों से आए श्रमण रहते हैं), (तथा) जो अत्यन्त श्रेष्ठ श्रमणों का निवास स्थल है—

पं० २ महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त के चरणों की कृपा से सन्तुष्ट (अर्थात् सरल हो गई) जीविका-साधन वाला, (राजा का) अनुजीवी (अर्थात् आश्रित), सज्जन पुरुषों के सद्व्यवहार को जगत् में प्रकाशित करने वाला, अनेक समरों में विजय की यशः पताका को प्राप्त करने वाला, सकुलिदेश में नष्टी···का निवासी (तथा) उन्दान का पुत्र आम्र-

कार्दव (या अर्मकार्दव) राजकुल के मज, शरभंग तथा आम्रराात (या अम्रराात) से मूल्य देकर खरीदे हुए···ईश्वरवासक (ग्राम या क्षेत्र) को पञ्चमण्डली को प्रणिपात करके दान देता है तथा पचीस दीनारों को भी (दान देता है)।

पं० ७ उसके द्वारा प्रदत्त (दीनारों के ब्याज के) आधे के द्वारा महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त के, जिनका प्रिय नाम देवराज है···उसके समस्त गुणों के उत्कर्ष के लिए, जब तक चन्द्र और सूर्य हैं तब तक, पांच भिक्षुओं को भोजन कराया जाय तथा रत्नगृह में दीपक जलाया जाय। और (ब्याज के) दूसरे आधे भाग से, जो मेरा अपना है, पांच ही भिक्षुओं को भोजन कराया जाय और रत्नगृह में दीपक (जलाया जाय)।

पं० १० जो भी इस व्यवस्था में बाधक होगा, वह गोहत्या और ब्रह्महत्या (के पाप) से संयुक्त होगा (अर्थात् इन पापों का भागी होगा) तथा तुरन्त परिणाम देने वाले पांच पापों (के दोष) का (भागी बनेगा) संवत् ९० + ३, भाद्रपद, दिवस ४।

व्याख्या

(१) **काकनादबोट श्री महाविहारे**=काकनादबोट के श्रीमहाविहार में। काकनादबोट श्रीमहाविहार का उल्लेख एक अन्य सांची अभिलेख में भी आता है (फ्लीट, सं० ६२)। काकनाद सांची का प्राचीन नाम था, यह दो मौर्यकालीन अभिलेखों से सिद्ध है। इनमें एक का पाठ है: 'काकणाये भगवतो पमणलठि' तथा दूसरे का है 'सपुरिसस गोतिपुतस काकनाद पभासनस कोडिञगोतस' (फ्लीट, हिन्दी, पृ० ३९)। फ्लीट ने काकनाद का अर्थ किया है 'कव्वों का नाद'। परन्तु काक एक प्राचीन जाति का नाम था। उसका उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में है। सांची के समीप स्थित एक पहाड़ी अभी तक काकनाद कहलाती है तथा भीलसा से बीस मील उत्तर की ओर काकपुर नाम का एक गांव है। काकनाद के साथ 'बोट' शब्द का प्रयोग समस्या मूलक है। फ्लीट ने इसका अर्थ 'पोट'=मकान की नींव माना है। विस्तृत विवेचन के लिये दे०, भाण्डारकर, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २४८–९। तेजराम शर्मा ने इसे सम्प्रदायवाची बताया है (पूर्वो०, पृ० २६५)।

(२) **सुकुलिदेश**—इसका शाब्दिक अर्थ है 'कुलीनों का देश'। परन्तु यह एक प्रदेशवाची नाम था। देश=क्षेत्र, राष्ट्र या प्रान्त जैसी इकाई। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में साम्राज्य के प्रान्तों को 'देश' कहा गया है—सर्व्वेषु देशेषुविधाय गोप्तृन्···। सुकुलि देश की स्थिति अज्ञात है।

(३) **नष्टी** (नगर)—स्थिति अज्ञात है।

(४) **मजशरभङ्गाम्रराातराजकुलमूल्यक्रीतम्**—फ्लीट ने 'मज', 'शरभंग' तथा 'आम्रराात' को व्यक्तिवाचक नाम माना है, 'राजकुल' को राजकीय कुटुम्ब के अर्थ में लिया है और 'मूल्य' को 'मूलधन' या 'अक्षयनी वीदान' के अर्थ में। उनके विचार से इस अक्षयनीवी के दाता राजकुल के उपर्युक्त सदस्य थे। लेकिन 'मूल्य' को 'कीमत' अर्थ में लेना स्पष्टतः अधिक समीचीन होगा। आर० जी० बसाक (हिस्टरी ऑव नॉर्थ ईस्टर्न इण्डिया, १९३४, पृ० ४०) ने यहां 'राजकुलमूल्यक्रीतम्' का अर्थ किया है 'राजकुल द्वारा निर्धारित मूल्य देकर खरीदी गई'। सम्भवतः उनका आशय है कि 'राजकुल' कोई ऐसा अधिकरण था जिसका काम भूमि का मूल्य निर्धारित करना था तथा मज, शरभंग तथा आम्रराात उसके पदाधिकारी थे। सरकार ने 'राजकुल' को आधुनिक 'रावल' जैसे अर्थ में लिया है। उनका कहना है कि आम्रकार्दव ने राजकुल=रावल मज, शरभंग तथा आम्रराात से भूमि खरीदी थी। 'राजकुल' के रावल जैसे अर्थ के प्राचीन

प्रयोग के लिए दे०, मैत्रक नरेश अष्टम शीलादित्य का वलभी संवत् ४४७ (=७८६ ई०) का अलीना-दानपत्र। भाण्डारकर ने मज, शरभंग तथा आम्ररात को तीन राजमहलों के नाम माना है (कॉर्पस ३, संशोधित, पृ० २५१, टि० ४)।

पिछले कुछ वर्षों में 'शरभंग' शब्द विवाद का विषय हो गया है। इसका प्रयोग जातकों, 'रामायण', 'महावस्तु' आदि ग्रन्थों में व्यक्तिवाचक नाम के रूप में हुआ है लेकिन पूर्व-मध्यकालीन अभिलेखों में इसका प्रयोग 'सरांधा', 'सरोभंग', 'सरभंग' व 'शरभंग' आदि रूपों में पदनाम की तरह हुआ है (सन्दर्भों के लिये दे०, जे० ए० आई० एच०, ५, पृ· १९९ अ०; इ० आई०, ३५, पृ० ९६-७)। इसका अर्थ फोगल को (एण्टिक्विटीज़ ऑव चम्बा स्टेट, १, पृ० १६६) अव्याख्येय लगा था, आर० जी० बसाक ने इसका अर्थ 'धनुष-बाण से सज्जित सैनिक पदाधिकारी' (आई० सी०, ७, पृ० ३०९ पर उद्धृत), बताया है, बी० सी० सेन ने 'आखेट पर राजा के साथ जाने वाला पदाधिकारी' (हिस्टॉरिकल आस्पेक्टस् ऑव द इन्स्क्रिप्शंस् ऑव बंगाल, १९४२, पृ० ५४९) तथा सरकार ने पहले 'राजकीय सर्जन' (इ० आई०, ३१, पृ० २८२, टि० ६) लेकिन बाद में ईरानी शब्द 'सरहंग' का संस्कृत रूप (इ० आई०, ३५, पृ० ९६-९७)। 'सरहंग' का फारसी में अर्थ 'समूह का मुखिया' या 'सेनानायक' होता है। इसको धीरे-धीरे संस्कृत शब्द 'शरभंग' में रूपान्तरित कर दिया गया क्योंकि भारत के लोग 'शरभंग' शब्द से पहिले से ही परिचित थे। सरकार के इस सुझाव को प्रस्तुत अभिलेख पर लागू करते हुए समरेश बन्द्योपाध्याय (जे० ए० आई० एच०, ४, पृ० २१४ अ०) ने मान्यता रखी है कि इसमें तीन नहीं दो व्यक्तियों का उल्लेख है: मज जो शरभंग (=नायक) था और आम्ररात जो राजकुल (=रावल) था। इसके विरुद्ध अजयमित्र शास्त्री (जे० ए० आई० एच०, ५, पृ० १९९ अ०) की आपत्ति है कि ईरानी शब्द का संस्कृत रूप 'शरभंग' सातवीं शती ई० के बाद में प्रचलित हुआ, यह ४१२ ई० के लेख में नहीं मिल सकता। गुप्तकाल के लेख में इसका प्रयोग 'नायक' अर्थ में नहीं, व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ही हुआ होगा।

(५) **पञ्चमण्डल्यां**—पञ्चमण्डली=आधुनिक पञ्चायत जैसी कोई संस्था। लिच्छवियुगीन नेपाली अभिलेखों की 'पाञ्चाली' और गुप्तोत्तरयुगीन भारतीय लेखों का 'पञ्चकुल'। नेपाली अभिलेखों की 'पाञ्चाली' को एच० एन० झा (द लिच्छविज़, वाराणसी, १९७०, पृ० २२० अ०) ने ग्राम के सब मामलों की व्यवस्था करने वाली ग्राम समिति माना है, डॉ० आर० रेग्मी ने (एन्श्येण्ट नेपाल, १९६९, पृ० २५०-७) आधुनिक पञ्चायत जैसी संस्था तथा लल्लनजी गोपाल (ईस्ट एण्ड वेस्ट, न्यु सिरीज, २४, पृ० ३२७ अ०) ने ऐसे पांच व्यावसायिकों की श्रेणियों की सम्मिलित संस्था जो ग्राम के सामाजिक-धार्मिक जीवन में सहायक होते थे। 'पञ्चकुल' भी पञ्चायत बोर्ड जैसी संस्था थी। दे०, दि० च० सरकार, इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लॉसरी, पृ० २३०। पञ्चमण्डली उनसे मिलती-जुलती संस्था रही होगी।

(६) **देवराज इति प्रिय नाम्न:**—फ्लीट ने इसके साथ के खण्डित अंश का पुनर्योजन इस प्रकार किया है: प्रियनामामात्यो भवत्येतस्य। वह देवराज को चन्द्रगुप्त के अमात्य का नाम मानते थे। लेकिन प्रिन्सेप ने तभी सुझाया था कि इस लेख में देवराज द्वितीय चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम प्रतीत होता है। बाद में प्रभावती-गुप्ता के पूना और रिथपुर दानपत्र प्रकाश में आने पर सिद्ध हो गया कि वाकाटक अभिलेखों में उल्लिखित देवगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त का ही दूसरा नाम था। इसलिये अब प्रस्तुत अभिलेख में देवराज से अभिप्राय द्वितीय चन्द्रगुप्त से ही माना जाता है।

(७) **रत्नगृह च दीपको ज्वलतु**—फ्लीट के अनुसार यह शब्द तीन रत्नों—बुद्ध, धर्म और संघ—के निवास गृह स्वरूप स्तूप के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'महाभारत' के अनुशासन पर्व में (९८.४५-५४) दीपदान का महत्व बताया गया है। उदाहरणार्थ—दीपप्रद: स्वर्गलोके दीपमालेव राजते (श्लोक ५१)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(८) **पञ्चानन्तर्य कर्म**—ये बौद्ध धर्म में बताये गये वे पांच कर्म हैं जिनका फल तत्काल मिलता है। ये छ: अभिठाणों में से पांच हैं। वे हैं : मातृघात, पितृघात, अर्हन्तघात, किसी बुद्ध का रक्त बहाना, संघभेद, अन्य उपदेशकों का अनुसरण करना। पञ्चानन्तर्य कर्म में अन्तिम या पांचवें अभिठाण को छोड़कर शेष सम्मिलित माने गये हैं (द्र०, चाइल्डर्स के 'पालि शब्दकोश' में 'पञ्चनन्तरियकम्मस' तथा 'अभिठाणम')।

लेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख का महत्त्व कई दृष्टि से है। एक, यह द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदार धार्मिक दृष्टिकोण का प्रमाण है। चन्द्रगुप्त स्वयं वैष्णव था। उसे अधिकांश लेखों में 'परमभागवत' कहा गया है। परन्तु इसके बावजूद उसने बौद्ध आम्रकार्दव को सेनापति बनाया था और अपनी कृपा से सुखी किया था। पी० एल० गुप्त ने अपनी पुस्तक 'गुप्त साम्राज्य' में आम्रकार्दव का नाम सर्वत्र 'अम्रकारदेव' लिखा है (यथा पृ० २६५, २९०, ४७९ आदि) जो स्पष्टत: गलत है। आम्रकार्दव ने भी अपने स्वामी की मुक्त हृदय से प्रशंसा की है और उसका आभार माना है। दूसरे, इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि आर्य संघ अर्थात् बौद्ध संघ बैंक का काम भी करता था। आम्रकार्दव ने उसके पास पच्चीस दीनारें अक्षयनीवी के रूप में जमा की थीं जिनके ब्याज से भिक्षुओं को भोजन खिलाने तथा रत्नगृह में दीपक जलाने की व्यवस्था की जानी थी। इस प्रकार संघ एक बैंक और न्यासधारी (ट्रस्टी) के रूप में कार्य करता बताया गया है, यद्यपि इससे यह ज्ञात नहीं होता कि संघ इस प्रकार जमा की गई पूंजी का उससे आय पैदा करने के लिये किस प्रकार उपयोग करता था। तीसरे, इस अभिलेख से उस युग में सामान्य नागरिकों की दृष्टि से जीवन-यापन व्यय का अनुमान किया जा सकता है। इस अभिलेख में साढ़े बारह दीनारों की आय से पांच भिक्षुओं को स्पष्टत: प्रतिदिन भोजन कराने की व्यवस्था हुई बताई गई है। अब, उस समय एक दीनार में चांदी के १५ सिक्के (रूपक) होते थे और स्मृतियों के अनुसार सूद की दर सम्भवत: सवा प्रतिशत प्रतिमास थी। क्योंकि रूपक में ३२ से ३६ ग्रेन तक चांदी होती थी इसलिये मानना होगा कि बारह दीनारों पर प्रतिमास लगभग ८० ग्रेन चांदी सूद में मिल सकती थी। आज के भाव से इसका मूल्य करीब चार रुपये हुआ। इसमें ५ व्यक्तियों को प्रतिदिन भोजन कराया जा सकता था। परन्तु स्मरणीय है कि गु० स० १३१ (=४५० ई०) के सांची-पाषाण-लेख में हरिस्वामिनी ने इतना ही धन केवल एक भिक्षु को भोजन कराने के लिये दिया है। चौथे, इस लेख में पञ्चमण्डली का उल्लेख है जिसको स्वयं आम्रकार्दव ने, जो सम्राट् का प्रिय सेनापति था, प्रणिपात करके दान दिया था। इससे गुप्तकाल में पंचायत व्यवस्था के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

बहुत से विद्वान् इस लेख का एवं द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि से प्राप्त अभिलेखों का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त की शक-विजय के जोड़ते हैं। लेकिन इस अभिलेख में ऐसा कोई संकेत नहीं दिया गया है जिससे लगे कि आम्रकार्दव शक-युद्ध में भाग लेने गया था। यद्यपि इस सम्भावना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। इस समस्या पर विस्तार से विचार हमने तिथिविहीन उदयगिरि लेख का महत्त्व दर्शाते समय किया है।

प्रस्तुत अभिलेख का कुछ साहित्यिक मूल्यांकन भी सम्भव है। इसको वैदर्भी रीति में लिखा गया लगता है। इसमें लम्बे समासों का अनावश्यक प्रयोग नहीं है। 'आर्यसंघ' के विशेषणों का नियोजन इस प्रकार किया गया है कि उनसे सुखद लयात्मक ध्वनि निकलती लगती है। कहीं-कहीं अनुप्रास का अच्छा प्रयोग है।

द्वितीय चन्द्रगुप्तकालीन तिथिविहीन उदयगिरि गुहा-लेख

गुप्तसंवत् ९४ = 413 AD.

लेख-परिचय—यह अभिलेख गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त (३७६–४१३ ई०) के सचिव वीरसेन ने लिखवाया था। इसका **प्राप्ति स्थल** मध्य-प्रदेश में विदिशा के सभीपस्थ उदयगिरि की एक गुफा है, जो इसके ऊपर तवे के आकार की एक बड़ी शिला रखी होने के कारण 'तवा गुफा' कहलाती है। इस गुफा के पास ही वह गुफा है जिसमें किसी सनकानीक महाराज का गु०स० ९३ का लेख लिखा है। प्रस्तुत लेख तवा गुफा में प्रवेश करते ही थोड़ा बाईं ओर हट कर पीछे की दीवार पर उत्कीर्ण है। उस चट्टान के, जिस पर यह लेख लिखा है, चिप्पड़ उखड़ जाने के कारण लेख काफी क्षतिग्रस्त हो गया है, विशेषतः प्रथम दो पंक्तियां, लेकिन इसका सामान्य अभिप्राय स्पष्ट है और ऐसा नहीं लगता कि ऐतिहासिक महत्त्व की कोई सूचना नष्ट हो गई है। लेख में कुल पांच पंक्तियां हैं जो ३'७"×१'२" क्षेत्रफल में लिखी हैं। इसकी **भाषा** संस्कृत है और 'सिद्धम्' शब्द को छोड़कर यह आद्यन्त पद्यात्मक है। इसमें पांच श्लोक हैं और पांचों अनुष्टुभ् **छन्द** में हैं। इसकी **लिपि** पांचवीं शती ई० के प्रारम्भ की उत्तर भारतीय ब्राह्मी है और मूलतः समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से मिलती-जुलती है। अक्षरों का आकार ¾" से १¼" तक है। श्लोकों के अन्त में उनकी संख्या भी लिखी है। **वर्तनी** की उल्लेख्य बात चौथी पंक्ति में 'लोकज्ञः कविः पाटलि०' में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग है।

प्रस्तुत लेख **तिथिविहीन** है परन्तु गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त का उल्लेख करता है। यह चन्द्रगुप्त इस नाम का प्रथम सम्राट् है या द्वितीय, यह लेख से स्वतः तो स्पष्ट नहीं है परन्तु इसकी लिपि प्रथम चन्द्रगुप्त (३१९–लग० ५० ई०) के काल की नहीं हो सकती। दूसरे, सांची-उदयगिरि प्रदेश से द्वितीय चन्द्रगुप्त के अन्य लेख मिलते हैं, इसलिये इस लेख के चन्द्रगुप्त को इस नाम का द्वितीय नरेश ही माना जाता है। तीसरे, प्रथम चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में विदिशा प्रदेश सम्मिलित होना अभी अप्रमाणित है।

प्रस्तुत अभिलेख एक शैव अभिलेख है। इसका **उद्देश्य** चन्द्रगुप्त के सचिव वीरसेन द्वारा, जिसका दूसरा नाम शाव भी था, शम्भु (=शिव) के मन्दिर के रूप में इस गुफा के निर्माण का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—यह लेख सम्भवतः कनिंघम ने खोजा था। उन्होंने ही सर्वप्रथम ए० एस० आई०, १० (पृ० ५१ अ०) में इसका स्वयं द्वारा प्रस्तुत पाठ और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द कृत अनुवाद छापा। १८८२ में हूल्श ने आई० ए०, ११ (पृ० ३१२) में इस पाठ में कुछ संशोधन सुझाये। तदनन्तर फ्लीट ने इसे अपने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (स० ६)। इसके लिये अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ हैं :—भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २५५–५७; सरकार; स० इ०, पृ० २७९–८०; पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ८०; जगन्नाथ, जे० आई० एच०, २१, पृ० १५६–७; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १३०; भाण्डारकर-सूची सं० १५४१।

मूलपाठ

सिद्धम् (॥*)

१ यद[ं]तर्ज्योतिरर्क्काभमुर्व्व्या[म्भा] * * — ⌣ * (।*)
* * * * ⌣ — वयापि चन्द्रगुप्ताख्यमद्भुतम् (॥*) [१]

२ विक्रमावक्रयक्रीता दास्य-न्यग्भूत-पार्त्थिव[ा] (।*)
* * * [स]न-संरक्ता धर्म्म * * ⌣ — ⌣ * (॥*) [२]

३ तस्य राजाधिराजर्षेरचि[न्त्यो][ज्ज्वल-क*][र्म्म]णः (।*)
अन्वय-प्राप्त-साचिव्यो व्या[पृत-सन्धि-वि*]ग्रह[ः] (॥*) ३

४ कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया (।*)
शब्दार्त्थ-न्याय-लोकज्ञ कवि पाटलिपुत्रकः (॥*) ४

५ कृत्स्न-पृथ्वी-जयार्त्थेन राज्ञैवेह सहागतः (।*)
भक्त्या भगवतश्शम्भोर्ग्गुहामेतामकारयत् (॥*) ५

पाठ-टिप्पणी—'सिद्धम्' शब्द तीसरी पंक्ति के पहिले बाईं ओर हाशिये में लिखा है। पंक्ति १ : सरकार ने लुप्तांश को इस प्रकार पुनर्योजित करने का सुझाव रखा है—०मुर्व्व्यां भाति निरन्तरम् । दिवाविभावरी व्यापि० ॥ 'पंक्ति' २ : सरकार ने उत्तर पद का पुनर्योजन इस प्रकार किया है—यस्य शासनसंरक्ता धर्मज्ञस्य वसुन्धरा ॥ भाण्डारकर ने संरक्ता के पूर्व 'अनु' पढ़ा है और इस पंक्ति का पाठ पृथिव्यामनुसंरक्ता धर्म्म सन्नय पालिता' सुझाया है। पंक्ति ३ : भाण्डारकर 'अचिन्त्यो' के बाद 'ओदारकर्म्मणः' पाठ सुझाते हैं। पंक्ति ४ : भाण्डारकर 'साचिव्यो' के बाद 'व्यासृष्टस्सान्धिविग्रहे' पाठ सुझाते हैं।

शब्दार्थ

अर्क=सूर्य; उर्व्व्याम्=पृथिवी पर; व्यापि=व्याप्त करते हैं; अवक्रय=मूल्य; न्यग्भूत=अपमानित; संरक्त=मोहित, मुग्ध; अन्वय प्राप्त साचिव्यः=जिसने सचिव पद वंशानुगतरूपेण पाया; व्यापृत=लगा हुआ, नियुक्त; न्याय=तर्कशास्त्र; लोक=व्यवहार; कृत्स्न=समस्त; इह=यहां; सहागतः=साथ आया; भक्त्या=भक्तिभाव के कारण; अकारयत्=निर्माण कराया।

अनुवाद

पं० १ सिद्धम् ! जो अपनी अन्तर्ज्योति से प्रकाशमान (होने के कारण) पृथिवी पर सूर्य के समान भासित होते हैं............व्याप्त करते हैं............चन्द्रगुप्त नाम है (और) अद्भुत (हैं);—

पं० २ (जिसके) विक्रम के मूल्य से खरीदी गई (अर्थात् बलात् जीती हुई) (पृथिवी, जिस पर अन्य) राजा (उसके द्वारा उन पर आरोपित) दासत्व से अपमानित....... ....धर्म (ज्ञ)............मोहित............।

पं० ३ उस अचिन्त्य (और) उज्जवल कर्मों वाले राजाधिराजर्षि का वंशानुगत रूप से साचिव्य करने वाला कुलनाम वीरसेन द्वारा विख्यात है। (वह) सान्धि विग्रहिक रूप में नियुक्त (है)। (वह) कौत्सगोत्रीय, शाव नाम से प्रसिद्ध, शब्द, अर्थ, न्याय तथा लोक (= व्यवहार) का ज्ञाता, कवि तथा पाटलिपुत्रवासी (है)।

पं० ५ सम्पूर्ण पृथिवी की विजय में प्रवृत्त स्वयं राजा के साथ (वह) यहां आया और भगवान् शम्भु के प्रति भक्ति के कारण (उसने) उस गुफा का निर्माण करवाया।

व्याख्या

(१) **दास्यन्यग्भूत पार्थिवाः**—तु०, प्रयाग-प्रशस्ति में चन्द्रगुप्त द्वारा आटविक राजाओं को सेवक बनाये जाने का उल्लेख। अधीन राजाओं के दास्य भाव के विस्तृत वर्णन के लिये दे०, हर्षचरित, उच्छ्वास २।

(२) **राजाधिराजर्षि**—राजाधिराज = राजाओं का अधिपति। यह 'महाराजाधिराज' का कुछ लघु रूप है जिसका प्रयोग प्रायः छन्दात्मक रचनाओं में, अगर वहां 'महा' उपसर्ग का सन्निवेशन कठिन हो, अधिक मिलता है। राजर्षि उस राजा को कहते थे जो अपने सदाचरण व सुचरित्र के कारण ऋषिवत् माना जाता था। स्मरणीय है 'राजर्षि' का क्षत्रिय होना अनिवार्य नहीं था। पुलुमावी के १९वें वर्ष के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि के लिये 'एक-बम्हणस' (एक-ब्राह्मणस्य) तथा 'खतियदपमानमदनस' (क्षत्रिय दर्प मान मर्दनस्य) पदों का प्रयोग भी हुआ है जो उसे ब्राह्मणजातीय सिद्ध करते हैं तथा उसकी मां को 'राजरिसिवधु' (राजर्षिवधू) भी कहा गया है (स० इ०, पृ० २०५—६)।

(३) **अन्वय प्राप्त साचिव्य**—वंशानुगत रूप से प्राप्त सचिव पद। इससे पता चलता है कि इस युग में किसी मन्त्री के बाद उसका पद उसके पुत्र को देने की प्रथा प्रचलित थी। अगर हरिषेण और वीरसेन का सेनान्त नाम धारण करना उनके सम्बन्ध का संकेत माना जाय तो कल्पना की जा सकती है कि वीरसेन हरिषेण का पुत्र रहा होगा। गुप्तों के एक अन्य मन्त्री-परिवार का उल्लेख प्रथम कुमारगुप्त के करमदाण्डा-पाषाण-लिंग अभिलेख में हुआ है। बिहार पाषाण-अभिलेख का अनन्तसेन, जो सम्भवतः प्रथम कुमारगुप्त का मन्त्री और साला भी था, हो सकता है इन दोनों मन्त्री परिवारों में से किसी एक से सम्बन्धित रहा हो। प्राचीन साहित्य में अन्वय प्राप्त सचिवों और अमात्यों का प्रायः उल्लेख मिलता है। द्र०, अमात्यानुप धातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन्' (रामायण, २.१००.२६)। सचिवों व अमात्यों के अतिरिक्त अन्य पदों पर भी अन्वय प्राप्त पदाधिकारी मिलते हैं। दे०, पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में दत्तान्त नाम वाले उपरिक जो परस्पर सम्बन्धित रहे होंगे। द्र०, फ्लीट सं० २२, २३, २६ तथा २७ में विभिन्न पदाधिकारियों का वंश वर्णन।

(४) **सन्धिविग्रह**—शान्ति और युद्ध। इन विषयों से सम्बन्धित मन्त्री सान्धिविग्रहिक कहलाता था। दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, पं० ३२ की टि०।

(५) **शब्दार्थ-न्याय-लोकज्ञः कविः**—'शब्दार्थ' का अर्थ इनको दो शब्द मानकर 'शब्दविद्या' या 'व्याकरण' तथा 'अर्थविद्या' या 'अर्थशास्त्र' भी माना जा सकता है और इसको एक शब्द मानकर 'शब्दों के अर्थ की विद्या' अर्थात् 'व्याकरण' अथवा 'कोशशास्त्र' भी लिया जा सकता है। न्याय = तर्क शास्त्र। तु०, प्रथम रुद्रदामा को जूनागढ़-लेख में 'शब्दार्थ-गान्धर्व्व-न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारण-धारण-

विज्ञान प्रयोगावाप्त विपुल कीर्त्तिना' कहा जाना तथा हाथिगुम्फा लेख में खारवेल का 'रूप-गणना-ववहार-विधि-विसारद' रूप में वर्णन। वीरसेन कवि भी कहा गया है। तु०, समुद्रगुप्त का 'कविराज' रूप में वर्णन। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का मत है कि वीरसेन मेहरौली-प्रशस्ति का लेख था।

(६) **पाटलिपुत्रकः** —पाटलिपुत्र में उत्पन्न या पाटलिपुत्रनिवासी। इसके आधार पर कुछ लोग पाटलिपुत्र को गुप्त-साम्राज्य की राजधानी बताते हैं (दे०, भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २०८)। परन्तु इस शब्द से मात्र यह सिद्ध होता है कि वीरसेन पाटलिपुत्र में रहता था, पाटलिपुत्र का राजधानी होना सिद्ध नहीं होता—वैसे ही जैसे आजकल किसी केन्द्रीय मन्त्री का अपने को इलाहाबादी कहने से इलाहाबाद शहर भारत की राजधानी सिद्ध नहीं हो जायेगा।

(७) **कृत्स्न-पृथ्वी-जयार्त्थेन राज्ञैवेह सहागतः** —यहां 'कृत्स्न पृथ्वी'='समस्त पृथ्वी' से आशय मात्र उस प्रदेश से है जिसे जीतने के लिये द्वितीय चन्द्रगुप्त निकला था। 'पृथ्वी' शब्द गुप्त काल में 'साम्राज्य' के अर्थ में आता था। चन्द्रगुप्त द्वारा जीते गये इस प्रदेश को अनायास पश्चिमी भारत का शक राज्य माना जा सकता है (दे०, नीचे)। पी० एल० गुप्त का यह कथन कि द्वितीय चन्द्रगुप्त उदयगिरि उस समय गया होगा जब वह अपनी बेटी प्रभावती से मिलने गया था (गु० सा०, पृ० २९२), स्पष्टतः निराधार, इस अभिलेख के कथन के विरुद्ध तथा पी० एल० गुप्त की कोई नई बात कहने की इच्छा मात्र है।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख द्वितीय चन्द्रगुप्त का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। अगर मेहरौली-लौह स्तम्भ अभिलेख में समुद्रगुप्त की कीर्त्ति का वर्णन है (जैसा कि इस ग्रन्थ में माना गया है) तो प्रस्तुत अभिलेख ही एक मात्र अभिलेख बचता है जिसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त की सामरिक गतिविधि का वर्णन है। यह वर्णन इन संक्षिप्त सूचनाओं के रूप में है: उसने पृथिवी को अपने विक्रम के मूल्य से खरीदा था, राजाओं को उन पर दासत्व आरोपित कर अपमानित किया था तथा समस्त पृथिवी की अभिलाषा से (कृत्स्न पृथ्वी-जयार्त्थेन) स्वयं उदयगिरि आया था। लेकिन ये सूचनायें बहुत महत्त्व की नहीं हैं। गुप्त काल में 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग साम्राज्य या उसके एक भाग के लिये होता था। जब कोई राजा किसी युद्ध में विजय प्राप्त करता था तो उसकी विजय को पृथिवी-विजय कह दिया जाता था। स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य अपने पिता से उत्तराधिकार में पाया था लेकिन उसके विषय में जूनागढ़-लेख में कहा गया है कि उसने 'समस्त पृथिवी को जीत कर·········आदि' (एवं स जित्वा पृथिवी समग्राम्·········)। ऐसे अनेक उदाहरण प्राचीन अभिलेखों से अनायास संगृहीत किये जा सकते हैं। इसलिये जब तक किसी लेख में विजेता राजा की विशिष्ट विजयों का पराजित राज्यों और प्रदेशों का नाम देकर वर्णन न किया गया हो (जैसा कि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति, 'चन्द्र' की मेहरौली-प्रशस्ति तथा स्कन्दगुप्त की जूनागढ़ तथा भितरी-प्रशस्तियों में है) तब तक इस प्रकार के तथ्यविहीन वर्णनों से, जैसा कि प्रस्तुत लेख में है, बहुत गम्भीर निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

प्रस्तुत लेख में एक ही तथ्य ऐसा है जो द्वितीय चन्द्रगुप्त की किसी विशिष्ट विजय से सम्बन्धित माना जा सकता है और वह है पृथिवी विजय की अभिलाषा से उसके उदयगिरि जाने का उल्लेख। अब हम जानते हैं कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी भारत के शक-राज्य को जीता था। इसी कारण इतिहास में वह 'शकारि' नाम से विख्यात है। इस विजय का निश्चित प्रमाण उसकी रजत मुद्राओं से मिलता है। शक राजाओं की रजत मुद्राएं, जिनमें ७८ ई० में प्रारम्भ होने वाले शक संवत् में तिथि लिखी

मिलती हैं, दूसरी शती ई॰ के उत्तरार्द्ध से लगभग हर वर्ष की तिथि सहित मिल जाती हैं। लेकिन रुद्रसिंह के समय से ये अचानक बन्द हो जाती हैं। इन अन्तिम मुद्राओं पर लिखित शक संवत् की तिथि ३१० से लेकर ३१९ के बीच की है क्योंकि उन पर सैकड़े व दहाई के अंक तो स्पष्ट हैं, इकाई का अंक मिट गया है। स्पष्टतः ये मुद्राएं ३८८ ई० से ३९७ ई० के बीच में कभी चलाई गई होंगी। इनके बाद ठीक इन्हीं मुद्राओं का अनुकरण करके चलाई गई द्वितीय चप्द्रगुन्त की रजत मुद्रायें मिलती हैं। इन पर गुप्त संवत् में तिथि लिखी है जो ९० से ९९ के बीच का (४०९ ई० से ४१८ ई० के वीच का) कोई वर्ष है (क्योंकि इनमें भी इकाई का अंक मिट गया है)। क्योंकि द्वितीय चन्द्रगुप्त की मृत्यु ४१५ ई० तक अवश्य ही हो गई थी, इसलिये स्पष्टत: ये मुद्रायें ३१९ + ९० = ४०९ से ४१५ के बीच में जारी की गई होंगी। इस प्रकार मौद्रिक साक्ष्य से स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकराज्य का उन्मूलन ३८८ से ४१५ ई० के बीच में कभी किया था। पी० एल० गुप्त को शक संवत् ३०१ से बाद की तिथि वाली किसी शक मुद्रा का अस्तित्व स्वीकार्य नहीं है। इससे वह निष्कर्ष निकालते हैं कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकों का उन्मूलन नहीं किया था (गु० सा०, पृ० २९१)। उनकी धारणा है कि गुजरात-सौराष्ट्र में शकों के बाद सर्व वंश के राजाओं ने शासन किया जिनका उन्मूलन प्रथम कुमारगुप्त ने किया होगा (पृ० ३०३)। परन्तु (१) यह सुझाव देते समय वह बिल्कुल भुला ही देते हैं कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शक शैली के सिक्के चलाये थे और वह शकारि नाम से विख्यात हुआ। (२) अगर सर्ववंशीय राजाओं ने इसी काल में शासन किया तो वे शकों के समकालीन भी हो सकते हैं। (३) पी० एल० गुप्त ने स्वयं अपनी पुस्तक के पृ० २९४ पर चन्द्रगुप्त की शक-विजय की चर्चा की है। (४) पी० एल० गुप्त इस विषय में कितने विभ्रम में पड़े हुए हैं यह इसी से स्पष्ट है कि प्रस्तुत अभिलेख के इस स्पष्ट कथन के विरुद्ध कि चन्द्रगुप्त उदयगिरि किसी युद्ध के सिलसिले में विजय प्राप्ति के हेतु गया था (कृत्स्न पृथिवी जयार्थेन) वह सुझाव रखते हैं कि यह अभिलेख तब लिखवाया गया होगा जब चन्द्रगुप्त हो सकता है अपनी बेटी से मिलने गया हो (गु० सा०, पृ० २९२)।

चन्द्रगुप्त की शकों के गुजरात-काठियावाड़ स्थित राज्य पर, जो पश्चिमी समुद्र तक विस्तृत था, विजय का उल्लेख तुमैन-अभिलेख में हुआ है। इसमें कहा गया है कि 'चन्द्रगुप्त' ने सागर पर्यन्त भूमि जीती थी—श्री चन्द्रगुप्तस्तदनुजयति यो मेदिनीं सागरान्ताम् (श्लोक २)। इस साक्ष्य की तरफ सम्भवतः अभी तक किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया है।

प्रस्तुत तिथिविहीन उदयगिरि-अभिलेख, सनकानीक महाराज के गु० स० ८२ (= ४०१ ई०) के उदयगिरि-लेख तथा आम्रकार्दव के गु० स० ९३ (= ४१२ ई०) के सांची अभिलेख के आधार पर बहुत से विद्वानों ने यह मत रखा है कि चन्द्रगुप्त को शकों को जीतने के लिये बहुत प्रयास करना पड़ा था। रायचौधुरी (पो० हि० ए० इ०, पृ० ५५५–६) के अनुसार चन्द्रगुप्त ने इस युद्ध के लिये अपने अनेक मन्त्रियों, अधीन राजाओं और सेनानायकों को विदिशा के पास एकत्र किया। मजूमदार ने भी गु० सं० ८२ के उदयगिरि-लेख व आम्रकार्दव के गु० स० ९३ के सांची-लेख का सम्बन्ध शक-युद्ध से जोड़कर निष्कर्ष निकाला है कि यह युद्ध दीर्घकाल तक चला था—कम से कम ४०१ से ४१२ ई० तक (वा० गु० ए०, पृ० १६७)। बी० पी० सिनहा (हिस्टरी ऑव बिहार, १, पृ० ४७) तथा मैती (इम्पीरियल गुप्तज़ एण्ड देयर टाइम्स्, पृ० ४१) ने इन सुझावों का अनुमोदन किया है।

लेकिन इन अभिलेखों के आधार पर चन्द्रगुप्त के शक-युद्ध को इतना भीषण और महत्त्वपूर्ण मानने की आवश्यकता नहीं है। (१) द्वितीय चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के समय शकराज्य की अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी। समुद्रगुप्त के शासन काल तक उसके हाथ से मालवा व राजस्थान निकल चुके थे तथा

मालवा में दशपुर को राजधानी बनाकर वर्मा वंश शासन करने लगा था। तृतीय रुद्रसेन की ३५१-६४ तक की मुद्राएं (सीसे के कुछ सिक्कों को छोड़कर) न मिलना, उसकी प्रजा का जगह-जगह अपने धन को भूमि में दबाना और उसके बाद सिंहसेन और चतुर्थ रुद्रसेन का कुछ ही समय शासन कर पाना आदि तथ्य भी शक राज्य की आन्तरिक दुर्बलता का प्रमाण हैं। उसकी तुलना में गुप्त साम्राज्य की शक्ति, जिसकी सेनाओं ने हाल ही में असम से हिन्दुकुश तक और दक्षिण में काञ्ची तक गरुड़ ध्वज फहरा कर गुप्तों के गौरव का डंका पीटा था, निश्चय ही बहुत अधिक थी। उसको जीतने के लिये चन्द्रगुप्त को उतना लम्बा और भीषण संघर्ष नहीं करना पड़ा होगा जितना मजूमदार, रायचौधुरी आदि मानते हैं। (२) लम्बे और कड़े संघर्ष की कल्पना का समर्थन उदयगिरि व सांची लेखों से बिल्कुल नहीं होता। सनकानीक महाराज का अभिलेख ४०१ ई० का है परन्तु उसमें किसी युद्ध की चर्चा नहीं है। अगर सनकानीक महाराज उदयगिरि प्रदेश पर शासन करता था तो वह वहां दान देता ही। उसका सम्बन्ध शक-युद्ध से जोड़ना निराधार है। (३) आम्रकार्दव द्वितीय चन्द्रगुप्त का एक सेनापति था और हो सकता है वह सांची में शक-युद्ध के सिलसिले में गया हो (यद्यपि यह भी अप्रमाणित ही है)। परन्तु उसकी तिथि ४१२ ई० है। इस तिथि को शक-युद्ध प्रारम्भ या समाप्त हुआ था, यह मानने पर निष्कर्ष अनिवार्य होगा कि चन्द्रगुप्त ने शकों का उन्मूलन अपने शासन के अन्तिम वर्षों में किया था। (४) चन्द्रगुप्त ने शक शैली का अनुसरण करके जो उपर्युक्त रजत मुद्रायें चलाई थीं, वे 'अत्यन्त विरल' हैं। इस तथ्य से भी लगता है कि उसने शक-युद्ध अपने शासन के अन्तिम वर्षों में लड़ा था। (५) प्रस्तुत उदयगिरि-अभिलेख तिथिविहीन है, इसलिये इसके कारण शक-युद्ध को ४१०-१२ ई० के आस-पास रखने में कोई बाधा नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के उदयगिरि व साञ्ची अभिलेखों से उसका शक-युद्ध उतना भीषण और दीर्घकाल तक चलने वाला प्रमाणित नहीं होता जैसी मजूमदार, रायचौधुरी व सिनहा आदि ने कल्पना की है। वी० एस० स्मिथ आदि (अ० हि० इ०, पृ० ३२४; दे०, मजूमदार वा० गु० ए०, पृ० १६६; रायचौधुरी, पो० हि० ए० इ०, पृ० ५५४ अ०; मैती, इम्पीरियल गुप्तज़ एण्ड देयर टाइम्स्, पृ० ३८) का यह सुझाव तो कि चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती-गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश द्वितीय रुद्रसेन से इसलिये किया था जिससे वाकाटक उसके शक-अभियान में बाधा न डालें, सर्वथा अस्वीकार्य ही है। प्रभावती का विवाह लगभग ३८० ई० में हुआ और शक-युद्ध लग० ४१० ई० में लड़ा गया। शक राज्य जैसे दुर्बल शत्रु को जीतने में वाकाटकों की सहायता पाने के हेतु प्रतापी गुप्त सम्राट ने युद्ध प्रारम्भ करने के २५-३० वर्ष पूर्व अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक घराने में किया होगा, यह अनुमान करना सर्वथा अनुचित होगा।

प्रस्तुत अभिलेख को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने वाले अन्य तथ्य हैं। (१) इसमें वीरसेन को 'अन्वय प्राप्त सचिव' कहा जाना जिससे गुप्त काल में सचिवों की नियुक्ति की प्रथा पर प्रकाश मिलता है (दे०, पीछे, टि० ३)। (२) वीरसेन को 'पाटलिपुत्रक' कहा जाना जिससे यह भ्रमपूर्ण धारणा फैली कि यह नगर साम्राज्य की राजधानी था (दे०, पीछे, टि० ६)। (३) वीरसेन की योग्यताओं का वर्णन। (४) इस अभिलेख से चन्द्रगुप्त का उदार धार्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट होना। चन्द्रगुप्त स्वयं 'परमभागवत' था, उसका सेनापति आम्रकार्दव बौद्ध था और प्रस्तुत लेख का मन्त्री वीरसेन शैव।

प्रस्तुत लेख का कुछ साहित्यिक महत्त्व भी है। इसके प्रथम श्लोक में सुन्दर उपमा है। इसमें 'अर्क' (=सूर्य) व चन्द्रगुप्त की तुलना की गई है और दोनों को 'अन्तर्ज्योति' से जोड़ा गया है। इसे श्लेष का अच्छा नमूना माना जा सकता है। इसी प्रकार 'अन्वयप्राप्तसाचिव्य' काव्यलिंग अलंकार का

उदाहरण लगता है । कुछ लोगों ने इस अभिलेख की शैली को मेहरौली-प्रशस्ति की शैली के सदृश माना है और इस आधार पर कल्पना की है कि मेहरौली-लेख की रचना स्वयं वीरसेन ने की होगी (उदयनारायण राय, गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ० ५४१)। परन्तु यह अनुमान निराधार है। वीरसेन को कवि जरूर कहा गया है परन्तु यह दावा नहीं किया गया है कि उसने प्रस्तुत लेख स्वयं रचा था। ऐसी अवस्था में तो उसे मेहरौली-प्रशस्ति का लेखक कैसे माना जा सकता है ?

द्वितीय चन्द्रगुप्त का तिथिविहीन मथुरा-पाषाण-लेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख १०"×११$\frac{१}{२}$" आकार के जिस पाषाण-खण्ड पर उत्कीर्ण है वह **मथुरा** से प्राप्त हुआ था। अब यह लाहौर संग्रहालय में है। इसका प्राप्त भाग, जिसमें दस पंक्तियां हैं, किसी बड़े अभिलेख का प्रारम्भिक भाग है—शेष भाग टूट कर खो गया है। अभिलेख बहुत क्षत अवस्था में मिला है परन्तु इसमें क्योंकि गुप्त वंशावली दी गई है इसलिये स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ लेख आदि की सहायता से इसके खण्डित शब्दों को अनायास पुनर्योजित किया जा सकता है। लेख की **भाषा** संस्कृत है तथा **लिपि** चौथी शती के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। लेख में कोई तिथि रही होगी तो वह उस भाग में रही होगी जो अप्राप्य है। लेख पूर्णतः गद्य में है। **वर्तनी** में कोई उल्लेख्य बात नहीं है। अक्षरों का आकार $\frac{३}{८}$" से $\frac{३}{४}$" तक है।

प्रस्तुत लेख द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल का है। इसके प्राप्त भाग में इस सम्राट् का नाम नहीं मिलता—मिट चुका है—परन्तु इसकी पंक्ति ९ तक समुद्रगुप्त का वर्णन सम्बन्धकारक विभक्ति में है और तदुपरान्त करणकारक विभक्ति में 'पुत्रेण' का प्रयोग है जिससे स्पष्ट है कि इस लेख में वंशावली समुद्रगुप्त के पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त पर समाप्त हुई थी। 'पुत्रेण' (=पुत्र के द्वारा) शब्द से यह भी स्पष्ट है कि इस लेख का उद्देश्य द्वितीय चन्द्रगुप्त के किसी कार्य का वर्णन करना था जो अप्राप्य अंश में उल्लिखित रहा होगा।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख को कनिंघम ने १८५३ में प्राप्त किया था। उन्होंने इसको ए० एस० आई० १, तथा ३ में प्रकाशित किया। तदनन्तर इसे फ्लीट ने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (सं० ४)। दे०, भाण्डारकर-सूची सं० १५४२; उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १३३; अग्रवाल, वी० एस०, जे० यू० पी० एच० एस०, २४-२५, पृ० १४१-४३; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २५२-५५।

मूलपाठ

१. ···[सर्व्वराजोच्छेत्तुः पृथिव्] य् [ामप्रतिरथ]-
२. [स्य चतुरुदधिसलि] लास्वादितय [शसो ध]-
३. [नदवरुणेन्द्रान्तकस] मस्य कृतान्त [परशोः]
४. [न्यायागतानेकगो] हिरण्यकोटिप्रद [स्य चिरो]-
५. (त्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुर्म्म) हाराजश्रीगुप्तप्रपौ (त्) र (स्य)-
६. [महाराजश्री घटोत्क] चपौत्रस्य महाराजाधिर् [ाज]-
७. [श्रीचन्द्रगुप्तपु] त्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महा [दे]-
८. [व्यां कुमार] द् [े] व्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिरा-
९. [जश्री स]मुद्रगुप्तस्य पुत्रेणत्परिगृ-

१०. [ही] त् [`] न महादेव् [य्] ांदत् (त) देव् [य] ामुत् [प] न् [न] `–
११. [न स्वयं चाप्रतिरथेन परमभागवतेन]
१२. [महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्ततेन]

(अभिलेख का १०वीं पंक्ति के बाद का भाग पूर्णतः टूटा हुआ है और अप्राप्य है)

पाठ-टिप्पणी—ऊपर इस अभिलेख के लुप्तांश का पुनर्योजन फ्लीट के आधार पर दिया गया है। अन्तिम दो पंक्तियां लेख में नहीं हैं। उन्हें फ्लीट ने लेख की निरन्तरता दिखाने के लिये जोड़ा था। इनमें फ्लीट ने 'परमभागवतेन' के पूर्व 'स्वयं चाप्रतिरथेन' शब्द नहीं दिये हैं जो गुप्त वंशावली में चन्द्रगुप्त के लिये प्रयुक्त मिलते हैं। उन्हें हमने जोड़ा है।

अनुवाद

पं० १ महाराज श्रीगुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छवि-दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त (हुए) जो समस्त राजाओं का उच्छेद करने वाले, पृथिवी पर अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान विचरण करने वाले), चारों समुद्रों के जल को अपने यश का आस्वादन कराने वाले, कुबेर, वरुण, इन्द्र और अन्तक के समान, (क्रोधित होने पर) कृतान्त (=यम) के परशु के सदृश, न्यायपूर्वक अर्जित अनेक करोड़ गौओं एवं सुवर्ण का दान देने वाले (तथा) चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेध करने वाले (थे)। उनके पुत्र, उनके द्वारा (अपने उत्तराधिकारी के रूप में) स्वीकृत, महादेवी दत्तदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न, साक्षात् अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान) परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त के द्वारा··········

व्याख्या

इस लेख में प्रदत्त वंशावली में आये पदों का पुनर्योजन प्रधानतः कुमारगुप्त के बिलसद-एवं स्कन्दगुप्त के भितरी-स्तम्भ लेखों की सहायता से किया गया है इसलिये इनकी व्याख्या भी बिलसड़-स्तम्भ लेख के अन्तर्गत की गई है।

लेख का महत्व

यद्यपि इस लेख से कोई नई बात ज्ञात नहीं होती फिर भी यह (१) मथुरा पर द्वितीय चन्द्रगुप्त के अधिकार की पुष्टि करता है। (२) अभिलेखों में लिखित गुप्त वंशावली के विकास-क्रम की द्वितीय चन्द्रगुप्तकालीन कड़ी प्रस्तुत करता है।

ध्रुवस्वामिनी की वैशाली मुहर

लेख-परिचय—बिहार राज्य में मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) नामक सुप्रतिथ **स्थल** की खुदाई में १९०३-४ ई० में मिट्टी की मुहरों की बहुत सी छापें प्राप्त हुई थीं। इनमें गुप्त वंश से सम्बन्धित दो मुहरें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक, द्वितीय चन्द्रगुप्त की महादेवी ध्रुवस्वामिनी की, और दूसरी, घटोत्कचगुप्त नामक किसी गुप्त राजकुमार की। घटोत्कच की मुहर की चर्चा हमने इस राजकुमार का उल्लेख करने वाले तुमैन-अभिलेख के महत्त्व का वर्णन करते समय की है। ध्रुवस्वामिनी की अण्डाकार मुहर करीब अढ़ाई इञ्च लम्बी और पौने दो इञ्च चौड़ी है। इसकी तीन छापें प्राप्त हुई हैं जिनमें दो टूटी हुई हैं। इसमें बाईं ओर मुख किये सिंह की आकृति बनी है। उसके नीचे पड़ी लकीर है और लकीर के नीचे चार पंक्तियों का लेख है। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** लगभग ४०० ई० की ब्राह्मी। इसे ब्लाख ने ए० एस० आई० ए० आर०, १९०३-४ में (पृ० १७७) पर प्रकाशित किया है। भाण्डारकर, छावड़ा और गायि द्वारा यह कॉर्पस ३ के संशोधित संस्करण में पृ० २६०-६१ पर प्रदत्त है।

मूलपाठ

१. महारा [जा*] [ि]ध् र् [ाज श्री*]-[चन्द्र][गुप्त*]–
२. [प*]त्नी-मह् [ा]र[ाज*]-श्री-ग्[ो*][ि*] व्न्द-[गुप्त*]–
३. माता महादेवी-श्री-[ध्रु]–
४. व स्वामिनी [।*]

मुहर का महत्व

प्रस्तुत मुहर-लेख अतीव महत्त्वपूर्ण तथा अनेक विवादास्पद प्रश्नों को जन्म देने वाला है। किसी गुप्त सम्राज्ञी की यह एक मात्र ज्ञात मुहर है लेकिन इसके निर्माण का उद्देश्य अज्ञात है। यह सम्भव है कि उस समय जब यह मुहर बनवाई गई थी, ध्रुवस्वामिनी का पुत्र गोविन्दगुप्त वैशाली का राज्यपाल (गवर्नर) था और ध्रुवस्वामिनी उसके अल्पवयस्क होने के कारण उसकी सहायतार्थ वहां गई थीं। अगर गोविन्दगुप्त उस समय अल्पवयस्क नहीं था तब ध्रुवस्वामिनी की पृथक् मुहर का निर्माण उसी बात का द्योतक हो सकता है कि ध्रुवस्वामिनी को वहां विशेषाधिकार मिले हुए थे। वस्तुतः इस मुहर को हम किसी भी दृष्टि से क्यों न देखें, यह गुप्त प्रशासन में ध्रुवस्वामिनी की विशिष्ट प्रतिष्ठा की सूचक है और यह तथ्य परोक्षतः द्वितीय चन्द्रगुप्त पर उसके प्रभाव का संकेत है जिसका समर्थन अन्य अनेक साक्ष्य से होता है। राष्ट्रकूट अभिलेखों से संकेतित है, चन्द्रगुप्त का ध्रुवस्वामिनी से विवाह उनके अपयश का कारण बना था। शक संवत् ७९५ के संजन-दानपत्र (ई० आई०, १७, पृ० २४८) में अमोघवर्ष की प्रशंसा करते हुए उसे गुप्तान्वय (=द्वितीय चन्द्रगुप्त) से श्रेष्ठतर बताते हुए कहा गया है कि चन्द्रगुप्त ने अपने भाई को मारकर उसका राज्य और पत्नी दोनों छीन लिये थे (हत्वा भ्रातरमेव

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राज्यमहर द्देवींश्च दीनस्तथा) जबकि अमोघवर्ष ने ऐसा नहीं किया था। इसी प्रकार चतुर्थ गोविन्द को द्वितीय चन्द्रगुप्त से श्रेष्ठतर बताने के लिये शक संवत् ८५५ के सांगली-दानपत्र (इ० आई०, १२, पृ० २४६) में द्वितीय चन्द्रगुप्त पर 'बन्धुस्त्रीगमन' का आरोप लगाया गया है। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का ध्रुवस्वामिनी से विवाह अत्यधिक निन्दा का कारण बना था। इस प्रसंग में यह तर्क निस्सार है कि गुप्तकाल में विधवा-विवाह प्रचलित था या नहीं, क्योंकि द्वितीय चन्द्रगुप्त की निन्दा का कारण 'विधवा' से विवाह नहीं वरन् अपने भाई की हत्या करके भाभी से विवाह कर लेना था। लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी से अपने प्रेम की गहनता के कारण इस अपयश को भी स्वीकार किया। 'मुजमलुत्तवारीख़' नामक मुस्लिम ग्रन्थ में रामगुप्त कथा का जो रूप मिलता है उससे ज्ञात होता है कि बर्कमारिस (= विक्रमादित्य) ने, जो बहुत सुन्दर और बुद्धिमान था, राजा बनने के पूर्व एक राजकुमारी से विवाह करना चाहा था परन्तु उसके भाई रव्वाल (= रामगुप्त) ने बर्कमारिस से अनुरोध कर स्वयं उससे विवाह कर लिया। बाद में उसने रव्वाल की हत्या करके स्वयं उस राजकुमारी से विवाह किया। यह घटना-क्रम जहांगीर द्वारा शेर अफगन को मरवा कर अपनी पुरानी प्रेमिका नूरजहां से विवाह कर लेने की याद दिलाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार नूरजहां ने अपने दूसरे पति (जहांगीर) के प्रेम का लाभ उठाकर मुगल राजनीति को प्रभावित किया उसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी ने अपने प्रति द्वितीय चन्द्रगुप्त के प्रेम का लाभ उठाकर गुप्त राजनीति को प्रभावित किया था। प्रस्तुत मुहर ध्रुवस्वामिनी के इस प्रभाव का स्थूल प्रमाण है।

गुप्तवंश की राजनीति पर ध्रुवस्वामिनी के प्रभाव को (जिसका संकेत इस मुहर से मिलता है) कुछ अन्य तथ्य भी सिद्ध करते हैं। (१) जैसा कि हमने अन्यत्र ध्यान दिलाया है (प्रा० भा० रा० इ०, पृ० १८१) कुबेरनागा का द्वितीय चन्द्रगुप्त से विवाह लग० ३६० ई० में हो चुका था (क्योंकि कुबेरनागा की पुत्री प्रभावती-गुप्ता का विवाह वाकाटक रुद्रसेन से लग० ३८० ई० में हुआ था) जबकि ध्रुवस्वामिनी से चन्द्रगुप्त का विवाह ३७६ ई० में या इसके बाद ही हुआ होगा। इस प्रकार कुबेरनागा ध्रुवस्वामिनी से लगभग १५ वर्ष पदज्येष्ठा थी। परन्तु इसके बावजूद हम पाते हैं कि चन्द्रगुप्त के उपरान्त शासन किया ध्रुवस्वामिनी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र कुमारगुप्त ने, कुबेरनागा के किसी पुत्र ने नहीं। इस विचित्र तथ्य के केवल दो ही कारण सम्भव हैं—या तो कुबेरनागा ३६० से ३७६ तक पुत्रविहीना रही और या ध्रुवस्वामिनी कुबेरनागा से छोटी होने के बावजूद चन्द्रगुप्त की अग्रमहिषी बनी और उसी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को चन्द्रगुप्त का साम्राज्य मिला (स्मरणीय है कि केवल 'महादेवी' कहे जाने से ही किसी रानी का अग्रमहिषी होना सिद्ध नहीं हो जाता—दे०, प्रयाग-प्रशस्ति की पंक्ति २८–३० पर टि० ६)। इनमें प्रथम विकल्प एकदम असम्भव न होते हुए भी अस्वाभाविक और दुःसम्भाव्य है। हमें तो यही सम्भावना अधिक स्वीकार्य जान पड़ती है कि नूरजहां के समान ध्रुवस्वामिनी ने भी उत्तराधिकार की समस्या में हस्तक्षेप किया था और जबकि नूरजहां अपने प्रत्याशी को सफलता नहीं दिलवा पाई थी, ध्रुवस्वामिनी ने अपने पुत्र को सिंहासनारूढ़ कराने में सफलता पाई। (२) इस तथ्य के प्रकाश में एक अन्य तथ्य महत्त्वपूर्ण हो उठता है। द्वितीय चन्द्रगुप्त ३७६ ई० में सम्राट् बना और उसकी मृत्यु ४१३ ई० में या उसके कुछ बाद में हुई। उसके इस लम्बे शासन काल की निश्चित रूप से ज्ञात एक मात्र विजय शकों का उन्मूलन है जो उसने लग० ४१० ई० में प्राप्त की। उसके ऊपर ध्रुवस्वामिनी के ऊपर वर्णित प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना गलत नहीं होगा कि राज्यारोहण के बाद इतने लम्बे समय तक साम्राज्य विस्तार में कोई रुचि न लेने का कारण ध्रुवस्वामिनी के रूप का आकर्षण था। अर्थात् जो समय उसे युद्ध-स्थल में बिताना चाहिये था वह उसने ध्रुवस्वामिनी के प्रेमपाश में बिताया था। इस दृष्टि से भी ध्रुवस्वामिनी और नूरजहां तुलनीय हैं।

प्रस्तुत मुहर में ध्रुवस्वामिनी के नाम में प्रयुक्त 'स्वामिनी' शब्द भी रोचक है। स्मरणीय है कि अन्य गुप्त अभिलेखों में उसे ध्रुवदेवी कहा गया है। केवल इस मुहर में तथा राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में उसे ध्रुवस्वामिनी कहा गया है। इसके आधार पर अनुमान किया गया है कि वह शक वंश में उत्पन्न हुई होगी क्योंकि 'स्वामिनी' शब्द शक राजकुमारियों के लिए प्रयुक्त होता था (जर्नल ऑव जी० एन० झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, २६) परन्तु 'स्वामी' तथा 'स्वामिनी' शब्द ब्राह्मण स्त्री-पुरुषों के लिये भी प्रयुक्त होते थे और क्योंकि गुप्त नरेश स्वयं ब्राह्मण थे इसलिए ध्रुवदेवी को ध्रुवस्वामिनी कहा जाना उसके ब्राह्मणत्व का परिचायक हो सकता है (दे०, गोयल, श्रीराम, डिड ध्रुवदेवी बिलोंग टु राजस्थान, पी० आर० एच० सी०, ६, १९७३, पृ० १३२-४)।

ध्रुवस्वामिनी की मुहर में उसे महाराज गोविन्दगुप्त की माता कहा गया है। इससे एक ओर यह रोचक तथ्य ज्ञात होता है कि गुप्त शासन व्यवस्था में किसी सम्राट् का कम से कम एक वयस्क पुत्र (हो सकता सभी) 'महाराज' उपाधिधारी हो सकता था और दूसरी ओर यह प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि क्या गोविन्दगुप्त कुमारगुप्त से (जिसने द्वितीय चन्द्रगुप्त के उपरान्त शासन किया) बड़ा था ! और अगर वह कुमारगुप्त से बड़ा था तो उसने द्वितीय चन्द्रगुप्त के बाद शासन क्यों नहीं किया और किया था तो क्या कुमारगुप्त ने उससे गद्दी जबरदस्ती छीनी थी। इस समस्या पर कुछ प्रकाश मालव संवत् ५२४ (=४६७ ई०) के मन्दसौर-अभिलेख में गोविन्दगुप्त के वर्णन से पड़ता है परन्तु प्रस्तुत वैशाली मुहर के कारण उत्पन्न उपर्युक्त प्रश्न अभी तक पूरी तरह सुलझ नहीं पाये हैं।

ध्रुवस्वामिनी की मुहर पर गरुड़ के स्थान पर **सिंह का अंकन** विचारोत्तेजक तथ्य है—विशेष रूप से अगर हम यह स्मरण रखें कि उसके प्रथम पति रामगुप्त के द्वारा लिखवाये गये दुर्जनपुर जैन मूर्ति लेखों में एवं उसके द्वारा प्रचलित ताम्रमुद्राओं के एक प्रकार विशेष पर भी सिंह का प्रतीक अंकित है।

प्रथम कुमारगुप्त (४१५ ई० से लग० ४५० ई० तक) के शासनकाल के अभिलेख

गुप्त सम्राट् प्रथम कुमारगुप्त की प्रथम ज्ञात तिथि गु० स० ९६ (=४१५ ई०) है और अन्तिम ज्ञात तिथि गु० स० १३० (=४४९ ई०) जो उसकी रजत मुद्राओं पर मिलती है । अब तक अधिकांश विद्वान् यह मानते आए हैं कि प्रथम कुमारगुप्त की रजत मुद्राओं पर गु० स० १३६ (=४५५ ई०) तक की तिथियां मिलती हैं, लेकिन पहिले ए० एल० बैशम ने उस सिक्के के प्रमाण को अग्राह्य बताया जिस पर गु० स० १३६ तिथि अंकित बताई जाती है और तदुपरान्त पी० एल० गुप्त ने उसकी रजत मुद्राओं का पुनर्परीक्षण करके यह लगभग प्रमाणित कर दिया कि इन पर १०० तथा ३० के चिह्न तो स्पष्ट हैं परन्तु इकाई का चिह्न किसी सिक्के पर भी शेष नहीं बचा है (गुप्त साम्राज्य, पृ० १७९-८१) । अतः ज्ञान की वर्तमान अवस्था में यह कहना असम्भव है कि प्रथम कुमारगुप्त ने गु० स० १३० के उपरान्त शासन किया था या नहीं, और किया था तो कब तक । दूसरी तरफ हमने स्कन्दगुप्त के प्रथम जूनागढ़-अभिलेख के साक्ष्य का विश्लेषण करके यह निर्णायक रूप से सिद्ध कर दिया है कि स्कन्दगुप्त गु० स० १३६ (=४५५ ई०) के कई वर्ष पूर्व सत्ता प्राप्त कर चुका था । इसलिए अब कुमारगुप्त के शासन का अन्त ४५० ई० के आस-पास हुआ मानना ही उचित है ।

प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के एक दर्जन से अधिक अभिलेख प्राप्त हैं । इनमें एक—गढ़वा-लेख—को छोड़कर सभी में तिथियां दी गई हैं और अधिकांश में उसका नाम से उल्लेख है । कुछ में उसका नाम नहीं मिलता परन्तु तिथि तथा अन्य साक्ष्य से उन्हें उसके शासनकाल का अनायास माना जा सकता है । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य फुटकर लेख भी (जिनकी तिथि ४४९ और ४५५ ई० के बीच में पड़ती है अथवा जिनमें न तो कोई तिथि दी गई है और न तत्कालीन राजा का नाम) उसके शासनकाल के हो सकते हैं । वे अभिलेख जो निश्चयतः उसके शासनकाल के हैं, निम्नलिखित हैं :—

१. बिल्सड़ पाषाण स्तम्भ-लेख : वर्ष ९६
२. गढवा तिथिविहीन लेख
३. गढवा पाषाण-लेख : वर्ष ९८
४. उदयगिरि जैन गुहा-लेख : वर्ष १०६
५. मथुरा जैन प्रतिमा लेख : वर्ष ११३
६. मानकुंवर (मंकुवार) बौद्ध प्रतिमा-लेख : वर्ष १०९
७. धनैदह ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष ११३
८. तुमैन पाषाण-लेख : वर्ष ११६
९. करमदाण्डा प्रस्तर लिंग-अभिलेख : वर्ष ११७
१०. कलैकुरी-सुल्तानपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १२०

११. दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख (प्रथम) : वर्ष १२४
१२. मथुरा मूर्ति पीठ-अभिलेख : वर्ष १२५
१३. दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख (द्वितीय) : वर्ष १२८
१४. बैग्राम ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १२८
१५. जगदीशपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १२८
१६. तिथिविहीन बिहार पाषाण स्तम्भ (पटना संग्रहालय) लेख

(इनके अतिरिक्त प्रथम कुमारगुप्त व बन्धुवर्मा के मालव संवत् ४९३ एवं ५२९ का उल्लेख करने वाले मन्दसौर पाषाण-लेख को भी प्रायः प्रथम कुमारगुप्त के अभिलेखों में गिना जाता है। परन्तु यह लेख ४७२ ई० में, सम्भवतः द्वितीय कुमारगुप्त के काल में लिखवाया गया था, अतः हमने इसे स्कन्दगुप्तोत्तर अभिलेखों में रखा है। घटोत्कचगुप्त नामक एक गुप्त राजकुमार की मुहर वैशाली से मिली है। इसको हमने तुमैन-अभिलेख का अध्ययन करते समय उद्धृत किया है)।

प्रथम कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) का बिलसड़ पाषाण स्तम्भ-लेख

वर्ष ९६ (=४१५ ई०)

लेख-परिचय—इस लेख का **प्राप्ति-स्थल** एटा जिले में अलीगञ्ज तहसील के अन्तर्गत स्थित बिलसड़ या बिलसण्ड नाम का गांव है जो अलीगञ्ज कस्बे से चार मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित है। इस गांव में तीन टीले हैं जिसमें बिलसड़ पुवायां नामक टीले के दक्षिण-पश्चिमी कोने में लाल बलुहे पाषाण के चार एकाश्म स्तम्भ मिलते हैं—दो गोल और दो चौकोर। इनमें **दोनों गोल स्तम्भों** पर एक ही लेख की दो प्रतियाँ उत्कीर्ण मिली हैं, लेकिन इनमें एक में कुछ छोटी १६ पंक्तियां हैं और दूसरे में कुछ बड़ी १३ पंक्तियां। १६ पंक्तियों वाला लेख लगभग सम्पूर्णतः अपठ्य हो गया है परन्तु इसके जो भी शब्द बच गये हैं उनसे दूसरे लेख को, जो नीचे दिया जा रहा है, पढ़ने में (विशेषतः अन्तिम दो श्लोकों को पढ़ने में) कुछ सहायता मिल जाती है। इस प्रकार दो स्तम्भों पर एक ही लेख की दो प्रतियां यशोधर्मा के दो स्तम्भों पर भी मिलती हैं। लेकिन यशोधर्मा के स्तम्भ स्वतन्त्र जयस्तम्भ थे, किसी भवन के अंग नहीं, जबकि प्रथम कुमारगुप्तकालीन ये लेखांकित स्तम्भ स्वामी-महासेन (=कार्त्तिकेय) के मन्दिर के, जो अब नष्ट हो चुका है, अंग रूप में थे।

प्रस्तुत लेख का क्षेत्रफल २'१$\frac{३}{४}$"×१'१०$\frac{१}{२}$" है। इसकी प्रथम चार पंक्तियां लगभग नष्ट हो चुकी हैं और शेष को भी काफी क्षति पहुँची है। परन्तु ऐतिहासिक महत्त्व की कोई सूचना नष्ट हो गई है, ऐसा नहीं लगता। इसकी **भाषा** संस्कृत है और यह गद्य-पद्य मिश्रित है—पंक्ति ९ तक गद्य में और तदुपरान्त पद्य में। इसमें दो श्लोक हैं, प्रथम स्रग्धरा और दूसरा शार्दूल विक्रीडित **छन्द** में। भाषा पर कहीं-कहीं प्राकृत का प्रभाव है, यथा पं० ६ में 'षण्णवतितमे' के स्थान पर 'षण्णवते' तथा पं० ९ में 'कृतमिदिम्' के बजाय 'कृतेदम्' लिखा होने में। इसकी **लिपि** उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी है और अपनी विशिष्ट मात्राओं तथा लम्बी शीर्ष रेखाओं के कारण समकालीन लेखों से कुछ भिन्न है। **वर्तनी** में अनुवर्ती 'र' के संयोग में 'त' का द्वित्व (यथा, पंक्ति ४ में 'पुत्त्रस्य' में) उल्लेख्य है। लेख में **तिथि** शब्दों में दी गई है—प्रथम कुमारगुप्त के शासन का वर्ष छियानवे (अर्थात् गुप्त संवत् का वर्ष ९६)। मास और दिन अनुल्लिखित हैं। यह प्रकृत्या एक शैव लेख है जिसका **उद्देश्य** स्वामी-महासेन (=कार्त्तिकेय) के मन्दिर में ध्रुवशर्मा नामक व्यक्ति द्वारा एक प्रतोली के निर्माण, एक सत्र की स्थापना एवं इन अभिलेखों वाले स्तम्भों की स्थापना करवाये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—यह अभिलेख कनिंघम को १८७७-७८ में प्राप्त हुआ। उन्होंने ए० एस० आई०, ११, पृ० १९ अ० में इसका पाठ और अनुवाद छापा तथा शिलामुद्रण दिया। तदनन्तर फ्लीट ने इसे अपने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (सं० १०)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २६७-७०; सरकार, स० इ०, पृ० २८५-७; भाण्डारकर-सूची

सं० १२६३; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १३५; जगन्नाथ, जे० यू० पी० एच० एस०, १३, भाग २, पृ० ६८; पी० आई० एच० सी०, १६४०, पृ० ५६।

मूलपाठ

१ [सिद्धम् ॥*] [सर्व्व-राजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि-स*][लिला]-स्वादित-यशसो
२ [धनद-वरुणेन्द्रान्तक-समस्य कृतान्त-परशोः न्यायागतानेक-गो-हि*]रण्यकोटि-प्रदस्य चिरोत्स-
न्नाश्वमेधाहर्त्तुः
३ [महाराज-श्रीगुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्रीघटोत्कच-पौत्रस्य म*][हा]राजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त-
पुस्त्त्रस्य
४ लिच्छ[वि-दौहित्त्रस्य*] [महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजा*]धिराजश्रीसमुद्रगुप्त-
पुत्त्रस्य
५ महादेव्यां दत्त[देव्यामुत्पन्नस्य*] [स्वयमप्रतिरथस्य*] [परम*]-भागवतस्य महाराजाधिराज-
श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्त्रस्य
६ महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्याभि[व]र्द्धमान-विजय-राज्य-
संवत्सरे षण्णवते
७ [अस्यान्दि]वस-पूर्व्वायां भगवतस्त्रैलोक्य-तेजस्संभार-संभूताद्भुत-मूर्त्तेर्ब्रह्मण्यदेवस्य
८ * * * * निवासिनः स्वामि-महासेनस्यायतने[ऽ*] स्मिन्कार्त्तयुगाचारसद्धर्म्म-वर्त्मा-
नुयायिना
९ [माता] * * * * * * [प]र्षदा मानितेन ध्रुवशर्म्मणा कर्म्म महत्कृतेदम्।
१० कृ[त्व]ा [नेत्र*]ाभिरामां मु[नि-वसति][मिह*][स्व]र्ग-सोपान-[रू]पां।
कौबेरच्छन्दबिम्बां स्फटिकमणिदलाभास-गौरां प्रतीलीम्।
११ प्रासादाग्राभिरूपं गुणवर-भवनं [धर्म्म-स*]त्त्र यथावत्।
पुण्येष्वेवाभिरामं व्रजति शुभमतिस्तात-शर्म्मा ध्रुवो (ऽ*)स्तु।(।*) 1
१२ —ा—ी—स्य⏑—शुभामृतवर-प्रख्यात-ल[ब्धा भुवि]।
—ॅ—ॅ भक्तिरहीन-सत्व-समता कस्तं न संपूजयेत्।
१३ [येनापूर्व्वं*]-विभूति-सञ्चय-चयैः शैली⏑ ——⏑— :।
तेनायं ध्रुवशर्म्मणा स्थिर-वरस्तम्भो[च्छ्र]यः कारितः। (।*) 2

पाठ-टिप्पणी—पंक्तियां १-३ : अपठ्य अंश समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति की पंक्ति २४, २६, २८ एवं २९ तथा स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ की पंक्ति १-३ की सहायता से पुनर्योजित किये गये हैं। पंक्ति ४ : 'समुद्रगुप्तपुत्त्रस्य' के स्थान पर 'समुद्रगुप्तस्य पुत्त्रस्य' होना चाहिये था क्योंकि तृतीय पंक्ति के 'प्रपौत्त्रस्य' 'पौत्त्रस्य' तथा दौहित्त्रस्य' आदि सम्बन्धकारक शब्दों के सन्निधान में 'समुद्रगुप्त' के नाम में षष्ठि विभक्ति का प्रयोग होना चाहिये था। पंक्ति ५ : 'चन्द्रगुप्तपुत्त्रस्य' के स्थान पर 'चन्द्रगुप्तस्य पुत्त्रस्य' पाठ होना चाहिये था क्योंकि इस पंक्ति के 'उत्पन्नस्य', 'अप्रतिरथस्य' 'परमभागवतस्य' आदि सम्बन्धकारक शब्दों के सन्निधान में 'चन्द्रगुप्त' नाम के साथ षष्ठि विभक्ति का प्रयोग आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेख के लेखक ने तृतीय पंक्ति के 'चन्द्रगुप्तपुत्त्रस्य' पाठ का (जो वहां सही है) चौथी और पांचवीं पंक्ति में अन्धानुकरण किया है। इस प्रकार की अशुद्धियां प्राचीन लेखों में प्रायः मिलती हैं (द्र०, स० इ०, पृ० १८१, टि० ४, तथा पृ० १८५)। पंक्ति ६ : फ्लीट 'विजय-राज्य' को सुधार कर 'विजय-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राज्ये' पढ़ते हैं। पर यह अनावश्यक है। 'षण्णवते' को 'षणवतितमे' पढ़ें। पंक्ति ७ : फ्लीट 'संभूता' को 'संतता' पढ़ते हैं। पंक्ति ९ : अपठ्य अंश को सरकार ने इस प्रकार पुनर्योजित किया है—'मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यार्थं-साधु-पर्षदा'। 'कृतेदम्' को 'कृतमिदम्' पढ़ें। पंक्ति १० : पूर्वार्द्ध के अक्षर धुंधले हो गये हैं। 'गौरां' के स्थान पर 'गौरीं' पाठ अधिक उचित होता। परन्तु दूसरे स्तम्भ में भी 'गौरां' पाठ है। १०वीं पंक्ति में 'रूपां' के बाद, ११वीं में 'यथावत्' के बाद, १२वीं में 'भुवि' के बाद में १३वीं तथा 'तेनाय' के पूर्व विराम अनावश्यक है। पंक्ति १२ : 'सत्व' के स्थान पर 'सत्त्व' पढ़ें। पंक्ति १३ : प्रथम चार अक्षर दूसरे स्तम्भ-लेख की सहायता से पुनर्योजित हैं।

शब्दार्थ

पंक्ति १-७

उच्छेत्ता = उच्छेद करने वाला; अप्रतिरथ = विष्णु का एक नाम; उदधि = समुद्र; अन्तक = यम; कृतान्त = यम; न्यायागत = न्यायपूर्वक प्राप्त; चिरोत्सन्न = दीर्घ काल से अप्रचलित, दीर्घकाल तक चलने वाला; आहर्त्ता = करने वाला; अभिवर्द्धमान = विजयोन्मुखी; पूर्व्वायां = जो ऊपर दी गई है, ऊपर बताई गई तिथि।

पंक्ति ७-९

अस्यान्दिवसपूर्व्वायां = इस तिथि को जो ऊपर दिवस आदि द्वारा निर्दिष्ट है; त्रैलोक्य = तीनों लोकों का; तेज = प्रकाश; संभार = पुञ्ज, समुच्चय, राशि; सम्भूत = उत्पन्न; ब्रह्मण्य = कार्त्तिकेय का एक नाम; आयतन = मन्दिर; कार्त्तयुग = कृत युग; वर्त्मन् = मार्ग; पर्षद् = धर्म सभा; कृतम् = सम्पन्न हुआ है

पंक्ति १०-११

कृत्वा = बनवाकर; नेत्राभिराम = सुन्दर; वसति = निवास स्थान; सोपान = सीढ़ियां; कुबेरच्छन्द = एक प्रकार का मोतियों का हार; बिम्ब = सदृश; प्रतोली = मार्ग, सड़क (इस स्थान पर इसका अर्थ सोपानयुक्त प्रवेश द्वार है); गौरां = शुभ्र; यथावत् = विधिपूर्वक; प्रासादाग्र = प्रासादों में अग्रणी; अभिरूपम् = स्वरूपवाला; गुणवर = गुणियों में प्रमुख; धर्म्मसत्र = दानशाला, भिक्षागृह; व्रजति = विचरण करता है; ध्रुव = अचल, स्थिर, दीर्घजीवी, एक व्यक्तिगत नाम; तात = पूज्य

पंक्ति १२-१३

लब्धा = प्राप्त किया; भुवि = पृथिवी पर; कस्तं = कः तम्, कौन उसको; अहीन = श्रेष्ठ; सत्त्व = प्राणी; चयः = संग्रह, राशि, आधिक्य; विभूति = शक्ति, समृद्धि; वर = श्रेष्ठ; उच्छ्रयः = उच्चकायता (यहां आशय 'उत्तुंग' या 'उच्च' से है); कारितः = बनवाया गया

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो! महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र महाराजाधिराज श्री (प्रथम) चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छवि दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त (हुए) जो समस्त राजाओं का उच्छेद करने वाले, पृथिवी पर अप्रतिरथ (= विष्णु) (के समान विचरण करने वाले), चारों समुद्रों

के जल को अपने यश का आस्वादन कराने वाले, कुबेर, वरुण इन्द्र और अन्तक (=यम) के समान, (क्रोधित होने पर) कृतान्त (=यम) के परशु के सदृश, न्यायपूर्वक अर्जित अनेक करोड़ गौओं एवं सुवर्ण का दान करने वाले (तथा) चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेध करने वाले (थे।) उनके पुत्र, महादेवी दत्तदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न, साक्षात् अप्रतिरथ (=विष्णु)(के समान) परमभागवत महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त (थे।) उनके पुत्र, महादेवी ध्रुवदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री (प्रथम) कुमारगुप्त के छियानववें अभिवर्द्धमान विजय राज्य संवत्सर में (अर्थात् गुप्त संवत् ९६ में) —

पं० ७ इस तिथि को जो ऊपर दिवस आदि द्वारा निर्दिष्ट है, भगवान् स्वामिमहासेन के मन्दिर में –जिनकी (अर्थात् महासेन की) अद्भुत मूर्त्ति तीनों लोकों के प्रकाशपुञ्ज से उत्पन्न हुई है, जो ब्रह्मण्यदेव हैं (और) जो·········में निवास करते हैं·····कृतयुग के आचार (तथा) सद्धर्म के मार्ग के अनुयायी (एवं) ·········सभा में आदर के पात्र ध्रुवशर्मा द्वारा माता·········यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ है।

पं० १० नेत्रों को सुन्दर प्रतीत होने वाले, मुनियों के निवास स्थान, स्वर्ग पहुँचाने वाले सोपान (=सीढ़ी) के समान, कौबेरच्छन्द नामक मुक्तामाला के सदृश (तथा) स्फटिक मणिखण्डों की आभा से शुभ्र हो गए प्रवेश-द्वार का (एवं) श्रेष्ठतम मन्दिरों के स्वरूप वाली, गुणियों में प्रमुख जनों के भवन (जैसी)(यह) दानशाला यथाविधि यहां बनवाकर शुभ-मतिवाला (वह) पूज्य शर्मा, (जो) (पुण्यों में ही मनोहारी ढंग से विचरण करता है, ध्रुव (=अचल, दीर्घजीवी) हो ॥१॥

पं० १२ यह स्थिर और उत्कृष्ट उच्च स्तम्भ उसी ध्रुवशर्मा द्वारा निर्मित कराया गया है जिसकी भक्ति पृथिवी पर अमृत की उत्कृष्ट ख्याति प्राप्त करके सभी श्रेष्ठ प्राणियों द्वारा इतनी आदृत है कि कौन है जो उसे न पूजता हो (अर्थात् ऐसा कोई नहीं है जो ध्रुवशर्मा को न पूजता हो), (तथा) जिसके (अर्थात् ध्रुवशर्मा के) द्वारा अपूर्व विभूति (शक्ति या वैभव) के सञ्चय के आधिक्य से·········

व्याख्या

(१) इस लेख की प्रथम चार पंक्तियों में समुद्रगुप्त के लिये जिन उपाधियों और विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनका प्रचलन द्वितीय चन्द्रगुप्त काल से ही प्रारम्भ हो गया था (दे०, द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल का तिथिविहीन मथुरा अभिलेख)। उसके बाद ये उपाधियाँ लगभग सभी गुप्त अभिलेखों में वंशावली वाले भाग में मिलती हैं।

(२) **सर्वराजोच्छेतुः** —यह उपाधि 'काच' नाम के राजा की मुद्राओं के पृष्ठभाग पर भी मिलती है (स० इ०, पृ० २७६)। इसके आधार पर रायचौधुरी, एलन, सरकार आदि अनेक विद्वान् उसे समुद्रगुप्त से अभिन्न मानते हैं। लेकिन काच की पहिचान समुद्रगुप्त के 'भस्म' नामक उस भाई से करना उचित है जिसने 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार तीन वर्ष शासन किया (दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, श्लोक ४, टि० ३)। मात्र 'सर्वराजोच्छेता' उपाधि दो नरेशों की पहिचान का आधार नहीं हो सकती। प्रभावतिगुप्ता के पूना-और रिथपुर दानपत्रों में इसे द्वितीय चन्द्रगुप्त पर आरोपित कर दिया गया है। इस उपाधि से मिलते-जुलते भाव वाली उपाधियों के लिए दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, पं० २१, टि० ५)।

(३) **पृथिव्यामप्रतिरथस्य**—फ्लीट ने इसका अनुवाद किया है 'जो पृथिवी पर अद्वितीय है।' विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, प्रयाग-प्रशस्ति की पंक्ति २४ की टि० १)।

(४) **चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसा**—गुप्तकालीन साहित्यकारों की कल्पनानुसार पृथिवी चारों ओर समुद्रों से घिरी थी। तु०—

> चतुस्समुद्रान्त विलोल मेखलां सुमेरु कैलाश बृहत्पयोधराम्।
> वनान्त वान्त स्फुट पुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥२३॥
> —मालव संवत् ५२९ का मंदसौर-लेख।

(५) **न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि प्रदस्य**—न्यायागत-न्यायपूर्वक अर्जित। तु०, प्रथम रुद्रदामा का यह दावा करना कि वह उचित कर ही लेता था (यथावत्प्राप्तैर्बलि शुल्कभागैः—जूनागढ़-लेख, पृ० १४)। ध्यान देने की बात है कि प्रयाग-प्रशस्ति मे हरिषेण समुद्रगुप्त द्वारा केवल लाखों गौएं दान देने की बात कहता है। यह संख्या द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय से (दे०, द्वितीय चन्द्रगुप्त का तिथिविहीन मथुरा-पाषाण लेख) प्रचलित विरुदावली में 'करोड़ों' हो जाती है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का सुझाव है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के सञ्जन-दानपत्र में द्वितीय चन्द्रगुप्त पर लाख को करोड़ लिखवा देने (लक्षं कोटिमलेखयत्) का आरोप इसी कारण लगाया गया था। समुद्रगुप्त के सुवर्णदान के लिये दे०, एरण-लेख, पंक्ति ७-८।

(६) **चिरोत्सन्नाश्वमेध आहर्त्तुः**—समुद्रगुप्त के अश्वमेध का उल्लेख उसकी प्रयाग-प्रशस्ति में नहीं है। लेकिन उसके अश्वमेध प्रकार के सिक्के उपलब्ध हैं (अल्तेकर, क्वायनेज, पृ० ६१ अ०)। 'चिरोत्सन्न' शब्द का अर्थ फ्लीट ने 'दीर्घ काल से अप्रचलित' माना है। रायचौधुरी, मजूमदार आदि फ्लीट का अनुवाद मानते हैं। परन्तु समुद्रगुप्त के अभ्युत्थान के कुछ ही पहिले प्रथम प्रवरसेन वाकाटक ने चार, भारशिव नागों ने दस एवं अन्य अनेक राजाओं ने एक अथवा अधिक अश्वमेध किए थे। इसलिये जगन्नाथ अग्रवाल (एस्सेज प्रेजेण्टिड टु सर जदुनाथ सरकार, २, पृ० १० अ०) तथा वि० श० पाठक (जे० एन० एस० आई०, १९, भाग २, पृ० १४ अ०) ने 'शतपथ ब्राह्मण' आदि ग्रन्थों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि 'चिरोत्सन्न' का अर्थ 'विस्तृत या दीर्घकाल तक चलने वाला' है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के पूर्व किसी ने विधिवत् दीर्घकाल तक चलने वाला अश्वमेध नहीं किया था। पी० एल० गुप्त ने पाठक और अग्रवाल के इस मत को माना है परन्तु वह उनके लेखों की चर्चा तक नहीं करते। सोहोनी (आई० एन० सी०, ८, अंक १-२) ने चिरोत्सन्न अश्वमेध का अर्थ माना है 'वह अश्वमेध जिसके लिये दिग्विजय की गई हो और जिसमें प्रचुर सुवर्णदान दिया गया हो' (दे०, रामायण, १.१४.४६–५१; १.१..६३–६६; ८.९९. ९–१०; ८.९२. १७–१८; महाभारत, अनुगीतापर्व, ८८.१३; १८.२०; ८९.२ आदि)। प्रभावती-गुप्ता के पूना-दानपत्र में समुद्रगुप्त को 'अनेकाश्वमेधयाजी' कहा गया है। हो सकता है कि उसने 'चिरोत्सन्न' अश्वमेध के पूर्व कुछ लघु अश्वमेध भी किए हों। पी० एल० गुप्त का यह कहना गलत है कि समुद्रगुप्त ने राजसूय किया था। (मु० सा०, पृ० २७४)। 'जो स्वयं अद्वितीय था'। लेकिन छाबड़ा ने ध्यान

(७) **स्वयं चाप्रतिरथ**—फ्लीट का अनुवाद है दिलाया है कि यहां 'स्वयं' को 'साक्षात्' अर्थ में लेना अधिक उपयुक्त है और 'अप्रतिरथ' 'विष्णुसहस्र-नाम' में विष्णु का एक नाम बताया गया है। (दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति २४ की टि० १)। 'इस तिथि को जो ऊपर दिवस आदि द्वारा निर्दिष्ट है'। परन्तु ऊपर

(८) **अस्यान्दिवसपूर्व्वायां**—केवल वर्ष संख्या दी गई है, दिवस आदि उल्लिखित नहीं है।

(९) **विजयराज्यसंवत्सरे**—'राज्यसंवत्सर' का सही अर्थ 'शासन काल का वर्ष' होगा जबकि यह था गुप्त संवत् का वर्ष। इसलिये फ्लीट ने इस लेख में तथा अन्यत्र इसको सुधार कर 'राज्ये संवत्सरे' (='शासनकाल में संवत्सर·········में) पढ़ने का सुझाव दिया है। लेकिन सरकार को इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वह मानते हैं कि 'विजयराज्य संवत्सरे' पद ही 'विजयराज्ये संवत्सरे' अर्थ में रूढ़ हो गया था।

(१०) **ब्रह्मण्यदेव**—कार्त्तिकेय का एक नाम। कार्त्तिकेय स्कन्द, महासेन, विशाख, कुमार तथा ब्रह्मण्यदेव नामों से भी पुकारे जाते थे। पतञ्जलि ने विशाख और स्कन्द की मूर्त्तियाँ बनाये जाने का उल्लेख किया है। महाभारत' के स्कन्दोत्पत्तिपर्वाध्याय में स्कन्द के जन्म की कथा है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' की यही विषय-वस्तु है। यौधेय जन कार्त्तिकेय को ब्रह्मण्य तथा कुमार (द्र०, यौधेय सिक्कों का 'भगवतो स्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्यकुमारस्य' लेख) नामों से पूजते थे। एक भीटा मुहर में महाराज गौतमीपुत्र वृषध्वज द्वारा अपना राज्य महेश्वर महासेनापति को अर्पित कर दिये जाने का उल्लेख है (द्र०, बनर्जी, पौराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलीजन, पृ० १४९)।

(११) **माता (पित्रोरात्मनश्च पुण्यार्थं साधु) पर्षदा मानितेन ध्रुवशर्म्मणा**—लुप्तांश को सरकार के अनुसार पुनर्योजित करने पर इसका अनुवाद होगा 'धर्मसभा' में आदर के पात्र ध्रुवशर्मा द्वारा माता-पिता व अपने पुण्य के हेतु'।

(१२) **प्रतोली**—प्रशस्त-मार्ग, प्रमुख नगर-मार्ग। 'अमरकोश' में इसका 'मार्ग-रथ्या' अर्थ है (२.२.३)। इसी से वर्ण विपर्यय द्वारा आधुनिक शब्द **'त्रिपोलिया'** बना है। यहां इसका प्रयोग 'सोपान युक्त प्रवेश द्वार' के अर्थ में हुआ लगता है, जैसा कि इसकी तुलना **'स्वर्गसोपान'** से किये जाने से स्पष्ट है। इसे मणिखण्डों की प्रभा से युक्त कहा गया है, इससे लगता है कि यह एक भव्य भवन था। सम्भवतः यह वैसा ही प्रवेश द्वार था जैसे कि आजकल बड़े-बड़े मार्गों के बीच में घण्टाघर के रूप में बना दिये जाते हैं। स्मरणीय है इसे 'मुनिवसति'='मुनियों का वास स्थान' भी कहा गया है। कुछ विद्वान् 'मुनिवसति' को एक पृथक् भवन मानते हैं, परन्तु यहां यह 'प्रतोली' का विशेषण है। आजकल भी बड़े-बड़े मार्ग-द्वारों में लघुकक्ष बना दिये जाते हैं जो दुकानदारों, चौकीदारों आदि के काम में आते हैं। प्राचीनकाल में ऐसे कक्षों में साधुजन ठहरते होंगे। प्रतोली के 'भवन' अर्थ में प्रयोग के लिये दे०, रामायण (५.२.१७; ६.७५.६), अर्थशास्त्र (२.३), तथा मृच्छकटिक (अंक ४, ६, ८)। दे०, भारतीय विद्या, ३२, अंक १–४, पृ० १–६।

(१३) **शर्म्मा ध्रुवोऽस्तु**=शर्मा ध्रुव (=दीर्घजीवी) हो। यहां ध्रुवशर्मा नाम के प्रथम अंश 'ध्रुव' के अर्थ पर शब्द-कौतुक है।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख प्रथम कुमारगुप्त का सबसे पुराना अभिलेख है। इससे कुमारगुप्त की सबसे पहिली तिथि गु० स० ९६ (=४१५ ई०) ज्ञात होती है। यह धार्मिक इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें ध्रुवशर्मा नामक व्यक्ति स्वामिमहासेन (=कार्त्तिकेय) के मन्दिर में कुछ निर्माण कार्यों का उल्लेख करता है। स्मरणीय है कि कुमारगुप्त परमभागवत उपाधिधारी होने के बावजूद कार्त्तिकेय की उपासना में रुचि रखता था। उसने अपने पुत्र का नाम 'स्कन्द' रखा था जो कार्त्तिकेय का ही दूसरा नाम है, कार्त्तिकेय प्रकार की सुवर्ण मुद्रायें चलाई थीं तथा मध्यदेशीय रजत मुद्राओं पर गरुड़ के स्थान

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पर मयूर का अंकन करवाया था। इस अभिलेख का ध्रुवशर्मा किसी अन्य साक्ष्य से अज्ञात है परन्तु कोटा प्रदेश (राजस्थान) में भीमचौरी स्थान से प्राप्त एक गुप्तकालीन अभिलेख में ध्रुवस्वामी नामक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है जिसने हूणों से लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की थी। उसका 'स्वामी' नामान्त उसके ब्राह्मण होने का संकेत है क्योंकि उस युग में ब्राह्मण लोग प्राय: ऐसे नाम भी रखते थे जिनमें अपरांश 'स्वामी' होता था (उदाहरणार्थ, करमदाण्डा-लेख का शिखरस्वामी, गया-दानपत्र का गोपस्वामी, गोपचन्द्र के फरीदपुर-दानपत्र का सोमस्वामी, आदि)। क्या बिलसड़-लेख का ध्रुवशर्मा ही भीमचौरी-लेख का ध्रुवस्वामी है? यह रोचक तथ्य है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त की महादेवी ध्रुवदेवी को उसकी वैशाली मुहर (ए० एस० आई०, ए० आर०, १९०३–४, पृ० १०७) तथा 'काव्यमीमांसा' में ध्रुवस्वामिनी कहा गया है। क्या वह भी ब्राह्मण वंशोत्पन्ना थी? क्या उसका ध्रुवशर्मा या ध्रुवस्वामी से कुछ सम्बन्ध था? कहना असम्भव है।

प्रथम कुमारगुप्त के काल का तिथिविहीन गढ़वा प्रस्तर-अभिलेख

लेख-परिचय—यह अभिलेख गढ़वा (जिला इलाहाबाद) से प्राप्त उस पाषाण पर उत्कीर्ण है जिस पर द्वितीय चन्द्रगुप्त के दो अभिलेख (दे०, पीछे) खुदे हैं। प्रस्तुत-लेख चन्द्रगुप्त के लेख के ठीक नीचे खुदा है और बीच में उत्कीर्ण एक रेखा द्वारा पृथक् किया गया है। यह लेख ९ पंक्तियों में है जिनमें प्रत्येक का अपरार्ध टूटा हुआ और अप्राप्य है। लेख ४″×१०″ क्षेत्रफल में है। अक्षरों का औसत आकार ¼″ है। इसकी **भाषा** संस्कृत और **लिपि** द्वितीय चन्द्रगुप्त के गढ़वा-लेखों जैसी है। लेख आद्यन्त गद्य में है। **वर्तनी** में कुछ उल्लेख्य नहीं है। इसमें महाराजाधिराज कुमारगुप्त का उल्लेख है परन्तु तिथि वाला अंश अप्राप्य है। इसका उद्देश्य दो दानों का उल्लेख करना है, परन्तु उनके विषय में विस्तृत तथ्य अज्ञात हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख को सर्वप्रथम कनिंघम ने ए० एस० आई०, ३, पृ० ५५ पर छापा और शिलामुद्रण भी दिया। तदनन्तर इसे फ्लीट ने अपने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (स० ८)। दे०, भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २९३-९४।

मूलपाठ

१. जितं भगवता [परमभागवत महाराजाधिराज]–
२. श्रीकुमारगुप्तराज्य [संवत्सरे]······
३. दिवसे १० अस्यां दिवसपूर्व्वायां······
४. – – – – – – – – – –
५. ···सदासत् [त्*] रसा [मान्य]·········
६. [द] त्ता दीनाराः १० त (?)————
७. ति सत्रे च दीनारास्त्रय्———— [॥]
[यश्चैनं धर्मस्कन्धं व्युच्छि]–
८. न्द्यात्स पञ्चमहापा [तकैः संयुक्तः स्यादिति] [॥]
९. गोयिन्दा लक्ष्मा···············

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १: कुमारगुप्त की उपाधियां बिलसड़-लेख की सहायता से पुनर्योजित हैं। पंक्ति ७: 'त्रय्' का पूर्ण रूप 'त्रय', 'त्रयोदश', 'त्रयोविंशति' आदि कुछ भी रहा हो सकता है।

अनुवाद

पं० १ भगवान् की जय। [परमभागवत महाराजाधिराज] श्री कुमारगुप्त के शासनकाल में [संवत्सर]······में दिवस १० पर इस तिथि को जो ऊपर दिवस आदि द्वारा निर्दिष्ट है :—

पं० ३ ·········सदा चलने वाले संघ से सम्बद्ध······दस दीनार दान दिये गये···तथा सत्र में तीन (?) दीनार·········

पं० ७ [तथा जो भी इस धर्मस्कन्ध—धर्म की शाखा के प्रति व्यवधान उपस्थित करेगा] वह पांच महापातकों [से संयुक्त (=उनके अपराध का भागी) होगा]।

पं० ९ गोयिन्दा, लक्ष्मा············

लेख का महत्व

इस लेख का भाव द्वितीय चन्द्रगुप्त के लेख के साथ पढ़ने से स्पष्टतर होता है। इससे प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में जनता की धर्मदान में रुचि का ज्ञान होता है। दान दी गई दीनारों की संख्या 'त्रय' से शुरू होने वाली—तीन, तेरह आदि—रही होगी।

प्रथम कुमारगुप्त के काल का गढ़वा प्रस्तर-लेख

वर्ष ९८ (=४१७ ई०)

लेख-परिचय—यह लेख उसी प्रस्तर खण्ड के दाहिने पार्श्व पर उत्कीर्ण है जिसके बायें पार्श्व पर प्रथम कुमारगुप्त का पूर्वगामी अभिलेख खुदा है। यह भी प्रथम कुमारगुप्त के ही शासनकाल का है। यद्यपि उसका नाम अवशिष्ट अंश में नहीं है लेकिन इसमें वर्ष ९८ (=४१७ ई०) **तिथि** दी गई है जो प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में पड़ती है। इसमें भी ९ पंक्तियां हैं जिनका पूर्वार्द्ध खण्डित और अप्राप्य है। इसकी **भाषा** संस्कृत और **लिपि** पूर्वगामी लेख जैसी है। इसको ४″×९″ क्षेत्रफल में लिखा गया है। अक्षरों का आकार ⅛″ से ⅓″ तक है। यह भी आद्यन्त गद्य में है। **वर्तनी** में कुछ उल्लेख्य नहीं है। इसका **उद्देश्य** किसी सत्र को १२ दीनार दान दिये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास तथा सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख का पता पाषाण की प्राप्ति के समय नहीं चल पाया क्योंकि इस पर चूना जमा हुआ था। चूना हटाने पर कनिंघम का ध्यान इसकी ओर गया। उन्होंने उसे शिलामुद्रण सहित ए० एस० आई०, १०, पृ० ९ पर छापा। तदनन्तर फ्लीट ने इसे 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (स० ९)। दे०, भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २७०–७२।

मूलपाठ

१. [जितं भगवता ॥ पर] मभ् [ा] गवत [महाराजाधि]-
२. [राज श्री कुमारगुप्त राज्य संवत्स] रे ९० (+) ८……
३. ------[अस्यां दिवस] पूर्व्वायां पट्ट……
४. ------ने (?) नात्मपुण्योप [च]—
५. [यात्थं]————कालीयं सदासत् [त्] र—
६. ————कस्य तलकनिवन्से (?)……
७. ————त्य (?) दीनाराः द्वादश
८. ————स्यांकुरोद्गम (?) स्तच्छ
९. ————[सं] युक्त [:*] स्यादिति। (॥)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ३ : फ्लीट 'पूर्व्वायां' के उपरान्त 'तिथौ' को समायोजित करते हैं।

अनुवाद

पं० १ [भगवान् की जय।] परमभागवत [महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त के शासन काल में] संवत्सर ९० (+) ८ में, [इस तिथि को] जो ऊपर दिवस आदि द्वारा निर्दिष्ट है—

पं० ३ (स्वयं) अपने पुण्य की अभिवृद्धि [के हेतु]······द्वारा उसी समय में (स्थिर रखने के उद्देश्य से)······सदा चलने वाले सत्र······बारह दीनार·········

पं० ६ ·········का भागी होगा ।

लेख का महत्व

गढ़वा से प्राप्त ये सभी लेख किसी एक सत्र या दानशाला विशेष से सम्बन्धित हैं। यह इस बात को स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार उस काल के लोग जनकल्याण के लिये दान देने में रुचि रखते थे ।

उदयगिरि जैन गुहा-लेख

(गु० स० १०६=४२५ ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख मध्य प्रदेश के ईसागढ़ जिले में स्थित भीलसा स्थान (प्राचीन विदिशा) के समीपस्थ **उदयगिरि** की एक गुफा से मिला है जिसे कनिंघम ने 'जैन गुफा, सं० १०' नाम दिया था। यह गुफा के प्रमुख कक्ष से दूसरे कक्ष में जाने वाले द्वार की मेहराब पर लिखा है। लेख में कुल ८ पंक्तियां हैं जो १'३¼"×७¾" क्षेत्रफल में लिखी हैं। लेख पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और यह प्रथम पंक्ति के 'नमः सिद्धेभ्यः' पद को छोड़कर पूर्णतः पद्यात्मक है। इसमें पांच **श्लोक** हैं जो क्रमशः इन्द्रवज्रा, रुचिरा, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ तथा उपेन्द्रवज्रा **छन्दों** में लिखे हैं। लेख की **लिपि** उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी है और अक्षरों का औसत आकार ⅜" है। **वर्तनी में** कुछ उल्लेख्य नहीं है। लेख में गुप्त राजाओं के शासन का उल्लेख है और शब्दों में वर्ष १०६ के कार्त्तिक मास के कृष्ण पक्ष की पंचमी **तिथि** दी गई है, परन्तु उस समय शासन करने वाले गुप्त सम्राट् प्रथम कुमारगुप्त का नाम नहीं दिया गया है। यह एक जैन लेख है ओर इसका **उद्देश्य** तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास तथा सन्दर्भ-ग्रन्थ—यह लेख १८७४-७६ में कभी जनरल कनिंघम को मिला था। उन्होंने उसे ए० एस० आई०, १०, (१८८०) में शिलामुद्रण, अपने पाठ व राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द कृत अनुवाद सहित छापा। १८८२ में हूल्श ने (आई० ए०, ११, पृ० ३०९) इसका अपना पाठ व अनुवाद प्रकाशित किया। तदनन्तर फ्लीट ने इसे 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (सं० ६१)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ : भाण्डारकर-सूची सं० १२६५; ग्वालियर राज्य अभिलेख, सं० ५५२; विजय मूर्त्ति, जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० ५६-७।

मूलपाठ

१. **नमः सिद्धेभ्यः [।।*] श्री संयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानां**

२. **राज्ये कुलस्याभिविवर्द्धमाने षड्भिर्य्युते वर्षशतेऽथ मासे [।।*] सु कार्त्तिके बहुलदिनेऽथ पंचमे—**

३. **गुहामुखे स्फटविकटोत्कटामिमाम् जितद्विषो जिनवरपार्श्वसम्ज्ञिकां जिनाकृतिम् शमदम-वान—**

४. **चीकरत् [।।*] आचार्य्य भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्यकुलोद्गतस्य आचार्य्यगोश—**

५. **र्म्ममुनेस्सुतस्तु पद्मावताव श्वपतेर्भ्भटस्य [।।*] परैर जेस्य रिपुघ्नमानिनस्स सङ्घि—**

६. **लस्येत्यभिविश्रुतो भुवि स्वसंज्ञया शङ्करनामशब्दितो विधानयुक्तं यतिमा—**

७. **र्ग्गमास्थितः [।।*] स उत्तराणां सदृशे कुरूणां उदग्दिशादेशवरे प्रसूतः**

८. **क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तदपाससर्ज्ज [।।*]**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ३ : हूल्श ने 'स्फट' को 'स्फुट' तथा 'जिनाकृतिम्' को 'जिनाकृतीं' पढ़ा है। पंक्ति ५ : 'पद्मावती' का सप्तमी विभक्ति में रूप 'पद्मावत्याम्' होता। यहां छन्द की आवश्यकतानुसार 'पद्मावति' की सप्तमी विभक्ति 'पद्मावत्यौ' का प्रयोग है।

शब्दार्थ

तोयधि = जलधि, समुद्र; अन्वय = वंश; सत्ता = उत्कृष्टता; बहुल = कृष्णपक्ष; स्फट = नाग का विस्तीर्ण फण; विकटा = एक प्रकार की दैवी-परिचारिका; उत्कट = युक्त; जितद्विषः = शत्रुओं को जीत लेने वाले; जिनवर = जिनों में उत्तम; अचीकरत् = बनवाई; इमाम् = उसने; दम = आत्मसंयम; संज्ञा = नाम; भट = सैनिक, एक सैनिक उपाधि; परैरजेयस्य = शत्रुओं द्वारा अजेय; रिपुघ्न = शत्रुओं का हन्ता, शत्रुघ्न; भुवि = पृथिवी पर; विश्रुतः = प्रसिद्ध; शब्दितः = पुकारे जाने वाले; विधानयुक्तं = शास्त्रीय विधान के अनुरूप; उदक् = उत्तर; क्षयाय = विनाश के हेतु; अपास् = अलग रख देना।

अनुवाद

पं० १ सिद्धों को नमस्कार। परमोत्कृष्ट कुल के गुप्तवंशीय राजाओं के, जो श्री से संयुक्त (=श्रीमान्) (तथा) गुणों के समुद्र हैं, अभिवर्द्धमान शासनकाल में, वर्ष एक सौ छः में उत्तम कार्त्तिक मास में कृष्ण पक्ष के पांचवे दिन—

पं० ३ उसने (अर्थात् शंकर ने जिनका नाम नीचे पंक्ति ६ में आता है)—जिसने (धर्म के) शत्रुओं को जीत लिया है तथा जो शम और दम से युक्त है—इस गुहा मुख में एक जिन मूर्त्ति का, जो विस्तीर्ण नागफणों तथा विकटा (=एक प्रकार की दैवी-परिचारिका) से युक्त (=अलंकृत) है और (उनकी है जो) जिनों में श्रेष्ठ (तथा) पार्श्वनामधारी हैं, निर्माण कराया।

पं० ४ वह (अर्थात् शंकर जो छठी पंक्ति में उल्लिखित हैं) उत्तम कुल में उत्पन्न (उस) मुनि आचार्य गोशर्मा के शिष्य हैं जो आचार्य भद्र के कुल के आभूषण थे, परन्तु वह भट अश्वपति संघिल—जो शत्रुओं द्वारा अजेय (थे) और स्वयं को शत्रुघ्न मानते थे—और पद्मावती के (गर्भ से उत्पन्न) पुत्र रूप में पृथिवी पर अधिक प्रसिद्ध हैं; (वह) अपने नाम शंकर से पुकारे जाते हैं (तथा) शास्त्रीय विधान के अनुरूप यतियों के मार्ग में स्थित रहते हैं।

पं० ७ उत्तर दिशा के श्रेष्ठ प्रदेश में, जो (कल्याण में) उत्तर कुरुओं के प्रदेश के सदृश है, उत्पन्न हुये उस बुद्धिमान् ने (अर्थात् शंकर ने) इस (कृत्य) में जो भी पुण्य है उसे (धार्मिक) कृत्यों के शत्रु-समूह के विनाश के हेतु निर्धारित कर दिया है।

व्याख्या

(१) **नमः सिद्धेभ्यः**—यहां आशय हिन्दू धर्म के अर्द्ध दैवी सिद्धों से नहीं है जिनका उल्लेख मालव संवत् ५२९ के मन्दसौर-लेख की पंक्ति १ तथा आदित्यसेन के अफसड़-लेख की पंक्ति ११ में मिलता है। ये जैन धर्म में माने गये वे सन्त हैं जिन्होंने कठिन तपश्चर्या से सिद्धि प्राप्त करली है। सिद्धि निम्नलिखित पांचों अथवा कुछ अवस्थाओं के रूप में प्राप्त की जाती है : (१) सलोकता = किसी देवता विशेष के साथ उसी स्वर्ग में निवास; (२) सरूपता = किसी देवता के साथ एकात्मकता या तादात्म्य की प्राप्ति; (३) सामीप्य =

किसी देवता के साथ निकटता; (४) सायुज्य=देवता में समाहित हो जाना; तथा (५) सार्ष्टिता अथवा समानैश्वर्यत्व=शक्ति तथा दैवी गुणों में देवता के साथ समानता। तु०, बौद्ध धर्म की सम्यक् सम्बुद्ध की कल्पना (फ्लीट, कॉर्पस, पृ० २५९)।

(२) **जितद्विषः** —'द्विष'(=शत्रु) से आशय जैन धर्म में माने गये 'अरिषट्क' या 'अरिषड्वर्ग' से है। ये हैं: इच्छा, काम, क्रोध, मोह, गर्व तथा ईर्ष्या, जिनसे धर्मपालन में बाधा पड़ती है।

(३) **विकटा**—मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ—'एक प्रकार की दैवी-परिचारिका' किया है। यह विशेषतः बौद्ध धर्म में मान्य थी। इसकी प्रतिमा अब इस गुफा में तो नहीं मिलती परन्तु फ्लीट ने ध्यान दिलाया है कि बादामी की एक जैन गुफा में पार्श्वनाथ की प्रतिमा के पास, जिसके ऊपर पांच फणों वाले नाग की आकृति बनी है, सर्पफण युक्त स्त्री आकृति भी बनी है जिसने पार्श्वनाथ के छत्र की यष्टि पकड़ रखी है। कुछ ऐसी ही मूर्ति इस गुफा में रही होगी (फ्लीट, कॉर्पस, पृ० २५९, टि० ९)।

(४) **भट अश्वपति संघिल**—'भट' योद्धा को कहते थे। इसका कुछ-कुछ उसी अर्थ में प्रयोग होता था जिस अर्थ में आजकल 'जवान' शब्द का प्रयोग होता है। 'अश्वपति' सम्भवतः सैनिक उपाधि है। संघिल=संघदत्त।

(५) **रिपुघ्नमानिनः** —यहां 'रिपुघ्न' को 'शत्रुओं का संहारक' इस सामान्य अर्थ में ले सकते हैं। परन्तु फ्लीट इसे रिपुञ्जय नामक पौराणिक राजा या दशरथ के पुत्र शत्रुघ्न के नाम का पर्याय मानना अधिक समीचीन समझते हैं।

(६) **उत्तरकुरु**—यह प्रदेश हिमालय के पार (परेण हिमवन्तम्) स्थित माना जाता था। ज़िमर ने इसकी पहिचान कश्मीर से की है। इसे शाश्वत सुख का प्रदेश बताया गया है। ऐतरेय ब्रा० के समय से ही इसे देवक्षेत्र माना जाने लगा था। बौद्ध साहित्य में भी यह प्रायः दैवी प्रदेश के रूप में उल्लिखित है।

(७) **कर्म्मारिगण**—यहां पुनः 'अरिषट्क' की ओर संकेत है (दे०, ऊपर, टि० २)।

लेख का महत्व

यह लेख गुप्त काल का एक महत्त्वपूर्ण जैन अभिलेख है। गुप्त साम्राज्य से जैन अभिलेख अपेक्षया कम ही मिलते हैं। लेकिन इससे तथा ऐसे ही कुछ अन्य लेखों से लगता है कि गुप्त नरेश जैन धर्म के प्रति भी सहिष्णु थे। इससे जैन धर्म से सम्बन्धित कई बातों पर भी, जिनकी चर्चा ऊपर टिप्पणियों में की गई है, प्रकाश पड़ता है। साहित्यिक दृष्टि से यह 'क्लासिकल' संस्कृत काव्य का काफी अच्छा नमूना कहा जा सकता है।

मथुरा जैन प्रतिमा-लेख

वर्ष १०७ (=४२६ ई०)

लेख-परिचय—यह लेख एक जैन मूर्त्ति पर उत्कीर्ण है । यह उन जैन प्रतिमाओं में से एक है जो फुहरर को १८९०-९१ ई० में मथुरा के **कंकाली टीले** से मिली थीं । यह मात्र दो पंक्तियों का लेख है । इसकी **भाषा** प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है । उदाहरणार्थ, 'दुहिता' के स्थान पर 'धीता' शब्द का प्रयोग प्राकृत का प्रभाव बताता है । इसकी **लिपि** पांचवीं शती ई० के प्रारम्भ की उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी है । इसमें प्रथम कुमारगुप्त का नाम से उल्लेख है और उसके शासन काल का वर्ष १०७ (अर्थात् गु० स० १०७) **तिथि** रूप में दिया गया है । लेख का **उद्देश्य** उस मूर्त्ति की प्रतिष्ठापना का उल्लेख करना है, जिस पर यह लिखा हुआ है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख को ब्युलर ने ई० आई०, २, (पृ० २१०) में प्रकाशित किया है । अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ—विजयमूर्त्ति, जैन-शिलालेख-संग्रह, २, पृ० ५८; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २७२-७३ ।

मूल पाठ

१. सिद्धम् । परमभट्टारकमा (म)हाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य विजयराज्ये १००+७[अधि]क [श्राव*]ण मास [दि][व] स २० अस्यां पू[र्व्वायां] कोट्टियागण(णा)

२. द्विधाधरी [तो] शाखातो दतिलाचाय्यप्रज्ञपिताये शामाढ्याये भट्टिभवस्य धीतु ग्रहमित्र-पालि[त] प्रा [त्र्था]रिकस्य कुटुम्बिणीये प्रतिमा प्रतिष्ठापिता ।

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : ब्युलर ने विजय के उपरान्त 'राज्य सं[१००+१०+] ३ [कार्त्ति]क [हेमन्त] मा [स्य] [दि]व स' पढ़ा है । पंक्ति २ : ब्युलर ने 'प्रात्र्थारिक' के स्थान पर 'प्रातारिक' पाठ स्वीकार किया है और इसके 'प्राभारिक' होने की सम्भावना मानी है ।

शब्दार्थ

प्रज्ञपिताये = आदेश से; धीता = दुहिता, पुत्री; प्रात्र्थारिक = प्रास्तारिक, पत्थर का काम करने वाला; कुटुम्बिनी = पत्नी

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो ! परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त के विजयोन्मुख शासनकाल में संवत्सर १०३ में (कार्त्तिक के) २०वें दिन, इस तिथि को जो ऊपर निर्दिष्ट है, कोट्टियगण

पं० २ (तथा) विद्याधरी शाखा के दतिलाचार्य (=दत्तिलाचार्य) की आज्ञा से भट्टिभव की पुत्री (तथा) ग्रहमित्रपालित (नामक) प्रात्र्थारिक की पत्नी शामाढ्या (=श्यामाढ्या) द्वारा (यह) प्रतिमा प्रतिष्ठापित करवाई गई।

व्याख्या

(१) **कोट्टियगण**—अन्य साक्ष्य से अज्ञात है।

(२) **विद्याधरी शाखा**— 'विद्याधर निवास' के उल्लेख के लिये दे०, खारवेल का हाथिगुम्फा-लेख, प० ५ तथा इस पर ग्रन्थ के प्रथम भाग में दी गई टि०। विद्याधरों का उल्लेख पुलुमावि के १९वें वर्ष के नासिक-लेख तथा अफसड़-लेख, श्लोक १, में भी हुआ है।

(३) **प्रात्र्थारिक**— 'अगर इसका सही पाठ प्रातारिक है तो यह मल्लाह अर्थ होगा।

लेख का महत्व

इस लेख से वैष्णव गुप्त सम्राटों के शासन में धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण का ज्ञान होता है तथा मथुरा में जैन धर्म के विशेषतः प्रचलित होने का समर्थन होता है। इस लेख में उल्लिखित कोट्टियगण अज्ञात है। यह तथ्य रोचक है कि इस लेख की प्रतिमा को एक प्रात्र्थारिक की पत्नी ने प्रतिष्ठापित करवाया था। लेकिन हो सकता है इसका मूल पाठ 'प्राभारिक' या 'प्रातारिक' रहा हो।

प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल का मानकुंवर पाषाण-प्रतिमा-लेख

(=४२८ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख जिस बुद्ध पाषाण प्रतिमा पर उत्कीर्ण है उसका **प्राप्ति स्थल** उत्तर-प्रदेश में इलाहाबाद जिले की करछना तहसील में अरइल परगने के प्रमुख कस्बे अरइल से ६ मील दक्षिण-पश्चिम दूर स्थित मानकुंवर गांव है जिसके नाम की वर्तनी 'मानकुमार' 'मान्कुंवर' तथा 'मंकुवार' आदि भी मिलती हैं। कनिंघम को इसका अस्तित्व ज्ञात होने के समय यह प्रतिमा मानकुंवर के एक बाग में स्थित थी लेकिन उनको यह परम्परा भी सुनने में आई थी कि मूलतः यह मानकुंवर से कुछ दूर स्थित पंचपहाड़ के मध्य ईटों के एक टीले से मिली थी। इस मूर्त्ति की पीठिका पर यह लेख दो पंक्तियों में उत्कीर्ण है जिनके बीच में धर्मचक्र, तथा लघु मानव और सिंहमूर्त्तियां बनी हैं। दोनों पंक्तियां १'७" चौड़ी हैं। प्रथम पंक्ति के अक्षर ¾" ऊंचे हैं और दूसरी के १" ऊंचे। लेख की **भाषा** प्राकृत से प्रभावित संस्कृत है और **लिपि** प्रयाग-प्रशस्ति से सादृश्य रखने वाली ब्राह्मी। दूसरी पंक्ति में शून्य ८, ६, १० तथा १०० के अंकचिह्न मिलते हैं। इसकी **तिथि** गुप्त संवत् के वर्ष १०६ के ज्येष्ठ मास का १८वां दिन है। पहिले इसकी वर्ष संख्या १२६ पढ़ी गई थी। इसमें प्रथम कुमारगुप्त का 'महाराज' उपाधि के साथ उल्लेख है। यह प्रकृत्या एक बौद्ध लेख है जिसका **उद्देश्य** उस प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख करना है जिस पर यह उत्कीर्ण है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—यह अभिलेख सर्वप्रथम १८७० ई० में भगवानलाल इन्द्रजी को मिला था। १८८० में कनिंघम ने इसे शिलामुद्रण सहित ए० एस० आई०, १० (पृ० ७) में प्रकाशित किया। १८८५ में भगवान लाल इन्द्रजी ने जर्नल ऑव बाम्बे ऑव ब्राञ्च रायल एशियाटिक सोसायटी, १६, (पृ० ३५४) में इसका अपना पाठ व अनुवाद प्रकाशित किया। तदनन्तर फ्लीट ने इसे 'कॉर्पस' में सम्पादित किया। (स० ११)। अन्य सन्दर्भ :—भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, कॉर्पस ३, पृ० २६१-६३; पाठक, आई० ए०, ४१, १६१२, पृ० २४४; सरकार, स० इ०, पृ० २६४-५; भाण्डारकर-सूची सं० १२७३; सरकार, जे० ए० आई० एच०, ३, पृ० १३३-७; जगन्नाथ, पी० आई० एच० सी०, १६५१, पृ० ६२ अ०।

मूलपाठ

१. १° नमो बुधान (।*) भगवतो सम्यक्सम्बुद्धस्य स्व-मताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु-बुद्धमित्रेण

२. सम्वत् १०० (+*)०(+*)६ महाराज-श्रीकुमारगुप्तस्य राज्ये ज्येष्ठमास–दि १० (+*) ८ सर्व-दुक्ख-प्रहानार्त्थम् (।।)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : फ्लीट ने 'नमो' के पूर्व ॐ को प्रतीक रूप में लिखा माना है। सरकार ने इस प्रतीक को 'सिद्धम्' अर्थ में लिया है। 'बुधान' से तात्पर्य प्राकृत 'बुद्धानं' से हो सकता है पर 'बुद्धेभ्यः' अथवा 'बुद्धाय' अर्थ अपेक्षित है। 'भगवतो' को 'भगवतः' पढ़ें। पंक्ति २ : 'सम्वत्' को

'संवत्' पढ़ें जो 'संवत्सरे' का संक्षिप्त रूप है। वर्ष संख्या को फ्लीट और पहिले सरकार भी १००+२० +९=१२९ पढ़ते थे। अब सरकार १०९ पढ़ते हैं जो सही है। ज्येष्ठ=ज्यैष्ठ। 'दुःक्ख प्रहानार्त्थम्' को 'दुःख प्रहाणार्त्थम्' पढ़ें।

शब्दार्थ

स्व-मताविरुद्ध=अपने मत के अविरुद्ध रहने वाले अर्थात् अपने उपदेशों के अनुसार स्वयं आचरण करने वाले; प्रहाना(णा)र्त्थम्=निराकरण के हेतु; दि=दिवस

अनुवाद

पं० १ सिद्धम्! बुद्ध (या बुद्धों) को नमस्कार! सम्यक् सम्बुद्ध तथा अपने मत के अविरुद्ध रहने वाले (अर्थात् अपने उपदेशों के अनुसार आचरण करने वाले) भगवान् की यह प्रतिमा बुद्धमित्र द्वारा प्रतिष्ठापित की गई।

पं० २ वर्ष १००+०+९ (=१०९) (में) महाराज श्री कुमारगुप्त के राज्य में ज्येष्ठ मास (में) १०+८ (=१८) वें दिन सब दुखों के निराकरण के हेतु।

व्याख्या

(१) **नमो बुधान**—फ्लीट ने 'नमो' के पूर्व 'ॐ' का प्रतीक रूप में अंकन माना है। 'ॐ' एक मांगलिक अभिव्यक्ति है जिसका प्रयोग पुस्तकों व पत्रों आदि के प्रारम्भ में किया जाता है। यह 'अ', 'उ' तथा 'म' से मिल कर बना है जिन्हें परवर्ती हिन्दू धर्म में क्रमशः विष्णु, शिव एवं ब्रह्मा की त्रिमूर्ति का रहस्यात्मक प्रतीक माना गया। 'मनुस्मृति' (२.७४-८५) में इसका विस्तार से विवेचन मिलता है। परन्तु 'ओ३म्' का अंकन बौद्ध अभिलेखों में विरल है। सरकार ने इस लेख में 'ओ३म्' के स्थान पर 'सिद्धम्' का प्रतीकात्मक अंकन माना है। 'नमः' के उपरान्त सम्बन्धकारक विभक्ति सामान्यतः नहीं आती। परन्तु इसके अपवाद मिलते हैं यथा जैन धर्म का दीक्षावचन 'नमो अरहंतानं नमो सव सिद्धानं' में जिसका प्राचीनतम आभिलेखिक प्रयोग खारवेल के हाथिगुम्फा लेख में मिलता है (स० इ०, पृ० २१४)। फ्लीट ने इसके अन्य अनेक उदाहरण उद्धृत किये हैं। उदाहरणार्थ एक प्राचीन मथुरा लेख 'नमो अरहतो महावीरस्य' से प्रारम्भ होता है (कॉर्पस, ३, हिन्दी, पृ० ५९, टि० ४)। अगर 'बुधानं' से आशय यहां एकाधिक 'बुद्धों' से है तो इसकी तुलना वर्ष १३१ के सांची अभिलेख (दे०, आगे) में चार बुद्धों के उल्लेख से की जा सकती है। ध्रुवसेन के वला दानपत्र में 'भवगतां सम्यक् सम्बुद्धानां बुद्धानाम्' (आई० ए०, ४, पृ० १०५) का उल्लेख भी तुलनीय है।

(२) **स्वमताविरुद्ध**—फ्लीट ने इसको बहुव्रीहि समास मानकर इसका अर्थ किया है 'जिसके मत को काटा नहीं गया'। लेकिन जगन्नाथ अग्रवाल का कहना है कि उस अवस्था में यहां 'अविरुद्धस्वमतस्य' पाठ होता। वह इसे कर्मधारय समास मानते हैं। एक मथुरा अभिलेख में 'स्वमत' का प्रयोग 'प्रिय' अर्थ में हुआ है और 'महानिद्देस' में अविरुद्ध का "वह जिसके मानसिक विकार प्रज्ञा से नष्ट हो गये है" अर्थ में। अतः जगन्नाथ अग्रवाल ने 'स्वमताविरुद्ध' का अर्थ किया है "जो मेरे श्रद्धेय हैं और जिनके विकार प्रज्ञा से नष्ट हो गये हैं।"

(३) **बुद्धमित्र**--के० बी० पाठक जैसे कुछ विद्वान् इस बुद्धमित्र की पहिचान उस बुद्धमित्र से

करते हैं जिसे परमार्थ ने वसुबन्धु का गुरु बताया है (पाठक, 'ऑन बुद्धमित्र, द टीचर ऑव वसुबन्धु', आई० ए०, १९१२, पृ० २४४) और इस आधार पर वसुबन्धु की तिथि निर्धारित करते हैं (दे०, पाठक, 'कुमारगुप्त, द पेट्रन ऑव वसुबन्धु,' आई० ए०, १९११, पृ० १७० अ०)। परन्तु प्रस्तुत लेख के बुद्धमित्र को परमार्थ के बुद्धमित्र से अभिन्न मानने का नाम साम्य के अतिरिक्त कोई आधार नहीं है। (दे०, गोयल, श्रीराम, 'वसुबन्धु की तिथि और संरक्षक सम्राट्', पं० सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १०१ अ०)।

(४) **संवत् १०९**—इस लेख की तिथि फ्लीट ने संवत् १२९ पढ़ी थी। सरकार भी पहिले यही तिथि उल्लिखित मानते थे (स० इ०, पृ० २९५)। लेकिन कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि इस तिथि में जिसे अंक २० प्रतीक माना जा रहा था वह वस्तुतः शून्य (ज़ीरो) है (जे० ए० आई० एच०, ३, पृ० १३३-७)। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि गुप्तकाल में २० अंक का चिह्न ऊपर की ओर लम्बाई लिये अण्डाकार 'थ' अक्षर होता था जिसके बीच में पड़ी रेखा बनी रहती थी जबकि प्रस्तुत लेख में १०० के बाद बना चिह्न एक वृत्त मात्र है जो आकार में १०० के चिह्न का तिहाई मात्र लगता है। इसलिये सरकार ने इसे शून्य माना है जो सैंकड़े और इकाई चिह्नों के मध्य दहाई चिह्न के न होने का प्रतीक है।

अभिलेख का महत्व

इस अभिलेख का महत्त्व कई कारणों से है। (१) बहुत से विद्वान् इसमें बुद्धमित्र नामक एक विशिष्ट बौद्ध विद्वान् का उल्लेख मानते हैं और इस लेख के आधार पर उस बौद्ध विद्वान् की तिथि निश्चित करके बौद्ध धर्म एवं साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का समाधान करते हैं (दे०, ऊपर टि० २)। परन्तु इस बुद्धमित्र की पहिचान बौद्ध इतिहास में चर्चित बुद्धमित्र के साथ करना निराधार है। (२) इस अभिलेख में कुमारगुप्त को मात्र 'महाराज' कहा गया है। जैसा कि फ्लीट ने कहा है यहां कुमारगुप्त को 'महाराजाधिराज' न कहा जाना लेखक की असावधानी या अज्ञान का परिणाम हो सकता है। वैसे भी गैर-राजकीय अभिलेखों में सम्राट् के लिये मात्र 'महाराज' उपाधि का प्रयोग कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। स्कन्दगुप्त के सूपिया स्तम्भ-लेख में समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त व स्कन्दगुप्त—इन तीनों को 'महाराज' ही कहा गया है और द्वितीय चन्द्रगुप्त के लिये तो मात्र 'श्री' शब्द प्रयुक्त है। इसलिये फ्लीट द्वारा विकल्परूपेण रखा गया यह सुझाव सर्वथा निराधार है कि हो सकता है प्रथम कुमारगुप्त अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में पुष्यमित्रों और हूणों का अधीनस्थ मात्र रह गया हो। इस विकल्प को लेकर अनेक विद्वानों ने कल्पना से अनेक ताने-बाने बुने हैं जिनमें प्रथम कुमारगुप्त के जीवन के अन्तिम वर्षों में उसकी प्रतिष्ठा गिरी हुई मानी गई है। परन्तु ये सब कल्पनायें सर्वथा अनावश्यक हैं। महान् राजवंशों की साम्राज्यिक प्रतिष्ठा इस प्रकार जल्दी-जल्दी न बनती है और न बिगड़ती है। इस लेख की तिथि ४२८ ई० सिद्ध हो जाने से तो इन कल्पनाओं का सम्बन्ध पुष्यमित्रों व हूणों के आक्रमणों से जोड़ना भी (जिनकी तिथि ४५०-५५ के मध्य पड़ेगी) असम्भव हो गया है।

प्रस्तुत लेख सिद्ध करता है कि इसके लिखे जाने के समय अंक लिखने की पुरानी विधि के साथ, जिसमें संख्याओं के प्रतीक चिह्न लिखे जाते थे, शून्य व दशमलव विधि का प्रयोग प्रचलित होने लगा था। इससे यह मत कि भारत में दशमलव विधि की उत्पत्ति हुई, सही सिद्ध होता है।

(प्रथम कुमारगुप्तकालीन) धनैदह ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष ११३ (=४३२ ई०)

लेख-परिचय—यह ताम्रपत्र-अभिलेख पूर्वी बंगाल (आधुनिक बांगला देश) के राजशाही जिले की नाटोर तहसील के धनैदह नामक गांव से मिला था। यह एक ही पतले ताम्रपत्र पर लिखा है। राजशाही की वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी के निदेशक श्री अक्षय कुमार मैत्रेय ने इसे श्री अर्शद अली खां चौधुरी नामक सज्जन से प्राप्त किया था। इस दानपत्र की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** उत्तरी वर्ग की पांचवीं शती ई० की ब्राह्मी। इसमें कुल १७ पंक्तियां हैं। इसका अधिकांश भाग गद्यात्मक है लेकिन पंक्ति १४ के अन्त से १७वीं के मध्य तक इसमें तीन **श्लोक** दिये गये हैं। ये 'महाभारत' से लिये गये हैं, भूमिदान महिमा से सम्बन्धित हैं और अन्य अनेक दानपत्रों में मिलते हैं। ये तीनों अनुष्टुभ **छन्द** में हैं। **वर्तनी** की प्रमुख विशेषतायें हैं 'आ' की मात्रा का कुछ अक्षरों में नीचे की तरफ प्रयोग, अवग्रह चिह्न का अप्रयुक्त होना, पूर्वगामी 'र' के साथ संयोग होने पर 'ग', 'ण', 'त', 'म', 'य' तथा 'व' का (परन्तु 'ष' का नहीं) द्वित्व, अनुवर्ती 'र' के साथ संयुक्त होने पर 'क' का द्वित्व तथा कहीं-कहीं अनुवर्ती 'प' तथा 'व' के साथ पूर्वगामी 'म' को संयुक्त कर दिया जाना।

अपने वर्तमान रूप में प्रस्तुत लेख टूटा हुआ तथा अत्यन्त क्षत-विक्षत है। इसकी पंक्ति १५-१६ में प्रदत्त श्लोकों की लम्बाई से स्पष्ट है कि इसकी प्रत्येक पंक्ति में लगभग ४० अक्षर थे। लेकिन इस समय लेख का दायां भाग ही प्राप्त है और पंक्ति ६ से १५ तक प्रत्येक में लगभग २२ अक्षर बचे हैं। १९०६-७ ई० में एक प्रदर्शनी में इस दानपत्र के उपलब्ध भाग का ऊपरवाला बायां व निचला दायां कोना नष्ट हो गया था इससे पंक्ति १ से ५ तक तथा पंक्ति १६-१७ और भी अधिक क्षत हो गई हैं। पंक्ति १ में तो केवल १२ अक्षर ही बचे हैं।

प्रस्तुत अभिलेख का **उद्देश्य** एक व्यक्ति द्वारा, जिसके नाम का केवल उत्तर भाग 'विष्णु' अवशिष्ट है, राज्य से खादापार नामक विषय के अन्तर्गत भूमि खरीद जाने और उसके अनुरोध पर उसे वराहस्वामी नामक ब्राह्मण को दिये जाने का उल्लेख करना है। लेख में संवत् ११३ **तिथि** दी गई है। इसकी प्रथम पंक्ति में प्रथम कुमारगुप्त का नाम रहा होगा, ऐसा अनुमान अनायास किया जा सकता है।

यह ताम्रपत्र तथा प्रथम कुमारगुप्त के उत्तरी बंगाल से प्राप्त अन्य ताम्रपत्र ऐसी परती और अछूती भूमि के बेचे जाने की घोषणा के लिये लिखवाये गये थे जो उस युग में उत्तरी बंगाल में राज्य द्वारा धार्मिक कार्यों के सम्पादन में सहायता देने के हेतु मन्दिरों और ब्राह्मणों आदि को परम्परा के अनुसार घटे मूल्य पर वेच दी जाती थी। यह घटा मूल्य राज्य को भूमि पाने वाला ब्राह्मण स्वयं भी दे सकता था और कोई नागरिक पुण्य-अर्जन के लिये राज्य से अनुरोध कर सकता था कि वह उससे मूल्य लेकर भूमि अमुक ब्राह्मण या मन्दिर को दे दे। क्योंकि ऐसी भूमि के लिये राज्य प्रथानुसार केवल घटा मूल्य लेता था और प्रायः कोई व्यक्ति पुण्य-अर्जन के हेतु स्वयं मूल्य देकर किसी ब्राह्मण या मन्दिर आदि को वह भूमि दान दिलवा सकता था, इसलिये ऐसे अभिलेखों को दानपत्र कहा जा सकता है। इन

अभिलेखों के अन्त में 'महाभारत' से भूमि दान सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत किये जाने से इसका समर्थन होता है । परन्तु स्मरणीय है कि कानून की दृष्टि से ये ताम्रपत्र दानपत्र नहीं वरन् विक्रय-पत्र हैं जिनमें राज्य द्वारा मूल्य लेकर भूमि बेचे जाने का वर्णन है । इसलिये इन्हें अधिक से अधिक अर्ध-दानपत्र कहा जा सकता है । ऐसे विक्रय-पत्रों या अर्द्ध-दानपत्रों का सर्वाधिक विस्तृत रूप कुलैकुरी-सुल्तानपुर ताम्रपत्र अभिलेख है ।

अध्ययन-इतिहास और संदर्भ-ग्रन्थ—इस अभिलेख को सर्वप्रथम श्री रा० दा० बनर्जी ने १९०९ ई० में जे० ए० एस० बी०, एन० एस०, ५, पृ० ४५९ अ० तथा 'बंगीय साहित्य परिषद् पत्रिका' २६, पृ० ११२ अ० में सम्पादित किया । इसका पुनर्सम्पादन आर० जी० बसाक ने इ० आई०, १७, (पृ० ३४७ अ०) 'सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबिली वोल्यूम्स्', 'ओरियण्टेलिया', भाग २, पृ० ६८० एवं 'साहित्य' (बंगाली), पौष, बंगाल संवत् १३२३ (पृ० ८२९ अ०) में किया । अन्य सन्दर्भ ग्रन्थ : भाण्डारकर-सूची सं० १२६७; सरकार, स० इ०, पृ० २८७–९; मैती और मुकर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ४१–४; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० २३७; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २७३–७६ ।

मूलपाठ

१ ············[स*]म्वत्सर-श[ते] त्रयोदशोत्त[रे*]
२ [सं १००+१०+३*]············[अस्या*] [न्दि]वस.पूवर्वायां परमदैवत-पर-
३ [म-भट्टारक-महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्ते पृथिवीपती*] ······ कुट[म्बि]
······ब्राह्मण-शिवशर्म्म-नागशर्म्म-मह-
४ ············वकीर्त्ति-क्षेमदत्त-गोष्ठक-वर्गपाल-पिङ्गल-शुङ्कक-काल-
५ ············विष्णु-[देव]शर्म्म-विष्णुभद्र-खासक-रामक-गोपाल-
६ ············श्रीभद्र-सोमपाल-रामाद्यक(?)-ग्रामाष्टकुलाधिकरणञ्च
७ ············विष्णुना(णा) विज्ञापिता इह खादा(टा?) पार-विषये(ऽ*)नुवृत्त-मर्य्यादास्थि
[त्ति]-
८ ···नीवीधर्म्म[ा]क्षयेण लभ्य[ते] (।*) [त]दर्हथ ममाद्यानेनैव क्रमेन(ण) दा[तुं]
९ ······समेत्या(?)भिहितै(:*) सर्व्वमेव * * कर-प्रतिवेशि(?)-कुटुम्बिभिरवस्थाप्य क-
१० ······* रि * कन * यदितो * * [त]दवधृतमिति यतस्तथेति प्रतिपाद्य
११ ············[अष्टक-न*] वक-नला[भ्या]मपविञ्छय क्षेत्र-कुल्यवाप(:*) मेकं(एकः)
दत्तं(त्तः)(।*) ततः आयुक्तक-
१२ ······*श्रा(?) तृकटक-वास्तव्य-छन्दोग-ब्राह्मण-वराहस्वामिनो दत्तं(त्तम्) (।*)
त[द्भव]–
१३ ··· . ...भूम्या दा[नाक्षे]पे च गुणागुणमनुचिन्त्य शरीर-क[ा*]ञ्चनकस्य चि-
१४ [र-चञ्चलत्वं*]·········(।।*) [उ]क्तञ्च भगवता द्वैपायनेन (।*)
स्वदत्ताम्परदत्ताम्वा
१५ [यो हरेत वसुन्धरां(राम्) (।*)
[स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृ*]भिः सह पच्यते (।।*) 1
ष्यष्टि वर्ष-सहस्रानि(णि) स्वर्गे मोदति [भू]मिदः (।*)

१६ [आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ॥*] 2
[पू*]र्व्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
महीं [मही][मताञ्छ्रेष्ठ]
१७ [दानाच्छ्रेयोऽनुपालनं(नम्) (॥*) 3
·················यं···भद्रेन उत्कीर्ण्णा स्थम्भेश्वरदासे[न] (॥*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'सम्बत्सर' को 'संवत्सर' पढ़ें। इस पंक्ति के लगभग २८ अक्षर अब नहीं मिलते। बनर्जी के अनुसार १९०६–७ में प्रदर्शिनी में और क्षत होने के पूर्व लेख के उपरले बायें कोने के टूटे भाग में 'म' तथा 'र' अक्षर अवशिष्ट थे जो 'कुमारगुप्त' नाम का शेष भाग होंगे। सरकार ने इस पंक्ति के लुप्तांश का पुनर्योजन इस प्रकार किया है : '१ॅ चतुरुदधि सलिलास्वादित यशसो महाराजाधिराज–श्री-कुमारगुप्तस्य संवत्सर०'। पंक्ति २ : इसके प्रारम्भ में अंकों में वर्ष संख्या व मास तथा तिथि उल्लिखित रहे होंगे। पंक्ति ४ : 'क्षेमदत्त' को बनर्जी ने 'क्षमवन्त' पढ़ा है। पंक्ति ५ : बनर्जी ने 'विष्णुभद्र' को 'विष्यभद्र' पढ़ा है। पंक्ति ८ : बसाक व भाण्डारकर ने 'नीवीधर्म्माक्षयेण' को 'नीवी-धर्म्मक्षयेण' पढ़ा है। पंक्ति १२ : '०स्वामिनो' को '०स्वामिने' पढ़ें। पंक्ति १२-१३ : 'तद्भव' से लेकर सरकार ने इस प्रकार पुनर्योजन सुझाया है : 'भवद्भिः सर्व्वैरेवानुमोद्यानुपालनीयं। पंक्ति २४ : 'दत्ताम्बा' को 'दत्तां वा' पढ़ें। पंक्ति २७ : सरकार ने लुप्तांश को इस प्रकार पुनर्योजित करने का सुझाव रखा है '[लिखित पट्टिके] यं अमात्य भद्रेण'। 'यं' के पूर्व 'क' अक्षर के चिह्न द्रष्टव्य हैं। भाण्डारकर व बनर्जी का पाठ है 'सु (?) श्री भद्रेन (ण)'। 'स्थम्भे०' को 'स्तम्भे०' पढ़ें।

शब्दार्थ

कुटुम्बी = कृषक-गृहस्थ; अधिकरण = कार्यालय, न्यायालय; विज्ञापित = ज्ञापन दिया गया; अनुवृत्त = परम्परागत, प्रचलित; मर्यादा स्थिति = धर्म, प्रथा; तदर्हथ = इसलिये आपको उचित है; अद्य = आज; एव = ही; मम = मह्यम, मेरे लिये; समेत्याभिहितैः = उनके द्वारा जो एक साथ सम्बोधित किये गये; प्रतिवेशी = पड़ौसी; अवधृत = पड़ताल की, जांच की, निश्चित किया; अपविञ्छ्य = मापकर; वास्तव्य = निवासी; आक्षेप = अपहरण, वसुन्धरा = भूमि; पच्यते = सड़ता है; भूमिदः = भूमि दान देने वाला; आक्षेप्ता = अपहृता; अनुमन्ता = अनुमोदक; महीमत् = राजा (विशेष अर्थ में); अनुपालन = रक्षण

अनुवाद

(मैती व मुखर्जी ने इस बात को विस्मृत करके कि प्रत्येक पंक्ति का लगभग आधा या आधे से भी अधिक भाग टूट चुका है अथवा अपठ्य हो गया, इस अभिलेख का अनुवाद खींचतान कर इस प्रकार किया है मानो इसका पूरा पाठ क्रमबद्धरूपेण उपलब्ध है और पंक्तियों के मध्य अन्तराल नहीं है। परन्तु यह गलत है।)

पं० १ ·········संवत् एक सौ तेरह में।
पं० २ [१००-१०-३]·········इस तिथि को जो दिवस आदि द्वारा पीछे निर्दिष्ट है, पर
पं० ३ [म भट्टारक महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त पृथिवीपति के शासन काल में]·········
कृषक-गृहस्थ......ब्राह्मण शिवशर्मा, नागशर्मा, मह—
पं० ४ ···················(शि ? दे ?) वकीर्ति, क्षेमदत्त, गोष्ठक, वर्गपाल, पिंगल, शुङ्कक, काल–

पं० ५ ············विष्णु [देव] शर्मा, विष्णुभद्र, खासक, रामक, गोपाल,

पं० ६ ············श्रीभद्र, सोमपाल, राम आदि (?) तथा ग्राम के अष्टकुलाधिकरण को

पं० ७ ············विष्णु द्वारा (यह) ज्ञापन दिया गया—इस खादापार विषय में परम्परागत रूप से प्रथा है

पं० ८ ············अक्षय नीवीधर्म प्रचलित है। इसलिये आपको उचित है कि मेरे लिये आज ही इस प्रथानुसार (भूमि) दें।

पं० ९ ············समग्र रूप से अभिहित सब·········पड़ौसी कृषक-गृहस्थों द्वारा स्थापित हो जाने पर

पं० १० ············'ऐसा ही हो' कहकर इसे स्वीकृत किया गया

पं० ११ ·············आठ-नौ नलकों से मापकर एक कुल्यवाप क्षेत्र दिया गया। तब आयुक्तक—

पं० १२ ·················भ्रातृकटक के निवासी छान्दोग्य ब्राह्मण वराहस्वामी को दिया गया।

पं० १३ ·················भूमि के दान व अपहरण के गुणों और अवगुणों पर विचार करके (तथा) शरीर और सुवर्ण की शाश्वत चंचलता को ध्यान में रखते हुए············।

पं० १४ और जैसा कि भगवान् व्यास ने कहा है :—जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर (अपने) पितरों के साथ सड़ता है ॥१॥ भूमि दान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहृता तथा उसका (अर्थात् अपहरण का) अनुमोदक उतने ही समय नरक में वास करते हैं ॥२॥ हे राजाओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! द्विजातियों को पूर्वकाल में प्रदत्त भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो (क्योंकि) (भूमि के) दान से उसका अनुपालन श्रेष्ठ है ॥३॥

पं० १७ ····················भद्र द्वारा·········(तथा) स्तम्भेश्वरदास द्वारा उत्कीर्ण किया गया।

व्याख्या

(१) **परमदैवत परमभट्टारक**—'परमदैवत' का अर्थ है 'देवता में अतिशय श्रद्धावान्'। यह उपाधि धर्मनिष्ठ नरेश प्रायः धारण करते थे। 'परमभट्टारक' साम्राज्यिक प्रतिष्ठा का दावा करने वाले राजाओं की उपाधि थी। यह 'महाराजाधिराज' तथा 'परमेश्वर' उपाधियों से प्रायः संयुक्त मिलती है। कभी-कभी इसका प्रयोग पुरोहितों (सामान्यतः शैवमत के पुरोहितों) के लिये भी मिलता है। द्र०, सरकार, इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लॉसरी, पृ० २३५-६

(२) **कुटुम्बिन्**=कृषक-गृहस्थ। यह शब्द अभी तक 'कुर्मी' (हिन्दी), कुणबी (गुजराती), कुलम्बी (मराठी) आदि रूपों में अवशिष्ट है।

(३) **ग्रामाष्टकुलाधिकरण**=ग्राम के अष्टकुल का अधिकरण अर्थात् कार्यालय। सरकार के अनुसार 'अष्टकुल' 'पञ्चमण्डली' (=आधुनिक पञ्चायत) जैसी कोई प्रशासनिक संस्था थी। अधिकरण =कार्यालय, आफिस, दफ्तर, कचहरी या अदालत। कुछ विद्वानों के अनुसार अष्टकुल में आठ (या

अधिक) कुलों के सदस्य होते होंगे। यह सम्भव नहीं लगता। इसका तात्पर्य आठ पञ्चों या आठ पदाधिकारियों की समिति मानना श्रेष्ठतर है। 'महापरिनिब्बानसुत्तन्त' पर बुद्धघोष द्वारा लिखित 'अट्ठकथा' नामक टीका में वज्जियों के अट्ठकुल का उल्लेख आता है।

(४) **अनुवृत्तमर्य्यादास्थिति**=परम्परागत रूप से प्रचलित प्रथा। मर्यादा=धर्म, प्रथा।

(५) **नीवीधर्म्माक्षयेण**=अक्षयेन नीवि धर्मेण=अक्षय नीवि धर्मानुसार। बसाक तथा भाण्डारकर यहां 'नीवि धर्म क्षयेण' पाठ मानकर इसका अर्थ 'नीवी धर्म का क्षय करके' करते हैं। हमें सरकार का पाठ और अर्थ अधिक समीचीन जान पड़ते हैं। अक्षयनीवी उस धन (नीवी) को कहते थे जो सदैव के लिये किसी के पास जमा कर दिया जाता था अर्थात् सदैव के लिये जमा धनराशि। उसका केवल ब्याज काम में लाया जा सकता था, मूलधन नहीं इसलिये यह 'अक्षय' कहलाता था।

(६) **अष्टक नवकनलाभ्यामपविञ्छ्य**=आठ नौ (८×९) नलकों से मापकर। अपविञ्छ्य=माप कर। कुछ अभिलेखों में ९×९ नलकों से मापे जाने का उल्लेख है। 'नल' का अर्थ 'रीड' होता है। यहां अर्थ है 'नापने का नल'। 'अष्टक-नवक-नलाभ्याम्' पद गु०स० १२८ के बैग्राम-दानपत्र तथा गु०स० १६३ के दामोदरपुर-दानपत्र में भी मिलता है, यद्यपि उक्त दामोदरपुर-दानपत्र में गलती से 'नवक' शब्द दो बार लिख दिया गया है। भाण्डारकर के अनुसार गुप्तकाल में भूमि माप की इकाई एक आयत होता था जिसकी एक भुजा आठ हाथ लम्बी और दूसरी ९ हाथ लम्बी होती थी। उनका यह भी विचार है कि इस पद के अन्त में 'हस्त' शब्द का प्रच्छन्न अस्तित्व मान लिया गया है। तु०, एक फरीदपुर-दानपत्र में आया 'शिवचन्द्र हस्त अष्टक नवक नलेन' पद (=शिवचन्द्र के हाथ से ८×९ नल नाप कर)। एक सेन-दानपत्र में 'वृषभशंकर नल' पद प्रयुक्त है। इन तथ्यों से लगता है कि राजा या कोई उच्च अधिकारी आधिकारिक रूप से किसी व्यक्ति के हाथ की लम्बाई को मानक स्वीकार करके उसे सर्वत्र लागू करते थे।

(७) **कुल्यवाप**—इसका शाब्दिक अर्थ है 'उतना भूमि क्षेत्र जितने में एक 'कुल्य' अनाज (बंगाल के सन्दर्भ में चावल) बोया जा सके।' भट्टसाली ने एक कुल्य बीज का तात्पर्य उतना बीज माना है जितना अनाज ओसाते समय एक टोकरे में आता है। सरकार के अनुसार कुल्य का सम्बन्ध बंगाल में प्रचलित प्राचीन भू-इकाई 'क्रोबा' से जोड़ा जा सकता है जो करीब $\frac{१}{३}$ एकड़ के बराबर होती थी। पर वस्तुतः कुल्यवाप की माप समय-समय पर बदलती रही है। गुप्त काल में यह काफी बड़ा भूखण्ड होता था क्योंकि एक कुल्यवाप उर्वर भूमि की कीमत कम से कम चार दीनार और ऊसर भूमि की २ या ३ दीनार होती थी। एक कुल्य में ८ द्रोण होते थे और एक द्रोण में ४ आढ़क। एक द्रोण में १ मन २४ सेर या दो मन अनाज माना गया है। एक द्रोण बीज की बुआई के लिये आवश्यक भूमि के आधार पर सरकार की अनुमान है कि गुप्त काल में एक कुल्यवाप ३८ से ४८ बीघे के बराबर होता था।

(८) **आयुक्तक**=आयुक्त। विषय (=जिले) का गवर्नर। पाणिनि इस शब्द को एक पदनाम के रूप में जानते थे। 'कामशास्त्र' तथा प्रयाग-प्रशस्ति में भी इसका उल्लेख मिलता है। तु०, प्रयाग-प्रशस्ति को पंक्ति २६ में आया आयुक्तक पदनाम।

(९) **खादापार** (खाटापार ?) विषय या जिले का नाम था। यह पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति का अंग रहा होगा।

(१०) **भ्रातृकटक** ग्राम की स्थिति अज्ञात है।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख बंगाल से प्राप्त प्राचीनतम अभिलेखों में से एक है। बंगाल से प्राप्त केवल दो

और अभिलेख ऐसे हैं जो इससे प्राचीनतर हैं—महास्थानगढ़ स्तम्भ-लेख तथा सुसुनिया शिलालेख जो लिपि के आधार पर क्रमशः मौर्य एवं प्रारम्भिक गुप्तकालीन माने जाते हैं। बंगाल से प्राप्त यह प्रथम ताम्रशासन है। यह स्पष्ट करता है कि प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल में गुप्त प्रशासकीय-व्यवस्था बंगाल में जड़ें जमा चुकी थी। इससे और बंगाल से प्राप्त अन्य गुप्तकालीन दानपत्रों से गुप्त प्रशासन, भूमि तथा कर-व्यवस्था आदि पर जो प्रकाश उपलब्ध होता है, उसका विवेचन हमने पञ्चम दामोदरपुर-ताम्रपत्र के उपरान्त दिये गए एक परिशिष्ट में विस्तृतरूपेण किया है।

प्रथम कुमारगुप्त शासनकालीन खण्डित तुमैन पाषाण-लेख

गु० सं० ११६=४३५-६ ई०

लेख-परिचय—यह लेख एम० बी० गर्दे ने फरवरी १९१९ में मध्य प्रदेश के गूना जिले में, जो तब ग्वालियर रियासत में था, **तुमैन नामक ग्राम** से प्राप्त किया था। तुमैन एरण से ४० मील उत्तर-पश्चिम की तरफ है। जिस पाषाण पर यह उत्कीर्ण है वह एक टूटी-फूटी मस्जिद में लगा हुआ था। आजकल यह ग्वालियर-आर्क्योलोजिकल-म्यूज़ियम में रखा हुआ है। इस पाषाण का उपरला हिस्सा टूटा हुआ था। यह अज्ञात है कि उस टूटे हुए अंश में कितनी पंक्तियां थीं और कितने श्लोक लिखे थे। हमने इसके श्लोकों व पंक्तियों की जो संख्याएं दी हैं, वह वस्तुतः उपलब्ध श्लोकों व पंक्तियों की संख्याएं हैं। इस समय उपलब्ध लेख का आकार २४″×७″ है और इसमें केवल छः पंक्तियां लिखी हैं। गर्दे के अनुसार इसमें छठी पंक्ति के बाद भी कुछ पंक्तियां थीं, परन्तु छावड़ा का विचार है कि लेख इसी पंक्ति के साथ समाप्त हो गया था। इसमें प्रथम पंक्ति अधूरी है और शेष पंक्तियों के शुरू के कुछ अक्षर भी गायब हैं। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** उत्तरी वर्ग की पांचवीं शती के मध्य की पश्चिमीय ब्राह्मी। इसके अक्षर औसतन् ५/८″ ऊंचे हैं। लेख काफी अच्छी तरह लिखा गया था। इसके उपलब्ध अंश के कुछ अक्षरों को छोड़कर बाकी अनायास पढ़े जा सकते हैं। भाषा सामान्यतः सही है परन्तु शायद उकेरने वाले द्वारा की गई, कुछ गलतियां भी मिलती हैं (यथा, प्रथम और पांचवीं पंक्तियों में 'सङ्घ' के स्थान पर 'सङ्ह', चौथी पंक्ति में 'विराजमाने' के स्थान पर 'विराजामाने' एवं 'पृथिव्यां' के स्थान पर 'प्रिथिव्याम् पाठ)। **वर्तनी** में 'र' के पूर्व आए व्यञ्जनों का द्वित्व उल्लेखनीय है, यथा 'कीर्त्ति', 'अर्ज्जिता' (पंक्ति ३) तथा 'सूर्य्ये' (पंक्ति ४) में।

इस लेख का जो प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल का है, **उद्देश्य** पांच भाइयों द्वारा, जो तुम्बवन (तुमैन) के निवासी थे, एक मन्दिर के निर्माण कराए जाने का उल्लेख करना है। मन्दिर के देवता का नाम मिट गया है। सरकार का अनुमान है कि यह एक वैष्णव मन्दिर रहा होगा। मन्दिर-निर्माता भाइयों के नाम उनकी वरिष्ठता के अनुसार क्रमशः हरिदेव, श्रीदेव, धन्यदेव, भद्रदेव एवं संघदेव थे।

तुमैन-लेख पूर्णतः पद्यमय है। उपलब्ध श्लोक के छन्द इस प्रकार हैं। १ : मालिनी; २ : स्रग्धरा; ३ : उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा); ४ : वसन्ततिलका; ५, ७, १०, ११ : उपेन्द्रवज्रा अथवा उपजाति; ६ : उपजाति; ८ : इन्द्रवज्रा अथवा उपजाति; ९ : उपेन्द्रवज्रा।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख पर सर्वप्रथम 'एन्वल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट (ग्वालियर) वि० स० १९७५ (=१९१८-१९ ई०) में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई। इसके उपरान्त इसे गर्दे ने इ० आई०, २६, में सम्पादित किया (पृ० ११५ अ०)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—सरकार, स० इ०, पृ० २९७-९; ग्वालियर राज्य अभिलेख, स० ५५३; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १३९; ब० च० छावड़ा, जे० ओ० आर०, १७, पृ० २०५-८; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २७६-७९।

मूलपाठ

१. ······⏑⏑⏑⏑⏑⏑——⏑– – –⏑——
⏑⏑⏑⏑⏑⏑– – –⏑– –⏑– –
⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑।/रिर्य्यस्य लोकत्रयान्ते ।
चरणकमलंमत्त्यं वन्द्ये(न्द्य)ते सिद्धसङ्हैः (।।*) १
राजा श्रीचन्द्रगुप्तस्तदनु जयति यो मेदिनीं सागरान्ताम्
२. – – – –⏑ – –⏑⏑–⏑⏑⏑– –⏑– –⏑– –(।*)
– – – –⏑– –⏑⏑⏑⏑–⏑– – –⏑– –⏑– –
– – – –⏑– –⏑⏑⏑⏑⏑– – –⏑– – –⏑– –(।।*)२
···श्रीचन्द्रगुप्तस्य महेन्द्रकल्पः
कुमारगुप्तस्तनयस्स[मग्राम्] (।*)
ररक्ष साध्वीमिव धर्म्मपत्नीम्
वीर्य्याग्रहस्तैरुपगुह्य भूमिम् (।।*)३
३. ···– –⏑–⏑⏑⏑–⏑⏑–⏑– –
– –⏑–⏑⏑⏑–⏑⏑[गब्भ(र्भ)]-गौरः (।*)
क्षित्त्यम्बरे गुणसमूहमयूखजालो
नाम्नोदितस्स तु घटोत्कचगुप्तचन्द्रः (।।*) ४
स पूर्व्वजानां स्थिरसत्व(त्त्व)कीर्त्ति-
र्भुजार्ज्जितां कीर्त्तिमभिपपद्य ।।
४. ⏓ –⏑– –⏑⏑–⏑– –
⏓–⏑– –⏑⏑–⏑– –(।।*) ···५
[गुप्तान्वया*]नां वसुधेश्वराणा[म्]
समा-शते षोडशवर्षयुक्ते ।
कुमारगुप्ते नृपतौ प्रिथिव्याम्
विराजमाने शरदीव सूर्य्ये ।। ६
वटोदके साधुजनाधिवासे
५. ⏓–⏑– –⏑⏑– –⏑⏑–⏑– –(।*)
⏓–⏑– –⏑⏑–⏑– –
⏓–⏑– –⏑⏑–⏑– –(।।*) ७
–⏑– –⏑⏑–⏑– –
⏓–⏑– –⏑⏑–⏑– –(।*)
⏓–⏑– –⏑⏑–⏑–त-
श्श्रीदेव इत्यूर्ज्जित नामधेयः (।।*) ८
तदग्रजो(ऽ*)भूद्धरिदेवसंज्ञ-
स्ततो(ऽ*)नुजो यस्तु स धन्यदेवः (।*)
ततो(ऽ*) वरो यश्च स भद्रदेव-
स्तत ×कनीयानपि सङ्हदेव [:] (।।*) ९

६. ...⏓—⏑——⏑⏑—⏑——
⏓—⏑——⏑न-सक्त-चित्ता: (।*)
समानवृत्ताकृति[भावधीरा:]
[कृता]लयास्तुम्ववने व[भू]वु: ।। १०
अकारयंस्ते गिरि[श्रि]ङ्ग-तुङ्ग
शशि-[प्रभं] देवनि[वास-हर्म्यम्*] (।*)
⏓—⏑——⏑⏑—⏑——
⏓—⏑——⏑⏑—⏑——(।।*) ११

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : सरकार 'रिर्य्यस्य' के पूर्व 'रा' पढ़ते हैं और इस शब्द का 'मुरारि' होना सम्भव मानते हैं। '०त्रयान्ते' के उपरान्त दण्ड अनावश्यक है। सरकार चरणकमलंमत्त्यं' को सुधार कर 'चरणकमलमन्त्यं' पढ़ते हैं। लेकिन जगन्नाथ ने यहां 'मत्त्यम्' पाठ सही माना है जिसका अर्थ है 'सुमति प्रदायक'। 'सङ्है:' को 'सङ्घै: पढ़ें। पंक्ति २ : 'पत्नीम्' को 'पत्नीं' पढ़ें। पंक्ति ४ : 'वसुधेश्वराणाम्' को 'वसुधेश्वराणां' पढ़ें, 'प्रिथिव्याम्' को 'पृथिव्यां' तथा 'विराजामाने' को 'विराजमान'। पंक्ति ५ : 'सङ्हदेव' को 'सङ्घदेव' पढ़ें। पंक्ति ६ : 'तुङ्ग' को 'श्रृंङ्ग' पढ़ें। भाण्डारकर ने 'संशोधित कॉपंस ३' में 'भावधीरा:' की जगह 'भेदभिन्ना:' पाठ सुझाया है, 'कृतालया०' के स्थान पर 'क्षत्रालया०' तथा 'देवनिवास-हर्म्यम्' के स्थान पर 'देवपिनाकिनो गृहम्'।

शब्दार्थ

मत्त्यम्=सुमतिप्रदायक (मत्त्य=ज्ञानस्यकारणम्); सिद्ध सङ्घै:=सिद्ध समूहों द्वारा; महेन्द्रकल्प: =इन्द्र के लगभग समान; तनय=पुत्र; साध्वी=पतिव्रता; उपगुह्य=आलिंगन करके; वीर्याग्रहस्तै:=बलवान भुजाओं द्वारा; गौर: =गौर वर्ण का; क्षित्यम्बरे=पृथिवीरूपी आकाश में; मयूख=किरण; अभिपपद्य=प्राप्त करके; सत्त्वं=गुण, महत्ता; साधु=सज्जन, साहूकार; ऊर्जित=विशिष्ट, सम्मानित; नामधेय: =नामवाला; अवर=छोटा; कनीयान्=छोटा

अनुवाद

पं० १ ·········जिसके सुमति प्रदान करने वाले सुन्दर चरणकमल तीनों लोकों के अन्त तक (अर्थात् तीनों लोकों में) सिद्ध समूहों द्वारा पूजे जाते हैं।।१।।
उसके बाद राजा श्री चन्द्रगुप्त की जय हो जिसने सागर पर्यन्त पृथिवी जीती·········
·········।।२।।·········

पं० २ ···श्री चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त ने, जो इन्द्र के लगभग समान हैं, अपनी बलिष्ठ भुजाओं से पृथिवी का जो (उनके लिये) एक साध्वी पत्नी के समान थी, आलिंगन करके रक्षा की ।।३।।

पं० ३ ·········गौर वर्णवाला, घटोत्कचगुप्त नाम वाला, गुणों के समूह रूपी किरणों के जाल वाला, वह चन्द्रमा पृथिवी रूपी आकाश में उदित हुआ ।।४।।
वह (अर्थात् घटोत्कचगुप्त) जिसकी महत्ता और ख्याति पूर्वजों की कीर्त्ति को, जो उन्होंने अपनी भुजाओं (की शक्ति) से अर्जित की थी, प्राप्त करके स्थिर थी······।।५।।

पं० ४ वसुधा के गुप्तवंशीय स्वामियों के एक सौ सोलहवें वर्ष में, जब नृपति कुमारगुप्त पृथिवी पर शारदीय सूर्य के समान चमक रहे हैं (अर्थात् पृथिवी पर शासन कर रहे हैं) ।।६।।

सज्जनों (अथवा साहूकारों) के निवास स्थान वटोदक में·········।।७।।

पं० ५ ·········सम्मानित नाम श्रीदेव को धारण करने वाला था ।।८।।

उसका अग्रज हरिदेव नाम वाला हुआ । जो उससे छोटा (था) वह धन्यदेव (था) । जो उससे छोटा (था) वह भद्रदेव (था) और उसके भी बाद (अर्थात् उससे छोटा) संघदेव (था) ।।९।।

पं० ६ ·········लगे हुए चित्त वाले (और) एक से व्यवहार, आकृति और स्वभाव वाले (वे पांचों भाई) तुम्ववन में रहते थे ।।१०।।

उन्होंने (अर्थात् उन भाइयों ने) पर्वत की चोटी के समान ऊंचा, चन्द्रमा के समान प्रभावाला देवालय रूपी प्रासाद बनवाया·········।।११।।

(लेख का शेष भाग टूट गया है और अनुपलब्ध है)।

व्याख्या

श्लोक १

(१) गर्दे का विचार है कि प्रथम श्लोक में समुद्रगुप्त का वर्णन है। गर्दे का आग्रह है कि क्योंकि द्वितीय श्लोक में, जो 'तदनु' से प्रारम्भ होता है, द्वितीय चन्द्रगुप्त का वर्णन है, इसलिये प्रथम श्लोक में समुद्रगुप्त का उल्लेख मानना चाहिये। उनका कहना है कि यहां वर्तमानकालिक क्रिया 'वन्द्यते' का प्रयोग भूतकालिक क्रिया के अर्थ में हुआ है, उसी प्रकार जैसे दूसरे श्लोक में वर्तमानकालिक क्रिया 'जयति' का प्रयोग भूतकालिक क्रिया के अर्थ में हुआ है। अतः उन्होंने 'वन्द्येते' का अर्थ किया है 'पूजा जाता था'। इसके विपरीत सरकार इस श्लोक में भगवान् 'मुरारि' का उल्लेख मानते हैं (दे०, स० इ०, पृ० २९७, टि० २)। वह प्रथम शब्द को 'मुरारिर्यस्य' पढ़ने का सुझाव देते हैं।

(२) छाबड़ा भी इस श्लोक में किसी देवता की स्तुति हुई मानते हैं। क्योंकि इस श्लोक में सिद्धों का उल्लेख है और राजा सिद्ध पूजित नहीं हो सकता था। तु०, द्वितीय पुलकेशी का चिपलुन-दानपत्र, इ० आई०, ३, पृ० ५१। हमारे विचार से द्वितीय श्लोक में 'तदनु' शब्द के प्रयोग से यह सिद्ध नहीं होता कि प्रथम श्लोक में समुद्रगुप्त की चर्चा थी। तु०, जूनागढ़-प्रशस्ति में विष्णु की स्तुति के बाद 'तदनु' शब्द से स्कन्दगुप्त के शासन का वर्णन प्रारम्भ किया जाना।

श्लोक २

(१) **जयति मेदिनीं सागरान्ताम्**– यहां द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा सागर पर्यन्त भूमि जीतने का उल्लेख है। जैसाकि सर्वज्ञात है कि उसने पश्चिमी भारत के शक राज्य को जीता था जिसका विस्तार पश्चिमी समुद्र तक था। यहां स्पष्टतः उसी का उल्लेख है।

(२) छाबड़ा का विचार है कि इस श्लोक में प्रथम चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त—इन तीनों का वर्णन था।

श्लोक ३

(१) ध्यातव्य है कि यद्यपि यह लेख प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में लिखा गया था (दे०,

श्लोक ६), तथापि श्लोक ३ में उसके लिए भूतकालिक क्रिया 'ररक्ष' का प्रयोग हुआ है।

(२) जगन्नाथ अग्रवाल (आई० एच० क्यु०, २२, पृ० २८६ अ०) ने आग्रह किया है कि यहां प्रथम कुमारगुप्त द्वारा पृथिवी अर्थात् साम्राज्य पर बलात् अधिकार कर लेने का उल्लेख है। पी० एल० गुप्त ने जगन्नाथ का उल्लेख किये बिना उनके मत को अपनाया है (गु० सा०, पृ० ३००)। परन्तु 'उपगुह्य' का जिससे वह 'बलात् छीनने' का भावग्रहण करते हैं, संस्कृत में सामान्य अर्थ 'आलिंगन करके' होता है (दे०, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति, श्लोक ४) और यह अर्थ यहां ठीक प्रतीत होता है।

(३) महेन्द्रकल्पः = महेन्द्र के लगभग समान। यहां कुमारगुप्त की 'महेन्द्रादित्य' उपाधि की ओर संकेत है।

श्लोक ५

भुजार्जितां कीर्त्तिमभिपपद्य—मेहरौली-लेख में 'चन्द्र' द्वारा स्वभुजार्जित एकाधिराज्य स्थापित करने का दावा तुलनीय है।

श्लोक ७

(१) **वटोदके साधुजनाधिवासे — वटोदक** की पहिचान भीलसा जिले (विदिशा) के बदोह नामक ग्राम से की गई है। वटोदक जैसे नाम और भी मिलते हैं, यथा पृथूदक, अगोदक आदि। 'साधुजन' का अर्थ हमने 'सज्जन' किया है। परन्तु भाण्डारकर, छाबड़ा व गायि ने इसको 'साधुओं' के अर्थ में लिया है और वटोदक को साधुओं का निवासस्थान बताया है। परन्तु वह यहां साधु से तात्पर्य 'साहूकार' से मानते हैं। यादव प्रकाश की 'वैजयन्ती', मोनियर विलियम्स् के कोष तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में 'साधु' का एक अर्थ 'साहूकार' या 'सूदखोर' बताया गया है। एक खजुराहो-अभिलेख में 'साधु' साल्हे को 'श्रेष्ठि' देदु का पुत्र कहा गया है।

श्लोक ८

(१) **श्रीदेव** अपने भाई हरिदेव (दे०, आगे) से छोटा था, फिर भी उसका उल्लेख पहिले हुआ है। लगता है वह अपने परिवार का सर्वाधिक विशिष्ट सदस्य था।

श्लोक १०

(१) **तुम्बवन** मध्य प्रदेश के गूना जिले का आधुनिक तुमैन नामक स्थल है। इसका उल्लेख वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' (१४.१५) में हुआ है। गुप्तकाल में यह नगर एक प्रान्तीय राजधानी रहा प्रतीत होता है।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख का गुप्त इतिहास के लिए बड़ा महत्त्व है। इसका प्रधान कारण इसमें घटोत्कचगुप्त नामक गुप्त राजकुमार का उल्लेख है। लेकिन अभाग्यवश लेख के खण्डितावस्था में मिलने के कारण इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उसका प्रथम कुमारगुप्त से क्या सम्बन्ध था। अनुमानतः वह कुमारगुप्त का अनुज या पुत्र और तुम्बवन का गवर्नर रहा होगा। अब, गुप्त वंश में प्रथम चन्द्रगुप्त के पिता घटोत्कच के अतिरिक्त इस नाम को धारण करने वाले एक राजकुमार का नाम वैशाली से प्राप्त $१\frac{१}{८}'' \times \frac{३}{४}''$ आकार की मिट्टी की एक अण्डाकार मुहर से ज्ञात है जिस पर एक पंक्ति में 'श्री घटोत्कचगुप्तस्य' लेख लिखा है (ए० एस० आई०, ए० आर०, १९०३-४, पृ० १७७; संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २९४-९६)। ब्लाख ने इस मुहर को प्रथम चन्द्रगुप्त के पिता की मानी थी, परन्तु उस घटोत्कच के नाम में 'गुप्त' शब्द का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रयोग किसी भी अभिलेख में नहीं मिलता। यह मुहर जिसकी केवल एक छाप मिली है, द्वितीय चन्द्रगुप्त की महादेवी ध्रुवस्वामिनी की मुहर के साथ मिली थी, इसलिए इस घटोत्कचगुप्त का समय पाँचवीं शती ई० माना जा सकता है। आर० के० मुकर्जी ने अपने ग्रन्थ 'गुप्त एम्पायर' के पृ० १२ पर लिखा है कि वैशाली से प्राप्त एक मुहर में घटोत्कचगुप्त को 'कुमारामात्य' कहा गया है और वह वहाँ गोविन्दगुप्त का अमात्य रहा होगा। परन्तु घटोत्कचगुप्त को कुमारामात्य बताने वाली कोई मुहर अभी तक नहीं मिली है। घटोत्कचगुप्त नामक गुप्त राजा का एक सिक्का भी पहिले से ही ज्ञात रहा है। वह आजकल लेनिनग्राड-संग्रहालय में सुरक्षित है। अब उसकी मुद्राओं का एक और नमूना मिल गया है (जे० एन० एस० आई०, २२, पृ० २६०-१)। इन सिक्कों से ज्ञात होता है कि इस राजा ने 'क्रमादित्य' उपाधि के साथ शासन किया था। इन सिक्कों का भार क्रमशः १४१.२२ और १३५.५ ग्रेन है। अतः इन सिक्कों के नरेश को प्रथम कुमारगुप्त के उपरान्त किसी समय रखना होगा। तुमैन-अभिलेख में घटोत्कचगुप्त का उल्लेख मिलने से कुछ और अनुमान करने का आधार मिल गया है। हमारे विचार से यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि वैशाली-मुहर, तुमैन-लेख व सिक्कों से ज्ञात व्यक्ति एक ही था। वह पाँचवीं शती ई० के प्रारम्भिक दशकों में कभी वैशाली में किसी पद पर नियुक्त रहा होगा। ४३५ ई० में वह तुम्बवन (पूर्वी मालवा) में गवर्नर रूप में शासन चला रहा होगा। इसके बाद प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु हो जाने पर उसने कुछ समय सम्राट् रूप में शासन किया होगा। उस अवस्था में उसे स्कन्दगुप्त का एक प्रतिद्वन्द्वी भाई और इसलिए प्रथम कुमारगुप्त का एक महत्त्वाकांक्षी पुत्र मानना अनुचित नहीं होगा। इस सुझाव से इस विषय में सभी ज्ञात तथ्य परस्पर संगत हो जाते हैं (दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० २००-१)। आर० के० सेठी ने उसे प्रथम कुमारगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र माना है (आई० एन० सी०, १०, अंक १-२, १९७२)।

तुमैन-अभिलेख के तीसरे श्लोक में प्रथम कुमारगुप्त द्वारा पृथिवी को बलात् छीनने का उल्लेख मानकर जगन्नाथ अग्रवाल ने अपनी इस धारणा को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कुमारगुप्त ने पैतृक साम्राज्य पर अपने भाई गोविन्दगुप्त को परास्त करके अधिकार किया था (दे०, पीछे श्लोक ३, टि० २)। परन्तु इस श्लोक का यह अर्थ करना समीचीन नहीं है।

तुमैन-अभिलेख की एक विशेषता जिसकी ओर विद्वानों ने समुचित ध्यान नहीं दिया है, इसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा सागर पर्यन्त भूमि जीते जाने का उल्लेख है। जैसा कि सर्वज्ञात है द्वितीय चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी समुद्र तक विस्तृत शक राज्य को जीता था। यह तथ्य, जो मौद्रिक साक्ष्य से निश्चित रूप से ज्ञात है, उसके किसी अभिलेख में चर्चित नहीं है। तुमैन-अभिलेख इस कमी को पूरा करता है।

प्रथम कुमारगुप्तकालीन करमदाण्डा पाषाण-लिंग अभिलेख

वर्ष ११७ (=४३६ ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख एक पाषाण-शिवलिंग पर उत्कीर्ण है जिसका **प्राप्ति-स्थल** उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में फैजाबाद से शाहगन्ज जाने वाली सड़क पर फैजाबाद से बारह मील दूर स्थित करमदाण्डा नाम का गाँव है। लिंग का गोलाकार भाग १′१″ ऊँचा है और अष्टकोण आधार १′९″ ऊँचा है। उसके निकट स्थित भराढी डीह नामक प्राचीन टीले से यह शिवलिंग प्राप्त हुआ था जिसके अठपहलुए आधार पर यह लेख उत्कीर्ण है। आजकल यह शिवलिंग लखनऊ-संग्रहालय में रखा हुआ है। लेख की, जो १′५$\frac{३}{८}$″×१′७$\frac{१}{२}$″ क्षेत्रफल में लिखा है, **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** उत्तरी वर्ग की पाँचवीं शती ई० के पूर्वार्द्ध की ब्राह्मी। **वर्तनी** की उल्लेख्य विशेषताएँ हैं कहीं-कहीं 'र' के साथ संयोग होने के पूर्व व्यञ्जन का द्वित्व (यथा, पंक्ति ५ तथा १० में 'गोत्त्र'), 'द' के पूर्व अनुस्वार का 'न्' हो जाना, पंक्ति ४ में 'छान्दोग्य' के बजाय 'च्छान्दोग्य' लिखा होना, आदि। लेख में कुल बारह पंक्तियाँ हैं परन्तु बारहवीं पंक्ति पूर्णतः मिट चुकी है। ११वीं पंक्ति के अक्षरों का भी निचला भाग टूट गया है। शेष लेख बहुत अच्छी अवस्था में है। यह आद्यन्त गद्य में है। इसमें दी गयी **तिथि** (गुप्त) संवत् ११७ के कार्त्तिक मास का दसवाँ दिन है तथा यह महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त का नाम से उल्लेख करता है। यह प्रकृत्या एक शैव लेख है और इसका **उद्देश्य** कुमारगुप्त के महाबलाधिकृत पृथिवीषेण द्वारा अयोध्या के कुछ ब्राह्मणों को दान दिये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख का सार फोगल ने १९०८ में छापा। इसे सर्वप्रथम सम्पादित किया रा० दा० बनर्जी ने (जे० पी० ए० एस० बी०, १, पृ० ४५८)। तदुपरान्त इसे स्टेन कोनो ने इ० आई०, १० (पृ० ७१ अ०) में छापा। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ : सरकार, स० इ०, पृ० २८९-९०; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १४०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २८०-८२।

मूलपाठ

१. नमो महादेवाय। म[हाराजाधिराज-श्री] [चन्द्रगुप्त-पादा*]-
२. नुध्यातस्य चतुधु(रु)दधि-सलिलास्वादित-य[शसो] [महाराजा*]-
३. धिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य विजयराज्य-संवत्स[र]-शते सप्तदशोत्त[रे*]
४. कार्त्तिक-मास-दशम-दिव्रसे(ऽ*)स्यान्दिवस-पूर्व्वायां [च्छान्दोग्याचार्य्याश्व] वाजि-
५. सगोत्त्र-कुरम[ा]र[व्य?]भट्टस्य पुत्रो विष्णुपालितभट्टस्तस्य पू(पु)त्रो मह[ा[र[ा]-
६. जधिजाजा-श्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यशिशखरस्वाम्यभूत्तस्य पुत्रः

७ पृथिवीषेणो महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यो(ऽ*)न-
८ न्तरं च महाबलाधिकृतः भगवतो महादेवस्य पृथिवीश्वर इत्येवं समाख्यातस्या-
९ स्यैव भगवतो यथाकर्त्तव्य-धार्म्मिक-कर्म्मणा पाद-शुश्रूषणाय भगवच्छै-
१० लेश्वरस्वामि-महादेव-पादमूले आयोध्यक-नानागोत्त्रचरण तपः -
११ स्वाध्याय-मन्त्र-सूक्त-भाष्य-प्रवचन-पारग-भारडिदसमद-देवद्रोण्यां
१२ ... ...

011 ८६

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ५ : 'कुरमारव्य' को भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि ने 'कुरमरण्य' पढ़ा है। पंक्ति ६ : 'जधिजाजा' को 'जाधिराज' पढ़ें। पंक्ति ११ : 'भारडिदसमद' पाठ संदिग्ध है।

शब्दार्थ

समाख्यात = प्रख्यात; आयोध्यक = अयोध्या के; नाना = विभिन्न; प्रवचन = व्याख्या करना; पारग = पूर्णतः परिचित, ज्ञाता; देवद्रोणी = देवमूर्त्तियों का जलूस, मन्दिर की सम्पत्ति; पादमूल = चरण

अनुवाद

पं० १ महादेव को नमस्कार। महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त के पादानुध्यात (तथा) चारों समुद्रों के जल को (अपने) यश का आस्वादन कराने वाले महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त के विजयोन्मुखी राज्य में वर्ष एक सौ सत्तरह में कार्तिक मास में दसवें दिन, इस तिथि को जो ऊपर दिवस आदि द्वारा निर्दिष्ट है;—

पं० ४ छान्दोग्याचार्य, अश्ववाजिन् गोत्रोत्पन्न कुरमारव्य (?) भट्ट के पुत्र विष्णुपालित भट्ट (हुए।) उनके पुत्र महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त के मन्त्री कुमारामात्य शिखरस्वामी थे।

पं० ६ उनके पुत्र पृथिवीषेण ने, जो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त के मन्त्री (और) कुमारामात्य (थे) और बाद में महाबलाधिकृत हुए, पृथिवीश्वर नाम से विख्यात, भगवान् महादेव की, इन्हीं भगवान् की, कर्त्तव्यानुसार धार्मिक कार्यों द्वारा चरण-सेवा के लिये भगवान् शैलेश्वरस्वामी के पादमूल में अयोध्या के विभिन्न गोत्र (एवं) चरण वाले तप, स्वाध्याय, मन्त्र, सूक्त, भाष्य (तथा) प्रवचन के ज्ञाता, भारडिदसमद (?) देवद्रोणी में..............

(इसके आगे लेख पूर्णतः खण्डित हो गया है)।

व्याख्या

(१) चतुरुदधि-सलिलास्वादित-यशसो—तु०, ४९३ एवं ५२९ मालव संवत् के मन्दसौर-लेख का श्लोक २३।

(२) पृथिवीश्वर—यह उस शिवलिंग का नाम है जिस पर लेख लिखा है। इस लिंग का नाम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तत्कालीन प्रथानुसार इसके प्रतिष्ठापक पृथिवीषेण के नाम पर रखा गया था। तु०, निर्मण्ड-दानपत्र में मिहिरलक्ष्मी द्वारा स्थापित शिवलिंग का मिहिरेश्वर नाम।

(३) **शिखरस्वामी**—वह द्वितीय चन्द्रगुप्त का मन्त्री और कुमारामात्य था। के० पी० जायसवाल ने उसकी पहिचान 'नीतिसार' के लेखक कामन्दक से की है ('द बुक ऑव पोलिटिकल साइंस बाई शिखर-प्राइम मिनिस्टर ऑव चन्द्रगुप्त सेकिण्ड', जे० बी० ओ० आर० एस०, १८, भाग १, पृ० ३९)। लेकिन इस मत को सामान्यतः अस्वीकृत किया जाता है। करमदाण्डा-अभिलेख में शिखरस्वामी के विषय में ऐसी कोई बात नहीं कही गई है जो उसे 'नीतिसार' का लेखक सिद्ध करे। शिखरस्वामी की पहिचान 'मजमलुत्त्वारीख' नामक मुस्लिम ग्रन्थ में (जिसमें रव्वाल=रामगुप्त तथा बर्कमारिस=विक्रमादित्य की कथा दी गई है) उल्लिखित सफर नामक मन्त्री से अवश्य की जा सकती है। 'सफर' नाम 'शिखर' का विकृत रूप हो सकता है। 'अश्ववाजी' 'बौधायन धर्मसूत्र' में उल्लिखित 'वाजिवाजी' हो सकता है जो 'कण्व' गोत्र की शाखा था।

(४) **'भारडिदसमद'**—इस शब्द का पाठ व अर्थ संदिग्ध है। स्टेन कोनो के अनुसार इसमें भारडी (भारडिद ?) गांव का उल्लेख है और 'समद' 'समुद्र' हो सकता है। सरकार यहां भराढी का उल्लेख मानते हैं जहां से यह शिवलिंग मिला था।

(५) **देवद्रोणी**—देवमूर्त्तियों का जलूस। भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि ने यही अर्थ माना है (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २८२)। सरकार (स० इ०, पृ० २९०, टि० ४) ने ध्यान दिलाया है कि वीरावल-अभिलेख की पंक्ति १२ में 'देवद्रोणी' शब्द का प्रयोग 'मन्दिर की सम्पत्ति' अर्थ में हुआ लगता है (इ० आई०, ३४, पृ० १४७)। गोपचन्द्र के शासन के ३३वें वर्ष के मल्लसारुल-दानपत्र में 'देवद्रोणीसम्बद्ध' एक पदनाम है जिसका अर्थ 'देवताओं की मूर्त्तियों के जलूस से सम्बन्धित अधिकारी' या 'मन्दिर की सम्पत्ति से सम्बन्धित अधिकारी' दोनों हो सकता है।

(६) **शैलेश्वरस्वामी महादेव पादमूले**—यहां आशय यह है कि अयोध्या के वे ब्राह्मण जिनको दान दिया गया था शैलेश्वर महादेव के मन्दिर के पादमूल में अर्थात् उसके पास निवास करते थे।

लेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह हमें गुप्तों के एक मन्त्री परिवार से परिचित कराता है जिसकी चार पीढ़ियां इसमें गिनाई गई हैं—छान्दोग्याचार्य कुरमारव्यभट्ट, विष्णुपालितभट्ट, कुमारामात्य मन्त्री शिखरस्वामी तथा कुमारामात्य मन्त्री पृथिवीषेण, जो बाद में महाबलाधिकृत बना। इनमें प्रथम दो के पद नहीं बताये गये हैं। शायद वे शासकीय सेवा में थे ही नहीं। लेकिन शिखरस्वामी ने कुमारामात्य और मन्त्री पद पाये जो उसके बाद उसके पुत्र को मिले। इससे द्वितीय चन्द्रगुप्त के तिथिविहीन उदयगिरि-लेख में वीरसेन का अपने को 'अन्वय प्राप्त सचिव' कहना स्मरण हो आता है। पृथिवीषेण बाद में 'महाबलाधिकृत' बना, इससे लगता है कि 'महाबलाधिकृत' पद मन्त्री पद से उच्चतर माना जाता था। अगर मन्त्री से महाबलाधिकृत बनने में पृथिवीषेण की पदावनति हुई होती तो वह सम्भवतः यह न लिखवाता कि वह मन्त्री से महाबलाधिकृत बना दिया गया था।

बिहार पाषाण-स्तम्भ लेख में अनन्तसेन नामक व्यक्ति का उल्लेख आता है जो सम्भवतः प्रथम कुमारगुप्त का मन्त्री था। इस अभिलेख के ही अनुसार किसी मन्त्री की बहिन का विवाह प्रथम कुमारगुप्त के साथ हुआ था। क्योंकि प्रथम कुमारगुप्त की महादेवी का नाम अनन्तदेवी था अतः उसे अनन्तसेन की बहिन माना जा सकता है। इसके आगे कुछ कल्पना करें तो 'सेनान्त' नाम होने के कारण

अनन्तसेन को पृथिवीषेण का पुत्र माना जा सकता है जिसे 'अन्वय प्राप्त साचिव्य' का लाभ मिला हो। अगर ये अनुमान सही है तो इनसे हमारे इस सुझाव को बल मिलेगा कि गुप्त सम्राट् ब्राह्मण थे क्योंकि यह ब्राह्मणजातीय मन्त्री परिवार अनन्तदेवी का विवाह कुमारगुप्त से तभी कर सकता था जब गुप्त नरेश स्वयं ब्राह्मण होते।

प्रस्तुत लेख में वैष्णव गुप्तों के मन्त्रियों को शैव बताया गया है। यह गुप्तों की उदार धार्मिक दृष्टि का प्रमाण है।

प्रथम कुमारगुप्तकालीन कलैकुरी-सुल्तानपुर ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १२० (=४३९ ई०)

लेख-परिचय—यह ताम्रपत्र-अभिलेख बांगला देश के राजशाही जिले में नवगांव कस्बे के समीप स्थित सुल्तानपुर नामक गांव के निवासी नमीरुद्दीनखां खोंदकर से श्री रजनीमोहन सान्याल ने खरीदा था। नमीरुद्दीनखां का परिवार मूलतः नवगांव से केवल ८ मील दूर स्थित कलैकुरी में रहता था जो बोगरा या बोगुड़ा जिले में पड़ता है। वहां से नमीरुद्दीन के बाबा १९वीं शती के मध्य किसी समय सुल्तानपुर आ बसे थे। जो भी हो, जब यह ताम्रपत्र रजनीमोहन सान्याल ने खरीदा उस समय यह नमीरुद्दीन खां के परिवार के पुराने बक्से में काफी समय से रखा हुआ था। इसलिये अब यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह नमीरुद्दीनखां के बाबा द्वारा कलैकुरी से सुल्तानपुर लाया गया था अथवा इसे इस मुस्लिम परिवार ने बाद में प्राप्त किया। इस बात की सम्भावना भी मानी जाती है कि १९३० ई० में बैग्राम में तालाब खोदते समय बैग्राम-ताम्रपत्र के अतिरिक्त जिस एक और ताम्रपत्र मिलने की बात कही जाती है (जो कहा जाता है, मजदूर उठा ले गये थे) वह यही ताम्रपत्र है (दे०, बैग्राम-दानपत्र का परिचय)। जो भी हो, बहुत से विद्वान् इसे कलैकुरी-ताम्रपत्र-अभिलेख कहते हैं और कुछ सुल्तानपुर-ताम्रपत्र अभिलेख। हमारे विचार से सरकार का यह विचार सही है कि इसे कलैकुरी-सुल्तानपुर अभिलेख कहा जाना चाहिये।

प्रस्तुत अभिलेख एक ही ताम्र पट्टिका पर उत्कीर्ण है जिसका आकार ९$\frac{१}{२}$ × ५$\frac{३}{८}$ इंच और भार ५२ तोले है। इसमें कुल ३४ पंक्तियां हैं जिनमें १६ पंक्तियां पुरोभाग पर लिखी हैं और शेष पृष्ठ भाग पर। इसकी **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** उत्तरी वर्ग की पांचवीं शती ई० के मध्य की ब्राह्मी जो बैग्राम व धनैदह ताम्रशासनों की लिपि के सदृश है। पंक्ति ३० से ३४ तक लिखे भूमिदान सम्बन्धी **श्लोकों** को छोड़ (जो सभी अनुष्टुभ् **छन्द** में हैं) यह पूर्णतः गद्यात्मक है। **वर्तनी** में कभी-कभी 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग—यथा 'विदितम्बो' (पंक्ति २) तथा 'कुल्यबाप' (पंक्ति १३, १५ आदि) 'सम्ब्यवहारिणो' (पंक्ति २८-२९) तथा 'प्रदत्तम्बा' (ंक्ति ३०) में—उल्लेख्य है। 'दीनारिक्य' (पंक्ति १३, १९) में 'य' के पूर्व 'क' का द्वित्व नहीं दुखा है पर 'र' के पूर्व कभी-कभी हुआ है (यथा, पंक्ति ९ में 'शुक्क्र' में तथा पंक्ति १९ में 'विक्क्रयो' में; परन्तु पंक्ति १३ में नहीं)। ऊपर लिखित 'र' के उपरान्त व्यञ्जनों का द्वित्व मिलता है—जैसे 'शर्म्म' (पंक्ति ८) 'सर्प्प' (पंक्ति ९) 'सर्व्व' (पंक्ति १०) 'निर्द्दिष्टक' (पंक्ति १६) 'स्वर्ग्गे' (पंक्ति ३१) में।

इस लेख की **तिथि** (गुप्त) संवत् १२० (=४३९ ई०) के **वैशाख मास का प्रथम दिन** है। बैग्राम ताम्रपत्र अभिलेख के समान इसमें भी प्रथम कुमारगुप्त का, जो उस समय शासन कर रहा था, उल्लेख नहीं है। इसका **उद्देश्य** भीम नामक कुलिक तथा अन्य कुछ व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने माता-पिता के पुण्य की अभिवृद्धि के लिये राज्य से नौ कुल्यवाप भूमि खरीदे जाने और उसे अक्षयनीवी धर्मानुसार पुण्ड्रवर्धन के कुछ ब्राह्मणों को पञ्चमहायज्ञ के व्यय को पूरा करने हेतु दान में दिलवाये जाने का वर्णन करना है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस अभिलेख को सर्वप्रथम दि० च० सरकार ने बंगाली पत्रिका 'वंगश्री' में (वैशाख, वंगाल संवत् १३५०) तथा पुनः आई० एच० क्यु०, १६, मार्च १६४३ (पृ० १२ अ०) में प्रकाशित किया। इस बीच में १६३७ में इस ताम्रपत्र को वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी ने नीरदबन्धु सान्याल को दिया जिन्होंने इसे इ० आई०, ३१ (पृ० ५७ अ०) में छापा। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—सरकार, स० इ०, पृ० ३५२-३५५; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १४०। मैती और मुकर्जी ने अपने 'कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्' में इसे पता नहीं क्यों, स्थान नहीं दिया है।

मूलपाठ

पुरोभाग

१. स्वस्ति (।।*) शृङ्गवेरवैथेय-पूर्ण [कौ]शिकायाः आयुक्त[काच्युतदासो(ऽ*)धिक]-रणञ्च हस्तिशीर्षे [विभीतक्यां गुल्मगन्धि]-

२. [कायां] धान्यपाटलिकायां संगोहालिषु ब्राह्मणादीन्ग्रामकुटुम्बि[नः] [कुश]-लमनुवर्ण्य बोधयन्ति (।*) विदितम्बो

३. भविष्यति यथा इह-वीथी-कुलिक-भीम-कायस्थ-प्रभुचन्द्र-रुद्रदास-देवदत्त-लक्ष्मण-का[न्ति] देवशम्भु-दत्त-कृष्ण-

४. दास-पुस्तपाल सिङ्ह(सिंह)नन्दि-यशोदामभिः वीथी-महत्तर-कुमारदेव-गण्ड-प्रजापति-उमयश(शो)-रामशर्म-ज्येष्ठ-

५. दो(दा)म-स्वामिचन्द्र-हरिसिङ्ह(सिंह) कुटुम्बि-यशोविष्णु-कुमारविष्णु-कुमारभव-कुमारभूति-कुमार-य[शीगु]प्त-वैलिनक-

६. शिवकुण्ड-वसुशिवापरशिव-दामरुद्र-प्रभमित्र-कृष्णमित्र-मघशर्म्म-ईश्वरचन्द्र-रुद्रभव-स्वामि [देव]-

७. श्रीनाथ-हरिशर्म्म-गुप्तशर्म्म-सुशर्म्म-हरि-अलातस्वामि-ब्रह्मस्वामि-महासेनभट्ट-षष्ठि(ष्ठी)रा-[त]-गु * * *श-

८. र्म्म-उण्टशर्म्म-कृष्णदत्त-नन्ददाम-भवदत्त-अहिशर्म्म-सोमविष्णु-लक्ष्मणशर्म्म-कान्ति-धोव्वोक-क्षेम-शर्म्म-शु-

९. क्रशर्म्म-सर्प्पपालित कङ्कुटि-विश्व-शङ्कर-जयस्वामि-कैवर्त्तशर्म्म-हिमशर्म्म-पुरन्दर-जयविष्णु-उम* * *

१०. सिङ्हत्त(सिंहदत्त)-बोन्द-नारायन(ण)दास-वीरनाग-राज्यनाग-गुह-महि-भवनाथ-गुह-विष्णु-शर्व्व-यशोविष्णु-टक्क-कुलदाम- * * व-

११. श्री-गुहविष्णु-रामस्वामि-कामनकुण्ड-रतिभद्र-अच्युतभद्र-लोढक-प्रभकीर्त्ति-जयदत्त-कालुक-अच्युत-नरदेव-भव-

१२. भवरक्षित-पिच्चकुण्ड-प्रवरकुण्ड-शर्व्वदास-गोपाल-पुरोगाः वयं च विज्ञापिताः (।*) इह-वीथ्याम-प्रतिकर-खिलक्षेत्र-

१३. स्य शश्वत्कालोपभोगायाक्षयनीव्या द्विदीनारिक्य-खिलक्षेत्र-कुल्यबा(वा)प-विक्रय-मर्य्या-दया इच्छे-महि प्रति

१४. प्रति मातापित्रोः पुण्याभिवृद्धये पौण्डवर्द्धनक '-चातुर्व्विद्य-वाजि(ज)सनेय-चरणाभ्यन्तर-ब्राह्मण-देव-

१५. भट्ट-अमरदत्त-महासेनदत्तानां पञ्च-महायज्ञ-प्रवर्त्तनाय नवकुल्यबा(वा)पान्क्रीत्वा दातुं-(तुम्) एभिरेवोप-

१६. रि-निर्द्दिष्टक-ग्रामेषु खिल-क्षेत्त्राणि विद्यन्ते (।*) तदर्हथास्मत्तः अष्टादशदीनारान्गृहीत्वा एतान्नव-कुल्यबा(वा)[पा*]-

पृष्ठ भाग

१७. न्यनु[पा]दयितुं(तुम् ।) यतः एषां कुलिक-भीमादीनां विज्ञाप्यसुपलभ्य पुस्तपाल-सिङ्ह(सिंह) नन्दि-यशोदा[म्नोश्चा*]-

१८. वधारणयावधृता(त)(म*)स्त्ययमहि-वीथ्यामप्रतिकर-खिल-क्षेत्त्रस्य शश्वत्कालोपभोगा-याक्षयनीव्या द्विदीना-

१९. रिक्य-कुल्यबा(वा)प-विक्क्रयो(ऽ*)नुवृत्तस्तद्दीयतां नास्ति विरोधः कश्चिदित्यवस्थाप्य कुलिक-भीमादिभ्यो(भ्यः) अष्टादश-

२०. दीनारानुपसङ्हरितका नायीकृत्य हस्तिशीर्ष-विभीतक्यां (की)-धान्यपाटलिका-[गुल्मगन्धिका]-ग्रामेषु* * * *-

२१. द्यां दक्षिणोद्देशेषु अष्टौ कुल्यबा(वा)पाः धान्यपाटलिका-ग्रामस्य पश्चिमोत्तरोद्देशे [आद्य-खात]-परिखा-वेष्टित-

२२. मुत्तरेण वाटानदी पश्चिमेन गुल्मगन्धिका-ग्राम-सीमानमि(श्चे)ति कुल्यबा(वा)-प[मे]को गुल्म-गन्धिकायां पूर्व्वे-

२३. णाद्यपथः पश्चिमप्रदेशे द्रोणबा(वा)प-द्वयं हस्तिशीर्ष-प्रावेश्य-ताप[सपोत्तके] दयितापोत्तके च वि-

२४. भीतक-प्रावेश्य-चित्रवातङ्गरे [च] कुल्यबा(वा)पाः सप्त द्रोणबा(वा)पाः षट् (।*) एषु यथोपरि नर्द्दिष्टक-ग्राम-प्र-

२५. देशेष्वेषां कुलिक-भीम-कायस्थ-प्रभुचन्द्र-रुद्रदासादीनां मातापित्रोः पुण्याभिवृद्धये ब्राह्मण-

२६. देवभट्टस्य कुल्यबा(वा)पाः पञ्च [कु ५] अमरदत्तस्य कुल्यबा(वा)प-द्वयं महासेनदत्तस्य कुल्यबा-(वा[प-द्वयं])

२७. कु २ (।*) एषां त्रयाणां पञ्च-महायज्ञ-प्रवर्त्तनाय नव-कुल्यबा(वा)पानि प्रदत्तानि (॥*) तद्युष्माकं * * * [निवेद्य]-

२८. ति(ते)लिखयते च (।*) समुपस्थित-का[लं] [ये(ऽ*)प्यन्ये] विषयतयः आयुक्तकाः कुटुम्बिनो(ऽ*)-धिकरणिका वा [सम्ब्य(संव्य)व]-

२९. हारिणो भविष्यन्ति तैरपि [भूमिदानफल]मवेक्ष्य अक्षयनीव्यनुपालनीया (॥*) उक्तञ्च महा-भारते भगव-

३०. ता व्यासेन (।*)

स्वदत्तां परदत्ताम्बा[त्तां वा] यो [हरेत] वसुन्धरां(राम्) ।
[स] विष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पि[तृभिः सह पच्यते] (॥*) १
[षष्टिं वर्ष-सहस्राणि]

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

३१ स्वर्गे वसति भूमिदः (।*)
आक्षेप्ता चानुमन्ता [च] तान्येव नरके वसेत् (॥*) २
कृशाय कृश[वृत्ताय] वृत्ति-क्षीणाय सीदते
३२ [भूमिं] वृत्तिकरीन्दत्वा(त्त्वा) [सुखी] भवति कामदः (॥*) ३
[बहुभिर्व्वसुधा] भुक्ता भुज्यते च पुनः पुनः (।*)
यस्य [यस्य यदा भूमिस्तस्य] तस्य
३३ तदा फलं(लम् ॥) ४
पूर्व्व-दत्तां द्विजातिभ्यो यत्राद्रक्ष्य(क्ष) युधिष्ठिर (।*)
महीम्महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो(ऽ*)नु[पालनं(नम् ॥) ५
३४ संव्वत् १००(+*) २० वैशाख-दि १ (॥*)

पाठ-टिप्पणी—लेख में सन्धि के नियमों का प्रायः पालन नहीं किया गया है। पंक्ति २ : सान्याल ने 'संगोहा०' को 'सगोहा०' पढ़ा है। 'बोधयन्ति (।*) विदितम्बो' को 'बोधयतः। विदितं वो' पढ़ें। पंक्ति ३ : 'भविष्यति' के स्थान पर 'भवतु' पाठ अच्छा होता है। पंक्ति ६ : सान्याल ने 'प्रभमित्र' को 'प्रभुमित्र' पढ़ा है तथा 'रुद्रभव-स्वामि [देव]' को 'रुद्र भवता [थ]'। पंक्ति ९ : सान्याल 'विश्वशंकर' को एक नाम मानते हैं। पंक्ति १३ : इच्छेमहि' को 'इच्छामः' पढ़ें। पंक्ति १५ : 'एभिरेवोप०' को 'एष्वेवोप०' पढ़ें। पंक्ति २० : 'दीनारानुप सङ्हरितका०' को 'दीनारानुपसंहृतका०' पढ़ें। पंक्ति २२ : 'व्मुत्तरेण' को 'उत्तरेण' पढ़ें तथा 'कुल्यबापमेको' को 'कुल्यवाप एको'। पंक्ति २७ : 'कुल्यबापानी प्रदत्तानि' के स्थान पर 'कुल्यवापाः प्रदत्ताः' पाठ श्रेष्ठतर होता। पंक्ति ३४ : 'संव्वत्'='संवत्'। एन० बी० सान्याल ने वर्ष संख्या १२१ पढ़ी है।

शब्दार्थ

वीथी=विषय से छोटी प्रादेशिक इकाई; कुलिक=कारीगर, शिल्पी; कायस्थ=लिपिक, क्लर्क, रजिस्ट्रार; महत्तर=प्रमुख जन; शश्वत्काल=सदैव के लिये; प्रतिपादित=दिया, देना मन्जूर किया; आद्यखात=पुरानी खुदी हुई; परिखा=खाई; वेष्टित=घिरी हुई; आद्यपथ=पहली सड़क; समुपस्थित-काल=आने वाला समय; कामदः=इच्छा पूर्ति करने वाला; सीदते=सीदन् (=दुखी) का चतुर्थी एकवचन।

(अन्य कठिन शब्दों के अर्थ प्रथम कुमारगुप्तकालीन अन्य दानपत्रों के 'शब्दार्थ' में देखिये)।

अनुवाद

पं० १ कल्याण हो! शृङ्गवेरवीथी में पूर्णकौशिका से आयुक्तक अयुतच्दास तथा अधिकरण (के सदस्य) संगोहालि (क्षेत्र) में हस्तिशीर्ष, विभीतकी, गुल्मगन्धिका (तथा) धान्य-पाटलिका के ब्राह्मण आदि ग्राम-कुटुम्बियों की कुशल पूछ कर कहते हैं—

पं० २ "आपको विदित हो कि इस वीथी के भीम (नामक) कुलिक, प्रभुचन्द्र, रुद्रदास, देवदत्त, लक्ष्मण, कान्तिदेव, शम्भुदत्त तथा कृष्णदास (नामक) कायस्थों (=लिपिकों) (तथा) सिंहनन्दि (और) यशोदामा (नामक) लेखाधिकारियों द्वारा वीथी के कुमारदेव, गण्ड, प्रजापति, उभयश, रामशर्मा, ज्येष्ठदामा, स्वामिचन्द्र (तथा) हरिसिंह (नामक)

महत्तरों एवं यशोविष्णु, कुमारविष्णु, कुमारभव, कुमारभूति, कुमार, यशोगुप्त, वैंलिनक, शिवकुण्ड, वसुशिव, अपरशिव, दामरुद्र, प्रभमित्र, कृष्णमित्र, मघशर्मा, ईश्वरचन्द्र, रुद्रभव, स्वामिदेव, श्रीनाथ, हरिशर्मा, गुप्तशर्मा, सुशर्मा, हरि, अलातस्वामी, ब्रह्मस्वामी, महासेनभट्ट, षष्ठीरात,.........शर्मा, उण्टशर्मा, कृष्णदत्त, नन्ददामा, भवदत्त, अहिशर्मा, सोमविष्णु, लक्ष्मणशर्मा, कान्ति घोव्वोक,, क्षेमशर्मा, शुक्रशर्मा, सर्पपालित, कंकुटि, विश्व, शंकर, जयस्वामी, कैवर्त्तशर्मा, हिमशर्मा, पुरन्दर, जयविष्णु, उम........., सिंहदत्त, बोन्द, नारायणदास, वीरनाग, राज्यनाग, गुह, महि, भवनाथ, गुहविष्णु, शर्व, यशोविष्णु, टक्क, कुलदामा,.........वश्री, गुहविष्णु, रामस्वामी, कामन कुण्ड, रतिभद्र, अच्युतभद्र, लोढक, प्रभकीर्त्ति, जयदत्त, कालुक, अच्युत, नरदेव, भव, भवरक्षित, पिच्चकुण्ड, प्रवरकुण्ड, सर्वदास (तथा) गोपाल (नामक) कुटुम्बियों (=कृषक-गृहस्थों) सहित हमको ज्ञापन दिया गया है—

पं० १२ 'इस वीथी में अप्रतिकर (=अकर=जिस पर अब तक कर नहीं लगाया गया है) ऊसर क्षेत्र को सदैव के लिये उपभोग में लाने के हेतु अक्षयनीवी धर्मानुसार दो दीनार में एक कुल्यवाप ऊसर क्षेत्र की दर से (राज्य द्वारा) विक्रय की प्रथा के अनुसार (हम) अपने-अपने माता-पिता के पुण्य की अभिवृद्धि के लिये पुण्डवर्द्धन के ब्राह्मण देवभट्ट, अमरदत्त तथा महासेनदत्त को, जो चतुर्वेदी समाज के वाजसनेयी चरण के अन्तर्गत हैं, पञ्चमहायज्ञ (के व्यय) को जारी रखने के लिये नौ कुल्यवाप (भूमि) खरीद कर देने के लिये इच्छा करते हैं। इन ऊपर निर्दिष्ट ग्रामों में ऊसर क्षेत्र विद्यमान हैं। अतः आपको उचित है कि हम लोगो से अट्ठारह दीनार लेकर इन नौ कुल्यवापों को (अर्थात् नौ कुल्यवाप भूमि को) देना स्वीकार करें।'

पं० १७ तब इन कुलिक भीम आदि का ज्ञापन उपलब्ध होने पर सिंहनन्दि और यशोदामा (नामक) लेखाधिकारियों की जांच-पड़ताल से यह निश्चित हुआ, 'इस वीथी में अप्रतिकर (=जिस पर अभी तक कर नहीं लगाया गया है) ऊसर क्षेत्र को सदैव के लिये उपभोग में लाने के हेतु अक्षयनीवी धर्मानुसार दो दीनार में एक कुल्यवाप (भूमि) (राज्य द्वारा) विक्रय करने की प्रथा प्रचालित है। (अतः) (प्रार्थित भूमि) दी जा सकती है, (राज्य के हित से इसका) कोई विरोध नहीं है।' इस प्रकार स्थापित हो जाने पर कुलिक भीम आदि से अट्ठारह दीनार वसूल करके हस्तिशीर्ष, विभीतकी, धान्य-पाटलिका (तथा) गुल्मगन्धिका ग्रामों में.........दक्षिण दिशा में आठ कुल्यवाप धान्य-पाटलिका ग्राम से पश्चिमोत्तर दिशा में

पं० २२ एक कुल्यवाप भूमि पुरानी खुदी हुई खाई से घिरी हुई है (तथा) उत्तर में वाटा नदी तथा पश्चिम में गुल्मगन्धिका ग्राम की सीमा में लगी (है), दो द्रोणवाप (भूमि) गुल्मगन्धिका में, पूर्व की ओर, प्रथम सड़क से पश्चिम की तरफ स्थित प्रदेश में (है), तथा सात कुल्यवाप और छः द्रोणवाप (भूमि) हस्तिशीर्ष से (कर निर्धारण के हेतु) जुड़े हुये तापसपोत्तक एवं दायितापोत्तक में विभीतकी से (कर निर्धारण के हेतु) जुड़े हुए चित्रवातङ्वर में (हैं)।

पं० २४ इन ऊपर निर्दिष्ट ग्राम-प्रदेशों में इन कुलिक भीम (तथा) कायस्थ प्रभुचन्द्र, रुद्रदास आदि के माता-पिता के पुण्य की अभिवृद्धि हेतु ब्राह्मण देवभट्ट के पांच कुल्यवाप (कु ५)

(हैं) अमरदत्त के दो कुल्यवाप (हैं) (तथा) महासेनदत्त के दो कुल्यवाप (कु २) (हैं)। इन तीनों को पंचमहायज्ञ को जारी रखने के लिये (अर्थात् पंचमहायज्ञ में होने वाले व्यय को वहन करने के लिये) नौ कुल्यवाप (भूमि) दी जाती है। यह (हम) आप लोगों को·········निवेदित करते हैं और लिखते हैं।"

पं० २८ आने वाले समय में जो भी अन्य विषयपति, आयुक्तक, कृषक-गृहस्थ, अधिकरणिक (=अधिकरणों के सदस्य) तथा प्रबन्ध-अधिकारी होंगे, उनके द्वारा भी भूमिदान के फल को देखकर (यह) अक्षयनीवी (धर्मानुसार प्रदत्त भूमिदान) अनुपालनीय है। 'महाभारत' में भगवान व्साय द्वारा कहा भी गया है :—जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा की कीड़ा होकर (अपने) पितरों के साथ सड़ता है ।।१।। भूमिदान देने वाला ६० हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहृता तथा उसका (अर्थात् अपहरण का) अनुमोदक उतने ही समय नरक में वास करते हैं ।।२।। कृश कम वृत्ति, वाले, वृत्तिक्षीण वाले एवं दुखी (व्यक्ति) को वृत्तिकरी (=आय देने वाली) भूमि (दान) देकर (उनकी) इच्छा पूर्ति करने वाला व्यक्ति सुखी होता है ।।३।। बहुतों द्वारा वसुधा भोगी गई है और बार-बार भोगी जा रही है। जब जिसकी-जिसकी भूमि होती है तब उसको-उसको फल मिलता है ।।४।। हे राजाओं में श्रेष्ठ युद्धिष्ठिर ! द्विजातियों को पूर्वकाल में प्रदत्त भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो (क्योंकि) (भूमि के) दान से उसका अनुपालन श्रेष्ठ है ।।५।।

पं० ३४ संवत् १०० (+) २० वैशाख दिवस १।

व्याख्या

(१) **शृङ्गवेर वीथी** :—शृङ्गवेर तथा अन्य स्थलों की पहिचान के लिये दे०, आगे। वीथी= गली। लेकिन यह शब्द एक प्रादेशिक इकाई के अर्थ में, भी प्रयुक्त होता था। गुप्त काल में बंगाल में 'भुक्ति' शब्द प्रान्त के अर्थ में प्रयुक्त होता था (यथा पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति)। सामान्यतः भुक्ति 'विषयों' (=जिलों) में विभाजित होती थी और विषय 'वीथियों' में तथा वीथियां 'मण्डलों' में। लेकिन कभी-कभी 'वीथी' भुक्ति का एक भाग और विरलतः मण्डल का एक भाग भी कही गई है।

(२) **आयुक्तकाच्युतदासोऽधिकरणञ्च**=आयुक्तक अच्युतदास और अधिकरण के सदस्य। आयुक्तक से तात्पर्य है राजा की ओर से नियुक्त स्थानीय पदाधिकारी। 'अधिकरण' अर्थात् शृङ्गवेर वीथी नामक प्रादेशिक इकाई की प्रशासकीय समिति। ऐसी समितियों के कार्यालयों के लिये भी 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग होता था। सरकार का विचार है कि बैग्राम-तथा कुलैकुरी-दानपत्रों में दानादेश कुमारामात्य तथा अधिकरण दोनों के द्वारा जारी किया गया था (पी० आई० एच० सी०, १९५४, पृ० ५२-५५)।

(३) **बोधयन्ति**—'बोधयतः' होना चाहिये था। लेखक ने अधिकरण के सदस्यों के बहुवचन में होने के कारण गलती से 'बोधयन्ति' लिखा है।

(४) **वीथी महत्तर**=वीथी के प्रमुख व्यक्ति। सम्भवतः यह शब्द उस अर्थ में प्रयोग में आता था जिस अर्थ में आजकल 'एल्डरमेन' या 'नगर-पिता' (सिटी फादर्स) शब्द प्रयोग में आते हैं। 'महत्तर' शब्द बुधगुप्तकालीन दामोदरपुर-दानपत्र तथा फरीदपुर-दानपत्रों में भी मिलता है। पार्जिटर ने इसका अर्थ

'गांव के प्रमुख व्यक्ति' किया था और अल्तेकर ने 'महत्तराधिकरणिक' का तात्पर्य 'गांव के वृद्ध जनों में से नियुक्त पदाधिकारी' माना था। वलभी दानपत्रों में 'महत्तर' का अर्थ प्रशासन द्वारा नियुक्त ग्राममुख्य लगता है। दि०च० सरकार ने महत्तर को ग्राम पञ्चों का मुखिया (हैड ऑव दि विलेज ज्यूरी) कहा है।

(५) **अप्रितकर खिलक्षेत्र**=ऐसा ऊसर क्षेत्र जिस पर अभी तक कर नहीं लगाया गया है।

(६) **चातुर्विद्य**=चतुर्वेदी ब्राह्मणों का समाज।

(७) **प्रावेश्य**—सरकार के अनुसार पंक्ति २३ तथा २४ में आये 'प्रावेश्य' शब्द का अर्थ वही प्रतीत होता है। जो कुछ अन्य अभिलेखों में 'प्रवेश' का है। उन्होंने एक अभिलेख में स्विधि प्रवेश कन्दलीवाड़ ग्राम का अर्थ यह माना है कि स्विधि तथा कन्दलीवाड़ एक दूसरे के पड़ौस में थे और कन्दलीवाड़ का कर स्विधि के कर के साथ निर्धारित होता था। 'प्रावेश्य' का भी यही अर्थ है। अर्थात् प्रस्तुत लेख में कहा गया है कि तापसपोत्तक का कर हस्तिशीर्ष के कर के साथ और चित्रवातङ्गर का कर विभीतक के कर के साथ निर्धारित होता था।

(८) **अधिकारणिक**=अधिकरण के सदस्य।

(९) **संव्यवहारी**=प्रबन्ध अधिकारी; सम्भवतः किसी अधिकरण से सम्बन्धित सभी पदाधिकारियों के लिये प्रयुक्त सामान्य शब्द।

(१०) **प्रदेशों व स्थानों की पहिचान**—सरकार का विचार है कि इस अभिलेख में उल्लिखित बाट नदी आधुनिक बारानई नामक नदी है जो राजशाही जिले के दक्षिणी भाग में पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है। शृङ्गवेर वीथी की पहिचान उन्होंने इसी जिले के सिंगरा नामक स्थान से की है जो नाटोर सब-डिवीजन में है। उनका विचार है कि इस अभिलेख में उल्लिखित अन्य स्थानों की पहिचान बारानई के दक्षिणी किनारे पर स्थित स्थलों से करने का प्रयास किया जाना चाहिये। (आई० एच० क्यु०, १९, पृ० २०; सं० इ०, पृ० ३५४, टि० ३)।' लेकिन सान्याल का कहना है कि इस लेख में प्रदत्त दान पुण्ड्रवर्द्धन के निवासी ब्राह्मणों को दिया गया था जिसकी पहिचान बोगरा जिले के महास्थान से निश्चित है। इसलिये वह इस लेख के स्थानों को महास्थान के आस-पास ढूंढ़ने के पक्ष में हैं। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि महास्थान से २० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर सिंगाहार स्थान है और उससे सात मील पूर्व की तरफ गोहाली नामक गांव है तथा करीब दो मील उत्तर की तरफ बेही गांव नामक स्थान। इन तीनों की पहिचान क्रमशः शृंगवेर वीथी, गोहालि (संगोहालि) तथा विभीतकी से की जा सकती है। इसी प्रकार बेही गांव के चार मील उत्तर-पूर्व में स्थित हातसरा गांव प्राचीन हस्तिशीर्ष हो सकता है तथा उसके समीप स्थित धानूपूजा नामक गांव प्राचीन धान्यपाटलिका (इ० आई०, ३१, पृ० ६३)। सरकार इससे सहमत नहीं हैं। (वहीं, टि० २)।

(११) 'अक्षयनीवी धर्म' तथा 'कुल्यवाप' के लिये दे०, पीछे, धनैदह दानपत्र, टि० ५ तथा ७।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख में उत्तरी बंगाल से प्राप्त अन्य अनेक दानपत्रों की तरह अकरदेय ऊसर भूमि को राज्य से खरीद कर दान दिये जाने का वर्णन है। इसकी एक विशेषता इसका यह कथन है कि दान देने के लिये भूमि क्रय करने की अनुमति मांगते समय आयुक्तक (वीथी का गवर्नर) तथा अधिकरण के सदस्यों के साथ वीथी के महत्तरों तथा कुटुम्बियों (=कृषक-गृहस्थों) को भी सम्बोधित किया गया था। इससे

यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उस काल में ग्राम भूमि पर केवल राज्य का अधिकार माना जाता था, या जनता का और या दोनों का। हमने इस प्रश्न पर तथा इस लेख के अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं पर बंगाल से प्राप्त दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय भूमि तथा कर-व्यवस्था पर लिखित परिशिष्ट में विस्तार से विचार किया है।

प्रथम कुमारगुप्तकालीन पहला दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १२४ (=४४४ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत ताम्रपत्र अभिलेख तथा ऐसे ही अन्य चार गुप्तकालीन ताम्रपत्र अभिलेखों का **प्राप्ति-स्थल** पूर्वी बंगाल (आधुनिक बंगला देश) के दीनाजपुर जिले का दामोदरपुर ग्राम है जो फूलवाड़ी कस्बे से आठ मील पश्चिम की ओर स्थित है। ये ताम्रपत्र वहां १६१५ में सड़क निर्माण के समय मिले थे। प्रस्तुत दानपत्र जिसमें संवत् १२४ तिथि दी गई है तथा संवत् १२८ का एक अन्य ताम्रपत्र प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के हैं, दो ताम्रपत्र बुधगुप्त के शासन काल के हैं तथा पांचवां संवत् २२४ (=५४३ ई०) का है (उसमें तत्कालीन गुप्तवंशीय सम्राट् के नाम का पूर्वभाग अपठ्य हो गया है)। प्रस्तुत अभिलेख ११$\frac{१}{८}$ तोले व ६$\frac{३}{८}$"×४$\frac{१}{८}$" आकार के एक ही ताम्रपत्र पर दोनों ओर लिखा है। इसमें कुल १३ पंक्तियां हैं—आठ पुरोभाग पर और शेष पृष्ठ भाग पर। मूलतः इसमें एक मुहर जुड़ी थी। लेख संस्कृत **भाषा** और पांचवीं शती की उत्तरभारतीय ब्राह्मी **लिपि** की पूर्वी शैली में लिखा है। अन्तिम दो पंक्तियों में लिखित भूमिदान से सम्बन्धित एक श्लोक को छोड़ कर, जो 'महाभारत' से लिया गया है और अनुष्टुम् **छन्द** में है, यह पूर्णतः गद्य में है। **वर्तनी** में 'ऋषिदत्त' के नाम का 'रिशिदत्त' रूप में तथा 'कृमि' की जगह 'क्रिमि' लिखा होना उल्लेख्य है। भाषा में कुछ अशुद्धियां हैं और इसे सावधानी से उत्कीर्ण नहीं किया गया है जिससे **वर्तनी** की अशुद्धिया बढ़ गई हैं। बारहवीं पंक्ति में 'वसुन्धराम्' के बाद का वाक्य 'स्वन्दत्तां' के पूर्व लिखा होना चाहिये था।

प्रस्तुत लेख का **उद्देश्य** कर्पटिक नामक ब्राह्मण द्वारा अपने अग्निहोत्र में सुविधा के लिये राज्य से तीस दीनार में एक कुल्यवाप भूमि अक्षयनीवीधर्मानुसार खरीदे जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ ग्रन्थ—इस ताम्रपत्र अभिलेख को सर्वप्रथम राधागोविन्द बसाक ने वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी की ओर से ई० आई०, १५, १६१६-२०, (पृ० १३० अ०) में प्रकाशित किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—सरकार, स० इ०, पृ० २६०-२; मैती और मुकर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ४५-७; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १४३; रा० ब० पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० ८२-४; बनर्जी, मानवेन्दु, ए स्टडी ऑव इम्पोर्टेण्ट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ४० अ०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २८२-७।

मूलपाठ

पुरोभाग

१. सम्व १०० (+*) २० (+*) ४ फाल्गुण-दि ७ परमदैवत-परमभट्टारक-महाराज[ा*]-
२. धिराज-श्रीकुमारगुप्ते पृथिवी-पतौ तत्पाद-परिगृहीते पुण्ड्रवर्द्ध[न*]-
३. भुक्तावुपरिक-चिरातदतेनानुवलबानक-कोटिवर्ष-विषये च त-

IMP.
84

४. न्नियुक्तक-कुमारामात्य-वेत्रवर्मन्य(ण्य)धिष्ठाणाधिकरणञ्च नगरश्रेष्ठि-
५. धृतिपाल-सार्त्थवाहबबन्धुमित्र-प्रथमकुलिकधृतिमित्र-प्रथमका[य*]-
६. स्थशाम्बपाल-पुरोगे संव्यवहरति यतः ब्राह्मण कर्प्पटिकेण(न)
७. विज्ञापित(म्*) अरर्हंथ ममाग्निहोत्रोपयोगाय अप्रदाप्रहत-खि-
८. ल-क्षेत्र[ं*] त्रदीनारिक्य-कुल्यावापेण शश्वता(दा)चद्रावर्क-तारक-भोज्ये[त*]-

[illegible] कुल्यवाप मे 8 [illegible]

पृष्ठभाग

९. या नीवी-धर्म्मेण दातुमिति एवं दीयतामित्युत्पन्ने त्रिनी दीना[राण्यु*]-
१०. पसंगृह्य यतः पुस्तपाल-रिशिदत्त-जयनन्दि-विभुदत्तानामवधा-
११. रणया डोङ्गाया उत्तरपञ्चिणद्देशे कुल्यवापमेकम् दत्तम् (।।*)
१२. स्व-दत्तां पर-दत्ताम्बा यो हरेत वसुन्धरां(राम्) (।*)
भूमि-[दान]-संवद्धा[:*] श्लोका भवन्ति (।*)
१३. स विष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पित्रिभि सह पच्यतेति (।*) १

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'सम्व' को 'संव' पढ़ें जो 'संवत्' का संक्षिप्त रूप है । 'फाल्गुण' को 'फाल्गुन' पढ़ें । पंक्ति ३ : 'भुक्तादु०' को 'भुक्ताव्०' पढ़ें तथा 'व्दतेनानुवलानक०' को 'व्दत्ते अनुवहमानक०' । पंक्ति ७ : 'अरर्हंथ' को अर्हथ' पढ़ें । पंक्ति ८ : 'त्रदीनारिक्य-कुल्यावापेण' को 'त्रैदीनारिक्य-कुल्यवापेन' पढ़ें तथा 'भोज्ये०' को 'भोग्य०', पंक्ति ९ : 'त्रिनी' को 'त्रीणि' पढ़ें । पंक्ति १० : 'पुस्तपाल-रिशिदत्त' का शुद्ध पाठ 'पुस्तपालर्षिदत्त' होगा । पंक्ति ११ : 'पञ्चिणद्देशे' को 'पश्चिमोद्देशे' पढ़ें । 'व्वापमेकम् दत्तभ्' को 'व्वापः एकः दत्तः' पढ़ें । पंक्ति १२ : 'दत्ताम्वा' को 'दत्तां वा पढ़ें । 'वसुन्धराम्' के उपरान्त का वाक्य इस प्रकार होना चाहिये था 'भूमिदान संवद्धः श्लोको भवति' तथा इसे 'स्वदत्तां' के पूर्व लिखा जाना चाहिये था । पंक्ति १३ : 'क्रिमी' की सामान्य वर्तनी 'कृमि' है 'पित्रिभिः सह पच्यतेति' को 'पितृभिः सह पचयते ।। इति।।' पढ़ें ।

शब्दार्थ

दि=दिवसः अथवा दिवसे; उपरिक=गवंनर, राज्यपाल; अनुवहमानक=निरन्तर, अधिष्ठान=नगर; पुरोग=साथ में, नेतृत्व में; संव्यवहरति=चलाता है; विज्ञापित=ज्ञापन दिया; अर्हथ=आपको उचित है; प्रदा=दान; अप्रदाभूमि=अहस्तान्तरणीय भूमि, ऐसी भूमि जो दूसरों को नहीं दी जा सके; खिलभूमि=ऊसर या बंजर भूमि; अप्रहत=ऊसर या बंजर भूमि, ऐसी भूमि जो पुनः कृषि योग्य न की गई हो; त्रैदीनारिक्य कुल्यवापेन=तीन दीनार में एक कुल्यवाप की दर से; शश्वत्=सदैव के लिये; अर्क=सूर्य; दीयतामुत्पन्ने=दी जाय यह निश्चित हो जाने पर; उपसंगृह्य=वसूल करके, पुस्तपाल=लेखाधिकारी (रिकॉर्ड कीपर); अवधारणा=जांच पड़ताल (अन्य शब्दों के लिये धनैदह-अभिलेख देखें)।

अनुवाद

पं० १ संवत् १००+२०+४ (में) फाल्गुन मास के ७वें दिन परमदैवत्, परमभट्टारक महाराजाधिराज पृथिवीपति श्री (प्रथम) कुमारगुप्त के शासनकाल में जब उनके चरणों (के अनुग्रह) से स्वीकृत उपरिक चिरातदत्त द्वारा पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति निरन्तर चल रही थी (=समृद्धशील थी) (अर्थात् उसके शासन में फल-फूल रही थी) तथा उसके (अर्थात्

चिरातदत्त के) द्वारा नियुक्ति कुमारामात्य वेत्रवर्मा द्वारा कोटिवर्ष विषय में नगर श्रेष्ठ धृतिपाल, सार्थवाह बन्धुमित्र, प्रथम कुलिक धृतिमित्र (तथा) प्रथम कायस्थ शाम्बपाल के साथ अधिष्ठान-अधिकरण (=नगर कार्यालय प्रशासन) चलाया जा रहा था—

पं० ६ कर्प्पटिक नामक किसी ब्राह्मण द्वारा उनको ज्ञापन दिया गया, 'आपको उचित है कि मेरे अग्निहोत्र में उपयोग में आने के लिये सदैव, जब तक चन्द्र सूर्य और तारक विद्यमान हैं तब तक भोगी जाय ऐसी अप्रदा, अप्रहत और खिल भूमि तीन दीनार प्रति कुल्यवाप की दर से नीवी धर्मानुसार दें।'

पं० ९ जब लेखाधिकारी रिशि (ऋषि) दत्त, जयनन्दि और विभुदत्त की जांच-पड़ताल से यह निश्चित हो गया कि इस प्रकार (भूमि) दी जा सकती है (तब) (उससे अर्थात् कर्प्पटिक से) तीन दीनार वसूल करके डोङ्गा के उत्तर-पश्चिम में एक कुल्यवाप (भूमि) दे दी गई।

पं० १२ भूमिदान से सम्बन्धित श्लोक (इस प्रकार) है :—जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है, वह विष्ठा का कीड़ा होकर (अपने) पितरों के साथ सड़ता है ॥१॥

व्याख्या

(१) **परमदैवतपरमभट्टारक**—दे०, धनैदह दानपत्र, टि० १।

(२) **पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति**—पुण्ड्रवर्द्धन प्रान्त। पुण्ड्रवर्द्धन नगर की पहिचान बोगरा जिले के महास्थान से निश्चित है। इसकी भुक्ति में बोगरा, राजशाही तथा दीनाजपुर जिलों वाला प्रदेश सम्मिलित माना जाता है।

(३) **उपरिक चिरातदत्तेनानुवहमानक कोटिवर्ष विषये**—उपरिक=प्रान्तीय गवर्नर। कोटिवर्ष= पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति का एक विषय अर्थात् जिला। इसका प्रधान नगर कोटिवर्ष जैन 'कल्पसूत्र', 'वायुपुराण', हेमचन्द्र के ग्रन्थ 'अभिधान चिन्तामणि' तथा पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्ड शेष' में उल्लिखित है। 'अभिधान चिन्तामणि' तथा 'त्रिकाण्डशेष' में इसके अन्य नाम 'बाणपुर', 'शोणितपुर' तथा "देवीकोट' दिये गये हैं। बाणगढ़, बाणनगर तथा देवीकोट नाम से पुकारा जाने वाला एक स्थान पश्चिमी दीनाजपुर जिले में अभी भी है। उसे ही प्राचीन कोटिवर्ष माना जाता है। गु० स० १२८ तथा २२४ के दामोदरपुर दानपत्रों में उपरिक के नाम तथा 'अनुवहमानक' शब्द के बीच 'भोगेन' शब्द आता है। अतः भाण्डारकर का सुझाव सही लगता है कि यहां लेख का पाठ 'चिरादत्त भोगेनानुवहमानक' होना चाहिये था। अनुवहमानक=चल रहा है।

(४) **कुमारामात्य वेत्रवर्मा**—ध्यातव्य है कि विषय में कुमारामात्य की नियुक्ति उपरिक=गवर्नर ने की थी, सम्राट् ने नहीं। लेकिन यहां वेत्रवर्मा को कुमारामात्य कहा गया है विषयपति नहीं।

(५) **अधिष्ठानाधिकरण**—अधिष्ठान=नगर। अधिकरण=प्रशासन कार्यालय; अतः अधिष्ठान अधिकरण=नगर प्रशासन कार्यालय, 'सिटी आफिस'। इसके चार सदस्यों की चर्चा इस लेख में है— नगर श्रेष्ठी धृति पाल, सार्त्थवाह बन्धुमित्र, प्रथम कुलिक धृतिमित्र तथा प्रथम कायस्थ' शाम्बपाल। नगर श्रेष्ठो=नगर श्रेष्ठ, महाजनों की निगम का अध्यक्ष। सार्त्थवाह=एक स्थान से दूसरे स्थान को माल लाने व ले जाने का कार्य करने वाले व्यापारी। प्रथम कुलिक=प्रधान कारीगर=कारीगरों का अध्यक्ष। प्रथम कायस्थ=प्रधान लिपिक। 'मृच्छकटिक' में कायस्थ का उल्लेख न्यायालय के लेखक रूप में हुआ है।

तब तक कायस्थ एक जातिवाचक नाम नहीं बना था। यहां कायस्थों से आशय उन पदाधिकारियों से लगता है जो लगान वसूली से सम्बन्धित थे। ये चारों अधिकारी वेत्रवर्मा के सलाहकार थे या ये पांचों मिलकर पञ्चकुल की तरह कार्य करते थे, कहना कठिन है। बसाक के अनुसार वे सलाहकार मात्र थे (हिस्टरी ऑव नॉर्थ ईस्टर्न इण्डिया, पृ० ३१०)। मतान्तर के लिये दे०, घोषाल, यू०एन०, दि हिन्दू रेवेन्यु सिस्टम, पृ० २६८–७१। दि०च० सरकार भी उनको मात्र सलाहकार नहीं मानते। सम्भवतः वह असैनिक या 'सिविल' प्रशासन की देखभाल करते थे।

(६) **अप्रदाप्रहत-खिलक्षेत्रम्**—अप्रदा=अहस्तान्तरणीय ऐसी भूमि जो दूसरों को न दी जा सके। अप्रहत तथा खिल दोनों का अर्थ ऊसर या बंजर भूमि होता है। यहां खिल का अर्थ शायद ऐसी जमीन से है जो कभी नहीं जोती गई हो। और 'अप्रहत' का ऐसी भूमि से जो कुछ समय से न जोती गई हो। कुछ विद्वान् 'खिल' को बंजर अर्थ में लेते हैं और 'अप्रहत' को 'जो जोती न गई हो' अर्थ में।

(७) **दीनार**—गुप्तों की सुवर्ण मुद्रायें दीनार कहलाती थी। यह शब्द रोमक शब्द 'दीनेरियस' से बना हे जो रोम के सोने व चांदी के सिक्कों के लिये व्यवहार में आता था।

(८) **पुस्तपाल**—लेखाधिकारी अर्थात् दस्तावेजों का अधिकारी। 'रिकार्डकीपर'। वह अपने दस्तावेज देखकर बताता था कि जिस भूमि को क्रय करने का अनुरोध किया गया है वह ऐसी भूमि है या नहीं जिसे राज्य बेच सके और उसे बेचने और अकर बनाने से राज्य को कोई हानि तो नहीं होगी। ऐसी भूमि को बेचने से सम्राट् को दान के पुण्य का $\frac{१}{६}$ भाग मिलता था। दे०, कुमारगुप्तकालीन गुप्त संवत् १२८ का बैग्राम-दानपत्र, पंक्ति १०-१३।

(९) **डोंगा**—एक स्थान का नाम।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख बंगाल में गुप्त प्रशासकीय व्यवस्था के अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण है। दे०, आगे बंगाल से प्राप्त दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय, भूमि तथा कर-व्यवस्था पर लिखित परिशिष्ट।

मथुरा जैन मूर्ति पीठिका अभिलेख

वर्ष १२५ (=४४४ ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख १९६४ ई० में **मथुरा** से वहां की कलेक्टरी के अहाते में एक भवन के निर्माण के समय मिला था। यह एक खण्डित प्रतिमा की पीठिका पर लिखा है। यह तीन पंक्तियों का **संस्कृत भाषा** व **ब्राह्मी लिपि** में लिखित अभिलेख है जिसकी **तिथि** प्रथम कुमारगुप्त के 'विजयराज्य' के संवत् १२५ (१००+२०+५) के आश्वयुज मास की नवमी है। इसकी तीसरी पंक्ति अब अपठ्य हो गई है। प्रतिमा के प्रतिष्ठापक का नाम लेख के उपलब्ध अंश में क्षत हो गया है। इस लेख को बी० एन० श्रीवास्तव ने इ० आई०, ३७ (पृ० १५३–५४) में प्रकाशित किया है। इसमें तिथि के अतिरिक्त कोई अन्य महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं है। **अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ**—भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २८७-८।

मूलपाठ

१. ···श्र् [ी] कुमारगुप्तस्य [ि] वज [य]– र [ा] ज्य स [ं] त्व [त] १००(+) २०(+)५ [आ] श्वयुज-मासे दि ९। अस्य् [ां] दिवस पू व्व [ि] य [ां] माथुर [स्] य

२. मारदास [भ] ट्ट विज्ञायमानस्य [।*] यद [त्र] पुण्यं तद्भवतु मातापित्रोः सर्व्वं सत्वानां चानुत्तर—

३. ······················ ॥

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'संव्वत' को 'संवत्सरे' पढ़ें। पंक्ति २ : भाण्डारकर ने 'मारदास' को सुधार कर 'कुमारदास' पढ़ा है।

अनुवाद

पं० १. श्री कुमारगुप्त के विजयराज्य के १२५वें वर्ष में आश्वयुज मास के नवें दिन, ऊपर निर्दिष्ट तिथि को माथुर (=मथुरावासी) मारदासभट्ट का (यह दान है)। इस (दान) से जो पुण्य (हो) (उसके) माता-पिता और सब प्राणियों को चरम (ज्ञान) की (प्राप्ति हेतु) हो।

प्रथम कुमारगुप्तकालीन द्वितीय दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १२८ (=४४७ ई०)

लेख परिचय—यह ताम्रपत्र दामोदरपुर (जि० दीनाजपुर, बांगला देश) से उपलब्ध पांच ताम्रपत्रों में दूसरा है (दे०, पीछे दामोदरपुर से प्राप्त प्रथम ताम्रपत्र अभिलेख का परिचय)। यह प्रथम दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख के सदृश है। यह ६″ × ३$\frac{५}{८}$″ आकार नथा १५$\frac{१}{१६}$ तोले भार की एक ही ताम्रपट्टिका पर दोनों ओर लिखा है। इसमें तेरह पंक्तियां हैं जिनमें आठ पुरोभाग पर उत्कीर्ण हैं और शेष पृष्ठभाग पर। इसकी **भाषा** संस्कृत है, तथा **लिपि** उत्तरी वर्ग की पूर्वी शैली की ब्राह्मी जो बैग्राम और कलैकुरी-सुल्तानपुर ताम्र लेखों की लिपि से सादृश्य रखती है। इसके कुछ अक्षर अपठ्य हो गये हैं परन्तु प्रथम दामोदरपुर ताम्रशासन की सहायता से पढ़े जा सकते हैं। इसमें प्रथम ११ पंक्तियां गद्यात्मक हैं और ग्यारवीं पंक्ति के मध्य से लेकर तेहरवीं के अन्त तक 'महाभारत' से भूमिदान से सम्बन्धित दो **श्लोक** उद्धृत हैं। ये दोनों ही अनुष्टुभ् **छन्द** में हैं। लेख में प्रथम कुमारगुप्त के नाम से उल्लेख है और संवत् १२९ के वैशाख मास के १३वें दिन का **तिथि** के रूप में। इसमें अनेकत्र सन्धि के नियमों का पालन नहीं किया गया है। परन्तु यह कोई विशेष दोष नहीं है क्योंकि संस्कृत व्याकरण में गद्य में सन्धि के नियमों का पालन आवश्यक नहीं माना जाता, केवल पद्य में अनिवार्य होता है। **वर्तनी** में पंक्ति ७ में ऋषिदत्त नाम का रिसिदत्त रूप (प्रथम दामोदरपुर-ताम्रशासन में यह रिशिदत्त रूप में लिखा है) और पंक्ति पांच में 'सम्व्यवहरति' तथा पंक्ति १० में 'सम्व्यवहारिभिः' में अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग उल्लेख्य हैं। इस लेख का **उद्देश्य** किसी ब्राह्मण द्वारा, जिसका नाम मिट गया है, पञ्चमहायज्ञ की व्यवस्था के निमित्त राज्य से दो दीनार में पांच द्रोण भूमि अक्षयनीवी धर्मानुसार खरीदे जाने का उल्लेख करना है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—बसाक, इ०, आई०, १५, पृ० ११३, के० एन० दीक्षित, वही, १७, पृ० १९३ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० २९२ अ०, मैती और मुकर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ४७-९; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृष्ट १४४ अ०; बनर्जी, मानवेन्दु, ए स्टडी ऑव इम्पोर्टेण्ट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ४० अ०; भाण्डारकर, छाबड़ा व गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २८८–९१

मूलपाठ

पुरोभाग

१. स[ं] १०० (+*) २० (+*)८- वैशाख-दि १०(+*) ३ पर[मदैव]त- परमभट्टारक-
महाराजाधिराज-[श्री] [कुमा*]-
२. रगुप्ते पृथिवी-पतौ [तत्पाद]-परिगृहीतस्य पु[ण्ड्र[वर्द्धन-भुक्तावुप[रिक-चि]रात-दत्त[स्य]
३. भोगेना[नुव]ह[मानक]-कोटिव [र्ष]-विषये तन्नियुक्तकं-कु[मा]रामात्य-वे[त्र]–
४. वर्म्मणि अधिष्ठाना[धिक]र[णञ्च]नगर[श्रे]ष्ठिधृतिपाल-सार्थवा[हव(ब)न्धुमि]त्र-प्र[थ]-

५. मकुलिकधृतिमित्र-[प्रथ]मकायस्थ[शाम्ब]पाल-पुरो[गे]सम्व्यव[हर]ति [यतः*] स···

६. विज्ञापितं अ[र्ह]थ मम प[ञ्च]-महायज्ञ-प्रवर्त्तनायानुवृत्ताप्रदाक्षयनि[वी*]-

७. मर्य्यादया दातुमिति (।*) एतद्विज्ञाप्यमुपलभ्य पुस्तपा[ल]-रिसिदत्त-जयन[न्दि-वि]-
[भुदत्तानामव]-

८. धारणया दीयतामित्यु[त्प]न्ने एतत्माद्य[था]नुवृत्त-त्रैदीनारि[क्य-कु]ल्यवापे[न]

पृष्ठ भाग

९. [द्व]यमुप[संगृ]ह्य [ऐरा]वता[गो]राज्ये पश्चिण (म)-दिशि पञ्चद्रो[णा]-

१०. [म]काः ह[ट्ट]-पानकैश्च सहितेति दत्ताः (।*) तदुत्तर-कालं सम्व्यवहारिभिः[धर्म्समवेक्ष्या]
नु[म]-

११. न्तव्याः (।*) अपि च भूमि-दान सम्बद्धामिमौ श्लोकौ भवतः (।*)
पूर्व-दत्तां द्विजाति[भ्यो]

१२. यत्राद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
महीं महीवमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो(ऽ*)तुपा(ल*)नं(नम्) (।।*) १
व(ब)हुभिर्व्वसुधा दत्ता दी[य]ते च

१३. पुनः पुनः (।*)
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलमिति (।।*)२

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : बसाक ने वर्ष संख्या १२९ पढ़ी थी। सरकार ने एक जगह इसको वर्ष १२८ माना है (स० इ० पृ० २९२) और लेख के मूल पाठ में १२९ (वही, पृ० २९३)। भाण्डारकर, छावड़ा तथा गायि ने इसको १२८ ही माना है। पंक्ति ५: 'सम्व्य०' को 'संव्य०' पढ़ें। पंक्ति ९: 'ऐरावतागोराज्ये०' को भाण्डारकर ने 'ऐरावतागुराज्ये०' पढ़ा है। पंक्ति १०: '०मकाः हट्टपानकैः' ='०त्मकाः (भूखण्डाः*) हट्टा पानकैः'। 'सहितेति' को 'सहिता इति' पढ़ें तथा 'सम्व्य०' को 'संव्य०'। पंक्ति ११: 'सम्बद्धामिमौ' को 'सम्बद्धविमौ' पढ़ें। पंक्ति १३: 'फलमिति' को 'फलम् ।। इति' पढ़ें।

शब्दार्थ

हट्ट=बाजार; आपानक=पीने का स्थान; संव्यवहारिन्=प्रशासकीय पदाधिकारी; उत्तरकालं=आने वाले समय में, भविष्य में; संव्यवहरिभिः =प्रशासकीय पदाधिकारियों द्वारा; प्रबन्धक अधिकारियों द्वारा; धर्म्मसवेक्ष्या=पुण्य को देखकर; अनुमन्तव्य=अनुमोदनीय, आदरणीय; दत्ता=दी गई; दीयते=दी जा रही है, (शेष कठिन शब्दों के लिये धनैदह तथा प्रथम दामोदरपुर-ताम्रशासन के शब्दार्थ देखें)।

अनुवाद

पं० १. संवत् १००+२०+८ (में) वैशाख मास के १३वें दिन परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज पृथिवीपति श्री (प्रथम) कुमारगुप्त के शासन काल में जब उनके चरणों (के अनुग्रह) से स्वीकृत उपरिक चिरातदत्त द्वारा पुण्ड्रवर्द्धनमुक्ति निरन्तर समृद्धिशील थी (अर्थात उसके शासन में फलफूल रही थी) तथा उसके (अर्थात् चिरातदत्त के) द्वारा नियुक्त कुमारामात्य वेत्रवर्मा द्वारा कोटिवर्ष विषय में नगरश्रेष्ठि धृतिपाल, सार्थवाह बन्धुमित्र, प्रथम कुलिक धृतिमित्र (तथा) प्रथम कायस्थ शाम्बपाल के साथ

अधिष्ठान-अधिकरण (=नगर-प्रशासन कार्यालय) चलाया जा रहा था—

पं० ५. तब·········द्वारा उनको ज्ञापन दिया गया, "आपको उचित है कि मेरे पञ्चमहायज्ञ के सम्पादन के लिये (मुझे) प्रचलित (अनुवृत्त) अप्रदाक्षयनीवी धर्मानुसार (मर्यादानुसार) (भूमि) दें।

पं० ७. ऐसा ज्ञापन उपलब्ध होने पर तथा लेखाधिकारी रिसिदत्त (=ऋषिदत्त) जयनन्दि (तथा) विभुदत्त की जांच पड़ताल से 'ऐसे (भूमि) दी जा सकती है' यह निश्चित हो जाने पर उससे (अर्थात् प्रार्थी से) प्रथानुसार प्रति कुल्यवाप तीन दीनार की दर से दो (दीनार) वसूल करके ऐरावता—गोराज्य में पश्चिम दिशा में पांच द्रोण (भूमि) बाजार तथा आपानक सहित दे दी गई। (ऐसे दान का) पुण्य देखकर (यह दान) भविष्य में प्रबन्धकों द्वारा अनुमोदनीय है।

पं० ११. और भूमिदान से सम्बन्ध ये दो श्लोक भी हैं—हे राजाओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! द्विजातियों को पूर्वकाल में प्रदत्त भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो (क्योंकि) (भूमि के) दान से इसका अनुपालन श्रेष्ठ है ॥१॥ वसुधा (अर्थात् भूमि) पुनः पुनः बहुतों के द्वारा दी गई है और दी जा रही है। जब जिसकी-जिसकी भूमि (होती है) तब उसको-उसको फल मिलता है, इति ॥२॥

व्याख्या

(१) यह तथ्य रोचक है कि इस दानपत्र में वही पदाधिकारी—उपरिक चिरातदत्त, कुमारामात्य वेत्रवर्मा, नगरश्रेष्ठी घृतिपाल, सार्थवाह बन्धुमित्र, प्रथम कुलिक घृतिमित्र तथा प्रथम कायस्थ शाम्बपाल—उल्लिखित हैं जिनके नाम इसके चार वर्ष पूर्व जारी किये गये दामोदरपुर दानपत्र में आये हैं। यहां तक कि लेखाधिकारी ऋषिदत्त, जयनन्दि तथा विभुदत्त भी वही हैं। यह तथ्य उस काल में प्रशासकीय व्यवस्था की जड़ें मजबूत होने का प्रमाण है।

(२) यह तथ्य भी रोचक है कि इन दोनों दानपत्र के जारी होने के बीच में व्यतीत चार बर्षों में खिल भूमि के मूल्य में अन्तर नहीं आया। इसकी दर तीन दीनार प्रति कुल्यवाप बनी रही।

(३) पञ्चमहायज्ञ—'मनुस्मृति' (३.६८–७१) में कहा गया है : "चूल्हा (चुल्ली), चक्की (पेषणी), बुहारी (उपस्कर), उलूखल या ऊखल (कण्डनी) तथा घड़ा (उदकुम्भ) ये पांच वस्तुएं गृहस्थ के लिये हिंसा का मूल हैं। इनको अपने कामों में लाता हुआ (वह) (पाप से) बंध जाता है ॥६८॥ गृहस्थों को उन पापों के प्रायश्चितार्थ महर्षियों ने प्रतिदिन पांच महायज्ञ रचे हैं ॥६९॥ अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है, और अतिथि भोजन मनुष्ययज्ञ है ॥७०॥ जो इन पांच महायज्ञों को अपनी शक्तिभर नहीं छोड़ता वह पुरुष घर में बसता हुआ भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता ॥७१॥"

(४) **ऐरावतागो राज्ये**—ऊपर सरकार द्वारा स्वीकृत अर्थ दिया गया है। पर भाण्डारकर का, जो इसका पाठ 'ऐरावतागु राज्ये, मानते हैं, कहना है कि आप्टे के 'कोष' में ऐरावत का एक अर्थ 'विशाल जलहीन भूखण्ड' दिया गया है। इसके उपरान्त वह 'अगु' शब्द का अर्थ 'गोविहीन अर्थात् निर्धन' करते हैं। इस तरह वह यहां एक जलहीन निर्धन प्रदेश का उल्लेख मानते हैं।

(५) **हट्टापानकैः**—एफ० डब्ल्यु० टॉमस ने सुझाव रखा है कि यहां 'अरहट्ट' का उल्लेख है और

ऐसे आपनकों की चर्चा है जिनमें 'पर्शियन ह्वील' लगे थे । सरकार का कहना है कि यहां हट्ट=बाजार तथा आपानों==पशुओं के पानी पीने के स्थानों की चर्चा है ।

अभिलेख का महत्व

इस अभिलेख से दामोदरपुर से उपलब्ध अन्य दानपत्रों का साक्ष्य स्पष्टतर होता है। विस्तृत अध्ययन के लिए दे०, बंगाल से उपलब्ध दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय भूमि तथा कर-व्यवस्था पर लिखित परिशिष्ट ।

प्रथम कुमारगुप्तकालीन बैंग्राम ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १२८ (=४४८ ई०)

लेख-परिचय—इस ताम्रपत्र का **प्राप्तिस्थल** बांगला देश के बोगरा या बोगुड़ा जिले का बैंग्राम नामक स्थान है जिसकी पहिचान इसी लेख में उल्लिखित वायिग्राम से अनायास की जा सकती है। वायिग्राम का उल्लेख बुधगुप्त के १६३ गुप्त संवत् के दामोदरपुर ताम्रलेख (पंक्ति ९) में भी मिलता है। वह लेख बैंग्राम से एक तालाब की खुदाई के समय १९३० ई० में एक अन्य ताम्रपत्र अभिलेख के साथ, जिसकी पहिचान कुछ विद्वान् कलैकुरी-सुल्तानपुर ताम्रपत्र अभिलेख से करते हैं, मिला था। आजकल यह 'गौड़ रिसर्च सोसायटी, हावड़ा' के पास है। यह एक ही ताम्रपट्टिका पर दोनों ओर लिखा है इसमें कुल २५ पंक्तियां हैं जिनमें १५ पुरोभाग पर लिखी हैं एवं शेष पृष्ठ भाग पर। लेख संस्कृत **भाषा** व उत्तरी वर्ग की पांचवीं शती के मध्य की ब्राह्मी **लिपि** में (जो कलैकुरी-सुल्तानपुर दानपत्र की लिपि के सदृश है) लिखा है। २१वीं० से २४ वीं पंक्तियों में प्रदत्त 'महाभारत' के भूमिदान सम्बन्धी **श्लोकों** को छोड़कर जो अनुष्टुभ **छन्द** में है, यह गद्यात्मक है। इसकी भाषा पर कहीं कहीं प्राकृत का प्रभाव है, यथा पंक्ति ७ में 'स्फुटित' के बजाय 'फुट्ट' के प्रयोग में। इसमें अन्तिम पंक्ति में संवत् १२८ के माघ मास का १९वां दिन **तिथि** रूप में उल्लिखित है परन्तु उस समय शासन करने वाले शासक प्रथम कुमारगुप्त का उल्लेख नहीं है। लेकिन इसमें कहा गया है कि यह पञ्चनगरी से भट्टारक (=प्रथम कुमारगुप्त) के पादानुध्यात कुमारामात्य कुलवृद्धि तथा विषय अधिकरण द्वारा जारी किया था। इसका उद्देश्य भौयिल तया भास्कर नामक व्यक्तियों द्वारा भगवान् गोविन्दस्वामी के मन्दिर (जो उनके पिता द्वारा निर्मित करवाया गया था) के प्रतिसंस्कार (=मरम्मत) के हेतु तथा उसकी पूजा के व्यय में सहायता देने के लिये तीन कुल्यवाप खिल भूमि तथा दो द्रोणवाप स्थलवास्तु भूमि राज्य से अक्षयनीवी धर्मानुसार निर्धारित घटे मूल्य पर क्रय किये जाने को निबद्ध करना है।

अध्ययन-इतिहास तथा सन्दर्भ-लेख—इस लेख को सर्वप्रथम राधागोविन्द बसाक ने इ० आई०, २१, (पृ० ७८ अ०) में सम्पादित किया **अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ** :—दि० च० सरकार, स० इ०, पृ० ३५५-९; भाण्डारकार-सूची २११४; बनर्जी, मैती तथा मुकर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ४९-५३; मानबेन्दु, ए स्टडी ऑव इम्पोर्टेण्ट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ४३-४४।

मूलपाठ

पुरोभाग

१. स्वस्ति (।।*) पञ्चनगर्य्या भट्टारक-पादानुध्यातः कुमारामात्य-कुलवृद्धिरेतद्विषयाधिकरण
२. वायिग्रामिक-त्रिवृत (।*) श्रीगोहाल्योः ब्राह्मणोत्तरान्सम्व्यवहारि-प्रमुखान्ग्राम-कुटुम्बिनः कुशलमनु-

३. वर्ण्य बोधयन्ति (।*) विज्ञापयतोरत्रैव वास्तव्य-कुटुम्बि-भोयिल-भास्करावावयोः पित्रा
शिवनन्दि-
४. ना कारि[त]क(·*) भगवतो गोविन्दस्वामिनः देवकुलस्तदसावल्पवृत्तिकः (।*) इहविषये
समुदय-
५. बाह्याद्यस्तम्ब-खिल-क्षेत्राणामकिञ्चित्प्रतिकराणां शश्वदाचन्द्रार्क्क-तारक-भोज्यानां-मक्षय-
नीव्या
६. द्विदीनारिक्वय-कुल्यवाप-विक्रयो (ऽ*) नुवृत्तस्तदर्हथावयोस्सकाशात्षडीनारानष्ट च रूप-
द
कानायी-
७. [कृ]त्य भगवतो गोविन्द स्वामिनो देवकुले [ख]ण्ड-फुट्ट-प्रतिसंस्क (ा*) र-करणाय-गन्ध-
धूप दीप
८. सुमनसा (·*) प्रवर्त्तनाय च त्रिवृतायां भोगिलस्य खिलक्षेत्त्र-कुल्यवाप-त्रयं-श्रीगोहाल्याश्चापि
९. तल-वाटकार्थं (·*) स्थल-वास्तुनो द्रोणवापमेकं भास्करस्यापि स्थलवास्तुनो द्रोण-बापञ्च-
दातु-
१०. मि[ति] (:*) यतो युष्मान्बोधयाम(:*) पुस्तपाल-दुर्गदत्तार्क्कबासयोरवधारणया अवधृत-
११. मस्तीह-विषये समुदय-बाह्याद्यस्तम्ब-खिल-क्षेत्राणा(·*) शश्वदाचन्द्रर्क्क-तारक-भोज्यानां द्विदी-
१२. नारिक्य-कुल्यवाप-विक यो(ऽ*, नुवृत्तः (।*) एवंविधाप्रतिकर-खिलक्षेत्त्र-विकये च न
क्र क्र
कश्चिद्राजार्थ-
१३. विरोध उपचय एव भट्टारक-पादानां धर्म्मफल षडागावाप्तिश्च तद्दीयतामिति (·*) एतयोः
भ
१४. भोयिल-भास्करयोस्सका (शा*) त्षडीनारानष्ट च रूपकानायीकृत्य भगवतो गोविन्द-स्वामिनो
द
१५. देवकुलस्यात्र्थे भोयिलस्य त्रिवृतायां खिलक्षेत्त्र-कुल्यवाप-त्रयं तलवाटकाद्यर्त्थम् (र्त्थं)

पृष्ठभाग.

१६. श्रीगोहाल्या(·*) स्थल-बास्तुनो द्रोणवापं भास्करा(र)स्याप्यत्रैव स्थले-(ल)-वस्तुनो (स्तु)
द्रोणवाप-
१७. मेव(·*) कुल्यवाप-त्रयं स्थल-द्रोणवाप-द्वयञ्च अक्षयनीव्यास्ताम्र-पट्टेन दत्तम् (।*) निम्न-
१८. कु ३ स्थल-द्रो २ (।*) ते यूयं स्वकर्षणाविरोधि-स्थाने दर्व्वीकर्म्म-हस्तेनाष्टक-नवक-
नलाभ्या-
१९. मपविञ्च्छ्य चिराकाल-स्थ(ा*) यि-तुषाङ्गारादिना (नां) चिह्नैश्चातुर्द्दिशो नियम्य दास्यथाक्षय-
२०. नीवी-धर्म्मेन (ण) च शश्वत्कालमनुपालयिष्यथ (।*) वर्त्तमान-भविष्यैश्च संव्यवहार्य्यादिभिरेत-
२१. द्धर्म्मापेक्षयानुपालयितव्यमिति (॥·) उक्तञ्च भगव(ता*) वेदव्यास-महात्मना (।*) स्व-दत्तां
पर-दत्तां

२२. व्वा यो हरेत वसुन्धरां (राम्) ।
स विष्टयां क्रिमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते (।।*) । १
षष्टिं वर्ष-सह-

२३. स्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः (।*)
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् (।।*) २
पूर्व्व-

२४. दत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
मही (·*) महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो (ऽ*) नुपाल-
नमिति (।।*) ३

२५.
सं १०० (+*)२०(+*)८ माघ-दि १०(+*)६ (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति २ : ‘सम्व्य०’ को ‘संव्य०’ पढ़ें । पंक्ति ३ :‘बोधयन्ति’ को ‘बौधयत:’ पढ़ें तथा ‘विज्ञापयतोरत्रैव’ को ‘विज्ञापयतोऽत्रैव’ । पंक्ति ४ : ‘देवकुलस्तदसावल्पवृत्तिक:’ को ‘देवकुलम् । तददोऽल्प वृत्तिकम्’ पढ़ें । पंक्ति ५ : ‘भोज्यानांमक्षय को ‘भोज्यानामक्षय’ पढ़ें । पंक्ति ८ : भोगिलस्य=भोयिलस्य । ‘व्ल्याश्चापि’ को ‘व्ल्याञ्चा०’ पढ़ें । पंक्ति १० : बसाक ने ‘दुर्गदत्त’ को ‘दुर्गादत्त’ पढ़ा है । पंक्ति १७ : ‘०नीव्यास्ताम्र०’ को ‘नीव्या ताम्र०’ पढ़ें । पंक्ति १८ : ‘ते’ के स्थान पर ‘तद्’ पाठ अच्छा होता । पंक्ति २१ : ‘भगवता वेद०’ को ‘भगवद्वेद०’ पढ़ें । पंक्ति २१-२२ : ‘दत्तां व्वा’ को ‘दत्तां वा’ पढ़ें । पंक्ति २४ : ‘पालनमिति’ को ‘पालनम् ।। इति ।।’ पढ़ें ।

शब्दार्थ

उत्तर=श्रेष्ठ; ब्राह्मणेत्तरान्=श्रेष्ठ ब्राह्मणों को, अनुवर्ण्य=वर्णन करके (पूछकर अर्थ में); कारितकं=निर्मित; देवकुल=मन्दिर; अल्पवृत्तिक=अल्प आय वाला; समुदयबाह्य=जो फसल के रूप ें आय न दे; आद्यस्तम्ब=मूल तथा झाड़ियों से युक्त अर्थात् बंजर या परती भूमि; खिल=बंजर या परती भूमि; प्रतिकर=कर, टैक्स; अकिञ्चित्प्रतिकार=अप्रतिकर, करविहीन; अनुवृत्त=प्रचलित; सकाशात् =पाससे ; फुट=स्फुटित (=‘टूटा हुआ’ का प्राकृत रूप); प्रतिसंस्कार=मरम्मत; प्रवर्तनाय=जारी रखने के लिये; तलवाटक=तल भूमि; स्थल वस्तु=आवास भूमि, मकान बनाने की जगह; उपच.= वृद्धि; धर्मफल=पुण्य; अवाप्ति=उपलब्धि; निन्न=निम्न का प्राकृत रूप; कु०=कुल्यवाप; द्रो= द्रोणवाप; स्वकर्षणाविरोधिस्थाने=वे स्थान जो आप लोगों के कृषिकर्म के अविरुद्ध हैं (अर्थात् जहां आपके कृषि कर्म को हानि नहीं पहुँचती); दर्वीकर्म=भूमि मापने वाला व्यक्ति; तुष=भूसा; अंगार= लकड़ी का बुझा हुआ कोयला; नियम्य=निश्चित करके; अपेक्षया=ध्यान में रखते हुए ।

अनुवाद

पं० १ कल्याण हो । पंचनगरी से भट्टारकपादानुध्यात (=भट्टारक के चरणों का ध्यान करने वाले) कुमारामात्य कुलवृद्धि इस विषय (=जिले) के अधिकरण, त्रिवृता तथा श्रीगोहाली के वायिग्रामिक (=वायिग्राम से सम्बन्धित) श्रेष्ठ ब्राह्मणों, प्रधान प्रबन्धक-

अधिकारियों (तथा) ग्राम-कुटुम्बियों (=गांव के कृषक-गुहस्थों) की कुशल पूछ कर कहते हैं—

पं० ३ "यहां निवास करने वाले भोयिल एवं भास्कर (नामक) दो कुटुम्बियों (=गृहस्थों) ने ज्ञापन दिया है, '(हमारे) पिता शिवनन्दि द्वारा निर्मित भगवान् गोविन्दस्वामी का मन्दिर अल्पवृत्तिक (=कम आय वाला) है। इस विषय (=जिला या प्रदेश) में फसल (के रूप में आय) न देने वाली, ऊसर परती भूमि को, जो अकर (=जिस पर अब तक कर नहीं लगाया गया है) है, अक्षयनीवी धर्मानुसार दो दीनार में एक कुल्यवाप की दर से सदैव के लिये, जब तक चन्द्र, सूर्य और तारें हैं तब तक भोगी जाने के लिये (राज्य द्वारा) विक्रय किये जाने की प्रथा है। अतः आपको उचित है कि हम दोनों से ६ दीनार तथा ८ रूपक प्राप्त करके भगवान् गोविन्दस्वामी के मन्दिर की (उसके) क्षत या जीर्णशीर्ण हो जाने पर मरम्मत के लिये तथा गन्ध, धूप, दीप, व पुष्पों (की आपूर्त्ति) को जारी रखने के लिये भोगिल (=भोयिल) को त्रिवर्ता में तीन कुल्यवाप ऊसर भूमि और श्रीगोहाली में भी तलवाटक के लिये एक द्रोणवाप आवास-भूमि तथा भास्कर को भी एक द्रोणवाप (भूमिखण्ड) दें।'

पं० १० और हम आप लोगों से कहते हैं—लेखाधिकारी दुर्गदत्त तथा अर्कदास की जांच-पड़ताल से (यह) निश्चित हो गया है कि इस विषय (जिला या प्रदेश) में फसल (के रूप में आय) न देने वाले बंजर, परती भूखण्डों को दो दीनार में एक कुल्यवाप की दर से सदैव के लिये, जब तक चन्द्र, सूर्य और तारें हैं तब तक भोगे जाने के लिये (राज्य द्वारा) विक्रय किये जाने की प्रथा है और इसके अतिरिक्त ऐसी अकर (=जिस पर अब तक कर नहीं लगाया गया है) ऊसर भूमि के विक्रय से राजा (सम्राट्) के हित का कोई विरोध नहीं है (उल्टे) भट्टारकपाद को धर्मफल (=पुण्य) के छठे भाग की उपलब्धि होगी। अतः वह (अर्थात् वह भूमि जिसे खरीदने के लिये ज्ञापन दिया गय. है) दे दी जाये।

पं० १३ तब उन भोयिल और भास्कर से छः दीनार और ८ रूपक लेकर भगवान गोविन्दस्वामी के मन्दिर के हेतु भोयिल को त्रिवृत्ता में तीन कुल्यवाप ऊसर भूमि तथा तलवाटक के लिये श्रीगोहाली में एक द्रोणवाप आवासभूमि और वहीं पर भास्कर को भी एक द्रोणवाप आवासभूमि, कुल तीन कुल्यवाप और दो द्रोणवाप स्थल (भूमि) अक्षयनीवी (धर्म) के अनुसार ताम्रपट्ट द्वारा (अर्थात् ताम्रपट्ट लिख कर) दे दी गई। निम्नभूमि कुल्यवाप ३, स्थल (भूमि) द्रोणवाप २।

पं० १८ इसे आप लोग उन स्थानों पर जहां आपके कृषि कर्म को हानि नहीं पहुंचती (अर्थात् जो किसी भी ग्रामवासी की सम्पति नहीं है) दर्वीकर्म (=भूमिमाप करने वाले व्यक्ति) द्वारा हाथ से आठ-नौ नलकों से माप करवा कर चिरकाल तक स्थायी रहने वाले भूसे और कोयले आदि के चिह्नों द्वारा चारों दिशाओं में निश्चित करके (अर्थात उसकी चारों सीमाओं की चिह्नित करके) (भोयिल और भास्कर को) दे देंगे और अक्षयनीवी धर्मानुसार सदैव अनुपालन करेंगे। इसके धर्म (=पुण्य) को ध्यान में रखते हुए (यह दान) वर्तमान व भविष्य के प्रबन्ध-अधिकारियों द्वारा अनुपालनीय है।

पं० २१ महात्मा वेदव्यास द्वारा कहा भी गया है—जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर (अपने) पितरों के साथ सड़ता है ।। १ ।। भूमि दान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहृता तथा उसका (अर्थात् अपहरण का) अनुमोदक उतने ही समय नरक में वास करते हैं ।। २ ।। हे राजाओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! द्विजातियों को पूर्वकाल में प्रदत्त भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो (क्योंकि) (भूमि के) दान से उसका अनुपालन श्रेष्ठ है ।। इति ।। ३ ।। संवत् १००+२०+८ माघ का १०+९वां दिवस।”

व्याख्या

(१) **पञ्चनगरी**—पञ्चनगरी स्पष्टतः उस विषय या जिले का प्रधान नगर थी जहां कुमारामात्य कुलवृद्धि का अधिकरण स्थित था सरकार ने इसकी पहिचान बोगरा जिले के पंचबीबी स्थान से सुझाई है (पञ्च नगरी > पञ्चनरी > पञ्चनारी > पंचबीबी । टॉलेमी द्वारा उल्लिखित पेण्टापोलिस पन्चनगरी हो सकता है ।

(२) **भट्टारक पदानुध्यातः**—यहां आशय स्पष्टतः प्रथम कुमारगुप्त से है जो ४४८ ई० में निश्चय ही शासन कर रहा था । कुमारामात्य कुलवृद्धि के द्वारा अपने को 'भट्टारक' का पादानुध्यात कहे जाने से लगता है कि उसकी नियुक्ति स्वयं सम्राट ने की थी जबकि कुमारगुप्त के दामोदरपुर ताम्रपत्रों में कुमारामात्य की नियुक्ति उपरिक द्वारा किये जाने का उल्लेख है।

(३) **विषय अधिकरण**—विषय का प्रशासकीय कार्यालय । उसके सदस्य ।

(४) **वायिग्रामिक त्रिवत्ता श्रीगोहाल्यो**:—त्रिवृत्ता तथा श्रीगोहाली वायिग्राम से सम्बन्ध थे । वायिग्राम का उल्लेख बुधगुप्त के १६३ गु० सं० के दामोदरपुर दानपत्र में भी आया है । वायिग्राम = आधुनिक बैग्राम जहां से प्रस्तुत अभिलेख मिला है ।

(५) **संव्यवहारिन्**—विषय के प्रशासन से सम्बन्धित अधिकारी । सम्भवतः उनमें अष्टकुल के अधिकरण के सदस्य सम्मिलित थे ।

(६) इस लेख के अनुसार ऊसर भूमि की कीमत उस समय दो दिनार प्रति कुल्यवाप थी । इसलिये तीन कुल्यवाप और २ द्रोणवाप (२ द्रोणवाप = १/४ कुल्यवाप) के लिये अगर ६ दीनार और ८ रूपक दिये गये तो एक दीनार (= गुप्तों की सुवर्ण मुद्रा) का मूल्य १६ रूपक (= गुप्तों की रजत मुद्रायें) के बराबर हुआ ।

(७) ऐसी भूमि नकद बेचने पर मूल्य के अतिरिक्त सम्राट् को दान के पुण्य का १/६ भाग भी मिलता है । ऐसा विश्वास किया जाता था ।

(८) ध्यातव्य है कि प्रथम कुमारगुप्त के ही दामोदरपुर दानपत्रों में एक कुल्यवाप ऊसर भूमि का मूल्य तीन दीनार बताया गया है । हो सकता है बैग्राम क्षेत्र की खिल भूमि कुछ घटिया रही हो ।

(९) **तलवारक**—तलभूमि, तलवृत्ति आदि । कहीं-कहीं 'तलवारक' मन्दिरों में सेवकों के एक वर्ग का नाम बताया गया है । स्थल वास्तु = मकान बनाने के लिये भूमि; आवास भूमि ।

(१०) **दर्व्वीकर्म**—भूमि मापने वाला व्यक्ति (यथा दूतकर्म = दूतक) । 'दर्वीकर्म हस्त' से तात्पर्य भूमि मापन की विशेष लम्बाई से भी हो सकता है ।

(११) भूमि की सीमा निर्धारित करने के लिये लगाये गये चिह्न रोचक हैं। मनुस्मृति (८.२४९-५१) में कहा गया है : "सीमा निर्णय में सर्वदा इस लोक में मनुष्यों को प्रेम में देखकर अन्य गूढ़ सीमा चिह्न भी स्थापित करावे ॥ २४९ ॥ पत्थर, हड्डी, गोबाल, तुष, भस्म, खण्डा, आरना, ईंट, कोयला, शर्करा और बालु ॥, २५० ॥ और जो इस प्रकार की वस्तु हों जिन्हें बहुत दिनों में भी भूमि न खा जावे, उनको सीमा की सन्धियों में गुप्त करावे ॥ २५१ ॥"

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख बंगाल से प्राप्त अन्य दानपत्रों से ज्ञात तथ्यों को स्पष्टतर करता है। इसके महत्व का विवेचन हमने बंगाल से प्राप्त दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय, भूमि और कर-व्यवस्था विषयक परिशिष्ट में किया है।

जगदीशपुर ताम्रपत्र-अभिलेख (संक्षेप मात्र)

वर्ष १२८ (=४४७ ई०)

यह अभिलेख बांगला देश (भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान) के राजशाही जिले के जगदीशपुर गांव से प्राप्त हुआ था। नवम्बर १९६१ ई० में यह किसी समय वारेन्द्र रिसर्च संग्रहालय, राजशाही को उपलब्ध हुआ। इस तिथि के कई वर्ष पूर्व यह एक कुंआ खोदते समय प्रकाश में आया था। यह संस्कृत भाषा में है और लिपि तथा विषय-वस्तु आदि की दृष्टि से कलैकुरी-सुल्तानपुर दानपत्र के सदृश है। इसकी तिथि गुप्त (संवत) १२८ के चैत्र मास का बीसवां दिन है, लेकिन तत्कालीन गुप्त-सम्राट् का, जो निश्चय ही प्रथम कुमारगुप्त रहा होगा, नाम नहीं दिया गया है। इसमें भोयिल और महिदास नामक व्यक्तियों को जो क्षेमक (=शिव) के उपासक थे, दो दीनारों में एक कुल्यवाप भूमि बेचे जाने का उल्लेख है जिसका उपयोग एक विहार के धार्मिक कृत्यों तथा एक सूर्य मन्दिर में पूजा तथा मन्दिर के प्रतिसंस्कार के लिये किया जाना था। यह आदेश आयुक्तक अच्युत ने श्रृंगवेरवीथी के पूर्ण कौशिका स्थान से जारी किया था और यह संगोहलि ग्रामसमूह के गुल्मगन्धिका ग्राम के निवासियों को सम्बोधित किया गया है। भोयिल नामक व्यक्ति का उल्लेख बैग्राम-दानपत्र में भी है तथा श्रृंङ्गवेरवीथि, पूर्ण कौशिका एवं आयुक्तक अच्युत का कलैकुरी-सुल्तानपुर दानपत्र में।

यह लेख एस० सिद्धान्त ने 'बंगाल अकादमी पत्रिका', ७, माघ-चैत्र, बंगाल संवत् १३७० (पृ० ३६) में प्रकाशित किया। इसका पुर्नप्रकाशन ,जर्नल ऑव वारेन्द्र रिसर्च म्युजियम', १, १९७२ (पृ० २३-३७) में हुआ। ये दोनों ही पत्रिकायें भारत में दुष्प्राय हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त सूचनाओं के लिये दे०, पी०एल० गुप्त, द इम्पीरियल गुप्तज, भू०, पृ० १५-१६।

साञ्ची पाषाण बौद्ध-अभिलेख

वर्ष १३१ (=४५० ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख मध्य-प्रदेश की भूतपूर्व भोपाल रियासत की दीवानगञ्ज तहसील में स्थित सुप्रतिथ स्थल **साञ्ची** से मिला है। वहां यह महास्तूप के पूर्वी तोरण के बाहर दक्षिण की ओर वेदिका पर लिखा है। लेख का क्षेत्रफल २'५"×२' है। यह पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** दक्षिणी वर्ग की ब्राह्मी। यह सम्पूर्णतः गद्य में है। **वर्तनी** में 'संव्वत्' में अनुस्वार के पूर्व 'व' का द्वित्व उल्लेख्य है। इसकी **तिथि**—१३१ वर्ष—निश्चय ही गुप्त संवत् की है। लेकिन इसमें तत्कालीन गुप्त सम्राट् का नाम नहीं दिया गया है। जब तक हम यह न मानें कि १३१ गु० स० (=४५० ई०) में साञ्ची प्रदेश में गुप्त संवत् का प्रयोग जारी रखने वाला कोई गुप्तेतर वंशीय राजा शासन कर रहा था (जो एक सर्वथा निराधार व अनावश्यक कल्पना होगी) तब तक इस लेख को प्रथम कुमारगुप्त के शासन काल के अभिलेखों में परिगणित करना अनिवार्य है। तत्कालीन युग के गैर-राजकीय अभिलेखों में उस समय शासन करने वाले राजा का उल्लेख न किया जाना असामान्य बात नहीं थी। यह लेख प्रकृत्या बौद्ध है और इसका **उद्देश्य** उपासक सनसिद्ध की पत्नी उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा काकनादबोट महाविहार के बौद्ध संघ को दिये गये दान का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख का सर्वप्रथम प्रकाशन जेम्स प्रिन्सेप ने कैप्टन एडवर्ड द्वारा वस्त्र व कागज पर ली गई प्रतिलिपियों की सहायता से 'जर्नल ऑव बंगाल एशियाटिक सोसायटी', ६, (पृ० ४६१) में किया। तदनन्तर फ्लीट ने इसको 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (सं० ६२)। अन्य सन्दर्भ ग्रन्थः भाण्डारकर-सूची सं० १२७४, कनिंघम, भीलसा टोप्स, पृ० १९३।

मूलपाठ

१ [ि] स् [द्ध] म् [॥*] उपासकसनसिद्धभार्य्यया उपासिक् [ा*] हरिस्वामिन्या माता-
२ पितरमु द्दिश्य काकनादबोटश्रीमहाविहारे चातुर्द्दिशायार्य्यसं-
३ घाय अक्षय नीवी दत्ता दीनारा द्वादश [।*] एषां दीनाराणां या वृद्धि-
४ रुपजायते तथा दिवसे दिवसे संघमध्यप्रविष्टकभिक्षुरेकः भोज—
५ यितव्यः [॥*]रत्नगृहेऽपि दीनारत्रयं दत्तं [।*] [त] द्दीनारत्रयस्य वृ[द्*] ध्या
रत्नगृहे
६ भगवतां बुद्धस्य दिवसेदिवसे दीपत्रयं प्रवालयितव्यं [॥*] चतुर्बुद्धास—
७ नेऽपि दत्तः दीनार एकः [।*] तस्य वृद्ध्या चतुर्बुद्धासने भगवतो बुद्धस्य
८ दिवसेदिवसे दीपः प्रवालयितव्यः [॥*] एवमेषाक्षयनीवी—
९ आचन्द्रार्क्कशिलालेख्या स्वामिनीसनसिद्धभार्य्यया

१० उपासिक् [ा*]हरिस्वामिन्या प्रवर्त्तिता इति [।।*]
११ संव्वत् १००(+)३०(+)१ अश्वयुग्दि ५।।

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १: 'सिद्धम्' शब्द प्रथम पंक्ति के पूर्व हाशिये में उत्कीर्ण है। यह काफी धूमिल हो गया है। पंक्ति २: 'पितरमु०' का 'पितरावु०' पढ़े। पंक्ति ११: कनियम १०० को ३०० पढ़ते हैं।

शब्दार्थ

वृद्धि = ब्याज; संघमध्यप्रविष्टक = संघ में प्रविष्ट होने वाले; प्रवालयितव्य: = जलाया जाय; अर्क = सूर्य; अश्वयुज् = असौज

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो। उपासक सनसिद्ध की पत्नी उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा (अपने) माता-पिता के लिये काकनादबोट के पवित्र महाविहार में चारों दिशाओं से आकर एकत्र हुए संघ के लिये (अर्थात् संघ के सदस्यों के लिये जो विभिन्न दिशाओं से वहां आए हैं) बारह दीनारों की अक्षयनीवी दान दी जाती है।

पं० ३ इन बारह दीनारों से जो ब्याज प्राप्त हो (उससे) दिन-प्रति-दिन संघ में प्रविष्ट होने वाले एक भिक्षु को भोजन कराया जाय।

पं० ५ रत्नगृह को भी तीन दीनार (दान) दिये जाते हैं। इन तीन दीनारों के ब्याज से रत्नगृह में भगवान् बुद्ध के तीन दीपक दिन प्रतिदिन जलाये जाएं।

पं० ६ चतुर्बुद्धासन को भी एक दीनार (दान) दिया जाता है। उसके ब्याज से चतुर्बुद्धासन में भगवान् बुद्ध का दीपक दिन प्रतिदिन जलाया जाय।

पं० ८ इस प्रकार चन्द्र और सूर्य की स्थिति तक (बना रहे इस उद्देश्य से) शिला पर अंकित यह अक्षयनीवी (दान) सनसिद्ध की पत्नी आर्या उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा प्रवर्त्तित हुआ।

पं० ११ संवत् १००(+)३०(+)१, (मास) अश्वयुज्, दिवस ५।

व्याख्या

(१) **काकनादबोट श्रीमहाविहारे**—दे०, द्वितीय चन्द्रगुप्त का सांची अभिलेख, टि० १।

(२) **अक्षयनीवी**—ऐसा धन जिसको हमेशा के लिये 'ट्रस्ट फण्ड' के रूप में जमा कर दिया जाता था जिससे उसका मूल भाग अक्षय रहे और ब्याज से निर्धारित कार्य सम्पादित किये जाते रहें।

(३) **रत्नगृह**—दे०, वही, टि० ७।

(४) **चतुर्बुद्धासन**—कनिंघम (भीलसा टोप्स, पृ० १९१ अ०) के अनुसार यहां आशय उन चार बुद्ध प्रतिमाओं से है जो सांची के महास्तूप में वेदिका के अन्दर प्रदक्षिणापथ में तोरणों के पीछे बनी हैं। दे०, फ्लीट, कॉर्पस, पृ० २६२, टि० २।

लेख का महत्व

यह अभिलेख पांचवी शती ई० में सांची के महास्तूप के संघ की आर्थिक गतिविधि पर प्रकाश डालता है। काकनादबोट महाविहार के विषय में द्वितीय चन्द्रगुप्त के इसी स्थान से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात तथ्यों का इस लेख से समर्थन होता है। हरिस्वामिनी नामक उपासिका को वह धन कहां से मिला जो उसने अक्षयनीवी के रूप में जमा किया यह नहीं बताया गया है। परन्तु हो सकता है यह उसके स्त्री-धन का अंश रहा हो। तत्कालीन स्मृति लेखक स्त्री-धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार मानते थे।

मथुरा पाषाण-प्रतिमा-लेख

वर्ष १३५ (=४५४ ई०)

लेख-परिचय—इस अभिलेख का **प्राप्ति-स्थल** उत्तर प्रदेश का मथुरा नगर है जिसके जैल नामक टीले से प्राप्त एक खड़ी हुई भग्न पाषाण मूर्त्ति की पीठिका पर यह अंकित है। यह प्रतिमा, जिसका अब मात्र चरण भाग अवशिष्ट है, निश्चयतः बौद्ध प्रतिमा थी। लेख का क्षेत्रफल १'६½"×२¾" है। इसमें चार पंक्तियां हैं जिनमें चौथी पंक्ति का अन्तिम अंश टूट गया है और अनुपलब्ध है। लेख की **भाषा** संस्कृत है। इसकी प्रथम दो पंक्तियां गद्य में हैं और शेष भाग एक **श्लोक** के रूप में,'जो शार्दूलविक्रीडित **छन्द** में है। इसकी **लिपि** उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी है। पंक्ति १ में ५, २०, ३० तथा १०० अंक भी लिखे हैं। **वर्तनी** में पंक्ति १ में 'संव्वत्सर' में अनुस्वार के बाद 'व' का द्वित्व उल्लेख्य है। लेख की **तिथि**—संवत् १३५—निश्चय ही गुप्त संवत् का वर्ष है, परन्तु तत्कालीन सम्राट् का नाम अनुल्लिखित है। सामान्यतया उसे प्रथम कुमारगुप्त ही माना जाता है।

यह लेख निश्चय ही बौद्ध लेख है। लेख के प्रारम्भ में हाशिये में धर्मचक्र बना है एवं स्वयं लेख में विहारस्वामिनी का उल्लेख है तथा निर्वाण की चर्चा है। इसका **उद्देश्य** उस प्रतिमा के दान का उल्लेख करना है जिस पर यह अंकित है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—यह लेख जनरल कनिंघम को प्राप्त हुआ था। सर्वप्रथम जे० डाउसन ने इसका पाठ व अनुवाद १८७१ ई० में जे० आर० ए० एस०, एन० एस०, ५, (पृ० १८४) में शिलामुद्रण सहित छापा। इसके बाद यह ए० एस० आई०, ३, पृ० ३६ अ० में पुर्नप्रकाशित हुआ। तदनन्तर फ्लीट ने 'कॉर्पस' में इसका सम्पादन किया (स० ६३)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—भाण्डारकर-सूची सं० १२७५।

मूलपाठ

१. संवत्सरशते पंचस्त्रिशो त्तरतमे १००(+) ३० (+) ५ पुष्यमासे दिवसे वि [ं] श् [`]
दि २० [। *] देयधर्म् [ो] ऽयमं विहारस्वामिन्य् [ा]

२. देवताया [॥ *] यदत्र पुण्यं तद्भवतु मातापित्रोः सर्व्वसत् [त् *] वानाञ्च अनुत्तर—
ज्ञाना प्तये ॥

३. सौभाग्यं प्रतिरु(रू)पता गुणवती कीर्त्तिस्सपत्नक्षय ; श्रीमन्[त्]ो विभवा भवा [: *] सुख-
फला निर्व्वाणमंते शिवम्

४. अस्तब्धा(?) नि भवन्ति दाननिरतौ चित्तं नियोज्यैकदा [—]ो [— —⌣]विचा(?ता)रण-
[⌣ ⌣]धियां [— – ⌣ — —] ि [⌣]याम् [॥*]

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १: 'पंचस्त्रिशो०' को 'पंचस्त्रिंश्०' पढ़ें। पंक्ति २ : 'देवताया' को 'देवतायाः' पढ़ें। 'ज्ञानाप्तये' से 'ज्ञानावाप्तये' अधिक अच्छा पाठ होता।

शब्दार्थ

दि=दिवस; सत्व=प्राणी; अनुत्तर=सर्वोत्तम, श्रेष्ठ; आप्त=प्राप्त; प्रतिरूपता=प्रतिरूप होने की स्थिति; सपत्मः =शत्रु, प्रतिस्पर्धी; विभवः =समृद्धि; श्रीमन्तः =श्रीयुक्त; भव=योनि; शिव=कल्याणकर; स्तब्ध=दृढ़, बाधित; अस्तब्ध=दृढ़ताविहीन, अनित्य ?; निरत=लगा हुआ, रुचि लेने वाला।

अनुवाद

पं० १. वर्ष एक सौ पैंतीस में (अथवा अंकों में) १०० (+) ३० (+) ५ में पुष्य मास में, बीसवें दिवस में (अथवा अंकों में) २०वें दिन यह विहारस्वामिनी देवता का धर्मदान है। इस (कृत्य) में जो भी पुण्य है वह (उनके) माता-पिता तथा सब प्राणियों द्वारा श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति के लिये हो।

पं० ३. सौभाग्य, गुणों से भरपूर (अनुकरणीय) प्रतिरूप होने की स्थिति, कीर्त्ति, (धर्म के) शत्रुओं का क्षय, श्रीयुक्त समृद्धि, सुखप्रदायक योनियां (तथा) अन्त में कल्याणकर निर्वाण—(ये सभी) अनित्य (?) हैं, एक बार दान देने के सुख में अपने चित्त को लगा देने पर·········

व्याख्या

(१) **विहारस्वामिनी**—शाब्दिक अर्थ 'विहार की संरक्षिका'। परन्तु जैसा कि फ्लीट ने कहा है यह बहुत से गुप्तकालीन अभिलेखों में 'विहारस्वामी' पदनाम प्रायः आता है, इसलिये फ्लीट ने इसको विहार-स्वामी नामक पदाधिकारियों की पत्नियों के लिये प्रयुक्त विशेषण माना है। तु०, प्राचीन 'उपाध्यायानी' शब्द का प्रयोग जो 'उपाध्याय' की पत्नी के लिये प्रयोग में आता था (आप्टे, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी)। आधुनिक काल के उदाहरण हैं थानेदारिनी (थानेदार की पत्नी), सेठानी (सेठ की पत्नी) आदि।

कोई ऐसा पदनाम नहीं जान पड़ता जिस पर विहारों में स्त्रियों की नियुक्ति की जाती रही हो। क्योंकि

(२) **सपत्नक्षय**—(धर्म के) शत्रुओं का विनाश। यहां अरिषड्वर्ग की ओर संकेत है।

(३) **निर्व्वाण**—इस अभिलेख में निर्वाण को 'अनित्य' कहा गया है। शायद यहां आशय यह है कि निर्वाण प्राप्त कर लेने के बाद भी कोई व्यक्ति तब तक पुनर्जन्म की सम्भावना से मुक्त नहीं होता जब तक परिनिर्वाण द्वारा उसके स्वतन्त्र अस्तित्व पूर्णतः अन्त नहीं हो जाता।

लेख का महत्व

यह लेख किस राजा के काल में लिखा गया यह अनिश्चित है। यद्यपि यह सम्भव है यह प्रथम कुमारगुप्त के काल में ही लिखा गया हो, तथापि यह भी असम्भव नहीं है कि तब तक प्रथम कुमारगुप्त

की मृत्यु हो गई हो और स्कन्दगुप्त तथा उसके भाइयों में गृह-युद्ध चल रहा हो । प्रथम कुमारगुप्त की कुछ रजत मुद्राओं पर १३५ अथवा १३६ गु० स० के उल्लेख में अब कुछ विद्वान् शंका करते हैं । इस लेख में 'विहारस्वामिनी' शब्द का प्रयोग तथा 'निर्वाण' को अनित्य अवस्था कहा जाना धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है (दे०, ऊपर टिप्पणियाँ) ।

प्रथम कुमारगुप्तकालीन तिथिविहीन बिहार (पटना संग्रहालय) पाषाण स्तम्भ-लेख

लेख-परिचय—उस स्तम्भ का, जिस पर यह लेख उत्कीर्ण है, **प्राप्ति-स्थल** बिहार राज्य के पटना जिले का बिहार या बिहारशरीफ नामक स्थान है। यह नाम निश्चय ही संस्कृत शब्द 'विहार' (=बौद्ध भिक्षुओं का निवास-स्थान) से व्युत्पन्न है। लाल बलुहे पत्थर से निर्मित यह स्तम्भ उन्नीसवीं शती में टूटी हुई हालत में बिहारशरीफ के प्राचीन दुर्ग के उत्तरी प्रवेशद्वार के सामने मिला था। वहां से उसे हटा कर उसी द्वार के पश्चिम में उल्टा गाड़ दिया गया जिससे इसका उपरला भाग जमीन में दब गया और निचला भाग ऊपर चला गया। वहां पर यह. कनिंघम को भूमि पर गिरा हुआ मिला था। तदुपरान्त १८७१ ई० में इसे बिहारशरीफ के एक मजिस्ट्रेट श्री ब्रोडले ने इसी नगर की कचहरी के सामने एक ईंटों से निर्मित आधार पर पुनः उल्टा ही स्थापित करवा दिया। आज भी यह उल्टी अवस्था में ही है। ब्रोडले ने इस पर अंग्रेजी का एक लेख भी लिखवाया था जिसके कुछ अक्षर फ्लीट द्वारा प्रकाशित शिलामुद्रण को उल्टा देखने पर निचले भाग में दिखाई देते हैं। फ्लीट के द्वारा इसका अध्ययन किये जाने के समय ही इस स्तम्भ के चारों ओर एक घर बन गया था जिसकी छत इस पर टिकी थी। छत के साथ इसे जोड़ने के लिये कुछ काष्ठ लगाया गया था जिससे इसके उपरले भाग को (जो वस्तुतः इसका निचला भाग है) कुछ अंश दब गया और अन्तिम आठ पंक्तियां, जो फ्लीट के पूर्व छाप लेने वाले विद्वानों-राजेन्द्रलाल मित्र तथा जनरल कनिंघम—को द्रष्टव्य थीं, फ्लीट को छिपी हुई मिलीं। अर्थात् फ्लीट इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण केवल २५ पंक्तियों की छाप ले पाये थे जो १′ ४″×३′ ५″ क्षेत्रफल में लिखी हैं। १९२७ ई० में इस स्तम्भ को लाकर पटना संग्रहालय में रखा गया।

इस स्तम्भ पर वस्तुतः दो लेख उत्कीर्ण हैं—बिहार पाषाण स्तम्भ पर वस्तुतः दो लेख उत्कीर्ण हैं जिन्हें फ्लीट तथा उनका अनुसरण करते हुए सरकार आदि विद्वान् एक ही अभिलेख के दो भाग मानते रहे हैं। फ्लीट के द्वारा यह गलती सम्भवतः इसलिये हुई क्योंकि वह इन दोनों अभिलेखों को स्कन्दगुप्तकालीन समझते थे—उन्होंने प्रथम भाग की पंक्ति ११ में स्कन्दगुप्तबट नामक गांव का उल्लेख माना और द्वितीय भाग में वंशावली की समाप्ति स्कन्दगुप्त के साथ हुई बताई। भाण्डारकर ने इसे स्कन्दगुप्त (जिसे वह पुरुगुप्त से अभिन्न मानते हैं) के पुत्र बुधगुप्त का माना है (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३४७)। परन्तु अब कई इतिहासकारों का ध्यान इस ओर गया है कि ये दोनों भाग वस्तुतः दो स्वतन्त्र और पृथक् अभिलेख हैं। प्रमाण :—(१) ये दोनों दो अलग-अलग राजाओं के शासनकाल में लिखवाये गये। प्रथम अभिलेख (फ्लीट के अनुसार अभिलेख के प्रथम भाग) की तीसरी पंक्ति में प्रथम कुमारगुप्त का उल्लेख है और अन्य कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता जिससे यह लगे कि इसे प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल में नहीं लिखवाया गया था—उल्टे इस अभिलेख का अन्तः साक्ष्य (दे०, अगला अनुच्छेद) इसे प्रथम कुमारगुप्त के काल का ही बताता है। फ्लीट ने अवश्य ही इसमें 'स्कन्दगुप्तबट'

नामक ग्राम का उल्लेख माना था (पं०११) परन्तु उन्होंने स्वयं इस नाम के केवल 'न्दगुप्तबटे' अक्षर पढ़े थे जबकि इनका पाठ स्पष्टतः 'न्द्रगुप्तबटे' है। इसलिये इस गांव का नाम 'चन्द्रगुप्तबट' या 'इन्द्रगुप्तबट' जैसा रहा होगा। (सोहोनी के अनुसार तो यहां लेख का पाठ 'गुप्तबटे' नहीं 'गुप्त वर्षे' है)। इसी प्रकार दूसरे अभिलेख की पंक्ति १० (फ्लीट के अनुसार दूसरे भाग की पंक्ति २३) में भी स्कन्दगुप्त नाम नहीं है। इसमें केवल 'गुप्तः' अक्षर पूर्णतः स्पष्ट है। मजूमदार के अनुसार इसके पूर्व 'न्द' नहीं वरन् 'रु' लिखा है और राजेन्द्रलाल मित्र की छाप में उसके पूर्व 'प्त' अक्षर लिखा लगता है जिसे अनायास 'पु' पढ़ा जा सकता है। इसलिये दूसरे लेख की इस पंक्ति में स्कन्दगुप्त का नहीं पुरुगुप्त का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार ये दोनों अभिलेख दो पृथक्-पृथक् राजाओं—प्रथम कुमारगुप्त तथा पुरुगुप्त—के शासनकाल के हैं। (२) इन दोनों अभिलेखों के मध्य दो रेखायें खींची गई हैं जो इनके पृथकत्व की द्योतक हैं। (३) प्रथम लेख स्तम्भ के चारों पक्षों पर लिखा था और द्वितीय अभिलेख केवल तीन पक्षों पर। (४) प्रथम अभिलेख और द्वितीय अभिलेख प्रकृत्या भिन्न हैं। प्रथम अभिलेख में उल्लिखित दान का सम्बन्ध सम्भवतः अनन्तसेन नामक किसी पदाधिकारी से था (अनन्तसेनेन—पं० १३) जबकि द्वितीय अभिलेख में दानादेश स्वयं सम्राट् ने वर्मान्त नाम वाले किसी व्यक्ति के अनुरोध पर दिया था। वस्तुतः द्वितीय अभिलेख किसी दानपत्र की प्रतिलिपि लगता है और इसकी प्रथम दस पंक्तियां स्पष्टतः उस दानपत्र की मुहर वाला भाग हैं (दे०, आगे)। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण ये लेख दो स्वतन्त्र अभिलेख हैं, एक अभिलेख के दो भाग नहीं। एक ही अभिलेख में न तो वंशावली बीच में लिखी हो सकती थी और न दो व्यक्तियों के दान का अलग-अलग उल्लेख हो सकता था।

प्रस्तुत अभिलेख प्रथम कुमारगुप्तकालीन है—प्रस्तुत अभिलेख (अर्थात् फ्लीट के अनुसार अभिलेख का प्रथम भाग) लगभग निश्चित रूप से प्रथम कुमारगुप्तकालीन है। जैसाकि हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं इसमें 'स्कन्दगुप्तबट' नामक ग्राम का उल्लेख नहीं है। लेकिन इसमें दो बातें ऐसी हैं जिनपर समवेत विचार करने पर इसको प्रथम कुमारगुप्तकालीन मानना निश्चित-सा हो जाता है। एक, इसकी तीसरी पंक्ति में प्रथम कुमारगुप्त द्वारा किसी की बहिन से विवाह करने का उल्लेख है। दूसरे, इस लेख के अन्त में अनन्तसेन नामक किसी उच्च पदाधिकारी का उल्लेख है जिसने इस लेख में उल्लिखित दान दिया था। अब, हम द्वितीय कुमारगुप्त की भितरी-मुहर आदि अन्य साक्ष्य से जानते हैं कि प्रथम कुमारगुप्त की पत्नी का नाम अनन्तदेवी था। क्योंकि गुप्तकाल में भाई-बहिन के एक से नाम रखने की प्रथा भी प्रचलित थी, इसलिये इन तथ्यों के प्रकाश में यह मानना अनुचित नहीं होगा कि प्रथम कुमारगुप्त ने जिस व्यक्ति की बहिन से विवाह किया था (पंक्ति ३) वह अनन्तसेन था (पंक्ति १३)। इस प्रकार इस अभिलेख से न केवल यह सबल संकेत मिलता है कि अनन्तसेन नामक उच्च पदाधिकारी कुमारगुप्त का साला था वरन् इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि इस सम्पूर्ण लेख में केवल प्रथम कुमारगुप्त तक ही चर्चा थी। यहां यह भी स्मरणीय है कि इस लेख की पंक्ति ९ में स्कन्द (=कार्त्तिकेय) का उल्लेख है और प्रथम कुमारगुप्त स्कन्द का भक्त था ऐसा उसके द्वारा अपने पुत्र का नाम स्कन्दगुप्त रखने एवं कार्त्तिकेय प्रकार के सिक्के चलाने से स्पष्ट है। इन तथ्यों के प्रकाश में पी०एल० गुप्त का यह आग्रह (द इम्पीरियल गुप्तज़, पृ०४३-४४) कि इस अभिलेख का शासक द्वितीय कुमारगुप्त है, स्वतः निष्प्राण हो जाता है। वैसे भी यह अभिलेख क्योंकि द्वितीय अभिलेख के (जो पुरुगुप्त के शासनकाल का है) पहिले उत्कीर्ण किया गया था, इसलिये भी यह द्वितीय कुमारगुप्त (जो पुरुगुप्त का पौत्र था) के शासनकाल का नहीं हो सकता।

प्रस्तुत अभिलेख की (अब हम केवल इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रथम अभिलेख पर विचार कर

रहे हैं) **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** उत्तर भारतीय वर्ग की गुप्तकालीन ब्राह्मी। इसमें कुल १३ पंक्तियां हैं जिनको स्तम्भ के चारों ओर लिखा गया है। अक्षरों का आकार ३/८" से लेकर ५/८" तक है। पंक्ति ११ में ३० तथा ५ एवं पंक्ति १३ में ३ संख्याएं अंकों में लिखी हैं। लेख १०वीं पंक्ति तक पद्यात्मक है, १०वीं पंक्ति के अन्त से गद्य भाग प्रारम्भ होता है। पद्यात्मक भाग में **१० श्लोक** हैं और हर पंक्ति में करीब ४४ अक्षरों में एक श्लोक लिखा है। लेकिन प्रत्येक पंक्ति के प्रारम्भ के करीब २२ अक्षर एवं अन्त के करीब ६ अक्षर चिप्पड़ उखड़ जाने से अपठ्य हो गये हैं इसलिये प्रत्येक श्लोक के प्रथम दो पाद पूर्णतः तथा अन्तिम पाद अंशतः नष्ट हो चुके हैं। श्लोकों के **छन्द** इस प्रकार हैं:—१,३-४ : उपेन्द्रवज्रा; २ तथा ८-१० : इन्द्रवज्रा; ५ : वंशस्थ; ६-७ : जाति वर्ग का छन्द। **वर्तनी** की विशेषताओं में 'अन्श' में 'श' के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग (पंक्ति ११ तथा १३) तथा अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर 'क' का ऐच्छिक द्वित्व (पंक्ति १० में 'चक्क्रे' में परन्तु पंक्ति ३ में 'विक्रमेण' में नहीं) उल्लेख्य हैं।

प्रस्तुत अभिलेख का **उद्देश्य** सम्भवतः अनन्तसेन नामक उपर्युक्त पदाधिकारी द्वारा एक यूप (सम्भवतः वह स्तम्भ जिस पर यह लेख लिखा है) की स्थापना किये जाने का उल्लेख करना है। इसके अतिरिक्त इसमें चन्द्रगुप्तबट या इन्द्रगुप्तबट जैसे नाम वाले एक ग्राम तथा एक अन्य अग्रहार की कुछ अंशपूंजिओं का उल्लेख है जो अनन्तसेन द्वारा या उसके अनुरोध पर दान दी गई होंगी। अभिलेख की ९वीं पंक्ति में स्कन्द और मातृकाओं के उल्लेख से लगता है कि यह शाक्त या तान्त्रिक विचारधारा से प्रभावित शैव मत से सम्बन्धित था।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस अभिलेख की ओर सर्वप्रथम श्री रैवेन्शा ने जे०बी०ए०एस०, १८३९, ८(पृ०३४७) में ध्यान आकर्षित किया था। तदुपरान्त राजेन्द्रलाल मित्र ने १८६६ में उसी पत्रिका के ३५वें अंक में (पृ० २६९ अ० तथा २७७ अ०) इसका शिलामुद्रण तथा अपना पाठ प्रकाशित किया। इसके चार वर्ष बाद १८७१ ई० में कनिंघम ने ए०एस०आई०, १, (पृ०३७ अ०) में इसका अपना शिलामुद्रण प्रकाशित किया। अन्त में फ्लीट ने इसे अपने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (सं० १२)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—सरकार, स०इ०, पृ० ३२५-२८; आर०सी० मजूमदार, इ०क०, १०,पृ०१७० अ०; सोहोनी, जे०बी०आर०एस०, ४९, पृ०१७०; भाण्डारकर - सूची, सं० १५४८; वा० उपाध्याय, गु० अ०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ०३४२ अ०।

मूलपाठ

१. ⏑ — ⏑ — — ⏑ ⏑ — ⏑ — —
⏑ — ⏑ — — ⏑ ⏑ — ⏑ — — :(।*)
नृ-चन्द्र इन्द्रानुज-तुल्य-वीर्य्यो
गुणैरतुल्यः ⏑ ⏑ — ⏑ ⏑ —(।।*) १

२. — — ⏑ — — ⏑ ⏑ — ⏑ — —
— — ⏑ — — ⏑ ⏑ — ⏑ — —(।*)
तस्यापि सूनुर्भुवि स्वामि-नेयः
ख्यातः स्व-कीर्त्या⏑ ⏑ — ⏑ — —(।।*) २

३. ⌣—⌣——⌣⌣—⌣——
⌣—⌣——⌣⌣—⌣——(।*)
[स्व] सव यस्यातुल-विक्रमेण
कुमारगु[प्तेन]⌣—⌣——(।।*) ३

४. ——⌣——⌣⌣—⌣——
——⌣——⌣⌣—⌣——(।*)
[पि]त्रिंश्च देवांश्च हि हव्य-कव्यैः
सदा नृशंस्यादि⌣ —⌣——(।।*) ४

५. ⌣—⌣——⌣⌣—⌣—⌣—
⌣—⌣——⌣⌣—⌣—⌣—(।*)
[अ]चीकरद्देव-निकेत-मण्डलं
क्षितावनौपम्य⌣—⌣—⌣—(।।*) ५

६. ....[बटे?] किल (।*)
स्तम्भ-वरोच्छ्रिय-प्रभासे तु मण्ड............(।।*) ६

७. ....भिर्वृक्षाणां(णाम्) (।*)
कुसुम-भरानताग्र-[शुंग?]-व्यालम्ब-स्तवक.........(।।*) ७

८. ——⌣——⌣⌣—⌣——
——⌣——⌣⌣—⌣——(।*)
भद्रार्य्यया भाति गृहं नवाभ्र-
निर्म्मोक-निर्मु[क्त]⌣—⌣——(।।*) ८

९. ——⌣——⌣⌣—⌣——
——⌣——⌣⌣—⌣——(।*)
स्कन्द-प्रधानैर्भुवि मातृभिश्च
लोकान्स सुष्य(?)⌣⌣—⌣——(।।*) ९

१०. ——⌣——⌣⌣—⌣——
——⌣——⌣⌣—⌣——
——⌣——⌣⌣—⌣——
——⌣यूपोच्छ्रयमेव चक्के (।।*) १०
भद्रार्य्यादी............

११. ....न्द्रगुप्त-बटे अन्शानि ३० (+*) ५ ता (?) त्रकटा-
कु(?): कल............

१२. ......पितुः स्वमातुर्य्यंद्यस्ति हि दुष्कृतं भजतु तने............

१३. ....काग्रहारे अन्शानि ३ अनन्तसेनेनोप............

शब्दार्थ

इन्द्रानुज = विष्णु; नेयः = विनीत, आज्ञाकारी; अतुल्य = अनुपम; सूनु = पुत्र; स्वसृ = बहिन; हव्य = देवताओं को दी गई आहुति; कव्य = मृत पूर्वजों को दी गई आहुति; नृशंस्य = मनुष्यों के लिये हानिकर; अचीकरत् = बनवाया; देवनिकेत = मन्दिर; क्षितावनौपम्य = पृथिवी पर उपमा देने योग्य कुछ नहीं; उच्छ्रय = संस्थापना (स्तम्भ की); प्रभासः = सौन्दर्य; व्यालम्ब = एरण्ड का वृक्ष; शुंग = उदुम्बर का वृक्ष; स्तवक = समूह; भर = भार; आनत = झुके हुए; भाति = चमकता है, प्रकाशमान है; निर्मोकः = आकाश; अभ्रं = मेघ; प्रधान = नेता; यूप = यज्ञ स्तम्भ।

अनुवाद

पं० १ ·········मनुष्यों में चन्द्र (के समान), शौर्य में विष्णु (के तुल्य), गुणों में अनुपम ········· ॥ १ ॥

पं० २ ·········तदुपरि उसका पुत्र, पृथिवी पर स्वामी का आज्ञाकारी, अपनी कीर्त्ति से सुख्यात········· ॥ २ ॥

पं० ३ ·········जिसकी बहिन अतुल विक्रम वाले कुमारगुप्त द्वारा (व्याही गई थी) ··· ········· ॥ ३ ॥

पं० ४ ·········मृत पूर्वजों को कव्य और देवताओं को हव्य द्वारा·········सदैव········· मनुष्यों के लिये हानिकर वस्तुएं आदि········· ॥ ४ ॥

पं० ५ ·········मन्दिर समूह को बनवाया जिससे पृथिवी पर तुलना करने योग्य कुछ नहीं ········· ॥ ५ ॥

पं० ६ ·········निश्चित ही·········जो (इस) स्तम्भ-श्रेष्ठ-की संस्थापना से सुन्दर है ········· ॥ ६ ॥

पं० ७ ·········वृक्षों के·········कुसुमों के भार से नत हो गये शीर्ष भाग वाले उदुम्बर और एरण्ड के समूह········· ॥ ७ ॥

पं० ८ ·········भद्रार्या (की उपस्थिति) द्वारा, गृह प्रकाशमान है, नवीन मेघों से परिपूर्ण आकाश········· ॥ ८ ॥

पं० ९ ·········पृथिवी पर स्कन्द और देवी माताओं के नेतृत्व द्वारा,·········लोग········· ········· ॥ ९ ॥

पं० १० ·········(उसने) (इस) यूप (=यज्ञ स्तम्भ) की स्थापना कराई········· ॥ १० ॥

भद्रार्य्या तथा अन्य···········चन्द्र (?) गुप्तबट (नामक ग्राम?) में ३० + ५ अंश-पूंजियों·········

पं० १२ ·········यदि (उसके) पिता (अथवा) माता के द्वारा दुष्कृत्य होता है तो वह भागी हो·········

पं० १३ ·········के अग्रहार में·········३ अंशपूंजी·········अनन्तसेन द्वारा·········

व्याख्या

(१) **स्वसैव यस्यातुल विक्रमेण कुमारगुप्तेन**—कुमारगुप्त ने जिस व्यक्ति की बहिन से विवाह किया उसकी पहिचान अनायास पंक्ति १३ में उल्लिखित अनन्तसेन से की जा सकती है। कुमारगुप्त की पत्नी का नाम अनन्तदेवी था और गुप्तकाल में भाई-बहिन के एक से नाम रखे जाने की प्रथा लोकप्रिय थी, इसलिये अनन्तदेवी अनन्तसेन की बहिन रही होगी। फ्लीट यह सुझाव शायद इसलिये नहीं दे पाये थे क्योंकि उनके समय तक कुमारगुप्त की पत्नी का नाम अज्ञात था। यह सुझाव, जो सर्वप्रथम हमने ही रखा था (दे०, गोयल, हि० इ० गु०, १९६७; प्रा० भा० रा० इ०), अब स्वीकृत किया जाने लगा है (दे०, सिनहा, कॉ० हि० बि०, पृ० ६९)।

(२) **भद्रार्या**—पी० एल० गुप्त ने भद्रार्य को किसी व्यक्ति का नाम माना है (द इम्पीरियल गुप्तज, पृ० ४३-४)। परन्तु यहां नाम भद्रार्य नहीं भद्रार्या है और यह किसी देवी का नाम है। उसका उल्लेख इस लेख में दो स्थलों पर—पंक्ति ८ तथा ११ में—हुआ है। पुरुगुप्त के इस स्तम्भ पर ही उत्कीर्ण लेख की पंक्ति १९ में उल्लिखित 'भद्रार्यका' भी सम्भवतः वही है। क्योंकि 'भद्र' शिव का एक नाम है इसलिये दि० च० सरकार ने भद्रार्या को पार्वती (=आर्या) माना है। वा० श० अग्रवाल ने उसकी पहिचान कुबेर (वैश्रवण) की पत्नी से की है (कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ८०-१; जे० एन० एस० आई०, ३, पृ० ८२)। सोहोनी के अनुसार भद्रार्या की पूजा हिन्दू, जैन तथा बौद्ध सभी धर्मों में होती थी। उसे 'वृद्ध माता' या 'वृद्धिका माता' भी कहा जाता था।

(३) **स्कन्दप्रधानैर्भुविमातृभिश्च**—स्कन्द=कार्त्तिकेय=स्वामि महासेन। दे०, प्रथम कुमारगुप्त के बिलसड़ अभिलेख पर टि० १०। माताओं से यहां आशय स्पष्टतः सप्तमातृकाओं से है (ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। माहेन्द्री चैव वाराही चामुण्डा सप्त मातरः)। ये उन कृत्तिकाओं का प्रति-निधित्व करती हैं जिन्हें स्कन्द-कार्त्तिकेय की धाय माना गया है। वैसे ये प्रमुख देवताओं की शक्तियां हैं। कभी-कभी इनकी संख्या आठ मानी गई है और 'देवीमाहात्म्य' में एक स्थल पर शिवदूती तथा नारसिंही को जोड़कर नौ। परवर्ती साहित्य में यह संख्या बढ़कर सोलह तक पहुंच जाती है जिनमें प्रथम स्थान गौरी का बताया गया है (गौर्यादिषोडशमातृका)। मातृकाओं की पूजा का घनिष्ठ सम्बन्ध शैव और शाक्त मत में तान्त्रिक साधना से था। दे०, जे० एन० बनर्जी, पौराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलीजन, पृ० १२५; विश्ववर्मा का गंगधार-लेख, आगे)। कदम्ब तथा चालुक्य नरेश स्वामिमहासेन तथा सप्तमातृकाओं को अपने-अपने वंश का रक्षक मानते थे। उदाहरणार्थ, द्वितीय विक्रमादित्य के ७४२ ई० के नर्वन-दानपत्र में चालुक्यों का वर्णन इस प्रकार है: श्रीमतां……सप्तलोकमातृभिः सप्त मातृभिरमिवर्द्धितानां कार्त्तिकेय परिरक्षण प्राप्त कल्याण परंपराणां……चलुक्यानां……(इ० आई०, २७, पृ० १२८)।

(४) **यूप**=यज्ञ स्तम्भ। यहां सम्भवतः उसी स्तम्भ से आशय है जिस पर यह लेख लिखा है। यज्ञ यूपों की स्थापना की प्रथा चौथी शती में बहुत प्रचलित थी (दे०, नान्दसा, बर्नाला, बड़वा, नगर (बिचपुरिया) आदि से प्राप्त यूप-लेख)।

(५) पंक्ति १२ का पाठ कुछ अशुद्ध है। वर्तमान पाठ के अनुसार इसमें किसी ने अपने माता-पिता के दुष्कृत्यों में अपने को भागीदार बताया है। अपने ही माता-पिता के दुष्कृत्यों का उल्लेख इस प्रकार सम्भव नहीं जान पड़ता।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख प्रथम कुमारगुप्त के इतिहास पर रोचक प्रकाश देता है। इसका सर्वाधिक महत्त्व-

पूर्ण पक्ष इससे प्राप्त यह संकेत है कि प्रथम कुमारगुप्त की पत्नी अनन्तदेवी अनन्तसेन की बहिन थी। वह स्पष्टतः कोई उच्च पदाधिकारी था। फ्लीट का अनुमान है कि वह कोई सचिव रहा होगा। जो भी हो, इस तथ्य से कुमारगुप्त की मृत्यूपरान्त हुए गृह-युद्ध के कारणों के विषय में कुछ अनुमान करने के लिए आधार मिल जाता है। ऐसा लगता है कि कुमारगुप्त के उपरान्त उसके विभिन्न पुत्रों ने विभिन्न स्रोतों से शक्ति पाकर सत्ता हथियाने की चेष्टा की थी। जैसा कि उसकी सैनिक उपलब्धियों से स्पष्ट है, स्कन्दगुप्त सेना का प्रिय रहा होगा। साम्राज्य प्राप्त करते ही उसके द्वारा अनेक प्रान्तों में गोप्ता नियुक्त करने (शब्दशः सब देशों में—सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्स्कन्दगुप्त का प्रथम जूनागढ़-लेख) से लगता है कि उसको कुछ प्रान्तों में विरोध का सामना करना पड़ा था। सम्भवतः घटोत्कचगुप्त जैसे राजकुमारों ने (जिसका सम्बन्ध पूर्वी मालवा से प्रथम कुमारगुप्त के तुमैन-अभिलेख से संकेतित है) प्रान्तों में अपनी शक्ति बढ़ा रखी थी। इस परिस्थिति के प्रकाश में यह कल्पना अनायास की जा सकती है कि पुरुगुप्त का समर्थन उसकी मां अनन्तदेवी के अतिरिक्त मामा अनन्तसेन ने (जो हो सकता है कोई मन्त्री या सचिव रहा हो) किया होगा। इससे भितरी-लेख के श्लोक ६ से कुछ विद्वानों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जाना कि स्कन्दगुप्त के विरोधियों में उसके मामा भी सम्मिलित थे कुछ आधार पा जाता है क्योंकि अनन्तसेन पुरुगुप्त का मामा होने के कारण रिश्ते में स्कन्दगुप्त का मामा भी था।

प्रस्तुत अभिलेख पांचवीं शती ई० में मातृकाओं एवं स्कन्द की उपासना का उल्लेख करने के कारण भी महत्त्वपूर्ण है (दे०, ऊपर टि० २, ३)।

पुरुगुप्त एवं स्कन्दगुप्त (ज्ञात तिथियां ४५५ से ४६७ ई० तक) के अभिलेख

प्रथम कुमारगुप्त के उपरान्त गुप्त साम्राज्य पर उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने शासन किया। उसके उपलब्ध अभिलेख निम्नलिखित हैं। इनमें जूनागढ़-अभिलेख को अन्य विद्वान् एक ही अभिलेख मानते आये हैं। हमने आगे दिखाया है कि वस्तुतः स्कन्दगुप्त की जूनागढ़-प्रशस्ति एक नहीं वरन् दो अभिलेख हैं :—

पुरुगुप्त का अभिलेख

१. बिहार (पटना संग्रहालय) तिथिविहीन अभिलेख

स्कन्दगुप्त के अभिलेख

१. भितरी तिथिविहीन स्तम्भ-लेख
२. प्रथम जूनागढ़-शिलालेख : गु० सं० १३६ एवं १३७
३. द्वितीय जूनागढ़-शिलालेख : गु० सं० १३८
४. कहांव स्तम्भ-लेख : वर्ष १४१
५. सूपिया स्तम्भ-लेख : वर्ष १४१
६. इन्दौर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १४६

(फ्लीट ने बिहार तिथिविहीन स्तम्भ-लेख को स्कन्दगुप्त का माना था और 'संशोधित कॉर्पस ३' में भाण्डारकर ने बुधगुप्त का; परन्तु इसका द्वितीय भाग पुरुगुप्तकालीन है और प्रथम भाग प्रथम कुमारगुप्त के काल का; कुछ विद्वान् महाराज भीमवर्मा के प्रस्तर प्रतिमा-लेख को, जिस पर वर्ष संख्या १३९ लिखी है, स्कन्दगुप्तकालीन मानते हैं। परन्तु यह भीमवर्मा सम्भवतः मघवंशीय नरेश था जिसने गुप्तों के पूर्व शासन किया। १४८वें वर्ष का गढ़वा-लेख जिसमें किसी राजा का नाम नहीं है, हो सकता है स्कन्दगुप्तकालीन हो। पर गु० सं० १४८ स्कन्दगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि है, अतः यह भी हो सकता है इस लेख के लिखे जाने के समय तक स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो चुकी हो। इसलिये हमने इसे स्कन्दगुप्तकालीन लेखों में नहीं गिना है)।

पुरुगुप्तकालीन तिथिविहीन बिहार पाषाण स्तम्भ-लेख

लेख-परिचय—प्रस्तुत अभिलेख बिहार या बिहारशरीफ से प्राप्त उसी पाषाण स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जिस पर प्रथम कुमारगुप्तकालीन लेख लिखा है। जैसा कि हम कुमारगुप्त के उक्त लेख का अध्ययन करते समय देख चुके हैं, फ्लीट तथा सरकार जैसे विद्वान् प्रस्तुत लेख को उस लेख का ही दूसरा भाग मानते आये हैं। परन्तु हमने यह मानने के लिये कुछ कारण दिये हैं कि प्रस्तुत लेख प्रथम कुमारगुप्त के लेख से सर्वथा भिन्न है (दे०, पीछे)।

प्रस्तुत लेख में कुल २० पंक्तियां हैं जो स्तम्भ की गोलाई के तीन-चौथाई भाग में लिखी हैं। इसकी प्रत्येक पंक्ति में करीब २७ अक्षर थे जिनमें हर पंक्ति के प्रारम्भ के करीब १८ अक्षर मिट चुके हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रथम कुमारगुप्तकालीन लेख के अध्ययन में बताया गया है, इनमें अन्तिम आठ पंक्तियों की छाप कनिंघम तथा राजेन्द्रलाल मित्र ने ली थी, परन्तु फ्लीट के समय तक ये पंक्तियां स्तम्भ को एक मकान की छत का आधार रूप में प्रयुक्त किये जाने के कारण छत में प्रयुक्त काष्ठकर्म में छिप चुकी थीं। **भाषा** और **लिपि** की दृष्टि से यह प्रथम कुमारगुप्त के लेख के समान है। **वर्तनी** की दृष्टि से इसमें पंक्ति ४ में 'पुत्त्रस्य' में अनुवर्ती 'र' के संयोग में 'त' का तथा पंक्ति ९ में 'अनुद्ध्यात' में अनुवर्ती 'य' के संयोग में 'ध' का द्वित्व उल्लेखनीय है।

फ्लीट के अनुसार इस अभिलेख की पंक्ति १० (फ्लीट की गणनानुसार पंक्ति २३ में) स्कन्दगुप्त का उल्लेख है। लेकिन इस पंक्ति में वस्तुतः केवल 'गुप्तः' अक्षर ही स्पष्टतः पढ़े जा सकते हैं। उसके पूर्व, जैसा कि मजूमदार ने ध्यान दिलाया है (आई० सी०, १०, पृ० १७०) 'न्द' नहीं वरन् 'रु' लिखा है और राजेन्द्रलाल मित्र की छाप में 'रु' के पूर्व लिखा अक्षर 'प्त' प्रतीत होता है जिसे आसानी से 'पु' पढ़ा जा सकता है। इसलिये इस लेख में इस स्थल पर स्कन्दगुप्त का नहीं पुरुगुप्त का नाम है। दि० च० सरकार (स० इ०, पृ० ३२७) तथा सिनहा (कॉ० हि० बि०, पृ० ६५, ६९) ने इस लेख को पुरुगुप्त के शासनकाल का ही माना है।

पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० ३७ अ०) का कहना है कि इस लेख में वंशवृत्त पुरुगुप्त के साथ समाप्त नहीं होता—अगली पंक्ति में 'परमभागवत' शब्द उत्कीर्ण होने से स्पष्ट है कि इस पंक्ति में भी वंश वर्णन ही था। पी० एल० गुप्त के अनुसार इसमें पुरुगुप्त के किसी पुत्र या उत्तराधिकारी का—सम्भवतः बुधगुप्त का—उल्लेख रहा होगा। भाण्डारकर ने भी इसे बुधगुप्त का ही बताया है (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३४७ अ०)। सोहोनी (जे० बी० आर० एस०, ४९, पृ० १७१-७२, पृ० १७५, टि० १) ने इसके नरसिंहगुप्तकालीन होने की सम्भावना बताई है। मजूमदार तथा अल्तेकर ने 'वाकाटक गुप्त एज' नामक ग्रन्थ में इसे 'पुरुगुप्त के किसी उत्तराधिकारी' का बताया है (पृ० ४८१)। परन्तु स्मरणीय है कि इस लेख की १०वीं पंक्ति (फ्लीट की गणनानुसार २३वीं पंक्ति) में जिस राजा का नाम दिया गया है

उसका उल्लेख कर्त्ताकारक की प्रथमा विभक्ति में है और 'गुप्त' के बाद विसर्ग को स्पष्टतः पढ़ा जा सकता है जबकि वंशावली इसके बाद भी जारी रही होती तो इस राजा का नाम (चाहे वह स्कन्दगुप्त रहा हो या पुरुगुप्त) सम्बन्धकारक की छठी विभक्ति में लिखा होता। इसलिये यह मानना अनिवार्य है कि इस लेख में वंशावली उसी के साथ समाप्त हो गई थी। अगली पंक्ति में 'परमभागवत' उपाधि होने का तात्पर्य यही हो सकता है कि यह अभिलेख किसी दानपत्र की नकल है और उसकी प्रथम दस पंक्तियों में दानपत्र की मुहर में प्रदत्त वंशावली दी गई है और ११वीं पंक्ति में दानादेश जारी करने वाले नरेश का नाम है जो १०वीं पंक्ति में उल्लिखित पुरुगुप्त ही रहा होगा जिसके नाम के साथ वंशावली समाप्त हुई है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस अभिलेख का अध्ययन प्रथम कुमारगुप्त के इसी स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के साथ होता रहा है। सन्दर्भों के लिये पीछे कुमारगुप्त के उक्त लेख के सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध देखें।

मूलपाठ

१. ·········[सर्व्व-राजोच्छे*]त्तुः प्रिथिव्यामप्रतिरथस्य
२. [चतुरुदधि-सलिलास्वादित-यशसो धनद-वरुणे*]न्द्रान्तकसमस्य कृतान्त-
३. [परशोः न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य चिरो*]त्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः
४. [महाराज-श्रीगुप्त-प्रपौत्रस्य महाराज-श्रीघटो*] त्कच-पौत्रस्य महाराजा-
५. [धिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि-दौहित्रस्य म*]हादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य
६. [महाराजाधिराज-श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्र*]स्तत्परिगृहीतो महादेव्यां
७. [दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयं चाप्रतिरथः पर*]मभागवतो महाराजा-
८. [धिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धया*]तो महादेवयां ध्रुवदेवया-
९. [मुत्पन्नः परम-भागवतो महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्तस्य*] पुत्रस्तत्पादानुद्धयातः
१०. [परम-भागवतो महाराजाधिराज-श्रीपू*][रु]गुप्तः (॥*)
११. ························परमभागवतो
१२. [महाराजाधिराज-श्री पूरुगुप्तः*]······[वै]षयिकाजपुरक-सामै[ग्रा][म*]-
१३. ··················ग्रा···क···[अ*]क्षय-नीवी ग्रामक्षेत्रं
१४. ··· ··· ··· क्रु···उपरिक-कुमारामात्य-
१५. ··· ··· ··· ङ्गि कुलः (?)वणि(ज*)क-पादितारिक-
१६. ··· ··· ··· ··· [आ*]ग्रहारिक-शौल्किक-गौल्मिकास(न)न्यांश्च(श्च)-
१७. ··· ··· ··· वा[सि] कादीनस्मत्प्रसादोपजीविनः
१८. [समाज्ञापयामि*]··· ··· ···वर्म्मणा विज्ञापितो(ऽ*)स्मि मम पितामहेन
१९. ··· ··· ··· नमे भट्ट-गुहिलस्वामिना भद्रा[र्य्य]का
२०. ··· ··· ··· [प्र]ति[ष्ठापिता*]······आग्रोकय···नाकय··· ··· ··· ···

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'प्रिथिव्या०' को 'पृथिव्या०' पढ़ें। पंक्ति १४-२३ तक के लुप्तांशों का पुनर्योजन अन्य अभिलेखों की सहायता से किया गया है।

शब्दार्थ

आग्रहारिक=एक पदनाम; शौल्किक=एक पदनाम; गौल्मिक=एक पदनाम; प्रसाद=कृपा; विज्ञापित=ज्ञापन दिया है।

(वंशावली के कठिन शब्दों के लिये प्रथम कुमारगुप्त का बिलसड़-लेख देखें)।

अनुवाद

पं० १ महाराज श्रीगुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री (प्रथम) चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छवि दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त (हुए) जो समस्त राजाओं का उच्छेद करने वाले, पृथिवी पर अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान विचरण करने वाले), चारों समुद्रों के जल को अपने यश का आस्वादन कराने वाले, कुबेर, वरुण, इन्द्र और अन्तक के समान, (क्रोधित होने पर) कृतान्त (=यम) के परशु के सदृश, न्यायपूर्वक अर्जित अनेक करोड़ गोओं एवं सुवर्ण का दान देने वाले (तथा) चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेध करने वाले (थे)। उनके पुत्र, उनके द्वारा (उनके उत्तराधिकारी के रूप में) स्वीकृत, महादेवी दत्तदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न, साक्षात अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान) परमभागवत महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त (थे। उन)के पुत्र, उनके चरणों का ध्यान करने वाले, महादेवी ध्रुवदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न परमभागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त (थे। उन) के पुत्र, उनके चरणों का ध्यान करने वाले परमभागवत महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त (हैं)।

पं० ११ (मैं)·········(परमभागवत महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त) (आदेश जारी करता हूँ)·············विषय के अजपुर (नगर)·············अक्षयनीवी·········ग्राम क्षेत्र··· ·········उपरिक-कुमारामात्य·············वणिक द्वारा अधिकृत·········आग्रहारिक, शौल्किक, तथा गौल्मिक के कार्यालय (?) में············और जो हमारी कृपा पर जीवित हैं············

पं० १८ ·········वर्मा द्वारा हमें ज्ञापन दिया गया है, 'मेरे पितामह द्वारा············भट्टगुहिलस्वामी द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया············

(स्तम्भ प्राप्त होने के पूर्व लेख का शेष भाग टूट चुका था और अनुपलब्ध था)।

व्याख्या

(१) वंशावली से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या के लिये दे०, प्रथम कुमारगुप्त के बिलसड़-लेख की वंशावली पर लिखित टिप्पणियां।

(२) **अजपुर**—अजपुर नामक नगर या कस्बा जिस विषय में स्थित था उसका नाम मिट गया है, लेकिन यह स्तम्भ क्योंकि विहारशरीफ के दुर्ग के द्वार के पास मिला था इसलिये यह माना जा सकता है कि यह नगर राजगृह विषय में स्थित रहा होगा। एम० एस० पाण्डेय ने ध्यान दिलाया है कि राजगृह के पास अजपुर नाम का गांव अब भी विद्यमान है। नालन्दा मुहरों में अजपुर का उल्लेख मिलता है।

(३) **उपरिक कुमारामात्य**—फ्लीट (कॉर्पस, पृ० ५२, टि० १) उपरिक का अर्थ नहीं कर पाये थे। परन्तु दामोदरपुर ताम्रपत्रों से स्पष्ट हो गया है कि यह पूर्वी भारत में मुक्तियों (=प्रान्तों) के राज्यपालों की उपाधि थी। कुमारामात्य के लिये दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति ३२ की टि०।

(४) **आग्रहारिक**=अग्रहारी=अग्रहार का स्वामी। लेकिन यहां यह अग्रहारों की व्यवस्था करने वाले अधिकारी का पदनाम है। दे०, इ० आई०, २४, पृ० १२७।

(५) **शौल्किक**=शुल्क अर्थात् चुङ्गी से सम्बन्धित अधिकारी। विष्णुषेण के सातवीं शती ई० दानपत्र में उसका उल्लेख (पं० २) राजस्थानीय, आयुक्तक, विनियुक्तक आदि के साथ हुआ है (इ० आई०, ३०, पृ० १६७, १७९)।

(६) **गौल्मिक**—फ्लीट के अनुसार वनों और जंगलों का निरीक्षण करने वाला पदाधिकारी। लेकिन यह सैनिक-पदनाम भी था। यू० एन० घोषाल के अनुसार गुल्म=चौकी (पुलिस या सैनिक चौकी) का अध्यक्ष गौल्मिक कहलाता था। उसे गुल्मदेय (=पुलिस या सैनिक चौकी पर दिया जाने वाला कर) पाने का अधिकार था (हि० रि० सि०, पृ० ४०२)। गुल्म के लिये दे०, मनुस्मृति, ७. १९०)। सोहोनी के अनुसार यहां अभिलेख में इतने पदाधिकारियों का उल्लेख यह प्रदर्शित करता है कि यह प्रदेश उस समय बहुत समृद्ध था।

(७) **भद्रार्यिका**—दे०, प्रथम कुमारगुप्तकालीन बिहार पाषाण स्तम्भ-लेख की टि० २।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत अभिलेख का महत्व कई दृष्टि से है। (१) यह पुरुगुप्त का एकमात्र ज्ञात अभिलेख है। अब सरकार, बी० पी० सिनहा तथा अन्यान्य विद्वान् यह मानने लगे हैं कि इसकी पंक्ति १० में पुरुगुप्त का नाम ही लिखा था। (२) यह तथ्य बी० पी० सिनहा तथा पी० एल० गुप्त के उस मत के लिये घातक है जिसके अनुसार स्कन्दगुप्त को प्रथम कुमारगुप्त का वैध उत्तराधिकारी इसलिये नहीं मानना चाहिये क्योंकि भितरी-स्तम्भ लेख में उसकी माता का उल्लेख नहीं है। जैसा कि हमने अन्यत्र भी ध्यान दिलाया है (प्रा० भा० रा० इ०, पृ० २४३) प्रस्तुत अभिलेख में भी पुरुगुप्त की माता का उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं इस स्थल पर जो अंश अपठ्य हो गया है उसमें उसकी माता का उल्लेख होने योग्य स्थान है भी नहीं। पी० एल० गुप्त तथा बी० पी० सिनहा दोनों ही इस अभिलेख में इस स्थल पर उल्लिखित नरेश को पुरुगुप्त मानते हैं। परन्तु क्या वे इसमें उसकी माता के अनुल्लेख से यह निष्कर्ष निकालने के लिये भी प्रस्तुत हैं कि वह भी कुमारगुप्त का वैध उत्तराधिकारी नहीं था? हमारे इस प्रश्न का, जो हमने अपने उपर्युक्त ग्रन्थ में उठाया है, इन विद्वानों ने कोई उत्तर नहीं दिया है। इस प्रसंग में यह तर्क निस्सार होगा कि पुरुगुप्त की मां का उल्लेख उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में है, क्योंकि जब स्कन्दगुप्त के अपने उत्तराधिकारियों के अभिलेख मिलते ही नहीं तो उनमें स्कन्दगुप्त की मां का उल्लेख हुआ था या नहीं यह कैसे बताया जा सकता है? यहां यह तथ्य भी रोचक है कि ये विद्वान् प्रस्तुत अभिलेख को स्कन्दगुप्त का मानकर भी कठिनाई से नहीं बच सकते क्योंकि तब उन्हें यह मानना

पड़ेगा कि इस अभिलेख में स्कन्दगुप्त का उसके पिता से सम्बन्ध बताते समय 'तत्पादानुध्यात' पद का प्रयोग हुआ है जिसकी भितरी-अभिलेख में अनुपलब्धि को वह स्कन्दगुप्त के अधिकार की वैधता के विरुद्ध दूसरा बड़ा प्रमाण मानते हैं। हमें तो ऐसा लगता है कि गुप्त वंशावलियों में अभिलेख या मुहर लिखवाने वाले राजा की माता का नाम कभी-कभी अनुल्लिखित रह जाता था—इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं था।

प्रस्तुत अभिलेख उन विरल उदाहरणों में से है जिनमें किसी दानपत्र की प्रतिलिपि किसी स्तम्भ पर उत्कीर्ण कराई गई। इसमें आये कुछ पदनाम भी रोचक हैं। शौल्किक पदनाम अन्य अभिलेखों में विरलतः ही मिलता है। गौल्मिक की भी दानपत्रों में चर्चा अन्यत्र सम्भवतः कहीं नहीं मिलती। अगर यह अभिलेख पूर्णरूप से प्राप्त होता तो इससे गुप्तकालीन आर्थिक व्यवस्था पर रोचक प्रकाश मिलने की सम्भावना थी।

स्कन्दगुप्त का तिथिविहीन भितरी पाषाण-स्तम्भ लेख

लेख-परिचय—यह स्कन्दगुप्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। यह उत्तर-प्रदेश के गाजीपुर जिले की सैदपुर तहसील में इसी नाम के कस्बे से करीब ५ मील उत्तर-पूर्व की तरफ स्थित भितरी ग्राम से मिला है। यह इस गांव के ठीक बाहर स्थित भूरे बलुहे पत्थर के एक स्तम्भ की चौकोर आधारपीठ पर उत्कीर्ण है। इसकी सबसे निचली पंक्ति भूमि से कुछ ही इञ्च ऊपर है। यह २'४$\frac{३}{४}$"×६'२$\frac{१}{४}$" क्षेत्रफल में लिखा है। इसके अक्षर पत्थर पर ऋतुओं के प्रभाव, टूट-फूट तथा एक दरार पड़ जाने के कारण काफी क्षत हो गये हैं, फिर भी यह लगभग सम्पूर्णतः पठ्य है। कम से कम ऐतिहासिक महत्त्व का कोई अंश अपठ्य नहीं हो पाया है। लेख की **भाषा** संस्कृत है और यह कुल १९ पंक्तियों में लिखा है। छठी पंक्ति के मध्य तक का भाग गद्य में है और शेष भाग १२ श्लोकों के रूप में। इसकी **लिपि** उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी है और फ्लीट के अनुसार द्वितीय चन्द्रगुप्त के मथुरा-अभिलेख (फ्लीट सं० ४) की लिपि के सदृश है, केवल इसके अक्षरों में, जिनका आकार $\frac{१}{४}$" से $\frac{७}{१६}$" तक है, कुछ चौकोरपन अधिक है। जहां तक **वर्तनी** का सम्बन्ध है 'श' के पूर्व अनुस्वार के बजाय कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग (यथा, पंक्ति ७, १३, १४ में 'वङ्श' में), अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर 'क' का द्वित्व (यथा, पंक्ति ९ में 'विक्क्रमेण' तथा 'क्क्रमेण' में), अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर कभी-कभी 'त' का द्वित्व (यथा, पंक्ति ३ में 'पौत्त्रस्य' में लेकिन इसी पंक्ति में 'पुत्रस्य' तथा पंक्ति २ में 'पुत्रस्य' में नहीं) तथा 'अनुद्ध्यात' (पंक्ति ५) में अनुवर्ती 'य' के संयोग में 'ध' का द्वित्व उल्लेख्य विशेषताएं हैं।

प्रस्तुत अभिलेख **तिथिविहीन** है, लेकिन स्कन्दगुप्त के शासनकाल के प्रारम्भ में लिखवाया गया लगता है। यह प्रकृत्या वैष्णव अभिलेख है। इसका **उद्देश्य** प्रथम कुमारगुप्त की स्मृति में स्कन्दगुप्त द्वारा भगवान् शाङ्‌र्गी (=विष्णु) की प्रतिमा स्थापित करवाये जाने तथा उस गांव को, जहां यह स्तम्भ खड़ा है प्रतिमा के नाम पर दान दिये जाने की घोषणा को निबद्ध करना है।

भितरी-अभिलेख गद्य-पद्य मिश्रित है। इसमें प्रथम ६ पंक्तियां गद्यात्मक हैं। छठी पंक्ति के मध्य से पद्य भाग प्रारम्भ होता है। शेष लेख १२ **श्लोकों** के रूप में है जो इन **छन्दों** में लिखे हैं: १: पुष्पिताग्रा, २-६ : मालिनी, ७-८: शार्दूलविक्रीडित, ९-१२: अनुष्टुभ्।

अध्ययन-इतिहास तथा सन्दर्भ-ग्रन्थ—वह स्तम्भ जिस पर यह लेख उत्कीर्ण है १८३४ ई० में ट्रेगियर ने खोजा था। इसकी मिट्टी हटाने पर कनिंघम को यह लेख मिला और उसकी उपलब्धि की घोषणा १८३६ में सर्वप्रथम जेम्स प्रिन्सेप ने जे०बी०ए०एस०, ५ (पृ०६६१) में की। इसके बाद इसी जर्नल में १८३७ में डब्ल्यु०एच०मिल ने अपना पाठ, अनुवाद तथा एक शिलामुद्रण प्रकाशित किया (जि०६,पृ०१)। १८७१ में कनिंघम ने ए०एस०आई०, १, (पृ०९८) में इसका नया शिलामुद्रण तथा १८७५ में भाऊदाजी ने जे०बी०बी०आर०ए०एस०, १० (पृ० ५९) में इसका शिलामुद्रण, नवीन पाठ व अनुवाद प्रकाशित किया। १८८५ में जे०बी०बी०आर०ए०एस०, १६ (पृ० ३४९) में भगवान लाल इन्द्रजी

ने इसका पुनर्प्रकाशन किया। अन्त में फ्लीट ने इसे अपने 'कॉर्पस' में सम्पादित किया (सं० १३)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ:–सरकार, स०इ०, पृ०३२१-४; भाण्डारकर–सूची सं० १५४६; पाण्डेय, हि०लि०इ०, पृ०६६ अ०; दशरथ शर्मा, पी०आई०एच०सी०, १६, पृ० १४८–५०; जे०आई०एच०, ४३, भाग १, पृ०२१६–२५; जगन्नाथ अग्रवाल, जे०यू०पी०एच०एस०, १३, भाग २, पृ०६६; ए०बी०ओ०आर०आई०, ४८–४६, पृ० ३२५–७; आई०एच०क्यु०, २२, पृ० ११२; पी०आई०एच०सी०, १६४०, पृ० ६०; दिवेकर, ए०बी०ओ०आर०आई०, १६१६, पृ०६६ अ०; बैशम, बी०एस०ए०ओ०एस०, ४७, पृ० ३६८–६; छाबड़ा, जे०आई०एच०, ४१, पृ० ४५३ अ०; मिराशी फेलिसिटेशन वॉल्यूम, पृ० ३६२; साधुराम, जर्नल ऑव विश्वेश्वरानन्द इन्स्टीट्यूट, ४, पृ० ७४; उपेन्द्र ठाकुर, आई०एच०क्यु०, ३७, पृ० २७६–८६; भट्टसाली, आई०एच०क्यु०, २१, पृ०२४; वा० उपाध्याय, गु०अ०, पृ० १६१; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३१२-१७।

मूलपाठ

[सिद्धम् ।।*]

१. [सर्व्व]-रा[जो]च्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिल[ा]स्वादित-यशसो धनदवरुणेन्द्र[ा]न्तक-स[मस्य]

२. कृतान्त-परशोः न्यायागत[ा]नेक-गो-हिरण्य-[को]टि-प्रदस्य चिरो[त्स]न्नाश्वमेधाहर्त्तुर्महाराज-श्रीगुप्त-प्रपौत्र[स्य]

३. महाराज-श्रीघटोत्कच-पौत्रस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छिवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुम[ा]र[दे]व्या-

४. मुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महादेव्यान्दत्त-देव्यामुत्पन्नः स्वयं चाप्रतिरथः

५. परम-भागवतो महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम-

६. भागवतो महाराजाधिर[ा]ज-श्रीकुमारगुप्तस्तस्य
प्रथित-पृथुमति-स्वभाव-शक्तेः
पृथु-यशसः पृथिवी-पतेः पृथु-श्रीः (।*)

७. पि[तृ]-प[रि]गत-पादपद्म-वर्त्ती
प्रथित-यशाः पृथिवी-पतिःसुतो(ऽ*)यम्(।।*) १
जगति भु[ज]-बलाढ्यो गुप्त-वङ्शैक-वीरः
श
प्रथित-विपुल-

८. धामा नामतः स्कन्दगुप्तः (।*)
सुचरित-चरितानां येन वृत्तेन वृत्तं
न विहतममलात्मा तान-[धीदा?]-बिनीतः (।।*) २
विनय-

९. बल-सुनीतैर्व्विक्रमेण क्रमेण
प्रतिदिनमभियोगादीप्सितं येन ल[ब्ध्व]ा (।*)
स्वभिमत-विजिगीषा-प्रोद्यतानां परेषां
प्रणि-

१०. हित इव ले[भे] [स] विधानोपदेशः (।।*) ३
Imp
विचलित-कुल-लक्ष्मी-स्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितल-शयनीये येन नीता त्रियामा (।*)
समु-

1988
११. दित-ब[ल]-कोशा[न्पुष्यमित्रांश्च] [जि]त्वा
क्षितिप-चरणपीठे स्थापितो वाम-पादः (।।*) ४
प्रसभमनुप[मै]र्व्विध्वस्त-शस्त्र-प्रतापै-
र्विन[य-स]मु-

१२. [चितैश्च*] क्षान्ति-शौ[र्यै]र्न्निरूढम् (।*)
चरितममलकीर्त्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः (।।*) ५
85
पितरि दिवमुपे[ते]

१३. विप्लुतां वङ-लक्ष्मीं
श
IMP.
भुज-बल-विजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः (।*)
जितमिति परितोषान्मातरं सास्त्र नेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपे-

१४. [त]ः (।।*) ६
[स्वै] र्द[ण्डैः]⏑⏑—⏑—त्प्रचलितं वङं प्रतिष्ठाप्य यो
श
3
बाहुभ्यामवनिं विजित्य हि जितेष्वार्त्तेषु कृत्वा दयाम् (।*)
नोत्सिक्तो [न] च विस्मितः प्रतिदिनं

१५. संवर्द्धमान-द्युति-
र्गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दक-जनो(?) यं [प्रा] पयत्यार्य्यता [म्] (।।*) ७
Imp
हूणैर्य्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता
भीमावर्त्त-करस्य

१६. शत्रुषु शरा – —⏑———⏑—(।*)
————⏑⏑—⏑—विरचितं(?) प्रख्यापितो [दीप्तिदा?]
न द्यो(?)ति ⏑ न — ⏑ लक्ष्यत इव श्रोत्रेषु शार्ङ्ग-ध्वनिः (।।*) ८

१७. [स्व]-पितुः कीर्त्ति —* * * * *⏑——⏑ * (।*)
* * * * ⏑— * * * * * * ⏑ — ⏑ * (।।*) ९
[कर्त्तव्या?] प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्यशार्ङ्गिणः (।*)

१८. [सु]प्रतीतश्चकारेमां य[ावदाचन्द्र-तारकम् (।।*) १०
इह चैनं प्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठित-शासनः (।।*)
ग्राममेनं स विद[धे] पितुः पुण्याभिवृद्धये (।।*) ११

१९. अतो भगवतो मू्र्त्तिरियं यश्चात्र संस्थितः (?) (।*)
उभयं निर्द्दिदेशासौ पितुः पुण्याय पुण्य-धीरिति ।। १२

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ३ : 'लिच्छिवि' जाति के नाम की वर्तनी अन्य लेखों में प्रायः 'लिच्छवि' मिलती है। परन्तु 'लिच्छिवि' वर्तनी समुद्रगुप्त के गया-दानपत्र व 'मनुस्मृति' में उपलब्ध है। पंक्ति ६ : जगन्नाथ 'स्वभाव' को 'प्रभाव' पढ़ते हैं। पंक्ति ७ : 'बलाड्यो' को 'बलाढ्यो' पढ़ें तथा 'वङ्शैक' को 'वंशैक'। पंक्ति १० : जगन्नाथ 'लेभे' को 'लोके' पढ़ते हैं। पंक्ति ११ : दिवेकर ने 'पुष्यमित्रांश्च' स्थान पर 'युद्ध्यमित्रांश्च' पढ़ा है। भाण्डारकर तथा मिराशी उनसे सहमत हैं। परन्तु जगन्नाथ अग्रवाल का कहना है कि इस शब्द का प्रथम अक्षर 'पु' या 'यु' दोनों हो सकता है परन्तु दूसरा 'ध्य' नहीं हो सकता—'प्य' या 'ष्य' ही हो सकता है। इन दोनों को 'यु' के साथ जोड़ने पर कोई सार्थक शब्द नहीं बनता और 'पु' के साथ जोड़ने पर 'पुप्य' और 'पुष्य' शब्द बनते हैं। इनमें 'पुष्य' शब्द ही सार्थक है, अतएव ग्राह्य है। सोहोनी द्वारा सुझाया गया पाठ 'राष्ट्रमित्रांश्च च लब्ध्वा' तो नितान्त कल्पनाप्रसूत है। सरकार द्वारा प्रदत्त पाठ '०मैर्व्विब्धस्त' सम्भवतः मुद्रण की अशुद्धि है। पंक्ति १३ : 'वङ्श' को 'वंश' पढ़ें। पंक्ति १४ : 'वङ्श' को 'वंश' पढ़ें। पंक्ति १५ : 'वन्दकजनो' को जगन्नाथ अग्रवाल ने 'वृत्तकथनैः' पढ़ा है, साधुराम ने 'वृत्तकथनं' तथा छाबड़ा ने 'वन्दकजनैः'। 'प्रापयत्य' को जगन्नाथ अग्रवाल ने 'ह्लेपयत्य' पढ़ा है, छाबड़ा ने 'ख्यापयत्य'। ऊपर प्रदत्त पाठ फ्लीट व सरकार को मान्य है। पंक्ति १६ : फ्लीट ने 'लक्ष्यत' के पूर्व 'नभीषु' पढ़ा है तथा 'शार्ङ्ग' को 'गार्ङ्ग'। 'शार्ङ्ग' पाठ जगन्नाथ अग्रवाल का है। पंक्ति १८ : सरकार द्वारा प्रदत्त 'ज्ञासनः' पाठ सम्भवतः मुद्रण की अशुद्धि है। फ्लीट ने 'इमां' के उपरान्त 'यावदाच्चन्द्र तारकम्' शब्द पुनर्योजित किये हैं और भाण्डारकर ने 'कुमारस्वामी नामिकाम्' के पुनर्योजन का सुझाव रखा है।

शब्दार्थ

पंक्ति १-६

(कठिन शब्दों के लिये प्रथम कुमारगुप्त का बिलसड़-लेख देखें)।

पंक्ति ६-७ : श्लोक १

प्रथित = विख्यात, वरम, बढ़ा हुआ; पृथु = विपुल, तीक्ष्ण, प्रखर

पंक्ति ७-८ : श्लोक २

आढ्य = किसी वस्तु को प्रचुरता से रखने वाला (यथा धनाढ्य); प्रथित = फैली हुई; धाम्न = ऐश्वर्य; नामतः = नाम से; चरितानाम् = चरित ग्रन्थों का; वृत्त = आख्यान, इतिहास, सदाचरण; विहत = बाधक; अमलात्मा = निर्मल आत्मावाला; तान = इन्द्रियों का लक्ष्य, संगीत की तान; धीः = बुद्धि

पंक्ति ८-१० : श्लोक ३

सुनीति = सदाचरण, सद्व्यवहार; क्रमेण = क्रमशः; अभियोगात् = लगन द्वारा; ईप्सित = इच्छित,

अभीष्ट; प्रोद्यत = सक्रिय, उद्यमी; संविधानोपदेश = कार्यान्वित करने की शिक्षा; प्रणिहित = दृढ़तापूर्वक लागू किया; विजिगीषा = विजय की इच्छा; परेषां = विशिष्टतम

पंक्ति १० : श्लोक ४

स्तम्भनाय = स्थायी बनाने के लिये; उद्यत = संलग्न; शयनीय = शय्या; त्रियामा = रात; नीता = बिताई गई; क्षितिप = राजा

पंक्ति ११-१२ : श्लोक ५

प्रसभ = अत्यधिक, निश्चित रूप से; क्षान्ति = धैर्य, क्षमाशीलता; निरूढ़ = अन्तर्वर्ती, स्वाभाविक; गीयते = गाया जाता है; परितुष्ट = सन्तुष्ट; दिशि-दिशि = प्रत्येक दिशा में

पंक्ति १२-१३ : श्लोक ६

दिवं = स्वर्ग; उपेते = चले जाने पर; विप्लुतं = विचलित, विनष्ट; सास्र = अश्रुपूरित; परितोष = हर्ष, सन्तोष; हतरिपुः = वह जिसने शत्रुओं को हत कर दिया है

पंक्ति १४-१५ : श्लोक ७

दण्ड = सेना; आर्त्त = दुखी; उत्सिक्त = क्षुब्ध, हठीला; विस्मित = आश्चर्यचकित, गर्वीला; द्युति = तेज प्रताप; वन्दकजन = चारण और भाट

पंक्ति १५-१६ : श्लोक ८

समागत = साथ आना, आ मिलना; आवर्तः = भंवर; भीम = भयंकर; शाङ्‌र्ग = धनुष

पंक्ति १७-१८ : श्लोक १०

कर्त्तव्या = करणीय है (प्रसंग से 'बनवाना कर्त्तव्य है'); प्रतीतः = ज्ञात, प्रसिद्ध, यशस्वी; सुप्रतीतः = परमयशस्वी; शार्ङ्गिणः = शाङ्‌र्गी की (= विष्णु की); यावत् = जब तक; क्वचित् = किसी प्रकार की, कोई

पंक्ति १८ : श्लोक ११

इह = यहां; प्रतिष्ठाप्य = प्रतिष्ठापित करके; सुप्रतिष्ठित शासनः = वह जिसके आदेश भली-भांति पालित होते हैं; विदधे = दान दिया; पुण्याभिवृद्ध्ये = पुण्य की अभिवृद्धि के लिये

पंक्ति १८ : श्लोक १२

अतः = अतएव; यश्चात्र संस्थितः = और वह जो यहां स्थित है; पुण्य धीः = पवित्र मति वाला; उभयं निर्दिदेशासौ = इन दोनों को ही निर्दिष्ट कर दिया है।

अनुवाद

पं० १ महाराज श्रीगुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री (प्रथम) चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छिवि-दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त (हुए) जो समस्त राजाओं का उच्छेद करने वाले, पृथिवी पर अप्रतिरथ (= विष्णु) (के समान विचरण करने वाले), चारों समुद्रों के जल को अपने यश का आस्वादन कराने वाले, कुबेर, वरुण, इन्द्र और अन्तक के समान, (क्रोधित होने पर) कृतान्त (= यम) के परशु के सदृश, न्यायपूर्वक अर्जित

अनेक करोड़ गौओं एवं सुवर्ण का दान देने वाले (तथा) चिरोत्सन्न प्रकार का अश्वमेध करने वाले (थे।) उनके पुत्र, उनके द्वारा (अपने उत्तराधिकारी के रूप में) स्वीकृत, महादेवी दत्तदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न, साक्षात् अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान), परमभागवत महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त (थे। उन) के पुत्र, उनके चरणों का ध्यान करने वाले, महादेवी ध्रुवदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न परमभागवत महाराजाधिराज श्री (प्रथम) कुमारगुप्त (हुए) उनका—

पं० ६ (पिछले वाक्य से सम्बन्ध : उन कुमारगुप्त का), जो अपनी प्रखर मति, स्वभाव और शक्ति के लिए विख्यात, परम यशस्वी और पृथिवी के स्वामी थे, यह पुत्र है जो अपने यश के लिये विख्यात, विपुल श्री वाला, पृथिवी का अधिपति और पिता के चरण कमलों में सदा लीन रहने वाला है; —

पं० ७ जो जगत् में अपने भुजबल का विशेष रूप से धनी है; जो गुप्त वंश का अप्रतिम वीर है; जिसका विपुल ऐश्वर्य चारों ओर फैला हुआ है; जो नाम से स्कन्दगुप्त (कहलाता) है; जिसके सदाचरण (अर्थात् सुकर्मों) से चरित ग्रन्थों के सुन्दर चरितों के आख्यान (अर्थात् चरित ग्रन्थों में वर्णित सत्पुरुषों के सुन्दर आचरणों की कथाएं) विहित नहीं होते; जो अमलात्मा है; जो इन्द्रियों के लक्ष्य को जान लेने के कारण विनीत है; —

पं० ८ जिसने प्रतिदिन लगनपूर्वक विनय, बल, सदाचरण और विक्रम द्वारा अपने अभीष्ट को क्रमशः प्राप्त कर लिया है; (जिसने प्राप्त साधनों को) व्यवहार में लाने की शिक्षा को निश्चयपूर्वक विजय की इच्छा लेकर आए हुए विशिष्टतम शत्रुओं के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक लागू किया है; —

पं० १० (अपने) वंश की विचलित लक्ष्मी को पुनः स्थापित करने के लिए उद्यत जिस (=स्कन्दगुप्त) ने भूमितल रूपी शय्या पर एक पूरी रात बिता दी; (जिसने) समुदित बल कोश वाले पुष्यमित्रों को जीत कर (उस जाति के) नरेश को पादपीठ बनाकर उस पर अपना बायां पैर स्थापित किया;

पं० ११ जिस विमल कीर्त्ति वाले राजा के शुभ्र चरित को, जो उसमें स्वाभाविक रूप से है लेकिन (उसकी) समुचित विनय, धैर्य और शौर्य तथा (शत्रुओं के) शस्त्रप्रताप को विध्वस्त करने से (बढ़ गया है), परितुष्ट मनुष्यों द्वारा (यहां तक कि) बालकों तक (के द्वारा भी) गाया जाता है; —

पं० १२ वह, जिसने पिता के दिवंगत हो जाने पर, अपने भुजबल से शत्रुओं को जीता और वंश की विचलित लक्ष्मी को पुनः स्थापित किया, और तब 'जीत हो गई है' ऐसा कहते हुए (अपनी) मां के पास पहुँचा जिसकी आंखों में हर्ष के अश्रु थे, वैसे ही जैसे रिपुओं को हत करके कृष्ण (अपनी माता) देवकी के पास गए थे;

पं० १४ वह, जिसने अपनी सेनाओं द्वारा········अपने विचलित वंश को प्रतिष्ठापित किया; अपनी दोनों भुजाओं से पृथिवी को जीतकर विजित दुखियों पर दया दिखाई (लेकिन इससे) न तो हठीला बना और न गर्वीला (यद्यपि) उसका प्रताप दिन प्रतिदिन बढ़ता

जा रहा है; जिसे चारणों और भाटों ने गीतों और स्तुतियों द्वारा आर्यता दिलाई (अर्थात् अपने गीतों में उसकी महत्ता का गुणगान किया); –

पं० १५ जिसकी दोनों बाहुओं से (उस समय) धरा प्रकम्पित हो उठी जब वह, जो शत्रुओं में भयंकर भंवर (जैसी खलबली) पैदा करने वाला है, हूणों का (युद्धक्षेत्र में) सामना करने लगा········ वाण········ घोषित किया········ दीप्तिदान?········ मानों ········(उनके) कानों में धनुष की टंकार सुनाई पड़ रही हो।

पं० १७ अपने पिता की कीर्त्ति··············

पं० १७ जब तक चांद तारे विद्यमान हैं (तब तक स्थायी रह सके ऐसी) कोई प्रतिमा उस शाङ्‌र्गी (=विष्णु) की बनवाई जानी चाहिए, (ऐसा सोचकर) उस परम यशस्वी (=स्कन्दगुप्त) ने इस प्रतिमा को बनवाया।

पं० १८ और इसको प्रतिष्ठापित करके उसने, जिसके आदेश भली-भांति पालित होते हैं (अर्थात् स्कन्दगुप्त ने), अपने पिता की पुण्य की अभिवृद्धि के लिए यह ग्राम दान में दिया।

पं० १९ अतएव भगवान् की यह प्रतिमा तथा वह जो यहां स्थित है इन दोनों को ही उस पवित्र मति वाले (=स्कन्दगुप्त) ने पिता के पुण्य (की अभिवृद्धि) के निमित्त निर्दिष्ट कर दिया है।

व्याख्या

पंक्ति १–६

(१) वंशावली में प्रदत्त महत्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या के लिये द्र०, प्रथम कुमारगुप्त के बिलसड़-लेख में वंशावली वाली पंक्तियों पर प्रदत्त टिप्पणियां।

(२) **तत्परिगृहीत**—अभिलेखों में प्रायः यह पद उन राजाओं के लिये प्रयुक्त मिलता है जिन्हें उनके पिता अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करते थे। तु०, प्रभावतिगुप्ता के रिथपुर-दानपत्र में इसका समुद्रगुप्त के लिये प्रयोग। लेकिन इसका कोई संवैधानिक महत्त्व था, ऐसा मानना उचित नहीं होगा। उल्टे कहीं-कहीं इसके प्रयोग का यह भी अर्थ माना जा सकता है कि मनोनीत उत्तराधिकारी का सिंहासन पर इसलिये अधिकार नहीं था क्योंकि वह अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र था वरन् इसलिये अधिकार था क्योंकि उसके पिता ने उसे अपने ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार छीन कर अपना उत्तराधिकारी बनाया था। गुप्त अभिलेखों में इसका प्रयोग द्वितीय चन्द्रगुप्त के लिये होने से रामगुप्त की ऐतिहासिकता असिद्ध नहीं होती, क्योंकि समुद्रगुप्त द्वारा द्वितीय चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किये जाने के बावजूद रामगुप्त इस निर्णय के विरुद्ध विद्रोह कर सकता था। जब राष्ट्रकूट-नरेश ध्रुव धारावर्ष ने अपने बड़े लड़के स्तम्भ के स्थान पर तीसरे लड़के तृतीय गोविन्द को अपना उत्तराधिकारी बनाया था तो स्तम्भ ने विद्रोह कर दिया था (अल्तेकर, राष्ट्रकूटज़ एण्ड देयर टाइम्स्, पृ० ५६ अ०)। स्वयं यह तथ्य भी कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को समुद्रगुप्त द्वारा 'परिगृहीत' बताया गया है, इस बात का संकेत माना जाना चाहिये कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का सिंहासन पर अधिकार ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते नहीं वरन् अपने पिता द्वारा मनोनीत किये जाने के कारण था।

श्लोक १

(१) जगन्नाथ ने इस श्लोक में 'स्वभाव' को 'प्रभाव' पढ़कर यहां 'प्रभावशक्ति' का, जो राजाओं की तीन शक्तियों में एक मानी जाती है, उल्लेख माना है।

(२) **पितृ-परिगत-पाद-पद्मवर्ती**—इस श्लोक के पूर्व स्कन्दगुप्त का कुमारगुप्त के साथ सम्बन्ध बताते समय 'तत्पादानुध्यात' वाक्यांश का प्रयोग नहीं है। इसके कारण सिनहा (डेक्लाइन ऑव दि किंगडम ऑव मगध, पृ० २३ अ०) और पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० ३१७ अ०) आदि का कहना है कि स्कन्दगुप्त अपने पिता का वैध उत्तराधिकारी नहीं था। लेकिन 'तत्पादानुध्यात' पद का कोई संवैधानिक महत्त्व नहीं था। इसका प्रयोग सामान्य पदाधिकारी और अधीन राजा भी अपने स्वामी के प्रति निष्ठाभाव दिखलाने के लिये करते थे (दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति ३१–३३ की टि० ३)। पी० एल० गुप्त इस पद का संवैधानिक महत्त्व कुछ स्थलों पर तो मानते हैं (गु० सा०, पृ० ३२१) परन्तु अन्यत्र नहीं मानते (वही, पृ० १६३, २६७)। दूसरे, भितरी-लेख में ही इस पद का प्रयोग न घटोत्कच के लिये हुआ है और न प्रथम चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के लिये जबकि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि कम से कम समुद्रगुप्त अपने पिता का मनोनीत उत्तराधिकारी था। हमारे विचार से भितरी-लेख क्योंकि प्रथम कुमारगुप्त के उल्लेख के बाद पद्यमय हो जाता है इसलिये इसके लेखक ने 'पादानुध्यात' पद को पद्य में 'पितृ-परिगत-पादपद्म-वर्ती' रूप में अभिव्यक्त कर दिया है। तु०, शक संवत् ७८८ शिरुर-दानपत्र में आया 'अमोघवर्षदेव पादपंकज-भ्रमर' वाक्यांश (फ्लीट, कॉर्पस, पृ० ५५, टि० १)। पी० एल० गुप्त का कहना है कि 'पितृ-परिगत-पादपद्म-वर्ती,' पद से मात्र यह आशय निकलता है कि वह स्वयं अपने पिता का आदर करता था। परन्तु 'पादानुध्यात' पद से भी तो ठीक यही भाव प्रकट होता है। इससे भी तो यह निश्चित संकेत नहीं मिलता कि प्रथम कुमारगुप्त का स्कन्दगुप्त पर विशेष स्नेह था।

(३) **स्कन्दगुप्त की माता का अनुल्लेख**—भितरी-लेख के इस अंश में स्कन्दगुप्त की माता का नाम नहीं दिया गया है। इसके आधार पर मजूमदार, सिनहा और गुप्त आदि का निष्कर्ष है कि न तो स्कन्दगुप्त की माता 'महादेवी' थी और न स्कन्दगुप्त अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र था। इसलिए वह अपने पिता का वैध उत्तराधिकारी भी नहीं था। इनमें ज्यादातर विद्वान् यह मानते हैं कि कुमारगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र पुरुगुप्त था जिसकी माता अनन्तदेवी 'महादेवी' अर्थात् अग्रमहिषी थी। पी० एल० गुप्त का तो यहां तक कहना है कि स्कन्दगुप्त की माता साधारण रानी तक नहीं थी, प्रथम कुमारगुप्त की कोई रखैल थी। लेकिन (१) हम यह निश्चित रूप से नहीं जानते कि गुप्त वंश में ज्येष्ठ पुत्र किसे माना जाता था—ज्येष्ठा रानी के गर्भ से उत्पन्न प्रथम पुत्र को अथवा उम्र में ज्येष्ठ पुत्र को चाहे उसकी माता अग्रमहिषी न होकर छोटी रानी ही क्यों न रही हो। (२) 'महादेवी' उपाधि से किसी रानी का अग्रमहिषी होना प्रमाणित नहीं होता। यह उपाधि एक ही राजा की एक से अधिक रानियों के लिये प्रयुक्त मिलती है (यथा, द्वितीय चन्द्रगुप्त की ध्रुवदेवी और कुबेरनागा नामक रानियों के लिये) और अधीन राजाओं की रानियों के लिये भी (यथा, उच्चकल्प अभिलेखों में)। विस्तृत विवेचन के लिये दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति २८–३० पर टि० ६। (३) अभिलेखों की वंशावलियों में हरेक राजा की रानी का नाम देने की प्रथा नहीं थी। भितरी-लेख में ही घटोत्कच की पत्नी का नाम नहीं मिलता और मधुबन-और बांसखेड़ा लेखों में हर्ष की माता का। इसी प्रकार बिहार-पाषाण-लेख में, जो पुरुगुप्त या उसके किसी उत्तराधिकारी का है, पुरुगुप्त की माता का नाम नहीं दिया गया है। क्या इस अनुल्लेख के आधार पर मजूमदार व पी०एल०

गुप्त महाशय पुरुगुप्त को भी प्रथम कुमारगुप्त की किसी रखैल का पुत्र मानेंगे ? (४) भितरी-लेख के छठे श्लोक में स्कन्दगुप्त अपनी माता का बड़े गर्व से उल्लेख करता है। (५) इस लेख में स्कन्दगुप्त की माता के अनुल्लेख का कारण इस स्थल पर लेख का पद्यमय हो जाना है।

श्लोक २

(१) **गुप्तवंशैकवीरः** —इस पद में स्कन्दगुप्त की वीरता की प्रशंसा है न कि उसको गुप्त वंश का सदस्य सिद्ध करने का प्रयास। इससे मिलते-जुलते 'भुवमेकवीरः' पद का प्रयोग 'रघुवंश' में निषध के लिए हुआ है (१८.४)।

(२) फ्लीट ने 'सुचरित चरितानां येन वृत्तेन वृतं न विहतम्' का अर्थ 'वह जिसके सदाचरण से सदाचरण करने वालों के व्यवहार में बाधा नहीं आती है' किया है। लेकिन हमारा उपर्युक्त अनुवाद स्पष्टतः अधिक सही है।

(३) **'तान धीदा विनीतः'** का अर्थ फ्लीट ने 'संगीत की तानों को समझने के लिये प्रशिक्षित' किया है। हमने ऊपर सरकार द्वारा प्रस्तावित अर्थ दिया है। भाण्डारकर (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३१६) ने भी 'तान' तथा 'धीदा' को संगीत से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द मानकर यहां स्कन्दगुप्त की संगीत रुचि की ओर संकेत बताया है।

श्लोक ३

(१) **विवक्रमेण वक्रमेण**—यह भी सम्भव है कि यहां स्कन्दगुप्त की विक्रम (ादित्य) और क्रम (ादित्य) उपाधियों की ओर संकेत हो। उस अवस्था में इस पंक्ति का अर्थ होगा 'जिस विक्रम और क्रम ने प्रतिदिन लगन पूर्वक विनय, दण्ड और सदाचरण द्वारा अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लिया है'।

(२) जगन्नाथ इस श्लोक में 'लेभे' के स्थान पर 'लोके' पढ़ कर इसका अर्थ कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं।

श्लोक ४

(१) **पुष्यमित्रों की पहिचान**—जैसा कि ऊपर पाठ-टिप्पणी में कहा गया है, दिवेकर यहां सामान्य शत्रुओं (युध्यमित्रों) का उल्लेख मानते हैं। भाण्डारकर, मिराशी तथा मजूमदार (को० हि० इ०, ३, पृ० ७०) उनसे सहमत हैं। परन्तु हमें फ्लीट का पाठ सही लगता है। पुष्यमित्रों को स्मिथ ने उत्तर का निवासी बताया है, जायसबाल ने पश्चिमी मालवा का, हॉर्नले ने उनकी पहिचान वलभी के मैत्रकों से की है, बनर्जी ने उन्हें हूणों की प्रथम लहर माना है और भट्टसाली ने कामरूप के पुष्यवर्मा का वंशज। सु० चट्टोपाध्याय ने उन्हें नागवंशीय सिद्ध करने की चेष्टा की है और के० डी० बाजपेयी ने पुष्यमित्र शुंग का वंशज (संदर्भों के लिए दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० २०६)। सर्वोत्तम सुझाव फ्लीट (आई० ए०, १८८६, पृ० २२८) का है जिसे रायचौधुरी व जगन्नाथ आदि ने भी माना है। इसके अनुसार भितरी-लेख के पुष्यमित्र उन पुष्यमित्रों (पुष्पमित्रों या पटुमित्रों) से अभिन्न थे जो 'विष्णु पुराण' के अनुसार मेकला में रहते थे। मेकला दक्षिण कोसल के उत्तर में स्थित अमरकण्टक के निकटवर्ती प्रदेश (आधुनिक मध्यप्रदेश में नर्मदा का दक्षिण तटवर्ती भूखण्ड) को कहते थे। जैसा कि इस सन्दर्भ में हमने अन्यत्र ध्यान दिलाया है (गोयल, हि०इ०गु०, पृ० २७४-७५; प्रा०भा०रा०इ०, पृ० २०६-१०) पांचवीं शती ई० में यहां पाण्डव वंशी राजा भरतबल का शासन था। इसके वंश की स्थापना सम्भवतः समुद्रगुप्त की कृपा से हुई थी (दे०, पीछे, प्रयाग-प्रशस्ति, पंक्ति २२, टि० २) लेकिन उसके बम्हनी-दान-

पत्रानुसार वह किसी 'नरेन्द्र' का प्रभुत्त्व मानता था। इस 'नरेन्द्र' की पहिचान नरेन्द्रसेन वाकाटक (लग० ४४०-६० ई०) से अनायास की जा सकती है जिसके आदेशों को, बालाघाट-दानपत्रानुसार कोसल, मेकला और मालव जनपद के स्वामी भी मानते थे (कोसलामेकलामालवाधिपति भिरभ्यर्चितशासनस्य)। क्योंकि उसने मालव जनपद को, जो गुप्त साम्राज्य का एक प्रान्त था, कुछ समय के लिये, स्पष्टत: स्कन्दगुप्त के विपत्तिकाल में, अपने अधीन किया था, इसलिये यह सम्भव है कि उसने मेकला के निवासी पुष्यमित्रों के पाण्डव वंशी नरेश भरतबल को भी अपने अधीन करके गुप्तों पर आक्रमण करने भेजा हो। वाकाटकों की सहायता पा जाने से भरतबल की शक्ति काफी बढ़ गई होगी इसीलिए भितरी-लेख के लेखक को पुष्यमित्र 'समुदितबलकोश' जान पड़े होंगे। पी० एल० गुप्त के अनुसार प्रथम कुमारगुप्त और नरेन्द्रसेन कदापि समसामयिक नहीं हो सकते थे क्योंकि द्वितीय चन्द्रगुप्त नरेन्द्रसेन का तो परनाना था परन्तु प्रथम कुमारगुप्त का मात्र पिता था (गु० सा०, पृ० ३०५, टि०१)। परन्तु इस प्रकार पीढ़ी-गणना गलत होती है। १९७८ में मेरे भाञ्जे का पुत्र एक विवाहित युवक और एक पुत्र का पिता था और मेरे पिताश्री, अर्थात् उसके परनाना उस समय जीवित थे (जबकि नरेन्द्रसेन के शासनकाल में द्वितीय चन्द्रगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी)। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण अनायास बताये जा सकते हैं।

श्लोक ५

(१) **आकुमारं मनुष्यैः** —तु०, 'रघुवंश' जिसमें कहा गया है कि 'धान के खेतों की रखवाली करने वाली स्त्रियां ईख की छाया में बैठकर प्रजापालक रघु की बचपन से तब तक की कथाओं के गीत बना-बना कर गाती थीं :

इक्षुच्छाय निषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्धातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ।।
—रघुवंश ४. २० ।

दशरथ शर्मा (पी०आई०एच०सी०, १९५६, पृ० १४८ अ०) का विचार है कि इस पद का अर्थ 'सबने यहां तक कि कुमार (गुप्त) ने भी' करना चाहिए। लेकिन इसके ठीक अगले श्लोक में ही कुमारगुप्त की मृत्यु की चर्चा होने से यह सुझाव दुर्बल हो जाता है। स्वयं दशरथ शर्मा ने मिहिरभोज की ग्वालियर-प्रशस्ति के ११वें श्लोक में प्रयुक्त 'आकुमारम्' शब्द का अर्थ 'बच्चों तक' किया है (राजस्थान थ्रू द एजिज़, पृ० १३५, टि०२)। वस्तुतः 'आकुमारं मनुष्यैः' का वही अर्थ है जो हिन्दी में 'आबालवृद्ध' का होता है। भाण्डारकर (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३१७) का भी यही मत है।

श्लोक ६

(१) इस श्लोक की तुलना स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख के तीसरे श्लोक से की जा सकती है। वंश-लक्ष्मी विचलित होने की चर्चा भितरी-लेख के ४थे और ७वें श्लोकों में भी है।

(२) **देवकीमभ्युपेतः** —सिवेल और रायचौधुरी के अनुसार स्वयं स्कन्दगुप्त की माता का नाम भी देवकी रहा होगा। लेकिन इस श्लोक में स्कन्दगुप्त और उसकी मां की तुलना कृष्ण और उसकी मां देवकी से की गई है, स्कन्दगुप्त की माता का नाम देवकी नहीं बताया गया है। इस उपमा के आधार पर एन०एन०दासगुप्त ने कल्पना की है कि जिस प्रकार कृष्ण को अपने मामा की शत्रुता का सामना करना पड़ा था, उसी प्रकार स्कन्दगुप्त को भी अपनी मां के पितृकुल के लोगों का विरोध सहना पड़ा होगा। इस पितृकुल की पहिचान उन्होंने पुष्यमित्रों से की है (बी०सी०लाहा वॉल्यूम, १, पृ० ६१७)। सरकार (स०इ०, पृ० ३२३, टि० २) का भी अनुमान है कि स्कन्दगुप्त को अपने मामाओं

से युद्ध करना पड़ा था। हमारे विचार से अगर स्कन्दगुप्त के विरोधियों में उसके मामा को भी सम्मिलित माना जाय तो उसकी पहिचान अनन्तदेवी के भाई अनन्तसेन से की जा सकती है जो पुरुगुप्त का मामा होने के कारण स्कन्दगुप्त का भी रिश्ते में मामा ही था (दे०, पुरुगुप्त का बिहार पाषाण-स्तम्भ लेख का महत्त्व)। भाण्डारकर (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३१७,टि० १) भी यहां स्कन्दगुप्त की मां के भाई की ओर संकेत मानते हैं। लेकिन किसी उपमा के साथ इतनी खींचतान उचित नहीं होती। 'कथासरित्सागर' में प्रदत्त विक्रमादित्य-कथा के आधार पर सिनहा ने स्कन्दगुप्त की माता का नाम सौम्यदर्शना बताया है। एक अन्य सुझावानुसार स्कन्दगुप्त प्रथम कुमारगुप्त की महादेवी और पुरुगुप्त की माता अनन्तदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था (जे०बी०आर०एस०, पृ० १८२ अ०)। ये सभी सुझाव सुनिश्चित नहीं कहे जा सकते।

(३) इस श्लोक में स्कन्दगुप्त ने अपनी माता का उल्लेख जिस तरह गर्वपूर्वक किया है वह इस मान्यता के लिये घातक है कि वह कुमारगुप्त की एक उपपत्नी मात्र थी।

(४) बहुत से विद्वान् इस श्लोक में गृह-युद्ध का वर्णन मानते हैं, परन्तु हमें इसमें गृह-युद्ध का संकेत तक नहीं लगता।

(५) यह सर्वथा सम्भव है कि स्कन्दगुप्त की सुवर्ण मुद्राओं के तथाकथित 'राजा-रानी प्रकार' अथवा 'राजा और लक्ष्मी प्रकार' में वस्तुतः स्कन्दगुप्त और उसकी माता की भेंट का दृश्य उत्कीर्ण हो। इसमें स्कन्दगुप्त को धनुष-बाण लिये दिखाया गया है और एक नारी को, जो उसकी माता हो सकती है, इन मुद्राओं के कुछ नमूनों में अभयमुद्रा या आशीर्वाद मुद्रा में। नारी मूर्त्ति का एक वेणीधारिणी होना उसके वैधव्य की ओर संकेत माना जा सकता है। अगर यह सुझाव सही है तो इन मुद्राओं को 'राजा और राजमाता प्रकार' कहा जा सकता है (जे०एन०एस०आई०, २२, पृ० २६४ अ०)।

श्लोक ७

(१) **'गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्य्यताम्'** से बैशम के अनुसार यह संकेतित है कि स्कन्दगुप्त 'आर्य' न होकर कुमारगुप्त की शूद्रा उपपत्नी का पुत्र था। जगन्नाथ अग्रवाल ने इस पद का पाठ सुधार कर इसका अर्थ किया है: 'हूम हिज़ इनेट नोबिलिटी काज़िज़ टु ब्लश बाई रीज़न ऑव दि नेरेशन ऑव एक्स्प्लायट्स बाई मीन्स ऑव सांग्स् एण्ड यूलोजीज़'। तु० रघुवंश (१८.१७)। साधूराम जगन्नाथ अग्रवाल से बहुत कुछ सहमत हैं। डी०आर० भाण्डारकर ने इस पद को सुधार कर यह अर्थ निकाला है 'हूम नेरेशन ऑव हिज़ मोड ऑव लाइफ व्हेदर विद सांग्स् ऑर पेनेगाइरिक्स इज़ रेंजिग टु दि डिग्निटी ऑव एन आर्य'। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर भितरी-लेख के कवि की काव्य रचना में ही कुछ दोष है।

श्लोक ८

(१) **हूण**—हूणों ने लग० ३७० ई० में गन्धार पर आक्रमण किया था लेकिन उस समय उनको मेहरौली-लेख के 'चन्द्र' ने सप्तसिन्धु पार करके रोक दिया था (दे०, मेहरौली-लेख, श्लोक १, टि० ४)। ये हूण वही हैं जिनकी चर्चा पश्चिमी इतिहास में 'श्वेत हूण' (ह्वाइट हून्स अथवा हेफ्थेलाइट्स्) नाम से मिलती है। ४०० ई० के लगभग पुरुषपुर (पेशावर) की यात्रा करते समय फा-शिएन ने अपने आगमन से पूर्व उस नगर पर हुए हूण आक्रमण की चर्चा की है (गाइल्स, ट्रेवेल्स ऑव फा-शिएन, पृ० १४)। फिर भी पता नहीं क्यों आधुनिक इतिहासकार बराबर यह दोहराते रहते हैं कि भारत पर

प्रथम हूण आक्रमण स्कन्दगुप्त के काल में हुआ। लेकिन इतना तय है कि स्कन्दगुप्त के काल में हुआ हूण आक्रमण बहुत भयंकर था। ठीक इसी समय (४५४ ई० में) हूणों ने सासानियों को भी बुरी तरह परास्त किया था।

(२) भितरी-लेख के हूण जूनागढ़-प्रशस्ति के म्लेच्छों से अभिन्न माने जाते हैं। दे०, जूनागढ़-प्रशस्ति के श्लोक ४ की टि० २।

(३) स्कन्दगुप्त के हूण युद्ध की गूंज साहित्य में मिलवी है। 'कथासरित्सागर' के अनुसार 'महेन्द्रादित्य' के पुत्र 'विक्रमादित्य' (=कुमारगुप्त महेन्द्रादितय और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य) ने म्लेच्छों को परास्त किया था। 'चन्द्रगर्भपरिपृच्छा' के अनुसार महेन्द्रसेन (जिसकी पहिचान जायसवाल ने कुमारगुप्त से की है) के पुत्र ने कुछ बर्बर जातियों को हराया था। 'चान्द्र' व्याकरण में एक वाक्य मिलता है 'अजयज्जर्तो हूणान्'। यहां 'जर्तो' का मूलपाठ 'गुप्तो' (=स्कन्दगुप्त) रहा हो सकता है।

(४) स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख के अनुसार स्कन्दगुप्त ने ४५५ ई० तक म्लेच्छों अर्थात् हूणों को परास्त कर दिया था। फिर भी पता नहीं क्यों मजूमदार ने कैसे लिख दिया है कि स्कन्दगुप्त ने हूणों को ४६० ई० के लगभग हराया था (क्लासिकल एज, पृ० ३५)। इस तिथि का कहौम-लेख इसे स्कन्दगुप्त के शासन का 'शान्त वर्ष' कहता है।

(५) कुछ विद्वानों का विचार है कि हूणों के विरुद्ध युद्ध गंगा के तट पर कहीं लड़ा गया था। इस श्लोक में आया 'गांग' शब्द (फ्लीट का पाठ) इस मत का आधार है। परन्तु (१) इस स्थल पर लेख का शुद्ध पाठ 'शार्ङ्ग' (=धनुष) है। (२) अगर इस स्थल पर लेख का शुद्ध पाठ गांग है तब भी मानना चाहिये कि यहां गंगा की ध्वनि का उल्लेख कवि ने उपमा देने मात्र के लिए किया है। डॉ० उ० ना० राय ने एक स्थल पर (गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ० ६२१, टि० ३) लिखा है कि 'हाल ही में मेरे पास सम्प्रेषित पत्र (दिनांक २८ जनवरी १९७१) में दिनेशचन्द्र सरकार ने सुझाव रखा है कि 'गाङ्गध्वनिः' के स्थान पर 'शार्ङ्ग ध्वनिः' पाठ समीचीन है।' पता नहीं राय साहब १९७१ के इस पत्र का हवाला क्यों देते हैं जबकि सरकार महोदय के 'सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स्' के १९६५ के संस्करण में ही यह पाठ प्रकाशित हो चुका था। उसके भी पूर्व १९४० में जगन्नाथ अग्रवाल भी 'शार्ङ्ग ध्वनि' पाठ सुझा चुके थे (जे०यू०पी०एच०एस०, १३, पृ० ९९)। 'शार्ङ्ग ध्वनिः' पाठ का सही अर्थ भी राय महोदय नहीं निकाल पाए हैं क्योंकि वह इससे हूण-युद्ध के 'उपरान्त' 'हर्षोद्रेक' में किये गए 'शंख भेरी एवं तुरही आदि' के घोष की ओर संकेत मानते हैं।

श्लोक ११

(१) 'इसको प्रतिष्ठापित' करने से आशय 'स्तम्भ' अथवा मूर्त्ति दोनों में से किसी एक की स्थापना से माना जा सकता है। लेकिन पिछले श्लोक को ध्यान में रखते हुए प्रतिमा की स्थापना की ओर संकेत मानना अधिक उचित होगा। के०जी० गोस्वामी (ए स्टडी ऑव वैष्णविज्म, पृ० २२) का विचार है कि स्कन्दगुप्त ने इस प्रतिमा के लिये एक मन्दिर बनवाया होगा। भाण्डारकर ने यहां 'कुमारस्वामी' नाम से विष्णु प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख माना है।

श्लोक १२

(१) **'संस्थित'** से ग्राम की ओर भी संकेत हो सकता है और स्तम्भ की ओर भी। ग्राम की ओर संकेत मानना अधिक उचित है।

भितरी-लेख का महत्व

अनेक समस्याओं से परिपूर्ण अभिलेख—स्कन्दगुप्त का भितरी-लेख उन अभिलेखों में से है जिनके अनेक अंशों के सही अर्थ के विषय में गहरा वाद-विवाद रहा है। बहुत से विद्वान् इस अभिलेख के आधार पर स्कन्दगुप्त को अपने पिता का वैध उत्तराधिकारी नहीं मानते। वे इसमें उसके पिता के साथ सम्बन्ध बताने वाले अंश में 'तत्पादानुध्यात' पद का प्रयोग न होना एवं वंशावली वाले भाग में उसकी माता का अनुल्लेख इसका प्रमाण मानते हैं। कुछ इतिहासकारों ने ७वें श्लोक के अन्तिम पद के आधार पर भी स्कन्दगुप्त को कुमारगुप्त की शूद्रा पत्नी का पुत्र माना है। अन्य विद्वान् इन तथ्यों की व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं। हमने इन समस्याओं का विस्तार से अध्ययन ऊपर प्रदत्त टिप्पणियों में किया है।

राजनीतिक महत्व—इस अभिलेख का विशेष महत्त्व इसलिये भी है क्योंकि यह स्कन्दगुप्त की प्रारम्भिक कठिनाइयों का वर्णन करता है। यद्यपि यह तिथिविहीन है, परन्तु इसमें उसकी कठिनाइयों का वर्णन करते समय आए 'पितरिदिवमुपेतेविप्लुतां वंश लक्ष्मी' वाक्य से निश्चित है कि इसमें वर्णित कठिनाइयां उसको अपने शासन के प्रारम्भ में ही उठानी पड़ी थीं। यह तथ्य जूनागढ़-लेख से और स्पष्ट हो जाता है (दे०, जूनागढ़-लेख का महत्त्व)। इस प्रकार भितरी-और जूनागढ़-लेख परस्पर पूरक हैं। मजूमदार का यह मत सर्वथा अग्राह्य है कि प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु होने तक साम्राज्य में सर्वथा शान्ति थी (कां० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० ६६ अ०)। स्कन्दगुप्त की कठिनाइयों में प्रथम थी पुष्यमित्रों का आक्रमण (विस्तृत अध्ययन के लिये दे०, श्लोक ४ की टिप्पणी)। दूसरी कठिनाई हूणों का आक्रमण थी। भितरी-लेख भारत का प्रथम अभिलेख है जो हूणों का इस नाम से उल्लेख करता है। इस दृष्टि से इसका भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्व है (दे० पीछे, श्लोक ८ की टिप्पणियां)। बहुत से विद्वान् इस लेख के ६ठे श्लोक के आधार पर मानते हैं कि स्कन्दगुप्त को अपने भाइयों से भी संघर्ष करना पड़ा था जिसमें उसके मामा या मामाओं ने उसके प्रतिस्पर्धियों को सहायता दी थी, लेकिन हमें इस श्लोक में गृहयुद्ध का उल्लेख हुआ नहीं लगता। जो भी रहा हो, स्कन्दगुप्त की ये विपत्तियां निश्चय ही अतीव भयंकर थीं क्योंकि इस लेख में तीन स्थान पर—४थे, ६ठे व ७वें श्लोकों में —इसका लेखक गुप्त वंश का लक्ष्मी के 'विचलित,' 'विप्लुत' अथवा 'प्रचलित' होने की बात कहता है और ४थे श्लोक में बताता है कि स्कन्दगुप्त को वंश लक्ष्मी की पुनर्स्थापना का प्रयास करते समय एक सम्पूर्ण रात भूमितल को शय्या बना कर व्यतीत करनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त पुष्यमित्रों के 'समुदित बलकोश' का वर्णन तथा हूण युद्ध की भयकरता का शब्द-चित्र भी संकेत देते हैं कि स्कन्दगुप्त को असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

स्कन्दगुप्त का व्यक्तित्व—भितरी-लेख स्कन्दगुप्त के चरित्र के कुछ पक्षों का अच्छा चित्र उपस्थित करता है। पहला पक्ष है उसकी शूरता और पराक्रम। दूसरे श्लोक में उसे 'जगतिभुजबलाढ्य:' तथा 'गुप्तवंशकैवीर:' कहा गया है। पांचवें श्लोक में बताया गया है कि उसने शत्रुओं के शस्त्र प्रताप को विध्वस्त कर दिया था। सातवें श्लोक के अनुसार उसने अपने भुजबल से शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। लेकिन उसकी शूरता और युद्धप्रियता सबसे अधिक उजागर हुई है पुष्यमित्रों और हूणों के मान-मर्दन-वर्णन में। प्रथम अवसर पर उसने एक सम्पूर्ण रात पृथिवी पर सोकर बिताई जिससे स्पष्ट है कि उस समय वह सेना का सञ्चालन व्यक्तिगत रूप से कर रहा था। दूसरे अवसर पर जब वह हूणों के विरुद्ध रणरत हुआ तो, कवि की भाषा में, उसकी दोनों भुजाओं से पृथिवी प्रकम्पित हो उठी

और उसके बाणों से शत्रु सैन्य में भयंकर भंवर जैसी उथल-पुथल उत्पन्न हो गई। स्कन्दगुप्त की इस वीरता ने उसे जनता का, विशेषत: सेना का, प्रिय निश्चय ही बना दिया होगा।

भितरी-लेख में स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व का जो अन्य पक्ष उभरा है वह है उसकी सच्चरित्रता। दूसरे ही श्लोक में कहा गया है कि उसके सुकर्मों से चरित ग्रन्थों में वर्णित सत्पुरुषों का सदाचरण विहत नहीं होता था (दे०, श्लोक २, टि० २) अर्थात् उसका चरित्र उतना ही उत्कृष्ट था जितना चरित्र ग्रन्थों में वर्णित महापुरुषों का। इसी श्लोक में वह अमलात्मा, इन्द्रियों का लक्ष्य जान लेने के कारण विनीत, अगले श्लोक में सुनीति तथा विनय-युक्त, ५वें श्लोक में अमल चरित वाला, ७वें में विजित दुखियों पर दया दिखाने वाला (तु०, समुद्रगुप्त की विजितों के प्रति दया भावना), और अन्तिम श्लोक में पुण्यमति वाला कहा गया है। स्पष्ट है कि भितरी-लेख के लेखक को स्कन्दगुप्त के चरित्र की दो विशेषताओं—शूरता व चारित्रिक विमलता—ने सर्वाधिक प्रभावित किया था। यही बात हम जूनागढ़-लेख में भी पाते हैं।

साहित्यिक महत्व—साहित्यिक दृष्टि से भितरी-अभिलेख मध्यम कोटि का कहा जा सकता है। इसका लेखक बहुत प्रतिभाशाली नहीं था, वह किसी व्यक्ति या वस्तु का समग्र शब्द-चित्र नहीं खींच पाया है। परन्तु यत्र-तत्र उसका वर्णन सामान्य से श्रेष्ठतर जरूर हो गया है। उसने चार प्रकार के छन्द रचे हैं—पुष्पिताग्रा, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित तथा अनुष्टुभ्। सभी छन्द सरल भाषा में लिखे गये हैं। कवि को स्पष्टतः अनुप्रास प्रिय था। प्रथम श्लोक इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। दूसरे (सुचरित चरितानां येन वृत्तेन वृत्तं) तथा बारहवें (पितुः पुण्याय पुण्यधीरिति) श्लोकों में भी अनुप्रास की अच्छी छटा है। रूपक का प्रयोग चौथे श्लोक ('क्षितितल शयनीये येन नीता त्रियामा' तथा 'क्षितिप चरणपीठे स्थापितो वामपादः') में सफलतापूर्वक किया गया है। पांचवें श्लोक में 'चरित' का वर्ण 'शुभ्र' बताते समय वह एतद्विषयक साहित्यिक परम्परा से अपना परिचय प्रकट करता है। छठे श्लोक में स्कन्दगुप्त के द्वारा अपनी विजय की सूचना माता को दिये जाने का उल्लेख करते समय उनकी तुलना कृष्ण और देवकी से करके लेखक एक सुन्दर उपमा देता है। आठवें श्लोक में उसने स्कन्दगुप्त के हूणों से संघर्ष का वर्णन सम्भवतः रौद्र रस में किया था, परन्तु अभाग्यवश यह श्लोक बुरी तरह खण्डित हो गया है। इन सब तथ्यों से लगता है कि कवि ने यह लेख काफी प्रयास करके रचा था।

स्कन्दगुप्त (ज्ञात तिथियाँ ४५५ से ४६७ ई०) का प्रथम-जूनागढ़-शिलालेख

गुप्त संवत् १३६ व १३७ (=४५५ एवं ४५६ ई०)

लेखों का प्राप्ति-स्थल—स्कन्दगुप्त का प्रथम जूनागढ़-शिलालेख इस सम्राट् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेख है और गुप्त अभिलेखों में अत्यन्त विशिष्ट स्थान रखता है। जूनागढ़ आधुनिक गुजरात राज्य में स्थित है। प्रथम रुद्रदामा के शिलालेख में इसका प्राचीन नाम 'गिरिनगर' दिया गया है। यह नाम बाद में स्वयं उस पर्वत के लिए प्रयुक्त होने लगा और बिगड़ कर 'गिरनार' हो गया। इससे संकेतित है कि प्राचीन गिरिनगर आधुनिक गिरनार पर्वत के निकट स्थित था, वहां नहीं जहां आजकल जूनागढ़ अवस्थित है। यह अभिलेख तथा स्कन्दगुप्त का इसी स्थान से प्राप्त दूसरा लेख जूनागढ़ नगर से करीब एक मील पूर्व की ओर स्थित उस शिला पर १०′×७′३″ क्षेत्रफल में खुदे हैं, जिस पर अशोक के चौदह शिला प्रज्ञापनों का एक 'सेट' तथा प्रथम रुद्रदामा का अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। इन लेखों की प्रथम २१ पंक्तियां बहुत टूटी-फूटी नहीं है यद्यपि अक्षरों के गहराई से न खोदे जाने, शिला के धरातल के ऊबड़-खाबड़ होने तथा शिला-धरातल में बीच-बीच में खाली जगह छोड़ दिए जाने के कारण इनको पढ़ने में बहुत परेशानी होती है। २२वीं पंक्ति से ऐसा अंश आता है जो शिलाखण्ड टूटने से काफी अपठ्य हो गया है। यह स्थिति दूसरे लेख की अन्तिम पंक्ति तक बनी रहती है।

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ से वस्तुतः दो लेख मिले हैं—जूनागढ़-प्रशस्ति एक नहीं वस्तुतः दो लेख हैं। इन दोनों में कुल मिलाकर २९ पंक्तियां हैं—२३ प्रथम लेख में और ६ दूसरे लेख में। फ्लीट ने इन दोनों को गु०स० १३६, १३७ और १३८ के एक लेख के दो भाग माना था और सरकार आदि ने उनका अनुसरण किया है। लेकिन हमारे विचार से ये दोनों भाग दो परस्पर पृथक्-पृथक् लेख हैं। इन दोनों अभिलेखों को एक मानने के पक्ष में केवल यह तर्क दिया जा सकता है कि इनके अक्षरों की बनावट एक-सी है। लेकिन ये लेख क्योंकि उसी शिला पर एक ही अधिकारी द्वारा मात्र एक वर्ष के अन्तर से खुदवाये गये थे, इसलिये इनको उत्कीर्ण करने वाला एक ही व्यक्ति रहा होगा – इससे इनको प्रकृत्या दो अभिलेख मानने में कोई लिप्यात्मक बाधा नहीं आती। प्रथम लेख का उद्देश्य गु० स० १३६ में सुदर्शन झील के बांध टूटने और गु० स० १३७ में सुराष्ट्र के गोप्ता पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा, जिनका इसमें विस्तार से वर्णन है, इसके सुधरवाए जाने की चर्चा करना था तथा दूसरे का चक्रपालित द्वारा गु०स० १३८ में भगवान् चक्रभृत (=विष्णु) के मन्दिर के निर्माण का। उद्देश्य-भेद के अतिरिक्त इन दोनों लेखों को पृथक् मानने के पक्ष में हम दो अन्य तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। (१) प्रथम लेख के उपरान्त २३वीं पंक्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है : 'इति सुदर्शन-तटाक संस्कार ग्रन्थ-रचना समाप्ता'। इससे स्पष्ट है कि दूसरा लेख इससे सर्वथा पृथक् था। (२) यद्यपि दूसरा लेख प्रथम से बहुत छोटा और संक्षिप्त है एवं अनेकत्र खण्डित हो गया है तथापि इससे इतना स्पष्ट है कि प्रथम लेख की भांति स्कन्दगुप्त की कीर्त्ति से प्रारम्भ होने के बाद इसमें भी पर्णदत्त का गोप्ता और

सेनानायक के रूप में वर्णन किया गया था और तदनन्तर चक्रपालित के गुणों का। अगर यह लेख प्रथम अभिलेख का ही अंश होता तो इस प्रकार पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। सम्भवतः प्रथम लेख की तिथि के अगले ही वर्ष लिखवाए जाने के कारण इसे प्रथम लेख के नीचे खुदवा दिया गया था। इसलिए इन दोनों के एक होने का भ्रम उत्पन्न हो गया है।

लिपि, भाषा, छन्द और वर्तनी—जूनागढ़-लेख (प्रथम) संस्कृत भाषा में है। प्रथम शब्द 'सिद्धम्' और अन्तिम वाक्य को छोड़कर यह सम्पूर्णतः पद्य में लिखित है। इसमें कुल ३९ श्लोक हैं जिनके छन्द निम्नलिखित हैं—१,३, ३८,३९ : मालिनी; ४ : आर्या; ५,१३-१५, १७-२०, ३२-३७ : उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा); ६-१२, २१-२५, २७ : इन्द्रवज्रा; १६ : अर्द्धसममालभारिणी अथवा वैतालीय औपच्छन्दसिक; २६, २८-३१ : वंशस्थ। इसकी लिपि दक्षिण भारतीय ब्राह्मी है और प्रथम रुद्रदामा के लेख की लिपि से पर्याप्त विकसित है। फ्लीट ने इसे '५वीं शती की सौराष्ट्री लिपि' कहा है। इसके अक्षरों का आकार $\frac{५}{१६}$" से लेकर १$\frac{१}{२}$" तक है। संयुक्ताक्षरों में अधोलिखित 'य' पूर्णरूप में लिखा गया है, संक्षिप्त रूप में नहीं (यथा, पंक्ति ६ में 'व्यसनी' में)। वर्तनी की निम्नलिखित विशेषतायें उल्लेख्य हैं : (१) पं० २४ में 'वङ्श' में अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य अनुनासिक का प्रयोग; (२) अनुवर्ती 'य' का संयोग होने पर 'ध' का द्वित्व (यथा, पं० ५ में 'बुद्ध्या' में); (३) पूर्वगामी 'र' होने पर व्यञ्जनों का ऐच्छिक द्वित्व (यथा, पं० १ में 'आर्त्थं' तथा पं० ३ में 'दर्प्पो' में द्वित्व है किन्तु पं० २ में 'वीर्यो' तथा पं० ३ में 'पर्यन्त' में नहीं।

उद्देश्य और तिथियां—यह लेख, जो किसी अज्ञात कवि की रचना है, विष्णु की स्तुति से प्रारम्भ होता है लेकिन प्रकृत्या यह एक धर्मनिरपेक्ष अभिलेख है जिसका उद्देश्य स्कन्दगुप्त के गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा सुदर्शन झील के बांध के पुनर्निर्माण कराये जाने का वर्णन करना है। इस प्रसंग में इसमें स्कन्दगुप्त की उपलब्धियों व पर्णदत्त तथा चक्रपालित की योग्यताओं का भी वर्णन किया गया है। स्मरणीय है कि स्कन्दगुप्त का द्वितीय जूनागढ़-लेख प्रकृत्या एक वैष्णव अभिलेख है जिसका उद्देश्य चक्रपालित द्वारा भगवान् चक्रभृत् (=विष्णु) के मन्दिर का निर्माण करवाये जाने का उल्लेख करना है।

इस लेख में दो तिथियां दी गई हैं : १३६ गु०स० (=४५५ ई०) जब सुदर्शन झील का बांध टूटा, और १३७ गु०स० (=४५६ ई०) जब चक्रपालित ने यह बांध पुनः बंधवाया।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस अभिलेख की उपलब्धि सर्वप्रथम १८३८ ई० में प्रिन्सेप ने घोषित की (जर्नल ऑव बंगाल एशियाटिक सोसायटी, ८, पृ० ३४७ अ०)। १८४४ ई० में जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १, पृ० १४८ पर इसका शिलामुद्रण प्रकाशित हुआ। १८६२ में भाऊदाजी ने उसी पत्रिका के ७वें अंक में इसका अपना पाठ और अनुवाद छापा, १८७६ में भाऊदाजी के पाठ का एगलिंग द्वारा संशोधित संस्करण शिलामुद्रण सहित 'आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया' के भाग २ में (पृ० १३४) छापा गया और १८८८ में इसे फ्लीट ने अपने 'कॉर्पस' में प्रकाशित किया (स० १४)। तब से इस पर बहुत से शोध-निबन्ध लिखे जा चुके हैं और बहुत से ग्रन्थों में इसे सम्पादित किया जा चुका है :—भाण्डारकर की सूची, स० १२७६, जगन्नाथ, जे०यू०पी०एच०एस०, १३, १९४०, भाग २, पृ० ९८; पी०आई०एच०सी०, ४(१९४०), पृ० ५९ अ०, ब्युलर, वियना ओरियण्टल जर्नल, ५, १८९१, पृ० २२० अ०; दिस्कल्कर, सलेक्शन्स स० ४; दि०च० सरकार, स०इ०, पृ० ३०७ अ०; शर्मा, दशरथ, जे०जी०आर०आई०, ६, (१९४८-४९), पृ० ३०३ अ०; पाण्डेय, रा०ब०, हि०लि०इ०, पृ० ९२ अ०; वा० उपाध्याय, गु०अ०, पृ० १५४ अ०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० २९६-३०५।

मूलपाठ

१. सिद्धम् ॥

श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां
त्रिदशपति-सुखार्त्थं यो बलेराजहार ।
कमल-निलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः

२. स जयति विजितार्त्तिर्विष्णुरत्यन्त-जिष्णुः ॥ १
तदनु जयति शश्वत् श्री-परिक्षिप्त-वक्षाः
स्वभुज-जनित-वीर्यो राजराजाधिराजः ।
नरपति-

३. भुजगानां मानदर्प्पोत्फणानां
प्रतिकृति-गरुडा [ज्ञां] निर्व्विषी [ं] चावकर्त्ता ॥ २
नृपति-गुण-निकेतः स्कन्दगुप्तः पृथुःश्रीः
चतुरु [दधि-जल]ान्तां स्फीत-पर्यन्त-देशाम् ।

४. अवनिमवनतारिर्यः चकारात्म-संस्थां
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्म-शक्त्या ॥ ३
अपि च जित[मे]व तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवो (ऽ*) पि (।*)
आमूल-भग्न-दर्प्पा नि [वसन्तो] [म्लेच्छ-देशेषु] ॥ ४

५. क्रमेण बुद्धया निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष-हेतून् ।
व्यपेत्य सर्व्वान्मनुजेन्द्र-पुत्रां (त्राँ)-
ल्लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार ॥ ५
तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चि-
द्धर्म्मादपेतो मनुजः प्रजासु ।

६. आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो
दण्डेन वा यो भृश-पीडितः स्यात् ॥ ६
एवं स जित्वा पृथिवीं समग्रां
भग्नाग्र-दर्पा [न्]द्विषतश्च कृत्वा ।
सर्व्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्
संचिन्तया [मा]स बहु-प्रकारम् ॥ ७
स्यात्को (ऽ*)नुरूपो

७. मतिमान्विनि(नी)तो
मेधा-स्मृतिभ्यामनपेत-भावः ।
सत्यार्जवौदार्य-नयोपपन्नो
माधुर्य-दाक्षिण्य-यशोन्वितश्च ॥ ८
भक्तो(ऽ*)नुरक्तो नृ-[विशे]ष-युक्तः

सर्व्वोपधाभिश्च विशुद्ध-बुद्धिः ।
आनृण्य-भावोपगतान्तरात्माः (मा)
सर्व्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः ॥ ९

८. न्यायार्जने (ऽ*)र्थस्य च कः समर्थः
स्यादर्जितस्याप्यथ रक्षणे च ।
गोपायितस्यापि [च] वृद्धि-हेतौ
वृद्धस्य पात्र-प्रतिपादनाय ॥ १०
सर्व्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु
यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान् ।
आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो
भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥ ११

९. एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन
नैकानहो-रात्र-गणान्स्व-मत्या ।
यः संनियुक्तो(ऽ*)र्थनया कथंचित्
सम्यक्सुराष्ट्रावनि-पालनाय ॥ १२
नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां
स्वस्था यथा नोन्मनसो बभूवु[ः] (।*)
पूर्व्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं
नियुज्य राजा धृतिम्नांस्तथाभूत् ।(।*) १३

१०. तस्यात्मजो ह्यात्मज-भाव युक्तो
द्विधेव चात्मात्म-वशेन नीतः ।
सर्व्वात्मनात्मेव च रक्षणीयो
नित्यात्मवानात्मज-कान्त-रूपः ।(।*) १४
रूपानुरूपैर्ललितैर्विचित्रैः
नि(र्नि)त्य-प्रमोदान्वित-सर्वभावः ।
प्रबुद्ध-पद्माकर-पद्मवक्त्रो
नृणां शरण्यः शरणागतानाम् । ।*) १५

११. अभवद्भुवि चक्रपालितो (ऽ*) साविति नाम्ना प्रथितः प्रियो जनस्य ।
स्वगुणैरनुपस्कृतैरुदा[त्तै]ः पितरं यश्च विशेषयांचकार । (।*) १६
क्षमा प्रभुत्वं विनयो नयश्च
शौर्यं विना शौर्य-मह[ा]र्च्चनं च ।
दाक्ष्यं दमो दानमदीनता च
दाक्षिण्यमानृण्यम[शू]न्यता च ।(।*) १७
सौदर्यमार्येतर-निग्रहश्च
अविस्मयो धैर्य्यमुदीर्णता च ।

१२. इत्येवमेते(ऽ*)तिशयेन यस्मि-

न्नविप्रवासेन गुणा वसन्ति । (।*) १८
न विद्यते(ऽ*)सौ सकले(ऽ*)पि लोके
यत्रोपमा तस्य गुणैः क्रियेत
स एव कार्त्स्न्येन गुणान्वितानां
बभूव नृणामुपमान-भूतः ।(।*) १९
इत्येवमेतानधिकानतो(ऽ*)न्या-
न्गुणान्प[री]क्ष्य स्वयमेव पित्रा ।
यः संनियुक्तो नगरस्य रक्षां
विशिष्य पूर्वान्प्रचकार सम्यक् ।(।*) २०

१३. आश्रित्य वि(वी)र्यं [सुभु] द्वयस्य
स्वस्यैव नान्यस्य नरस्य दर्पः(र्पम्) ।
नोद्वेजयामास च कंचिदेव-
मस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टाः (ष्टान्) ।(।*) २१
विस्त्रंभमल्पेन शशाम यो(ऽ*)स्मिन्
कालेन लोकेषु स-नागरेषु ।
यो लालयामास च पौरवर्गान्
[स्वस्येव*] पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान् ।(।*) २२
संरंजयां च प्रकृतीर्बभूव
पूर्व्व-स्मिताभाषण-मान-दानैः ।

१४. निर्यन्त्रणान्योन्य-गृह-प्रवेशै(:*)
संवर्द्धित-प्रीति-गृहोपचारैः ।(:*) २३
ब्रह्मण्य-भावेन परेण युक्तः
[श]क्तः शुचिर्दानपरो यथावत् ।
प्राप्यान्स काले विषयान्सिषेवे
धर्मार्थयोश्चा(प्य*)विरोधनेन ।(।*) २४
[यो—⌣——⌣⌣ पर्णदत्ता]-
त्स न्यायवानत्र किमस्ति चित्रं(त्रम्) ।
मुक्ता-कलापाम्बुज-पद्म-शीता॰
चन्द्रात्किमुष्णं भविता कदाचित् ।(।*) २५

१५. अथ क्रमेणाम्बुद-काल आग[ते]
[नि]दाघ-कालं प्रविदार्य तोयदैः ।
ववर्ष तोयं बहु संततं चिरं
सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात् ।(।*) २६
संवत्सराणामधिके शते तु
त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव ।

रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे
गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय ।(।*) २७

१६. इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गता [:*]
पलाशिनीयं सिकता-विलासिनी ।
समुद्र-कान्ताः चिर-बन्धनोषिताः
पुनः पतिं शास्त्र-यथोचितं ययुः ।(।*) २८
अवेक्ष्य वर्षागमजं महोद्भ्रमं
महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना ।
अनेक-तीरान्तज-पुष्प-शोभितो

१७. नदीमयो हस्त इव प्रसारितः ।(।*) २९
विषाद्य[मानाः] [खलु] [सर्वतो] [ज]ना[:]
कथं-कथं कार्यमिति प्रवादिनः ।
मिथो हि पूर्वापर-रात्रमुत्थिता
विचिन्तयां चापि बभूवुरुत्सुकाः । ।*) ३०
अपीह लोके सकले सुदर्शनं
पुमां हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात् ।

१८. भवेन्नु सो(ऽ*)म्भोनिधि-तुल्य-दर्शनं
सुदर्शन —⏑⏑—⏑—⏑— (।।*) ३१
⏑—⏑———⏑ वणे स भूत्वा
पितुः परां भक्तिमपि प्रदर्श्य ।
धर्मं पुरो-धाय शुभानुबन्धं
राज्ञो हितार्थं नगरस्य चैव ।(।*) ३२
संवत्सराणामधिके शते तु

१९. त्रिंशद्भिरन्यैरपि सप्तभिश्च ।
[गुप्त-प्रकाले*] [नय*]-शास्त्र-वेत्ता
[विश्वे](ऽ*)प्यनुज्ञात-महाप्रभावः ।(।*) ३३
आज्य-प्रणामैः विबुधानथेष्ट्वा
धनैर्द्विजातीनपि तर्पयित्वा ।
पौरांस्तथाभ्यर्च्य यथार्हमानैः
भृत्यांश्च पूज्यान्सुहृदश्च दानैः ।(।*) ३४

२०. ग्रैष्मस्य मासस्य तु पूर्व-प[क्षे]
⏑—⏑———[प्र]थमे(ऽ*)ह्निसम्यक् ।
मास-द्वयेनादरवान्स भूत्वा
धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम् ।(।*) ३५
आयामतो हस्त-शतं समग्रं
विस्तारतः षष्टिरथापि चाष्टौ ।

२१. उत्सेधतो(ऽ*)न्यत् पुरुषाणि [सप्त?]
⏑—⏑— [ह]स्त-शत-द्वयस्य । (।*) ३६
बबन्ध यत्नान्महता नृदेवा-
न[भ्यर्च्य?] सम्यग्धटितोपलेन ।
अ-जाति-दुष्टम्प्रथितं तटाकं
सुदर्शनं शाश्वत-कल्प-कालम् ।(।*) ३७

२२. अपि च सुदृढ-सेसु-प्रान्त(?)-विन्यस्त-शोभ-
रथचरणसमाह्व क्रौंचहंसास-धूतम् ।
विमल-सलिल——⏑——⏑——
भुवि त ⏑⏑⏑———द[ने](ऽ*)र्कः शशी च ।(।*) ३८

२३. नगरमपि च भूयाद्वृद्धिमत्पौर-जुष्टं
द्विजबहुशतगीत-ब्रह्म-निर्नष्ट-पापं(पम्) ।
शतमपि च समानामीति-दुर्भिक्ष-[मुक्तं*]
⏑⏑⏑⏑⏑⏑——–⏑——⏑—— [॥*] ३९

[इति] [सुद]र्शन-तटाक-संस्कार ग्रन्थ-रचना [स]माप्ता ॥

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति २ : 'शश्वत् श्री' को 'शश्वच्छ्री' पढ़ें। पंक्ति ३ : 'श्रीःचतु०' को 'श्रीश्चतु०' पढ़ें। पंक्ति ४: '०र्यः चकारा०' को '०र्यश्चकारा०' पढ़ें। 'निवसन्तो' पाठ का सुझाव के० बी० पाठक का है। फ्लीट और सरकार 'निर्वचना' पाठ सुझाते हैं। 'अपि' के स्थान पर फ्लीट ने 'आपि' पढ़ा है। पंक्ति ६ : फ्लीट ने 'दण्डेन' के स्थान पर 'दण्ड' पढ़ा है और सुधार कर 'दण्ड्यो' पढ़ने का सुझाव दिया है। 'दण्डेन' पाठ जगन्नाथ ने सुझाया है। पंक्ति १० : 'चित्रैःनित्य' को 'चित्रैर्नित्य' पढ़ें। पंक्ति ११ : फ्लीट ने 'दाक्ष्यं' को 'वाक्यं' पढ़ा है। पंक्ति १३ : सरकार ने 'सुभुज०' को 'स्वभुज०' पढ़ा है। पंक्ति १३ : 'पौरवर्गान्' के बाद में मिट गये शब्द को जगन्नाथ अग्रवाल ने 'पितेव' सुझाया है। पंक्ति १४ : २५ वें श्लोक के प्रथम पाद को सरकार ने इस प्रकार अनुमानित किया है 'यो (ऽ) जायतास्मात् खलु पर्णदत्तात्'। पंक्ति १५ : फ्लीट ने 'अथ' को 'अथा' पढ़ा है। 'गुप्त प्रकाले०' को भाऊदाजी 'गुप्तस्य-कालाद्' पढ़ते हैं। 'विधाय' में 'धा' तथा 'य' के मध्य अन्तराल है। पंक्ति १६ : 'कान्ताःचिर' को 'कान्ताश्चिर' पढ़ें। पंक्ति १९ : 'गुप्त प्रकाले नयशास्त्र वेत्ता' को फ्लीट ने 'प्र········शास्त्र चेत्ता' पढ़ा है। 'प्रणामैःवि०' को 'प्रणामैर्वि०' पढ़ें तथा '०मानैःभृ०' को '०मानैर्भृ०'।

शब्दार्थ

श्लोक १

श्रियं=लक्ष्मी को; अभिमत=सम्भ्रान्त, स्वीकृत; अभिमतभोग्या=सम्भ्रान्त जनों द्वारा उपभोग्या, अथवा भोग्या रूप में स्वीकृत; नैक=अनेक (१२वें श्लोक में इसका पुनः प्रयोग है); त्रिदशपति=इन्द्र; अपनीता=अपहृत; बलेराजहार=राजा बलि से छीन लिया; निलयन=निवास स्थान; कमलनिलयनायाः लक्ष्म्याः =पद्मवासा लक्ष्मी के; जिष्णु=विजेता; अर्त्ति=दुख; विजितार्त्ति=दुखों का निवारण करने वाले (=अर्त्तिहरः)।

श्लोक २

तदनु = तदनन्तर; शश्वत् = सदैव; परिक्षिप्त = आलिंगित; उत्फण = फन उठाए हुए; प्रतिकृति = प्रतिकार, स्थापन्न; प्रतिनिधि, मूर्त्ति; अवकर्तन = काट देना, (अव + कृत); अवकर्त्ता = काट देने वाला, नष्ट करने वाला; निर्विषी = विष दूर करने वाली एक दवा ।

श्लोक ३

निकेतः = आगार; पृथु = विपुल; आत्मशक्त्या = अपनी शक्ति से; स्फीत = समृद्ध; आत्म संस्था = अपने अधीन; अवनिं = पृथिवी को; अवनतारिः = जिसके शत्रु अवनत कर दिए गए हैं; पर्यन्त = तक विस्तृत, घिरी हुई; जलान्त = जल तक, तट; सुरसखित्वं = देवताओं का साथ।

श्लोक ४

अपिच = और भी, इसके अलावा; प्रथयन्ति = घोषित करते हैं, प्रशंसा पूर्वक कहते हैं; निवसन्तः = रहने वाले; जितमेव तेन = विजय उसे ही मिली है ।

श्लोक ५

क्रमेण = क्रम से, क्रमानुसार; बुद्ध्या = बुद्धि द्वारा; प्रधार्य = मान कर; कृतस्नान् = समस्त; हेतु = कारण; व्यपेत्य = छोड़कर, त्याग करके; वरयांचकार = पति वरण किया ।

श्लोक ६

धर्मादपेतः = धर्मच्युत; आर्त्त = दुखी; कदर्य = लोभी; भृश = अत्यधिक; नैव कश्चित् = कोई भी नहीं है; प्रजासु = प्रजा में; दण्डेन = दण्ड द्वारा ।

श्लोक ७

द्विषत् = शत्रु; अग्रदर्प = अत्यधिक गर्वीला; विधाय = नियुक्त करके; गोप्तृन् = गवर्नर; संचिन्तयामास = सोचा; देश = प्रान्त ।

श्लोक ८

स्यात् = है; कः = कौन; अनुरूप = योग्य अनुकूल; विनीतः = नम्र; मेधा = बुद्धि; अनपेत् भावः = विहीन न होना, चयुत न होना अर्थात् युक्त होना; आर्जव = सरलता, ईमानदारी; नय = नीति, उपपन्नः = युक्त; दाक्षिण्य = सज्जनाता; अन्वितः = युक्त ।

श्लोक ९

नृविशेषयुक्त = पुरुषोचित गुणों से युक्त अथवा विशिष्ट सहयोगियों से युक्त; भक्त = स्वामिभक्त; अनुरक्त = अनुरागी; उपधा = परीक्षा; प्रवृत्त = लगा हुआ; अनृण = ऋण रहित; उपगत = लगी हुई ।

श्लोक १०

गोपायित = रक्षित; वृद्धस्व = बढ़ाया हुआ; प्रतिपादन = देना; पात्र = सत्पात्र; स्यात् = है।

श्लोक ११

संहत = वर्ग, समूह; मे = मेरे; प्रशिष्यान्निखलान् सुराष्ट्रान् = समस्त सुराष्ट्र को योग्यता पूर्वक शासित कर सकेगा; आं = अहा ! ; ज्ञातं = समझ गया; उद्वहने = वहन करने में ।

श्लोक १२

एवं=इस प्रकार; विनिश्चित्य=विचार पूर्वक निश्चय कर लिए जाने के बाद; नैक=अनेक; स्वमत्या=अपनी बुद्धि से; सन्नियुक्त=नियुक्त; अहोरात्र=दिनरात; अर्थना=अनुरोध; अर्थनया=अनुरोध द्वारा; कथंचित=किसी प्रकार।

श्लोक १३

नियुज्य=नियुक्त करके; प्रतीच्यां=पश्चिमी दिशा में; पूर्वेतरस्यां=पश्चिमी दिशा में; यथा=जैसे, उन्मनस=चिन्तित; धृतिमान्=निश्चिन्त; तथा=वैसे।

श्लोक १४

आत्मज=पुत्र; आत्मजभावयुक्तः=अपने गुणों अर्थात् पुत्रोचित भाव से युक्त; सर्वात्मन्=सब आत्माओं में व्याप्त प्रभु; आत्मेव=अपनी ही आत्मा के समान; आत्मवशेन=आत्म संयम द्वारा; नीतः=ले जाया गया, प्रशिक्षित; आत्मवशेन नीतः=जितेन्द्रिय; द्विघेव=दूसरी ही; द्विघेव च आत्मा=दूसरी आत्मा के समान, प्रतिरूपवत्; कान्त=सुन्दर; नित्य आत्मवान्=सदैव जितेन्द्रिय; आत्मज=नैसर्गिक, कामदेव।

श्लोक १५

पद्माकर=बहुत से कमलों का समूह अथवा ऐसा सरोवर जिसमें कमलों की बहुतायत हो; प्रबुद्ध=खिले हुए, विकसित; वक्तृ=मुख; शरण्य=आश्रय स्थल; सर्व=विविध।

श्लोक १६

असौ नाम्ना=इस नाम का; भुवि=संसार में; पितरं विशेषयां चकार=पिता को विशेष किया अर्थात् आगे बढ़ाया अर्थात् गौरव प्रदान किया; उपस्कृत=कलंकित; अनुपस्कृत=निष्कलंक।

श्लोक १७

नय=व्यवहार; अर्चन=प्रशंसा; दाक्ष्य=दक्षता; दम=संयम; अदीनता=अदैन्य, विशाल हृदयता; दाक्षिण्य=सौजन्य; अनृण्यम्=ऋणों से मुक्ति; अशून्यता=शून्यबुद्धिता से मुक्ति।

श्लोक १८

आर्येतर=अश्रेष्ठ, अनुचित; विस्मय=गर्व, सन्देह; उदीर्णता=उन्नतिशीलता; विप्रवास=अलग या दूर रहना।

श्लोक १९

कात्स्न्र्येन=समस्तरूपेण; उपमानभूतः=उपमानस्वरूप; अन्वितः=युक्त; गुणान्वित=गुणी।

श्लोक २०

इत्येवमेतान् गुणान=उपर्युक्त इन्हीं गुणों को; अधिकानतो ऽन्यान्गुणान्=इनसे भी उत्कृष्ट गुणों को; विशिष्य=विशेषता; पूर्वान्=पूर्वगामी जन।

श्लोक २१

वीर्य=शौर्य; दर्प=गर्व; उद्वेजन=चिन्ता, उद्वेग; उद्वेजयामास=उद्विग्न नहीं किया; शशास=दण्ड दिया; अस्मिन्पुरे=इस नगर में।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

श्लोक २२

विस्रंभ = विश्वास; नागर = नगरवासी; लोक = सामान्य जन; पौरवर्ग = नागरिक; लालयामास = लालन-पालन किया।

लोक २३

प्रकृति = प्रजा, उच्च पदाधिकारी; संरंजन = प्रमोद; आभाषण = वार्तालाप; यन्त्र = रोकना, बाधा; निर्यन्त्र = निर्बाध; गृहोपचार = पारिवारिक उत्सव।

श्लोक २४

ब्रह्मण्य भाव = पवित्र भावना, धर्म भावना, सात्विक भाव; शल्कः = प्रियंवद, प्रिय बोलने वाला।

श्लोक २५

चित्रं = आश्चर्य; मुक्ताकलाप = मुक्ताहार; भविता = पैदा होना।

श्लोक २६-२७

अथ = यहां 'इसके बाद' अर्थ है; क्रमेण = कालक्रमानुसार; अम्बुद = बादल; अम्बुदकाल = मेघों की ऋतु, वर्षाकाल; निदाघ = ग्रीष्म; प्रविदार्य = विदीर्ण करके; तोयद = बादल, ववर्ष = बरसा; तोय = जल; संतत = निरन्तर; येन = जिससे; अत्वरात् = अचानक; बिभेद = टूट गया; प्रौष्ठपद = भाद्रपद; रात्रौ = रात में।

श्लोक २८

उषित = रही; बन्धनोषिता = चिरकाल से बन्धन में पड़ी हुई; विनिर्गता = निकलने वाली; ययुः = चली गई।

श्लोक २९

अवेक्ष्य = देखकर; वर्षगभजं = वर्षणजन्य, वर्षा के कारण उत्पन्न; उद्भ्रम = विभ्रम; महोदधेः प्रियेप्सुना = समुद्र का प्रिय करने की इच्छा से; प्रसारितः = बढ़ाया।

श्लोक ३०

विषाद्यमानाः = विषादयुक्त, दुखी; प्रवादी = कहते हुए, प्रलाप करते हुए; पूर्वापर = प्रथम और अन्तिम भाग, सम्पूर्ण; उत्थिता = उठकर, जागकर; उत्सुक = चिन्तित; विचिन्त्यान् = विचार करने लगे।

श्लोक ३१

इह = यहां; सकल लोक = सब लोग; अम्भोनिधि = समुद्र; पुमान् = मनुष्य।

श्लोक ३२-३३

भूत्वा = होकर; परां = परम; पुरोधानं = सामने रखना; पुरोधाय = सामने रखकर; अनुबन्ध = परिणाम; नयशास्त्रवेत्ता = नीति-शास्त्र मर्मज्ञ।

श्लोक ३४-३५

आज्यं = घी; विबुध = देवता; इष्टवा = आहूति देकर; तर्पयित्वा = तृप्त करके; यथार्हमानैः = यथायोग्य मान द्वारा; अभ्यर्च्य = आदर करके; ग्रैष्म का; अप्रमेय = अपरिमित।

श्लोक ३६

समग्रं = कुल मिलाकर; आयाम = लम्बाई; विस्तार = चौड़ाई; उत्सेध = ऊंचाई ।

श्लोक ३७

नृदेवान् = मनुष्यों और देवताओं; मनुष्यों और ब्राह्मणों; मनुजेन्द्रों अर्थात् राजाओं; उपल = पत्थर; सम्यक्घटितोपलेन = भलीभांति घड़े गये पत्थरों से; अजाति दुष्टं = जो स्वभाव से दुष्ट न हो; शाश्वत कल्पकालम् = सदैव स्थायी रहने वाला ।

श्लोक ३८-३९

विन्यस्त = दिखाया, व्यवस्थित किया; रथचरणसमाह्व = चक्रवाक पक्षी; भूयात् = होवे; वृद्धिमत् = समृद्ध; जुष्टं = प्रसन्न, परिपूर्ण; समा = वर्ष ।

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो ! दुखों का निवारण करने वाले, पूर्ण जेता (अर्थात् सर्वदा विजयी होने वाले, निरन्तर जयशील) (उस) विष्णु की जय हो जो पद्मवासा लक्ष्मी के शाश्वत धाम हैं, जिन्होंने इन्द्र के सुख के लिये राजा बलि से अनेक काल से (अर्थात् चिरकाल से अथवा अनेक बार) अपहृत सम्भ्रान्त जनों द्वारा उपभोग्या लक्ष्मी को छीन लिया था ।।१।।

पं० २ तदनन्तर लक्ष्मी द्वारा आलिंगित वक्षवाले, अपनी भुजाओं के बल से अर्जित विक्रम वाले, मान और दर्प से फन उठाये हुए राजाओं रूपी भुजगों को अपनी गरुड़ के चित्र द्वारा सम्प्रेषित आज्ञाओं (अर्थात् गरुड़ की मुहर युक्त आज्ञाओं) से निर्विष कर देने वाले राजाओं के राजाधिराज,

पं० ३ नृपतियों के गुणों के आगार, विपुल लक्ष्मी वाले, शत्रुओं को अवनत करने वाले स्कन्दगुप्त की जय होवे जिन्होंने पिता द्वारा आत्मशक्ति से देवताओं का सामीप्य प्राप्त कर लेने पर (अर्थात् उनके दिवंगत हो जाने पर) चारों समुद्रों के जलों तक (अर्थात् तटों तक) विस्तृत समृद्ध देशों वाली पृथिवी को अपने अधीन कर लिया ।।२-३।।

पं० ४ और भी, म्लेच्छ देश में रहने वाले शत्रु भी, जिनका दर्प समूल नष्ट कर दिया गया है, जिसके यश को 'विजय उसे ही मिली है' कह कर घोषित करते हैं ।।४।।

पं० ५ जिसको स्वयं लक्ष्मी ने गुण-दोष के समस्त हेतुओं का ध्यान रखते हुए क्रमानुसार बुद्धि द्वारा निपुण पाकर मनुजेन्द्र के समस्त पुत्रों का (उनको अपने योग्य न पाकर) परित्याग करके अपना पति वरण किया ।।५।। उस नृप के शासन में प्रजा में कोई मनुष्य (ऐसा) नहीं है जो धर्मच्युत हुआ हो और न कोई ऐसा है जो आर्त्त, दरिद्र, व्यसनी, लोभी या दण्ड द्वारा अत्यधिक सताया हुआ हो ।।६।।

पं० ६ इस प्रकार समग्र पृथिवी पर विजय प्राप्त करके, शत्रुओं के गर्वाधिक्य को तोड़कर तथा (अन्य) सब प्रान्तों में गोप्ता नियुक्त करके उसने बहुत प्रकार से सोचा, — 'मेरे सब भृत्यों के समुदाय में ऐसा कौन है जो योग्य, बुद्धिमान, विनम्र, प्रज्ञा और स्मरण-शक्ति सम्पन्न, सत्य, सरलता, उदारता और नीतिज्ञता से युक्त तथा मधुरता, सज्जनता

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और यशस्विता से सम्पन्न है, जो स्वामिभक्त, अनुरागी, पुरुषोचित गुणों से युक्त (अथवा 'विशिष्ट सहयोगियों से युक्त' अथवा 'केवल विशिष्ट जनों के साथ रहने वाला') सब प्रकार की परीक्षाओं से प्रमाणित विशुद्ध बुद्धि वाला, 'ऋण' उतारने की भावना में लगी अन्तरात्मा वाला और समस्त प्रजा के कल्याण में तत्पर हो ? कौन न्यायपूर्ण साधनों से अर्थ को कमाने में समर्थ है ? और अर्जित की रक्षा करने में भी तथा रक्षित की वृद्धि करने और वृद्ध (=बढ़ी हुई सम्पत्ति) को सत्पात्रों में बांट देने में भी ? जो अखिल सुराष्ट्र का योग्यतापूर्वक शासन कर सकेगा ? अहा ! समझ गया । अकेला पर्णदत्त ही एक ऐसा है जो उसके भार को वहन करने में समर्थ है' ॥७-११॥

पं० ९ इस प्रकार राजा द्वारा अनेक दिन रात अपने मन में विचारपूर्वक निश्चय कर लिए जाने के बाद जो (अर्थात् पर्णदत्त) सम्यक् सुराष्ट्र भूमि का पालन करने के लिए किसी प्रकार (अर्थात् कठिनाई के साथ) अनुरोध द्वारा (दबाव डालकर) नियुक्त किया गया ॥१२॥ जिस प्रकार देवगण वरुण को पश्चिम दिशा में नियुक्त कर स्वस्थ और चिन्ता-रहित हो गए उसी प्रकार पश्चिम में पर्णदत्त की नियुक्ति करके राजा निश्चित हो गए ॥१३॥

पं० १० उसका (अर्थात् पर्णदत्त का) पुत्र—जो (पिता के प्रति आदर्श पुत्र में मिलने वाले) पुत्रोचित भावों से युक्त, उसकी ही दूसरी आत्मा (अर्थात् प्रतिरूप) के समान, आत्म संयम में कुशल, सर्वभूतों में व्याप्त प्रभु द्वारा अपनी ही आत्मा के समान रक्षणीय, नित्य जितेन्द्रिय तथा नैसर्गिक (अथवा कामदेव जैसे) सौन्दर्य से युक्त, अपने रूप के अनुरूप ललित और विचित्र विविध भावनाओं से युक्त, सदैव प्रमोद युक्त (अर्थात् सदैव हर्षित रहने वाला), विकसित पद्मों के समूह (अथवा पद्मों से परिपूर्ण सरोवर) से तुलनीय मुख कमल वाला तथा शरणागत जनों का शरण-स्थल था, पृथिवी पर 'चक्रपालित' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ । (वह) जनता का प्रिय (था) । अपने उदात्त और निष्कलंक गुणों के द्वारा उसने अपने पिता (की कीर्त्ति) को विशेष कर दिया (अर्थात् अपने पिता को गौरव प्रदान किया) ॥१४-१६॥

पं० ११ जिसमें (अर्थात् चक्रपालित में) ये गुण अतिशयरुपेण वास करते हैं—क्षमा, प्रभुत्व, विनय (और) (कुशल) व्यवहार, शौर्य की अत्यधिक प्रशंसा किये बिना शौर्य, दक्षता, संयम, दान तथा अदीनता (=विशालहृदयता=उदारता), सौजन्य, ऋणों से मुक्ति (=प्रत्युपकारिता) तथा शून्यबुद्धिता से मुक्ति, सौन्दर्य तथा अनुचित का निग्रह, सन्देहरहितता (अथवा गर्वरहितता), धैर्य तथा उन्नतिशीलता ॥१७-१८॥

पं० १२ इस सम्पूर्ण विश्व में भी ऐसा कोई नहीं है जिसके साथ उसके (अर्थात् चक्रपालित के) गुणों की तुलना की जा सके । (वरन्) वही गुणी मनुष्यों के लिये सम्पूर्ण रूप से उपमानस्वरूप हो गया है ॥१९॥

उपर्युक्त इन्हीं (गुणों) (तथा) इनसे भी उत्कृष्ट गुणों की पिता द्वारा स्वयं परीक्षा कर लिये जाने के उपरान्त (जो=चक्रपालित) (नगर-रक्षक रूप में) नियुक्त किया गया (तथा) (जिसने) नगर की रक्षा में पूर्वगामियों के ऊपर विशेपता पाई (अर्थात् उसने

पूर्वगामी नगर-रक्षकों की तुलना में अधिक अच्छी तरह नगर की रक्षा का कार्य किया) ॥२०॥

पं० १३ किसी अन्य व्यक्ति के दर्प पर नहीं वरन् अपनी ही दोनों सुन्दर भुजाओं के शौर्य पर आश्रित रहकर (उसने) किसी को इस नगर को उद्विग्न नहीं होने दिया और दुष्टों को दण्डित किया ॥२१॥

जिसने इस (नगर) में अल्पकाल में ही नागरकों (=वे लोग जिनमें नागरिक जीवन में दोष आ गये हैं) सहित सामान्यजनों का विश्वास अर्जित कर लिया। जिसने दोषों की सावधानी से परीक्षा करके पौर जनों का अपने ही पुत्रों के समान लालन-पालन किया तथा उच्च पदाधिकारियों को स्मितपूर्ण वार्तालाप, सम्मान और (भेंटादि के) दान, परस्पर (एक दूसरे के) घरों में निर्बाध प्रवेश (तथा) प्रीतिवर्द्धक पारिवारिक उत्सवों द्वारा प्रमुदित किया ॥२२-२३॥

पं० १४ परम सात्विक भाग से युक्त, प्रियंवद, पवित्र तथा यथावत् दानशील (वह चक्रपालित) यथा समय विषयों का सेवन करता था (परन्तु) धर्म और अर्थ का विरोध नहीं होने देता था ॥२४॥

(इस) पर्णदत्त से उत्पन्न वह (अर्थात् चक्रपालित) अगर न्यायशील था तो इसमें आश्चर्य क्या है ? मुक्ताहार और जलकमल की तरह शीतल चन्द्रमा से क्या उष्णता पैदा हो सकती है ? ॥२५॥

पं० १५ इसके बाद कालक्रमानुसार मेघों द्वारा ग्रीष्म ऋतु को विदीर्ण कर देने से वर्षाकाल आ जाने पर दीर्घसमय तक बहुत जल बरसा जिससे, गुप्तकाल में गणना करने पर एक सौ छत्तीसवें वर्ष में भाद्रपद के छठे दिन रात में सुदर्शन (झील) (का बांध) अचानक टूट गया ॥२६-२७॥

पं० १६ और ये (नदियां) जो रैवतक पर्वत से निकलती हैं (और) यह पलाशिनी, सिकता तथा विलासिनी—(ये सभी) समुद्र की प्रियाएं जो चिरकाल से बन्धन में पड़ी थीं—अब पुनः शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पति (=समुद्र) के पास चल पड़ीं ॥२८॥ वर्षा की अधिकता के कारण उत्पन्न महान् विभ्रम को देखकर महोदधि का प्रिय करने की इच्छा से ऊर्जयत (नामक पर्वत) ने अनेक प्रकार के पुष्पों से शोभित तट वाली नदी रूपी अपना हाथ बढ़ाया ॥२९॥

पं० १७ सब लोग 'क्या होगा ?' 'क्या होगा ?' यह प्रलाप करते हुए विषादयुक्त हो गये (और) सम्पूर्ण रात व्यर्थ ही जागकर बिताते हुए चिन्ताकुल होकर विचार करने लगे, 'यहां क्षण भर में ही सुदर्शन (झील) सब लोगों के लिये (मानो यह कोई) मनुष्य (है) (ऐसे) दुर्दर्शन हो गई है। समुद्र तुल्य दिखाई देने वाली यह (झील) क्या कभी (पुनः) सुदर्शन होगी………………?' ॥३०-३१॥

पं० १८ …………उसने…………(उस) नीतिशास्त्रमर्मज्ञ (तथा) विश्व में सुविज्ञात महान् प्रभाव वाले (चक्रपालित) ने अपने पिता के प्रति परम भक्ति का प्रदर्शन करते

हुए तथा शुभ परिणाम वाले धर्म को सामने रखते हुए राजा और नगर के हितार्थ, गुप्त संवत् के एक सौ सैंतीसवें वर्ष में देवताओं को प्रणाम (=वन्दना) आदि के द्वारा घृत की आहूति देकर, द्विजातियों (=ब्राह्मणों) को धन से तृप्त करके तथा पौर जनों का यथायोग्य मान द्वारा एवं भृत्यों, पूज्य जनों और मित्रों का (भेंटादि के) दान द्वारा आदर करके, ग्रीष्म के············मास के प्रथम पक्ष के प्रथम दिन दो मास तक आदर भाव से भली-भाँति युक्त रहकर (तथा) अपरिमित धन का व्यय करके कुल मिलाकर सौ हाथ लम्बा, अड़सठ हाथ चौड़ा, सात (?) पुरुषों के बराबर (=सात पुरुषों की लम्बाई के बराबर) ऊंचा (?)············दो सौ हाथ का······ ······मनुष्यों और देवताओं की अभ्यर्चना करके महान् यत्न से भली-भांति गढ़े गये पत्थरों द्वारा स्वभाव से अदुष्ट और विख्यात (अथवा स्वभाव से अदुष्ट रूप में विख्यात) सुदर्शन तटाक सदैव के लिये बंधवा दिया ॥३३-३७॥

पं० २२ और भी, चक्रवाकों द्वारा शोभित सुदृढ़ बांध के किनारों (तथा) क्रौञ्च और हंसों के निवास·············विमल जल···············पृथिवी पर···············सूर्य और चन्द्रमा············ ॥३८॥

पं० २३ नगर भी समृद्ध, पौरजनों (=नागरिकों) से परिपूर्ण, सैकड़ों ब्राह्मणों (द्वारा) की गई प्रार्थनाओं से विनिर्मुक्त पाप वाला तथा सैकड़ों वर्षों तक दुर्भिक्ष से मुक्त होवे········· ······ ॥३९॥ इति सुदर्शन तटाक के संस्कार (=मरम्मत) से सम्बन्धित ग्रन्थ की रचना समाप्त होती है।

व्याख्या

श्लोक १

(१) **बलेराजहार**—इस श्लोक में उस पौराणिक कथा की ओर संकेत है जिसके अनुसार विष्णु वामन रूप में असुरराज बलि के पास गए थे और उससे अपने तीन पगों में मापी जाने योग्य भूमि दान में पाकर उन्होंने पहिले दो पगों में मृत्युलोक और स्वर्गलोक माप लिये थे। तदनन्तर, बलि के शरणागत हो जाने पर, उन्होंने पाताल लोक उसी के पास छोड़ दिया था।

(२) **'अभिमतभोग्या'**—समास अस्पष्ट है। फ्लीट ने इस का अर्थ 'भोग्या रूप में स्वीकृत' किया है। विष्णु पत्नी के रूप में लक्ष्मी के उल्लेख के लिये दे०, मिहिरकुल का ग्वालियर-अभिलेख, पं० ८ तथा रघुवंश, १०.७-१०।

(३) **विजितार्त्ति** शब्द का 'अर्त्तिहर' अर्थ में प्रयोग समीचीन नहीं है।

श्लोक २–३

(१) 'शश्वत्' शब्द को 'परिक्षिप्त' के साथ लेकर 'सदैव आलिंगित' अर्थ भी किया जा सकता है।

(२) **'प्रतिकृति गरुडाज्ञां'**—फ्लीट ने इस पद में 'प्रतिकृति' को 'प्रतिनिधि' अर्थ में लेकर दूसरी पंक्ति का अनुवाद इस प्रकार किया है: 'जिसने अपने प्रतिनिधियों की आज्ञा अर्थात् सत्ता द्वारा, जो

गरुड़ों, के समान थे, शत्रु नरेशों को, जो मान और दर्प से फन उठाए हुए भुजगों के तुल्य थे, निर्विष कर दिया'। ऊपर हमने सरकार द्वारा प्रस्तावित अर्थ दिया है। एक अन्य अर्थानुसार 'प्रतिकार करने वाली गरुड़ाज्ञाओं द्वारा निर्विष किया'। वस्तुतः यहां कवि अपनी भावाभिव्यक्ति भलीभांति नहीं कर पाया है।

(३) **गरुड** को नागों का शत्रु माना गया है। नाग उनका भोजन है। क्योंकि नाग राजा गुप्तों के प्रमुख शत्रु थे इसलिये समुद्रगुप्त ने नागों पर गुप्तों की विजय के प्रतीक रूप में गरुड़ को अपना राजचिह्न बनाया था।

(४) भाण्डारकर ने यहां स्कन्दगुप्त की किसी नाग-विजय की ओर संकेत माना है (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३०२, टि० ३)। अन्य विद्वान् भी इस श्लोक में स्कन्दगुप्त के नागजातीय शत्रुओं की ओर संकेत मानते हैं। लेकिन यह बात उचित नहीं लगती। इसमें स्कन्दगुप्त के शत्रुओं की भुजगों से तुलना मात्र की गई है। स्कन्दगुप्त के काल तक नाग राज्यों का पूर्णतः दमन किया जा चुका था। हमें यह अधिक सम्भव लगता है कि स्कन्दगुप्त के इन शत्रुओं में वाकाटक नरेन्द्रसेन (लग० ४४०-६० ई०) सम्मिलित था जिसे द्वितीय पृथिवीषेण के बालाघाट-दानपत्र में मालवा जीतने का श्रेय दिया गया (दे०, गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० २०८-११)।

(५) श्लोक ३ में कुमारगुप्त के 'आत्मशक्ति से' दिवंगत होने का अर्थ यह भी हो सकता है कि उसने धार्मिक दृष्टि से आत्मोत्सर्ग किया था। प्राचीनकाल में राजा लोग कभी-कभी राज्य भार अपने पुत्र को सौंप कर सन्यास ले लेते थे। उदाहरणों के लिए दे०, प्रयाग-प्रशस्ति, श्लोक ४ की टि० ५। ऐसे राजाओं में कुछ योग-साधना अथवा अन्य साधनों से आत्मोत्सर्ग भी करते थे। प्रथम कुमारगुप्त ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में भिक्षुरूप में बिताये थे। इसका संकेत उसकी 'अप्रतिघ' प्रकार की मुद्राओं से मिलता है (दे०, अल्तेकर, क्वायनेज, पृ० २०९)। इसमें उसे हाथ जोड़े हुए बुद्ध प्रतिमाओं के समान केश और मात्र एक वस्त्र धारण किए हुए तथा राजचिह्नों और आभूषणों से विहीन दिखाया गया है। उसे दो व्यक्ति कुछ समझा रहे हैं। पीछे 'अप्रतिघ' (=प्रतिघ नामक क्लेशावरण से मुक्त=क्रोधविहीन) लेख लिखा है। इससे लगता है कि कुमारगुप्त ने भिक्षु जीवन स्वीकार कर लिया था। 'चन्द्रगर्भपरिपृच्छा' के अनुसार भी महेन्द्रसेन (=महेन्द्रादित्य=कुमारगुप्त) बर्बरों पर विजय प्राप्त करने वाले अपने पुत्र (=स्कन्दगुप्त) को राज्य भार सौंप कर धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगा था। 'कथासरित्सागर' की एक कथा के अनुसार महेन्द्रादित्य (=कुमारगुप्त) अपने म्लेच्छ-जेता पुत्र विक्रमादित्य (=स्कन्दगुप्त) को राजा बनाकर स्वयं धर्मलाभ के लिये वाराणसी चला गया था। अतः हो सकता है अन्ततोगत्वा प्रथम कुमारगुप्त ने 'आत्मशक्ति से' आत्मोत्सर्ग भी किया हो। 'आर्यमञ्जुश्रीमूल्प' के अनुसार बाल (=प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य) ने, अफसड़-अभिलेख के अनुसार परवर्ती गुप्त नरेश कुमारगुप्त ने तथा अन्य साक्ष्यानुसार धंग चन्देल, गांगेयदेवकल्चुरी, पाल नरेश रामपाल तथा सोमेश्वर आहवमल्ल चालुक्य ने विविध कारणों से आत्मोत्सर्ग किया था (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० २८९, ३१२-१३)। मजूमदार ने 'आत्मशक्त्या' शब्द को स्कन्दगुप्त के साथ जोड़कर निष्कर्ष निकाला है कि यहां स्कन्दगुप्त द्वारा आत्मशक्ति से पृथिवी को अपने अधीन कर लेने का उल्लेख है (को० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० ७०, टि० ६३)।

(६) श्लोक ३ की तुलना भितरी-लेख के श्लोक ६ से करें।

श्लोक ४

(१) **'निवसन्तो'** के स्थान पर 'निर्वचना' पाठ मानने पर अर्थ होगा कि उसके शत्रु भी मूक भाव से उसकी प्रशंसा करते हैं।

(२) एलन, सरकार, रायचौधुरी तथा राजबली पाण्डेय आदि का मत है कि जूनागढ़-प्रशस्ति में उल्लिखित 'म्लेच्छ' भितरी-लेख के हूणों से अभिन्न थे। यही मत सही है (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० २१२)। सु० चट्टोपाध्याय (अ० हि० नॉ० इ०, पृ० १८०) व पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० ३०८-९) ने म्लेच्छों को हूणों से भिन्न माना है। चट्टोपाध्याय ने म्लेच्छों को यवनों और ईरानियों का मिश्रित दल बताया है और गुप्त ने किदार कुषाण। लेकिन प्राचीन साहित्य में म्लेच्छ शब्द किसी जाति का नाम न होकर विदेशियों के लिये प्रयुक्त होने वाला एक सामान्य शब्द था। सोमदेव के ग्रन्थ 'कथासरित्सागर' में एक स्थल पर म्लेच्छों, हूणों और पारसिकों का एक साथ उल्लेख है, पर उस स्थल पर सोमदेव ने निश्चय ही भूल की है। विदेशी जातियों का वर्णन करते समय प्राचीन कवि कभी-कभी ऐसी गलतियां कर देते थे। आर० के० चौधुरी (जे० बी० आर० एस०, ४५, पृ० १२७ अ०) का यह कहना कि भितरी-लेख में म्लेच्छों का पृथक्तः उल्लेख है एकदम गलत है। एक मत के अनुसार (जे० एन० एस० आई०, २७, पृ० ३६ अ०) जूनागढ़-लेख के म्लेच्छ ईरानी थे। लेकिन यह सुझाव निराधार है (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० २१३)।

श्लोक ५

(१) **'मनुजेन्द्र पुत्र'** = राजकुमार। यहां आशय स्पष्टतः प्रथम कुमारगुप्त के पुत्रों अर्थात् स्कन्दगुप्त के भाइयों से है। स्कन्दगुप्त का एक भाई पुरुगुप्त था जिसने गुप्त अभिलेखों के अनुसार 'महाराजाधिराज' रूप में निश्चय ही शासन किया था। उसका एक अन्य भाई गु० स० ११६ (=४३५-३६ ई०) के तुमैन अभिलेख से ज्ञात घटोत्कचगुप्त हो सकता है जो उस वर्ष सम्भवतः पूर्वी मालवा का गवर्नर था लेकिन जिसकी सुवर्ण मुद्राओं की उपलब्धि से निश्चित है कि उसने भी 'महाराजाधिराज' रूप में शासन किया था (गोयल, पूर्वो० पृ० २००-०१)। उसका एक अन्य भाई द्वितीय समुद्रगुप्त रहा हो सकता है जिसकी एक सुवर्ण मुद्रा उपलब्ध है (गोयल, वही, पृ० २०१)। इस पारस्थितिक साक्ष्य से स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त को अपने कुछ प्रतिद्वन्द्वी भाइयों का सामना करना पड़ा था। यह निष्कर्ष इस प्रश्न से सर्वथा असम्बद्ध है कि वह अपने पिता का विधिसम्मत उत्तराधिकारी था या नहीं। उसके भाई उसके विधिसम्मत उत्तराधिकारी होने और न होने—दोनों ही अवस्थाओं में उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकते थे।

(२) **लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार**—प्रथम टिप्पणी में जो कुछ कहा गया है उसके प्रकाश में इस श्लोक में 'लक्ष्मी द्वारा मनुजेन्द्र के अन्य पुत्रों का परित्याग और स्कन्दगुप्त को अपना पति चुना जाना' महत्त्वपूर्ण हो जाता है। तु०, प्रयाग-प्रशस्ति, श्लोक ४। प्राचीनकाल में जब कोई राजा अपने प्रतिद्वन्द्वियों अथवा शत्रुओं को परास्त करके राज्य प्राप्त करता था अथवा उसे बढ़ाता था तो अभिलेखों और ग्रन्थों में इसका वर्णन इस प्रतीक द्वारा प्रायः किया जाता था। बाण के अनुसार नारायण के वक्षस्थल को छोड़कर लक्ष्मी ने अपनी इच्छा से तारापीड़ का साथ स्वीकार किया था (कादम्बरी, पूर्वभाग)। राजशेखर के अनुसार महीपाल प्रतिहार को, जिसको राज्य पाने के लिए द्वितीय भोज से संघर्ष करना पड़ा था, लक्ष्मी ने स्वयंवर में अपना पति चुना था (बाल भारत)। यही बात क्षमीश्वर ने 'चण्डकौशिक' में कही है (लक्ष्मी स्वयंवर प्रणयिता श्री महिपालदेवेन)। पद्मगुप्त के अनुसार लक्ष्मी ने सिन्धुराज का युद्ध

क्षेत्र में वरण किया था (नवसाहसांकचरित)। एहोले-अभिलेख में कहा गया है कि द्वितीय पुलकेशी, जिसने अपने चाचा मंगलेश को मार कर राज्य पर अधिकार किया, लक्ष्मी द्वारा अभिलपित था (श्लोक १४)। जावा के पेनंग-गुंगेन-लेख के अनुसार राजलक्ष्मी ने अन्य राजाओं को अपने अयोग्य पाकर एलङ्ग-देव का आलिंगन किया जिसने अपने शत्रुओं का संहार कर दिया था। तु०, फ्लीट, पृ० १७५। रायचौधुरी ने ध्यान दिलाया है कि बाण के 'हर्षचरित' में हर्ष को 'स्वयमेवश्रीगृहीत' कहा गया है जबकि हर्ष का अपने भाई राज्यवर्द्धन से प्रेम सुज्ञात है। परन्तु यह पद इस भाव को भली-भांति अभिव्यक्त नहीं करता कि 'लक्ष्मी ने राजा के अन्य पुत्रों का परित्याग किया था।' दूसरे हर्ष और राज्यवर्द्धन के सम्बन्ध को अब उस रूप में नहीं लिया जाता जिसमें रायचौधुरी ने लिया है (दे०, हर्ष के बांसखेड़ा-दानपत्र की व्याख्या)। लेकिन यहां यह स्वीकार्य है कि मात्र इस प्रतीक के प्रयोग से गृहयुद्ध का होना सदैव प्रमाणित नहीं माना जा सकता क्योंकि इस प्रतीक का प्रयोग बहुत से कवि अपने संरक्षकों की प्रशंसा करने के लिए सामान्य रूप से भी कर देते थे। बुधगुप्तकालीन एरण-लेख में कहा गया है कि राजलक्ष्मी ने मातृविष्णु को स्वेच्छया अपना पति चुना था (स्वयंवरयेव राजलक्ष्म्याधिगतेन)। 'राजतरंगिणी' में उज्जयिनी नरेश हर्ष-विक्रमादित्य (३.१२६) तथा कश्मीर के राजा चन्द्रापीड़ (४.४४) के पास लक्ष्मी के आकर रहने का उल्लेख है। लेकिन जूनागढ़-अभिलेख में लक्ष्मी द्वारा मनुजेन्द्र के अन्य पुत्रों का परित्याग करके स्कन्दगुप्त को पति चुनने का वर्णन गृह-युद्ध की ओर संकेत अवश्य ही माना जा सकता है क्योंकि हम जानते हैं कि स्कन्दगुप्त के पुरुगुप्त आदि भाइयों ने सम्राट् रूप में शासन किया और पारस्थितिक साक्ष्यानुसार वे ऐसा स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह करके ही कर पाए होंगे (दे०, गोयल, पूर्वो०, पृ० २२५ अ०)।

श्लोक ७-११

(१) गोप्ता = राज्यपाल, गवर्नर। शाब्दिक अर्थ रक्षक। ४३६ और ४७२ के मन्दसौर-लेख में इसका प्रयोग अधीन राजा के लिए हुआ है (बभूव गोप्ता नृप विश्ववर्म्मा—श्लोक २४)।

(२) **समग्र पृथिवी** = समस्त साम्राज्य। यहां यह आशय नहीं है कि स्कन्दगुप्त ने समस्त साम्राज्य को पुनः जीता था। यहां कवि ने स्कन्दगुप्त की पिछले श्लोकों में वर्णित विजयों का समापन यह कह कर किया है कि 'इस प्रकार साम्राज्य जीतकर……'।

(३) श्लोक ८ से ११ तक आदर्श राज्यपाल के गुण बताए गए हैं। १७वें तथा १८वें श्लोकों में भी उच्च पदाधिकारियों के गुण गिनाए गए हैं। तु०, प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख की १९वीं पंक्ति में सुविशाख के गुणों का वर्णन।

(४) **देश** = प्रान्त। गुप्तकाल में प्रान्त के लिये 'देश' शब्द का प्रयोग सम्भवतः पश्चिमी भारत में होता था। पूर्वी भारत में प्रान्त के लिए 'भुक्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है (दे०, प्रथम कुमारगुप्त के दामोदरपुर-दानपत्र एवं बंगाल से प्राप्त अन्य गुप्त दानशासन)।

(५) **सर्वोपधाभिः** —उपधा = परीक्षा। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में राजा द्वारा मन्त्री और पुरोहित की सहायता से अमात्यों की गुप्तरूप से परीक्षा लेने का विधान किया है (मन्त्रि पुरोहित सखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वाऽमात्यानुपधाभिः शोधयेत्)। वह चार प्रकार की उपधाओं का विधान करता है—धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा। दे०, अर्थशास्त्र, गैरोला द्वारा अनूदित, पृ० ३१ अ०।

(६) **आनृण्यभाव** — ऋण तीन होते हैं : ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण । इनको वेदों का अध्ययन, यज्ञों का सम्पादन और पुत्रोत्पत्ति द्वारा उतारा जा सकता है । इनको उतारने की भावना ही 'आनृण्यभाव' कही गई है ।

(७) इस लेख के १०वें श्लोक की तुलना 'अर्थशास्त्र' के इस कथन से की जा सकती है कि दण्डनीति 'अप्राप्त को प्राप्त कराती है, प्राप्त की रक्षा करती है, रक्षित की वृद्धि करती है और संवर्द्धित को योग्य पुरुषों में लगाने का प्रतिपादन करती है — अलब्ध लाभार्थः ; लब्ध परिरक्षणी; रक्षितविवर्धनी; वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च (अर्थशास्त्र, गैरोला द्वारा अनूदित, पृ० १५) ।

(८) **सुराष्ट्रान्** — अभिलेखों में प्रदेशों के नाम प्रायः बहुवचन में आते हैं यथा 'कलिंगाः' । प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख व वलभी दानपत्रों में भी 'सुराष्ट्रान्' प्रयोग मिलता है ।

(९) शार्पेण्टियर के अनुसार (जे० आर० ए० एस०, १९३०, पृ० २८२-३) पर्णदत्त नाम पह्लवी नाम फर्नदात का संस्कृत रूप है ।

(१०) सरकार (स० इ०, पृ० ३०९, टि० ४) व अन्य अनेक इतिहासकारों का अनुमान है कि स्कन्दगुप्त ने सुराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त करने की ओर विशेष ध्यान इसलिए दिया क्योंकि वहां हूणों के आक्रमण का खतरा था । परन्तु (१) स्कन्दगुप्त के काल में हूणों ने पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया, इसका कोई संकेत नहीं मिलता । (२) स्कन्दगुप्त ने नए गवर्नरों की नियुक्ति तो बहुत से प्रान्तों में, इस लेख के अनुसार सभी प्रान्तों में (सर्वेषुदेशेषु) की थी । हमारे विचार से नए गवर्नरों की नियुक्ति उन प्रान्तों में विशेष रूप से की गई होगी जहां के पुराने गवर्नरों ने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह किया था या विद्रोही राजकुमारों का साथ दिया था । उदाहरणीय है एक विद्रोही राजकुमार घटोत्कच-गुप्त का पूर्वी मालवा में गवर्नर होना । (३) जूनागढ़-लेख के आधार पर यह सोचना गलत होगा कि स्कन्दगुप्त ने सचमुच ही पर्णदत्त की नियुक्ति के पूर्व इस प्रकार विचार किया था । इस लेख के सुराष्ट्र में बैठे लेखक को सम्राट् के ततसम्बन्धी विचार-प्रवाह का ज्ञान हो ही किस प्रकार सकता था ? यह वर्णन इस लेख के लेखक द्वारा पर्णदत्त की प्रशंसा किये जाने का एक विशेष ढंग मात्र है जिसमें उसके स्वामी पर्णदत्त के गुणों को सम्राट् के द्वारा भी प्रशंसित बता दिया गया है । यह मानना आवश्यक नहीं है कि पर्णदत्त में ये गुण थे ही । स्पष्टतः इस लेख के रचयिता ने पर्णदत्त में उन सभी गुणों को आरोपित कर दिया है जिनकी उस युग में एक योग्य गोप्ता में अपेक्षा की जाती थी । इस वर्णन को एक अच्छे गोप्ता का आदर्शभूत वर्णन मानना चाहिये न कि पर्णदत्त के यथार्थ गुणों का, यद्यपि यह सम्भव है कि पर्णदत्त में इनमें अधिकांश गुण विद्यमान रहे हों ।

श्लोक १२

(१) इस श्लोक में 'यः' का प्रयोग खलता है । यह स्पष्टतः पर्णदत्त के लिये प्रयुक्त हुआ है । कवि ने 'यः' का गलत प्रयोग इस लेख में अन्यत्र भी किया है ।

श्लोक १४-२०

(१) श्लोक १४ में 'आत्मन्' शब्द का विविध अर्थ में ८ बार प्रयोग किया गया है ।

(२) श्लोक १५ में 'पद्माकरपद्म' में 'पद्म' शब्द का दो बार प्रयोग अनावश्यक है ।

(३) शार्पेण्टियर के अनुसार 'चक्रपालित' नाम पह्लवी नाम 'चकरपात' का संस्कृत रूप है ।

(४) चक्रपालित जिस 'नगर' का रक्षक बनाया गया था उसका नाम नहीं दिया गया है। लेकिन उसे स्पष्टतः गिरिनगर से अभिन्न मानना चाहिये।

(५) श्लोक १४ से १६ तक में उन गुणों का वर्णन किया गया है जिनको अपने पुत्र चक्रपालित में पाकर पर्णदत्त ने उसकी नगर-रक्षक के रूप में नियुक्ति की थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पर्णदत्त द्वारा चक्रपालित की नगर-रक्षक रूप में नियुक्ति का सबसे बड़ा कारण उसका पर्णदत्त-पुत्र होना रहा होगा, लेकिन चक्रपालित के इन श्लोकों में वर्णित गुणों का सामान्यीकरण करके यह अनुमान भी किया जा सकता है कि उस युग में एक अच्छे पदाधिकारी में कौन से गुणों की अपेक्षा की जाती थी।

(६) श्लोक १६ में 'अनुपस्कृत' का अर्थ फ्लीट ने 'अनपॉलिश्ड' किया था। परन्तु यहां इस का अर्थ 'निष्कलंक' है। कुल्लूक ने इस शब्द का अर्थ 'अविगर्हित' बताया है। (दे०, मृच्छकटिक ६.४; मनुस्मृति ७.९८)। इसी प्रकार श्लोक १८ में 'अविस्मय' का अर्थ फ्लीट ने 'आश्चर्यरहितता' किया था। परन्तु यहां इसका अर्थ 'गर्वरहितता' है (दे०, मनुस्मृति ४.२३७; स्वप्नवासदत्तम्, १.३)।

श्लोक २१-२५

(१) **आश्रित्य वीर्यं स्वभुजद्वयस्य**—तु०, समुद्रगुप्त को प्रयाग-प्रशस्ति में 'स्वभुजबल पराक्रमैक बन्धोः' कहा जाना।

(२) श्लोक २१ से स्पष्ट है कि गुप्तकाल में नगर-रक्षक कोतवाल के साथ 'सिटी-मजिस्ट्रेट' का काम भी करता था।

(३) इन श्लोकों में चक्रपालित द्वारा नगर-रक्षक रूप में प्रदर्शित योग्यता का वर्णन है। यह सही भी हो सकता है और एक योग्य नगर-रक्षक की योग्यता का आदर्शभूत वर्णन भी। चक्रपालित के द्वारा किये गये दो कामों—सुदर्शन झील के बांध का पुनर्निर्माण तथा चक्रभृत के मन्दिर का निर्माण (जिसका वर्णन अगले लेख में हुआ है)—यह संकेत देते हैं कि वह एक योग्य नगर-रक्षक माना जाता होगा।

(४) श्लोक २३ में 'संरंजयां बभूव' का कर्त्ता श्लोक २२ का 'यः' है, अतः इन दोनों श्लोकों को एक साथ लेना चाहिये।

(५) **धर्मार्थयोः** (श्लोक २४)—कवि कहता है कि चक्रपालित विषयों (काम) का उचित समय पर सेवन तो करता था परन्तु उनको अपने आर्थिक और धार्मिक कर्त्तव्यों (अर्थ और काम) में बाधक नहीं होने देता था। यहां स्पष्टतः उसके द्वारा धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति का वर्णन है। तु०, प्रथम रुद्रदामा को उसके जूनागढ़-लेख में (पं० ११) 'यथावत्प्राप्तधर्मार्थ-काम-विषयाणां' कहा जाना।

(६) श्लोक २५ साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है।

श्लोक २६-२७

(१) **गुप्त-प्रकाल**—श्लोक २६ में कुछ रचना-दोष है। श्लोक २७ में 'काल' के पूर्व 'प्र' का प्रयोग अनावश्यक है। 'गुप्तस्यकाले' पाठ श्रेष्ठतर होता। फ्लीट के युग तक केवल यही लेख ऐसा था जिसमें गुप्त नरेशों के अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् के नाम के साथ 'गुप्त' शब्द का प्रयोग है। लेकिन फ्लीट ने इसके साक्ष्य को यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं माना था कि इस संवत् की स्थापना गुप्तों ने ही की थी। उन्होंने इससे मात्र इतना निष्कर्ष निकाला कि स्कन्दगुप्त के काल में गुप्तों के द्वारा प्रयुक्त संवत् गुप्त संवत् कहलाने लगा था।

(२) **सुदर्शन तटाक**—सुदर्शन तटाक की स्थिति अब निश्चितरूपेण ज्ञात नहीं है। भगवानलाल इन्द्र जी का मत था कि यह गिरनार पर्वत के पूर्व में दामोदरकुण्ड से कुछ ऊपर उस स्थान पर रहा होगा जो अब भवनाथून मकुन (दर्रा) कहा जाता है। एस० पी० देसाई ने इसे त्रिपुर सुन्दरी देवी के मन्दिर और त्रिवेणी संगम के बीच कहीं पर स्थित माना है। आर० एन० मेहता के अनुसार यह तटाक आधुनिक ओझट नदी की शाखाओं पर बनाया गया था (जे० ओ० आई०, १८, पृ० २०-२८)। पी० एल० गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ० ३२५, टि० १) ने ओझट नदी का नाम ऊर्जयत नाम का बिगड़ा रूप मान कर सुझाया है कि यह नदी ऊर्जयत पर्वत से निकली होगी। लेकिन यह नदी रुद्रदामा व स्कन्दगुप्त दोनों ही अभिलेखों में अनुल्लिखित है। हमारा सुझाव है कि यह पलाशिनी नदी का दूसरा नाम था। हो सकता है इस नदी और पर्वत के एक ही नाम से प्रसिद्ध होने के कारण कवि ने भ्रम से बचने के लिये नदी के दूसरे लोकप्रिय नाम 'पलाशिनी' का प्रयोग किया हो।

श्लोक २८

(१) **रैवतक, पलाशिनी, सिकताविलासिनी**—रैवतकात् = रैवतक पर्वक से। रैवतक = गिरनार। यह रेवताचल भी कहलाता था। इसका नाम कृष्ण के भाई बलराम के श्वसुर रेवत (= रेवती के पिता) के नाम पर पड़ा। कहा जाता है कि रेवत द्वारका से आकर इस पर्वत पर रहे थे। गिरनार पर्वत पर दामोदरकुण्ड के पास अभी तक रेवतीकुण्ड विद्यमान है। दिसकल्कर के अनुसार रैवतक पर्वत का ही दूसरा नाम ऊर्जयत था क्योंकि रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख में सुवर्णसिकता और पलाशिनी नदियों को ऊर्जयत से निकलने वाली कहा गया है और प्रस्तुतलेख में पलाशिनी, सिकता तथा विलासिनी का उद्गम स्थान रैवतक पर्वत बताया गया है। फ्लीट का यह मत गलत है कि ऊर्जयत या रैवतक से भिन्न पर्वत का नाम है। सिकता = रुद्रदामा के लेख की सुवर्णसिकता = आधुनिक सोनरेखा। दिसकल्कर जैसे कुछ विद्वानों ने सिकताविलासिनी को (जिसका शाब्दिक अर्थ है बालुकामयी पट्टियों में विलास करने वाली) पलाशिनी का विशेषण मान लिया है। पलाशिनी नाम की अब कोई नदी जूनागढ़ के पास नहीं मिलती।

(२) **पतिं शास्त्रयथोचितं ययुः**—शायद कवि का आशय यह है कि नदियों का अपने पति समुद्र के पास जाना उस प्रथा के अनुकूल था जिसके अनुसार प्रेमी-प्रेमिका के मिलन की उपयुक्त ऋतु वर्षा-काल है।

श्लोक २९

(१) **महोदधेःप्रियेप्सुना**—फ्लीट ने इस श्लोक का सही भाव ग्रहण नहीं किया है। उनके अनुवाद के अनुसार वर्षाधिक्य के कारण उत्पन्न विभ्रम को देखकर ऊर्जयत पर्वत ने समुद्र की पत्नियों (अर्थात् अन्य नदियों) को अपना लेने की कामना से अपना पलाशिनी नदी रूपी हाथ बढ़ाया। लेकिन श्लोक २८ में कवि इन सभी नदियों को रैवतक अर्थात् ऊर्जयत से विनिर्गत बता चुका है, इसलिये वह इस श्लोक में उसे इन नदियों के भोग करने का इच्छुक नहीं बता सकता था। दिसकल्कर के अनुसार कवि का आशय यह है कि समुद्र का प्रिय करने की इच्छा से ऊर्जयत = रैवतक पर्वत ने पुष्पों से शोभित नदी को (जो उससे विनिर्गत होने के कारण उसकी पुत्री के समान थी) उसके पति (= समुद्र) के पास भेज दिया।

श्लोक ३०

(१) **विषाद्यमानाः खलु सर्वतो जनाः**—तु०, रुद्रदामा के अभिलेख की पंक्ति १८ (नैराश्याद् हा हा भूतासु प्रजासु)।

श्लोक ३१

(१) इस श्लोक में 'सुदर्शन' और 'दुर्दर्शन' शब्दों के प्रयोग में कौतुक-प्रदर्शन है। तु०, रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख की पं० ८।

श्लोक ३२

(१) ध्यातव्य है कि चक्रपालित को पर्णदत्त ने नियुक्त किया जिसे स्वयं स्कन्दगुप्त ने नियुक्त किया था। पर्णदत्त और चक्रपालित का कार्य-केन्द्र गिरिनगर प्रतीत होता है।

श्लोक ३५

(१) इस श्लोक में ग्रीष्म ऋतु के ज्येष्ठ या आषाढ़ मास का उल्लेख था जिसके पूर्व पक्ष के प्रथम दिन बांध के निर्माण का कार्य पूरा हुआ। यह काम दो मास तक (मास-द्वयेन) चला इसलिये इसका निर्माण चैत्र या वैशाख में प्रारम्भ हुआ होगा।

(२) **धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम्**—तु०, रुद्रदामा का सुदर्शन झील के बांध के पुनर्निर्माण पर भारी धन व्यय करना—स्वस्मात्कोशातमहता धनौघेन।

श्लोक ३६

(१) चक्रपालित द्वारा पुनर्निर्मित बांध को सौ हाथ लम्बा, अड़सठ हाथ चौड़ा तथा सात पुरुषों के बराबर ऊँचा (?) बताया गया है। फ्लीट ने इसे सम्पूर्ण बांध का विस्तार माना है। परन्तु प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख (पं० ७-८) से स्पष्ट है कि इस बांध का विस्तार बहुत बड़ा था। रुद्रदामा के समय में बांध में पड़ी दरार का विस्तार ही चार सौ बीस हाथ लम्बा, इतना ही चौड़ा तथा पचहत्तर हाथ गहरा बताया गया है (स० इ०, पृ० १७७)। स्पष्टतः चक्रपालित के काल में बांध में लघु आकार की दरार पड़ी थी।

जूनागढ़-अभिलेख का महत्त्व

राजनीतिक महत्त्व—स्कन्दगुप्त का जूनागढ़-अभिलेख गुप्तकाल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेखों में से एक है। राजनीतिक दृष्टि से एक प्रकार से यह और भितरी स्तम्भ-लेख परस्पर पूरक हैं क्योंकि इन अभिलेखों के सम्मिलित साक्ष्य से ही हमें स्कन्दगुप्त ने शासनकाल की प्रमुख घटनायें ज्ञात होती हैं। जूनागढ़-लेख में प्रथम श्लोक में भगवान् विष्णु की स्तुति करने के बाद दूसरे से छठे श्लोक तक कवि ने स्कन्दगुप्त की कीर्ति और विजयों का वर्णन किया है। दूसरे श्लोक में वह उन भुजग रूपी नरपतियों का उल्लेख करता है जिन्हें स्कन्दगुप्त ने निर्विष किया, तीसरे में स्कन्दगुप्त द्वारा अपने पिता की मृत्यूपरान्त चारों समुद्रों तक पृथिवी को जीत लिये जाने का, तीसरे में म्लेच्छों के पराभाव का, पांचवें में 'मनुजेन्द्र' अर्थात् कुमारगुप्त के अन्य पुत्रों का परित्याग करके लक्ष्मी द्वारा स्कन्दगुप्त को अपना पति वरण किये जाने का और छठे में स्कन्दगुप्त के सुशासन का। स्कन्दगुप्त के इन युद्धों की व्याख्या और उसके शत्रुओं की पहिचान हमने ऊपर टिप्पणियों में की है। यहां इतना ही स्मरण दिला देना पर्याप्त है कि उसके म्लेच्छ शत्रुओं की पहिचान भितरी-लेख के हूणों से की जानी चाहिये तथा पांचवें श्लोक में लक्ष्मी द्वारा उसे पति चुने जाने का उल्लेख वस्तुतः गृह-युद्ध का वर्णन है (विस्तृत विवेचन के

लिये ऊपर सम्बद्ध टिप्पणियां देखें)। छठा श्लोक स्पष्टतः यह बताता है कि जब स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य पर अधिकार कर लिया तो उसने समस्त प्रदेशों में सुशासन की स्थापना की थी जिसमें प्रजा अत्यन्त सुखी थी। इस वर्णन का स्कन्दगुप्त के भितरी-अभिलेख में उल्लिखित विजयों के वर्णन के साथ अध्ययन किये जाने पर स्कन्दगुप्त की प्रारम्भिक कठिनाइयां व सफलतायें दोनों स्पष्ट हो जाती हैं।

प्रशासन के अध्ययन में महत्त्व—जूनागढ़-प्रशस्ति के ७वें श्लोक में स्कन्दगुप्त द्वारा समस्त देशों अर्थात् प्रान्तों में नये गोप्ता अर्थात् गवर्नर नियुक्त किये जाने का उल्लेख है और तदुपरान्त ८वें से ११वें श्लोकों में स्कन्दगुप्त की इस चिन्ता का कि वह सौराष्ट्र में किसे गवर्नर नियुक्त करे। स्कन्दगुप्त की इस चिन्ता के माध्यम से कवि ने एक आदर्श गोप्ता के गुण गिनाये हैं जिन्हें उसके अनुसार स्कन्दगुप्त ने पर्णदत्त में पाया—यहां यह मानना आवश्यक नहीं है कि स्कन्दगुप्त सौराष्ट्र पर हूण आक्रमण के कारण चिन्तित था। जो भी हो, ये श्लोक यह बताते हैं कि एक अच्छे गोप्ता में सिद्धान्ततः किन गुणों की आवश्यकता मानी जाती थी। इस प्रकार गुप्त प्रान्तीय प्रशासन के अध्ययन की दृष्टि से इस प्रशस्ति का यह अंश बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

१२वें और १३वें श्लोकों में पर्णदत्त की नियुक्ति का वर्णन करके कवि ने १४वें से २५वें श्लोक तक, एक आदर्श नगर-रक्षक के रूप में चक्रपालित के गुण और कार्य शैली बताये हैं। इन श्लोकों से पता चलता है कि गुप्तकाल में नगर-रक्षकों के आदर्श गुण क्या माने जाते थे और उनके क्या अधिकार तथा कर्त्तव्य थे। इस दृष्टि से भी जूनागढ़-प्रशस्ति का भारी महत्त्व है। ऐसा वर्णन हमें किसी और अभिलेख में नहीं मिलता।

सुदर्शन झील का इतिहास—२६वें से ३१वें श्लोकों में कवि ने सुदर्शन तटाक के टूट जाने और उसके कारण प्रजा के कष्ट का वर्णन किया है। प्रशस्ति का यह अंश शक महाक्षत्रप रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख के साथ तुलना करते हुए पढ़ा जाना चाहिये क्योंकि इन दोनों अभिलेखों से सुदर्शन झील का, चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा इसके निर्माण से लेकर स्कन्दगुप्त काल तक का, इतिहास स्पष्ट हो जाता है। रुद्रदामा के जूनागढ़-लेख से ज्ञात होता है कि इस झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रीय (=गवर्नर) वैश्य पुष्यगुप्त ने कराया था, अशोक के काल में इससे यवनराज तुषास्फ ने नहरें निकलवाईं, तथा प्रथम रुद्रदामा के काल में इसमें भारी दरार पड़ जाने पर पह्लव सुविशाख ने इसका पुनर्संस्कार कराया जिसके लिये रुद्रदामा ने अपने पास से भारी धन व्यय किया। स्कन्दगुप्त के काल में इस झील का बांध जब दोबारा टूटा तो, जैसा कि हमारा प्रस्तुत अभिलेख बताता है, सौराष्ट्र में स्कन्दगुप्त द्वारा नियुक्त गोप्ता पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने इसका पुनर्निर्माण कराया। इस प्रकार इन दो लेखों से सुदर्शन झील का स्कन्दगुप्त तक का इतिहास ज्ञात हो जाता है। प्राचीन भारत की किसी अन्य झील का इतना विस्तृत इतिहास ज्ञात नहीं है। सुदर्शन झील का इतिहास हमें यह भी बताता है कि प्राचीन भारतीय नरेश, विशेषतः रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त जैसे नरेश, कृषि की उन्नति के लिये सिंचाई की व्यवस्था बनाये रखने में कितनी रुचि लेते थे।

स्कन्दगुप्त के तिथिक्रम पर प्रकाश : उसने ४५५ ई० के कई वर्ष पूर्व शासन करना प्रारम्भ कर दिया था—अभी तक सब विद्वान् यह मानते चले आये हैं कि स्कन्दगुप्त ४५५ ई० में गद्दी पर बैठा था (उदाहरणार्थ दे०, पी० एल० गुप्त, गुप्त साम्राज्य, पृ० १८०; सिनहा, डेक्लाइन ऑव द किंगडम ऑव मगध, पृ० ४५-६)। सिनहा तो यहां तक मानते हैं कि इस लेख से मात्र यह सिद्ध होता है कि स्कन्दगुप्त उस समय शासन कर रहा था जब गु० स० १३७ (=४५६ ई०) मेंबांध का पुनर्निर्माण कराया गया था।

मजूमदार (को० हि० इ०, ३, भाग १, पृ० ६६) मानते हैं कि प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु और स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के मध्य 'लघु अन्तराल' रहा था। हमने ही सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया कि स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-अभिलेख से यह निर्णायक रूप से सिद्ध होता है कि स्कन्दगुप्त ४५५ ई० के कई वर्ष पूर्व सत्ता प्राप्त कर चुका था (गोयल, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, भाग ३, पृ० १६४-६)। हमने ध्यान दिलाया है कि जूनागढ़-लेख में घटनाओं का क्रम जिस प्रकार और जिस भाषा में दिया गया है उससे स्पष्ट है कि गु० स० १३६ में सुदर्शन झील का बांध टूटने के बहुत पहिले स्कन्दगुप्त सत्ता प्राप्त कर चुका था। इस अभिलेख में ६ठे श्लोक तक स्कन्दगुप्त के युद्धों का वर्णन करने के बाद कहा गया है कि इस प्रकार समस्त पृथिवी को जीत लेने के बाद (एवं स जित्वा पृथिवींसमग्रां—श्लोक ७) स्कन्दगुप्त ने अन्य प्रदेशों में गोप्ता नियुक्त किये और अन्य प्रदेशों में गोप्ता नियुक्त करने के पश्चात् (सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्—श्लोक ७) उसने सौराष्ट्र में पर्णदत्त की नियुक्ति की। पर्णदत्त की सौराष्ट्र में नियुक्ति का तात्पर्य यह हुआ कि उस समय तक स्कन्दगुप्त की सत्ता पश्चिमी समुद्र तक स्थापित हो चुकी थी। स्वयं पर्णदत्त ने सौराष्ट्र का गोप्ता बनने के उपरान्त अपने पुत्र चक्रपालित के गुणों की परीक्षा करके (गुणान् परीक्ष्य स्वयमेव पित्रा—श्लोक २०) उसे नगर-रक्षक नियुक्त किया। इसके उपरान्त चक्रपालित की नगर-रक्षक रूप में सफलता का वर्णन है जिसमें उसे कुछ समय लगा होगा। इसके उपरान्त कालक्रमानुसार वर्षा काल आने पर (अथ क्रमेणाम्बुद काल आगते—श्लोक २६) गु० स० १३६ के भाद्रपद मास में सुदर्शन झील का बांध टूटा। इस वर्णन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी घटनायें इस तिथि के पूर्व घट चुकी थीं। और क्योंकि इन घटनाओं को घटने में कुछ वर्ष अवश्य लगे होंगे इसलिये हम यह निष्कर्ष निकालने के लिये बाध्य हैं कि स्कन्दगुप्त ४५५ ई० के कई वर्ष पूर्व सत्ता प्राप्त कर चुका था। सिनहा ने आग्रह किया है कि 'अथ क्रमेण' से घटनाओं का नया क्रम आरम्भ होता है, अतः यह मानना आवश्यक नहीं है कि झील का बांध इसके पूर्व वर्णित घटनाएं घटने के बाद टूटा था लेकिन उनका यह आग्रह मानने पर भी स्थिति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि चक्रपालित ने बांध का पुनर्निर्माण गु० स० १३७ के चैत्र या वैशाख माह में करवाना प्रारम्भ कर दिया था, इसलिये उसकी नियुक्ति गु० स० १३६ के अन्त तक अवश्य हो गई होगी और तदनुसार उपर्युक्त घटनायें इसके पूर्व घटी ही होंगी। वस्तुतः इस निष्कर्ष में कि स्कन्दगुप्त ने १३६ गु० स० के कई वर्ष पूर्व शासन करना प्रारम्भ कर दिया था, सबसे बड़ी बाधा प्रथम कुमारगुप्त की वे मुद्रायें हैं जिन पर उसकी अन्तिम तिथि १३६ गु० स० दी गई है—ऐसा माना जाता है। इस आपत्ति के दो उत्तर सम्भव हैं—या तो स्कन्दगुप्त प्रथम कुमारगुप्त के जीवनकाल में ही यथार्थतः सत्ताधारी होकर शासन करने लगा था और या जैसा कि पी० एल० गुप्त का आग्रह है (गुप्त साम्राज्य, पृ० १७६ अ०)। प्रथम कुमारगुप्त का ऐसा कोई विश्वसनीय सिक्का है ही नहीं जिस पर गु० स० १३० के बाद की तिथि दी गई हो। हमें पी० एल० गुप्त का आग्रह सही जान पड़ता है। वस्तुतः ये दोनों ही विकल्प सही हो सकते हैं। जो भी हो, स्कन्दगुप्त की जूनागढ़-प्रशस्ति यह प्रश्नातीत रूप से सिद्ध करती है कि उसने यथार्थ सत्ता ४५५ ई० के बहुत पहिले प्राप्त कर ली थी।

स्कन्दगुप्त का व्यक्तित्व—स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व के ऊपर भी जूनागढ़-अभिलेख कुछ प्रकाश देता है। भितरी स्तम्भ-लेख के समान इसमें भी स्कन्दगुप्त के शौर्य पर बहुत बल दिया गया है। वास्तव में इसके दूसरे से छठे श्लोक तक उसकी विजयों का ही वर्णन है। दूसरे, इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि वह प्रजा का बहुत हितैषी था। ७वें श्लोक में उसके सुशासन का वर्णन है और तदुपरान्त बताया

गया है कि उसने किस प्रकार योग्य व्यक्तियों को प्रान्तों में गोप्ता नियुक्त किया। इनसे स्कन्दगुप्त की प्रशासन में रुचि का आभास मिलता है।

धार्मिक महत्त्व—प्रस्तुत अभिलेख एक वैष्णव अभिलेख है। यह भगवान् विष्णु की स्तुति से प्रारम्भ होता है जिसमें विष्णु के वामन अवतार की कथा का उल्लेख है। पर्णदत्त की रुचि किस धर्म में थी यह तो स्पष्टतः नहीं कहा गया है परन्तु उसने अपने पुत्र का नाम 'चक्रपालित' (=भगवान् विष्णु के चक्र द्वारा रक्षित) रखा और चक्रपालित स्वयं भगवान् गोविन्द का भक्त था (दे०, स्कन्दगुप्त का द्वितीय जूनागढ़-लेख, पं० २)। इन तथ्यों से लगता है कि पर्णदत्त भी वैष्णव मतानुयायी था। यह बात उस समय और महत्वपूर्ण लगेगी अगर हम शार्पेण्टियर का अनुसरण कर यह मानें कि पर्णदत्त और चक्रपालित पह्लव थे और उनके नाम पह्लव नाम फर्नदात और चकरपात का संस्कृत रूपान्तर हैं। जो भी हो, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़-लेख पांचवी शती ई० में सौराष्ट्र में वैष्णव मत के प्रसार का द्योतक है।

साहित्यिक महत्त्व—साहित्यिक दृष्टि से जूनागढ़-लेख बहुत उच्च कोटि की रचना तो नहीं है परन्तु मध्यम कोटि की अच्छी रचनाओं में परिगणनीय है। सम्भवतः यह किसी कवि की प्रारम्भिक रचना है। यह वैदर्भी शैली में लिखित है। इसका अज्ञात कवि अपनी इस कृति को 'ग्रन्थ' नाम देता है। यह प्रशस्ति वत्सभट्टि द्वारा रचित मन्दसौर-प्रशस्ति (४७२ ई०) से कुछ वर्ष पूर्व की है। वत्सभट्टि ने अपने अभिलेख में ऋतुओं नगरों, पर्वतों और समुद्रों आदि के वर्णन पर बल दिया है तो जूनागढ़-प्रशस्ति के लेखक ने मानवीय गुणों के वर्णन पर। और इसमें वह काफी सफल भी हुआ है। सुदर्शन झील का वर्णन भी बहुत सुन्दर हुआ है और अनेक स्थलों पर रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख का स्मरण दिलाता है (दे०, सम्बन्धित टिप्पणियां)। हो सकता है प्रस्तुत-प्रशस्ति के लेखक ने रुद्रदामा की प्रशस्ति पढ़ी हो। चक्रपालित के कवि में यद्यपि काव्य प्रतिभा है परन्तु वह भावाभिव्यक्ति में दुर्बल है। अनेक स्थलों पर उसके विचारों को समझने में कठिनाई होती है और कहीं-कहीं भाषा बड़ी क्लिष्ट अथवा अभद्र हो गई है। पाद पूर्ति के लिये जगह जगह अनावश्यक शब्दों को घुसेड़ दिया गया है—यथा श्लोक १५ में 'पद्म' शब्द का दो बार प्रयोग है एवं श्लोक २५ में 'अम्बुज' और उसके पर्याय 'पद्म' दोनो का एक साथ प्रयोग। कहीं कहीं छन्दोभंग के डर से समास का विचित्र ढंग से प्रयोग हुआ है—यथा श्लोक १ वथा १२ में नञ् समास का ('अनेक' के स्थान पर 'नैक' शब्द का)। व्याकरण की अन्य कुछ अशुद्धियां भी खटकने वाली हैं—यथा श्लोक २३ में 'सरंजयां च प्रकतीर्बभूव' में। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'संरंजयां' तथा 'बभूव' के मध्य कोई व्यवधान नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार श्लोक ३० में भी 'विचिन्तयान्' और 'बभूव' के मध्य व्यवधान नहीं होना चाहिये था। श्लोक २३ में 'पूर्वस्मिताभाषण' के स्थान पर 'स्मितपूर्वाभाषण' होना चाहिये था।

लेकिन इन दोषों के बावजूद प्रस्तुत लेख में कुछ गुण भी हैं। एक तो असमस्त पदों के प्रयोग की प्रधानता के कारण इसमें प्रवाह बना रहा है। दूसरे, इसमें कवि ने विविध पात्रों के चरित्र-चित्रण में तथा सुदर्शन झील के बांध के टूटने का वर्णन करने में बहुत सफलता पाई है। उसमें शब्द चातुर्य कम है परन्तु माधुर्य अधिक। कभी-कभी वह प्रकृति के साथ भी सहृदयता प्रकट करता है यथा श्लोक २८ में। उसने शब्दालंकार व अर्थालंकार का विशेषतः उपयोग किया है। वर्णानुप्रास तो सर्वत्र दिखाई देता है यथा 'विष्णुः जिष्णुः' (श्लोक १), 'प्राप्तवत्यात्मशक्त्या' (श्लोक ३) आदि में। पदानुप्रास का सुन्दर उदाहरण

श्लोक १४ है जहां 'आत्मन्' शब्द का ८ बार प्रयोग है। अर्थालंकारों में रूपक (यथा, श्लोक ३ में), उपमा (यथा, श्लोक १३ तथा १५ में) तथा उत्प्रेक्षा (यथा, श्लोक २६ में) के उदाहरण मिलते हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है यह किसी अच्छे कवि की प्रारम्भिक कृति है।

स्कन्दगुप्त का द्वितीय जूनागढ़-अभिलेख

वर्ष १३८ (=४५७ ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख अब तक स्कन्दगुप्त के पूर्वगामी जूनागढ़-अभिलेख का द्वितीय भाग माना जाता रहा है, लेकिन जैसा कि हम पीछे स्कन्दगुप्त के वर्ष १३६, १३७ के जूनागढ़-अभिलेख का परिचय देते समय सिद्ध कर आये हैं यह एक सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र अभिलेख है। यह स्कन्दगुप्त के प्रथम जूनागढ़-लेख के नीचे लिखा है, इसलिये फ्लीट को, जिनका अनुसरण अभी तक सब विद्वान् करते रहे हैं, इन्हें एक ही अभिलेख के दो भाग मानने की भूल हो गई थी। लेकिन **भाषा** और **लिपि** की दृष्टि से यह स्कन्दगुप्त के प्रथम जूनागढ़-लेख के सदृश है। इसमें कुल छः पंक्तियां हैं और यह आद्यन्त पद्यात्मक है। इसमें कुल आठ श्लोक हैं जिनके **छन्द** इस प्रकार हैं :—१ : उपजाति (वंशस्थ + इन्द्रवंशा); २-३ : इन्द्रवज्रा; ४-५ तथा ७-८ : वसन्ततिलका; ६ : आर्या (?)। इसका **लेखक** सम्भवतः वही कवि है जिसने स्कन्दगुप्त का प्रथम जूनागढ़-लेख रचा था (तु०, प्रथम जूनागढ़-लेख का श्लोक १ तथा प्रस्तुत-लेख का श्लोक ३)। लेकिन यह बहुत खण्डित अवस्था में मिलता है और इसका कोई भी श्लोक पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है। इसमें दी गई **तिथि** प्रथम जूनागढ़-लेख की तिथि के एक वर्ष बाद की—गुप्त संवत् १३८ है—और इसका **उद्देश्य** चक्रपालित के द्वारा जो प्रथम अभिलेख के अनुसार स्कन्दगुप्त के गवर्नर पर्णदत्त का पुत्र था, उस वर्ष भगवान् चक्रभृत का एक मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—प्रस्तुत लेख तभी से ज्ञात है जब से स्कन्दगुप्त का प्रथम जूनागढ़-लेख प्रकाश में आया (दे०, पीछे)। लेकिन इसकी तरफ इतिहासकारों ने इसलिये विशेष ध्यान नहीं दिया है क्योंकि इसमें ऐतिहासिक महत्त्व की कोई विशेष अतिरिक्त सूचना नहीं है। विशेष सन्दर्भ-ग्रन्थ :—फ्लीट, कॉर्पस, सं० १४; सरकार, स० इ०, पृ० ३१५-१६; वा० उपाध्याय, पृ० १५८-९; भाण्डारकर, छावड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३०५।

मूलपाठ

१. दृप्तारि-दर्प-प्रणुदः पृथु-श्रियः
स्व-वङ्श-केतोः सकलावनी-पतेः
राजाधिराज्याद्भुत-पुण्य-[कर्मणः]
⏑ — ⏑ — — ⏑ ⏑ — ⏑ — ⏑ — (।।*) १
— — ⏑ — — ⏑ ⏑ — ⏑ — —
— — ⏑ — — ⏑ ⏑ — ⏑ — — (।*)

द्वीपस्य गोप्ता महतां च नेता
दण्ड-स्थि[ता*]नां
२. द्विषतां दमाय ।(।*) २
तस्यात्मजेनात्मगुणान्वितेन
गोविन्द-पादार्पित-जीवितेन ।
———⌣———⌣⌣——⌣——
——⌣———⌣⌣——⌣———(।।*) ३
——⌣——⌣⌣⌣—⌣⌣——⌣—र्धं
विष्णोश्च पादकमले समवाप्य तत्र ।
अर्थव्ययेन
३. महतामहता च काले-
नात्म-प्रभाव-नत-पौरजनेन तेन ।(।*) ४
चक्रं विभर्त्ति रिपु—⌣⌣—⌣——
——⌣——⌣⌣——⌣⌣——⌣——(।*)
———⌣—⌣⌣⌣ - ⌣⌣——⌣——
तस्य स्व-तंत्र-विधि-कारण-मानुषस्य ।(।*) ५
✓४. कारितमवक्र-मतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहं (हम्) । मंदिर बनाया
वर्षशते(ऽ*)ष्टात्रिंशे गुप्तानां काल-[क्रम-गणिते*] (।।*) ६ 138 बनाया
———⌣—⌣⌣——⌣⌣——⌣— -
——⌣—⌣⌣——⌣⌣——⌣——(।*)
—[स*]ार्थमुत्थितमिवोर्जयतो(ऽ*)चलस्य
५. कुर्वत्प्रभुत्वमिव भाति पुरस्य मूर्ध्नि ।। ७
अन्यच्च मूर्द्धनि सु—⌣⌣—⌣——
———⌣—⌣⌣——⌣⌣——⌣——(।*)
——⌣——⌣⌣⌣रुद्ध-विहंग मार्गं
विभ्राजते⌣⌣——⌣⌣——⌣——(।।*) ८

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'वङ्श' को 'वंश' पढ़ें । सरकार 'धिराज्या०' से 'धिराजा०' पाठ अच्छा समझते हैं । पंक्ति ४ : 'भृतः चक्र०' को 'भृतश्चक्र०' पढ़ें ।

शब्दार्थ

दृप्त = गर्वीला; दृप्तारि = गर्वीले शत्रु, प्रणुदः = दूर करने वाला; केतु = ध्वज; द्वीप = यहां सौराष्ट्र से आशय है; द्विषत = शत्रु; महतामहता = महता + अमहता; महता = प्रभूत; अमहता = लघु, अल्प; अवाप्य = प्राप्त करके; विभृ = धारण करना; अवक्रमति = अकुटिल मति वाला, सरल बुद्धि वाला; अचल = पर्वत; भाति = चमकता है; मूर्ध्नि = ललाट पर; विहंग = पक्षी; विभ्राजते = प्रकाशमान है

अनुवाद

पं० १ उसका (अर्थात् उस स्कन्दगुप्त का), जो गर्वीले शत्रुओं का दर्प दूर करने वाला, महान् श्री युक्त, अपने वंश का केतु (तथा) समस्त पृथिवी का स्वामी है (और) जिसके पुण्यकर्म (उसके) राजाधिराज्य से भी अद्‌भुत हैं············।।१।।

············(पर्णदत्त) द्वीप का गोप्ता (=गवर्नर)············का महान् नेता······
······सेनाओं वाले शत्रुओं के दमन के लिये············ ।।२।।

पं० २ उसके पुत्र (चक्रपालित) द्वारा जो उसके (अर्थात् पर्णदत्त के) अपने गुणों से युक्त है और जिसका जीवन (भगवान्) गोविन्द के चरणों (की पूजा) के लिये अर्पित है············

············उसके द्वारा जो अपने प्रभाव से पौर जनों को नत कर देता है, वहां ············प्राप्त करके············और (भगवान्) विष्णु के चरणकमलों में, प्रभूत धन व्यय करके और अल्पकाल में············चक्र को धारण करने वाले ············शत्रुओं············उसका (मन्दिर बनवाया गया) जो स्वयं अपनी इच्छा शक्ति से (अवतार लेकर) मनुष्य बने············
············ ।।३-५।।

पं० ४ (इस प्रकार) सरल बुद्धि वाले चक्रपालित द्वारा (भगवान्) चक्रभृत (=विष्णु) का गृह (=मन्दिर) गुप्तों के काल में गणना करने पर एक सौ अड़तीसवें वर्ष में बनवाया गया ।।६।।

············ऊर्जयत पर्वत का मानो उठा हुआ············हो, इस प्रकार प्रकाशित है मानो नगर के ललाट पर प्रभुत्व (प्रदर्शित) कर रहा हो ।।७।।

पं० ५ और अन्य············ललाट पर············पक्षियों के मार्ग को अवरुद्ध करते हुए, प्रकाशमान है············ ।।८।।

व्याख्या

(१) स्ववंशकेतोः—इस अभिलेख के प्रथम श्लोक में स्पष्टतः स्कन्दगुप्त की कीर्त्ति का वर्णन था, यद्यपि उसका नाम अब उपलब्ध अंश में नहीं मिलता। उसको 'अपने वंश की पताका' कहा जाना उसी प्रकार गुप्त वंश में उसकी महत्ता की ओर इंगित करता है जैसे भितरी-लेख के दूसरे श्लोक में उसे 'गुप्तवंशैकवीर' कहा जाना।

(२) राजाधिराज्याद्भुतपुण्यकर्मणः—तु०, द्वितीय चन्द्रगुप्त का तिथिविहीन उदयगिरि-गुहालेख में 'राजाधिराजर्षेरचिन्त्योज्जवल कर्मणः' रूप में वर्णन। सरकार 'राजाधिराज्या०' को सुधार कर 'राजाधिराजा०' पढ़ने के पक्ष में हैं।

(३) द्वीपस्य गोप्ता—इस अभिलेख के दूसरे श्लोक में निश्चय ही पर्णदत्त का वर्णन था यद्यपि उसका नाम भी उपलब्ध अंश में पठ्य नहीं है। द्वीप=सौराष्ट्र। पर्णदत्त को प्रथम जूनागढ़-लेख में सौराष्ट्र का गोप्ता (=गवर्नर) नियुक्त किये जाने का वर्णन है। इसके आगे तीसरे श्लोक में चक्रपालित का वर्णन प्रारम्भ होता है। वहाँ प्रयुक्त 'तस्यात्मज' शब्द से भी स्पष्ट है कि दूसरे श्लोक में उसके पिता पर्णदत्त का वर्णन था।

(४) **तस्यात्मजेनात्मगुणान्वितेन**—तु०, प्रथम जूनागढ़-लेख का श्लोक १४। सम्भवतः तीसरे श्लोक से लेकर छठे श्लोक तक को मिलाकर पढ़ना चाहिये, लेकिन बीच के अंश खण्डित हो जाने के कारण यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

(५) **चक्रभृत**—विष्णु का एक नाम। विष्णु का विशेष आयुध चक्र होने के कारण वह चक्रधारी या चक्रभृत कहलाते हैं।

लेख का महत्व

यह लेख ऐतिहासिक महत्त्व की कोई विशेष सूचना नहीं देता। इससे केवल यह ज्ञात होता है कि (१) चक्रपालित की सार्वजनिक निर्माण कार्य में रुचि केवल सुदर्शन झील के बांध के पुनर्निर्माण के साथ समाप्त नहीं हो गई थी, इसके बाद उसने एक मन्दिर का निर्माण भी कराया था। (२) गुप्तकाल में सौराष्ट्र में वैष्णव धर्म लोकप्रिय होता जा रहा था। पर्णदत्त द्वारा अपने पुत्र का नाम 'चक्रपालित' रखा जाना और चक्रपालित द्वारा चक्रभृत का मन्दिर बनवाया जाना एवं अपने को भगवान् गोविन्द के चरणों में अर्पित जीवन वाला कहना, यह सिद्ध करते हैं कि ये दोनों पिता-पुत्र वैष्णव धर्मावलम्बी थे।

अनुवाद

पं० १ उसका (अर्थात् उस स्कन्दगुप्त का), जो गर्वीले शत्रुओं का दर्प दूर करने वाला, महान् श्री युक्त, अपने वंश का केतु (तथा) समस्त पृथिवी का स्वामी है (और) जिसके पुण्यकर्म (उसके) राजाधिराज्य से भी अद्‌भुत हैं············॥१॥

············(पर्णदत्त) द्वीप का गोप्ता (=गवर्नर)············का महान् नेता······ ······सेनाओं वाले शत्रुओं के दमन के लिये············ ॥२॥

पं० २ उसके पुत्र (चक्रपालित) द्वारा जो उसके (अर्थात् पर्णदत्त के) अपने गुणों से युक्त है और जिसका जीवन (भगवान्) गोविन्द के चरणों (की पूजा) के लिये अर्पित है············

············उसके द्वारा जो अपने प्रभाव से पौर जनों को नत कर देता है, वहां ············प्राप्त करके············और (भगवान्) विष्णु के चरणकमलों में, प्रभूत धन व्यय करके और अल्पकाल में············चक्र को धारण करने वाले ············शत्रुओं············उसका (मन्दिर बनवाया गया) जो स्वयं अपनी इच्छा शक्ति से (अवतार लेकर) मनुष्य बने············ ············ ॥३-५॥

पं० ४ (इस प्रकार) सरल बुद्धि वाले चक्रपालित द्वारा (भगवान्) चक्रभृत (=विष्णु) का गृह (=मन्दिर) गुप्तों के काल में गणना करने पर एक सौ अड़तीसवें वर्ष में बनवाया गया ॥६॥

············ऊर्जयत पर्वत का मानो उठा हुआ············हो, इस प्रकार प्रकाशित है मानो नगर के ललाट पर प्रभुत्व (प्रदर्शित) कर रहा हो ॥७॥

पं० ५ और अन्य············ललाट पर············पक्षियों के मार्ग को अवरुद्ध करते हुए, प्रकाशमान है············ ॥८॥

व्याख्या

(१) **स्ववंशकेतोः** —इस अभिलेख के प्रथम श्लोक में स्पष्टतः स्कन्दगुप्त की कीर्त्ति का वर्णन था, यद्यपि उसका नाम अब उपलब्ध अंश में नहीं मिलता। उसको 'अपने वंश की पताका' कहा जाना उसी प्रकार गुप्त वंश में उसकी महत्ता की ओर इंगित करता है जैसे भितरी-लेख के दूसरे श्लोक में उसे 'गुप्तवंशैकवीर' कहा जाना।

(२) **राजाधिराज्याद्भुतपुण्यकर्मणः** —तु०, द्वितीय चन्द्रगुप्त का तिथिविहीन उदयगिरि-गुहालेख में 'राजाधिराजर्षेरचिन्त्योज्जवल कर्मणः' रूप में वर्णन। सरकार 'राजाधिराज्या०' को सुधार कर 'राजाधिराजा०' पढ़ने के पक्ष में हैं।

(३) **द्वीपस्य गोप्ता**—इस अभिलेख के दूसरे श्लोक में निश्चय ही पर्णदत्त का वर्णन था यद्यपि उसका नाम भी उपलब्ध अंश में पठ्य नहीं है। द्वीप=सौराष्ट्र। पर्णदत्त को प्रथम जूनागढ़-लेख में सौराष्ट्र का गोप्ता (=गवर्नर) नियुक्त किये जाने का वर्णन है। इसके आगे तीसरे श्लोक में चक्रपालित का वर्णन प्रारम्भ होता है। वहाँ प्रयुक्त 'तस्यात्मज' शब्द से भी स्पष्ट है कि दूसरे श्लोक में उसके पिता पर्णदत्त का वर्णन था।

(४) **तस्यात्मजेनात्मगुणान्वितेन**—तु०, प्रथम जूनागढ़-लेख का श्लोक १४। सम्भवतः तीसरे श्लोक से लेकर छठे श्लोक तक को मिलाकर पढ़ना चाहिये, लेकिन बीच के अंश खण्डित हो जाने के कारण यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

(५) **चक्रभृत**—विष्णु का एक नाम। विष्णु का विशेष आयुध चक्र होने के कारण वह चक्रधारी या चक्रभृत कहलाते हैं।

लेख का महत्व

यह लेख ऐतिहासिक महत्त्व की कोई विशेष सूचना नहीं देता। इससे केवल यह ज्ञात होता है कि (१) चक्रपालित की सार्वजनिक निर्माण कार्य में रुचि केवल सुदर्शन झील के बांध के पुनर्निर्माण के साथ समाप्त नहीं हो गई थी, इसके बाद उसने एक मन्दिर का निर्माण भी कराया था। (२) गुप्तकाल में सौराष्ट्र में वैष्णव धर्म लोकप्रिय होता जा रहा था। पर्णदत्त द्वारा अपने पुत्र का नाम 'चक्रपालित' रखा जाना और चक्रपालित द्वारा चक्रभृत का मन्दिर बनवाया जाना एवं अपने को भगवान् गोविन्द के चरणों में अर्पित जीवन वाला कहना, यह सिद्ध करते हैं कि ये दोनों पिता-पुत्र वैष्णव धर्मावलम्बी थे।

स्कन्दगुप्तकालीन कहांव पाषाण स्तम्भ-लेख

वर्ष १४१ (=४६० ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख जिस पाषाण स्तम्भ पर उत्कीर्ण है वह उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में सलमपुर-मझौली परगने के मुख्य कस्बे सलमपुर-मझौली से पांच मील दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित कहाऊं या कहांव नामक गांव से मिला है। धूम्रवर्ण के जिस बलुहे पत्थर से यह स्तम्भ बना है वह गांव से कुछ ही दूर उत्तर की तरफ स्थित है। कहांऊ का प्राचीन नाम ककुभ या ककुभग्राम था जो इसी लेख में उल्लिखित है। स्तम्भ पर पांच नग्न मूर्तियां बनी हैं। जैसा कि सर्वप्रथम भगवानलाल इन्द्रजी ने सुझाया था, ये पांच लोकप्रिय तीर्थङ्करों—आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की मूर्तियां हैं और सम्भवतः पांच आदिकर्त्ताओं अथवा पांच तीर्थङ्करों की प्रतिमायें, जिनकी अभिलेख में चर्चा हुई है, ये ही हैं।

प्रस्तुत अभिलेख अठपहलुवे स्तम्भ के तीन उत्तरी पहलुओं के उपरले भाग पर उत्कीर्ण है। यह २' २½" चौड़े और १'८" ऊंचे क्षेत्रफल में लिखा है। इसकी सबसे निचली पंक्ति धरातल से लगभग साढ़े सात फुट ऊपर है। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी जो समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से सादृश्य रखती है। लेख में कुल बारह पंक्तियां हैं और यह 'सिद्धम' शब्द को छोड़ कर (जो दूसरी और तीसरी पंक्ति में हाशिये में लिखा है) आद्योपान्त पद्यात्मक है। इसमें कुल तीन **श्लोक** हैं और तीनों ही **'स्रग्धरा' छन्द** में हैं। **वर्तनी** में 'वन्श' (पं० २` तथा त्रिन्शत्' में अनुस्वार के बजाय दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग तथा अनुवर्ती 'र' के संयोग में 'क' तथा 'त' का द्वित्व, यथा 'चक्क्रे' (पं० ९) तथा 'पुत्त्रों' (पं० ६) में, उल्लेख्य हैं। परन्तु 'शक्रो' (पं० ३) में अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर भी 'क' का द्वित्व नहीं हुआ है। लेख में प्रदत्त **तिथि** स्कन्दगुप्त के शासनकाल का अर्थात् गुप्त संवत् का वर्ष १४१ का ज्येष्ठ मास है। स्तम्भ में स्थित मूर्त्तियों एवं लेख के अन्तः साक्ष्य से सिद्ध है कि यह एक जैन अभिलेख है। इसका **उद्देश्य** भद्र नामक किसी व्यक्ति द्वारा कुकुभ ग्राम में आदिकर्त्ताओं (=तीर्थंकरों) की उपर्युक्त पांच प्रस्तर मूर्त्तियों के निर्माण का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस अभिलेख की चर्चा सर्वप्रथम डा० फ्रान्सिस बुखनन (हैमिल्टन) ने अपनी बंगाल प्रेजीडेन्सी की सर्वेक्षण रिपोर्ट में, जो १८१६ में तैयार हुई, की थी। इस रिपोर्ट के आधार पर माण्टगुमरी मार्टिन ने १८३८ में अपनी पुस्तक 'ईस्टर्न इण्डिया' लिखी जिसके दूसरे भाग में (पृ० ३६६ अ०) यह लेख शिलामुद्रण सहित छापा। उसी वर्ष प्रिन्सेप ने इसका अपना पाठ व अनुवाद जे० ए० एस० बी०, ७ (पृ० ३७) में प्रकाशित किया। १८७१ में इसको कनिंघम ने ए० एस० आई०, १ (पृ० ९३) में तथा १८८१ में भगवानलाल इन्द्रजी ने आई० ए०, १० (पृ०१२५) में अपने पाठ, अनुवाद व नवीन शिलामुद्रणों सहित प्रकाशित किया। तदनन्तर फ्लीट ने इसे अपने 'कॉर्पस' में

(स० १५) सम्पादित किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—सरकार, स० इ०, पृ० ३१६-७; रा० ब० पाण्डेय, आई० एच० क्यु०, २८, पृ० २९८-३००; हि० लि० इ०, पृ० ९२; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १६०; विजयमूर्ति, जैन शिलालेख संग्रह, २, पृ० ५८; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३०५-८।

मूलपाठ

सिद्ध(म्*) [।]

१. यस्योपस्थान-भूमिर्नृपति-शत-शिरः-पात-वातावधूता
२. गुप्तानां वन्शजस्य प्रविसृत-यशसस्तस्य सर्व्वोत्तमर्द्धेः (।*)
३. राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिप-शत-पतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
४. वर्षे त्रिन्शद्दशैकोत्तरक-शततमे ज्येष्ठ-मासि प्रपन्ने ।(।*) १
५. ख्याते(ऽ*)स्मिन्ग्राम-रत्ने ककुभ इति जनैस्साधु-संसर्ग-पूते ।
६. पुत्त्रो यस्सोमिलस्य प्रचुर-गुण-निधेर्भट्टिसोमो महा[त्मा] (।*)
७. तत्सूनू रुद्रसोम(ः*) पृथुल-मति-यशा व्याघ्र इत्यन्य-संज्ञो ।
८. मद्रस्तस्यात्मजो(ऽ*)भूद्द्विज-गुरु-यतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः ।(।*) २
९. पुण्य-स्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो
१०. श्रेयोर्त्थं भूत-भूत्य पथि नियमवतामर्हतामादिकर्त्तॄन् (।*)
११. पञ्चेन्द्रां स्थापयित्वा धरणिधरमयान्सन्निखातस्ततो(ऽ*)यम्(यं)
१२. शैल-स्तम्भः सुचारुगिरिवर-शिखराग्रोपमः कीर्त्ति कर्त्ता (।।*) ३

पाठ-टिप्पणी—'सिद्धं' शब्द हाशिये में बायीं ओर लिखा है, 'सि' दूसरी पंक्ति की सीध में व 'द्धं' तीसरी पंक्ति से कुछ ऊपर। पंक्ति १ : 'शिरः' के बाद एक चिह्न बना है जो अनावश्यक है। पंक्ति २ : 'वन्श०' को 'वंश०' पढ़ें। पंक्ति ४ : 'त्रिन्श०' को 'त्रिंश०' पढ़ें। ज्येष्ठ=ज्यैष्ठ। पंक्ति ५, ७, १० तथा ११ : अन्त में बने चिह्न अनावश्यक हैं। पंक्ति ११ : 'पञ्चेन्द्रां' को 'पञ्चेन्द्रान्' पढ़ें।

शब्दार्थ

पंक्तियां १–४

उपस्थान=आवास, सभा भवन; वात=वायु; अवधूता=हिल उठता है; प्रविसृत=फैला हुआ, विस्तारित; सर्वोत्तमर्द्धेः=सर्वोत्तम समृद्धि वाले; शक्र=इन्द्र; क्षितिप=राजा; प्रपन्ने=आने पर

पंक्तियां ५–८

संसर्गपूत=सम्पर्क से पवित्र; सूनुः=पुत्र; पृथुल=चौड़ा, प्रशस्त; संज्ञः=नाम वाला; प्रायशः=बहुधा, विशेषतः; प्रीतिमान्यः=अनुरक्त

पंक्तियां ९–१२

पुण्य स्कन्ध=पुण्य संग्रह; वीक्ष्य=देखकर; संसरण=परिवर्तनशीलता, आवागमन के चक्र में

फंसे हुए होने की स्थिति; श्रेयार्थं = श्रेयस् की प्राप्ति के लिये; भूत = प्राणी; भूत्यैः = कल्याण के लिये; पथि = मार्ग में; आदिकृर्त्तृ = प्रथम निर्माण करने वाले अर्थात् अग्रगण्य पुरुष; इन्द्र = जिनेन्द्र (यहां 'जिनेन्द्र प्रतिमा' अर्थ प्रतीत होता है); धरणिधर = पर्वत (यहां 'प्रस्तर' अर्थ है); सन्निखात = खोद कर गाड़ा हुआ; कीर्त्तिकर्त्ता = यश प्रदान करने वाला ।

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो । जिनका सभाभवन सैकड़ों राजाओं के शिरों के (सम्मान प्रदर्शन की क्रिया में) गिरने (अर्थात् झुकने) से उत्पन्न वायु से हिल उठता है; (जो) गुप्तों के वंश में उत्पन्न हुए हैं; जो दूर तक फैले हुए यश वाले हैं; (जो) सर्वोत्तम समृद्धि वाले हैं; (जो) शक्र (= इन्द्र) के समान हैं (तथा) (जो) सैकड़ों राजाओं के स्वामी हैं—(उन) स्कन्दगुप्त के शान्तिपूर्ण शासन के एक सौ इकतालीसवें वर्ष में (अर्थात् गुप्त संवत् एक सौ इकतालीस में) ज्यैष्ठ मास आ जाने पर; —

पं० ५ कुकुभ नाम से विख्यात (तथा) साधु जनों के संसर्ग से पवित्र इस ग्राम रत्न में महात्मा भट्टिसोम (हुए) जो प्रचुर गुणों के निधि सोमिल के पुत्र (थे) । उनका (अर्थात् भट्टिसोम का) पुत्र प्रशस्त मति (अर्थात् महान बुद्धि) (और) यश वाला रुद्रसोम (था) जिसका अन्य नाम व्याघ्र (था)। उसका मद्र (नामक) पुत्र हुआ जो ब्राह्मणों, गुरुओं (= धार्मिक पुरुषों) तथा यतियों में विशेषतः अनुरक्त (था) ।

पं० ६ इस अखिल जगत् को परिवर्तनशील देखकर आशंकित होकर उसने (महान्) पुण्य संग्रह किया । (और उसके द्वारा) श्रेयस् की प्राप्ति के लिये (तथा) प्राणियों के कल्याण के लिये नियमानुसार आचरण करने वाले अर्हतों के मार्ग में आदिकर्त्ताओं (अर्थात् मार्ग निदेशकों अर्थात् तीर्थङ्करों) के, पर्वतों के सार से निर्मित (अर्थात् प्रस्तर निर्मित) पांच इन्द्र (= जिनेन्द्र = जिनेन्द्र प्रतिमायें) स्थापित करवाये जाने के उपरान्त श्रेष्ठ पर्वत के शिखर के अग्रभाग के समान (तथा) (उसे) यश प्रदान करने वाला यह सुचारु शैल स्तम्भ (भूमि में) गड़वाया गया ।

व्याख्या

(१) **क्षितिपशतपतेः** —स्कन्दगुप्त को 'सैकड़ों राजाओं का स्वामी' तथा उसके उपस्थान में सैकड़ों राजाओं के शीश झुकाने के उल्लेख से गुप्त शासन व्यवस्था का सामन्तवादी रूप स्पष्ट होता है । तु०, प्रयाग-प्रशस्ति में प्रत्यन्त राजाओं का समुद्रगुप्त के पास 'प्रणामागमन' के हेतु तथा पड़ौसी राजाओं का 'आत्म-निवेदन' के लिये आने का उल्लेख । 'हर्षचरित' के द्वितीय उच्छ्वास में सम्राट् तथा सामन्त राजाओं के सम्बन्ध का विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है ।

(२) **शान्ते वर्षे**—'शान्तिपूर्ण वर्ष में' । इस कथन से बहुत से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि इस लेख का लेखक इस बात की ओर इंगित कर रहा है कि इसकी रचना होने तक हूणों तथा पुष्यमित्रों आदि के आक्रमण से उत्पन्न अशान्ति दूर हो चुकी थी ।

(३) **कुकुभग्राम**—उस गांव का, जहां से यह लेख मिला है, 'कहाऊं' नाम स्पष्टतः 'क्कुभग्राम' नाम का बिगड़ा रूप है ।

(४) **व्याघ्रइत्यन्यसंज्ञः** —रुद्रसोम का अपर नाम व्याघ्र था, इससे स्पष्ट है कि उस युग में सामान्य जनों में भी दो नाम रखने की प्रथा (जो राजाओं में प्रायः मिलती है) अज्ञात नहीं थी।

(५) **आदिकर्त्तृ** =प्रथम निर्माता=जो अर्हतों के मार्ग को निर्देशित करने वाले हैं। भगवानलाल इन्द्रजी ने सर्वप्रथम यह सुझाया कि यहां जैन धर्म के तीर्थङ्करों से आशय है।

(६) **पञ्चेन्द्रान्** =पांच इन्द्र। भगवानलाल इन्द्रजी का यह सुझाव फ्लीट ने माना है कि यहां इन्द्र से तात्पर्य 'उत्कृष्ट प्रतिमा' है। परन्तु जैसा कि दि० च० सरकार ने सुझाया है यहां 'इन्द्र' का अर्थ 'जिनेन्द्र' लगता है और 'पञ्चेन्द्रान्' का 'पांच जिनेन्द्र' अर्थात् 'पांच जिनेन्द्र मूर्त्तियां'। इनकी पहिचान स्पष्टतः इस लेख के स्तम्भ पर बनी पांच नग्न मूर्त्तियों से की जानी चाहिये। पांच लोकप्रिय जिनेन्द्र हैं: आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर।

अभिलेख का महत्व

यह अभिलेख अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक, इससे गुप्त साम्राज्य के प्रशासन की सामन्तीय व्यवस्था का रूप स्पष्टतर होता है (दे०, टि० १)। दूसरे, इससे ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त की सभी कठिनाइयां ४६० ई० तक अवश्य ही दूर हो चुकी थीं और उसके साम्राज्य में शान्ति स्थापित हो चुकी थी। स्मरणीय है कि स्कन्दगुप्त का सूपिया लेख भी, जो ४६० ई० का ही है; किसी प्रकार की अशान्ति की ओर संकेत नहीं करता। तीसरे, यह अभिलेख जैन धर्म के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देता है।

स्कन्दगुप्तकालीन सूपिया (रीवा) स्तम्भ अभिलेख

वर्ष १४१ (=४६० ई०)

लेख-परिचय—उस स्तम्भ का, जिस पर यह लेख उत्कीर्ण है, **प्राप्ति-स्थल** वर्तमान मध्य प्रदेश में स्थित भूतपूर्व रीवा रियासत का सूपिया या सुपिया गांव है। इस लेख में आठ पंक्तियां हैं जो ८" चौड़े और २२$\frac{1}{2}$" ऊँचे क्षेत्रफल में लिखी हैं। इसकी **भाषा** संस्कृत है जिसमें व्याकरण व वर्तनी की अनेक अशुद्धियां हैं। **वर्तनी** में 'र्' के पूर्व और पश्चात् आने वाले व्यञ्जन का द्वित्व तथा 'वंश' तथा 'चत्वारिंश' के स्थान पर 'वन्श' तथा 'चत्वारिन्श' लिखा जाना उल्लेख्य है। इसकी **लिपि** तत्कालीन युग में मध्य भारत में प्रचलित ब्राह्मी है—वैसी ही जैसी कि परिव्राजक व उच्चकल्प अभिलेखों में मिलती है। इसकी **तिथि** (गुप्त) संवत् १४१ (=४६० ई०) है जो पंक्ति ९-१० में दी गई है। मास और दिवस का उल्लेख अन्तिम दो पंक्तियों (१६-१७) में है यद्यपि 'अस्यां दिवस पूर्व्वायाम्' पद वर्ष के उल्लेख के बाद किया गया है। इस अभिलेख में इसको लिखवाये जाने के समय शासन करने वाले सम्राट् स्कन्दगुप्त का नाम से उल्लेख है और उसकी वंशावली भी दी गई है जो अन्य लेखों से भिन्न शैली में लिखे जाने के कारण रोचक है। अभिलेख का **उद्देश्य** वर्ग नामक ग्रामिक द्वारा अपने पुण्य की वृद्धि के लिये बलयष्टि के रूप में इस स्तम्भ की स्थापना किये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—यह अभिलेख १९४३ ई० में या इसके पूर्व प्रकाश में आया। १९४३-४४ ई० में आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स के बनारस अधिवेशन में इस पर एक लघु निबन्ध पढ़ा गया जो इसके अशुद्ध पाठ पर आधृत था। यह 'कान्फ्रेन्स' की 'प्रोसीडिंग्स्' में १९४८ में प्रकाशित हुआ (जि० ३, पृ० ५८७-९)। इसके बाद दि० च० सरकार ने जे० ए० एस० (एल०) १५, १९४९ (पृ० ६) में इसकी चर्चा की और अन्ततोगत्वा इसे इ०आई०, ३३, पृ० ३०८-९ में सम्पादित किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :—सरकार, स० इ०, पृ० ३१७-८; वा० उपाध्याय, गु० अ०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३१७-२० (भाण्डारकर ने फ्लीट के कॉर्पस ३ को संशोधित करते समय इस अभिलेख पर कुछ नहीं लिखा था यद्यपि वह इससे परिचित थे—दे०, पृ० ३१७, टि० ५)।

मूलपाठ

१. [श्री]घ[टो]त्कच(:*) तद्वन्शे प्रव[र्द्धमा*]-
२. [ने*] महार[ा*]ज-[श्री समुद्रगु]प्त(:*) त[त्पु]-
३. [त्र]-श्रीविक्क्रमा[दित्य] (:*) त[त्पुत्र-महारा[ज]-
४. [श्री]महेन्द्रादित्य] (:*) तस्य [पु*]त्र(:*) चक्क[व]-
५. [र्त्ति]तु[ल्यो] [महा] बलविक्क[मे]ण र[ाम]-

६. [तु]ल्यो ध[र्म्म]प[र]तया युधिष्ठिर स[त्ये]-
७. नचरवि[नय] महाराज-श्रीस्क[न्द]-
८. गुप्तस्य राज्य[सम्व]त्सरशते एक-
९. चत्वारि[न्शोत्त]रके (।*) [अस्यां] दिवसपू-
१०. र्व्वायां(याम् ।) अवडर-वास्तव्य-कुटुम्बि[क*]-
११. कैवर्त्तिश्रेष्ठि-नप्तृ(प्ता) हरिश्रेष्ठि-पु[त्र](:*) श्रीद-
१२. [त्त](: ।*) तद्भ्रातृ (ता)वर्ग्ग(: ।*) त[द्भ्रा]त(ता) च्छ(छ)न्दक[श्चेति*] (।*)
१३. स्वपुण्याप्यायनार्थं यशः-की-
१४. [र्त्ति]-प्रवर्ध[य*]मान-गोत्र-शैलिका बल-य-
१५. ष्ठि(ष्टिः) प्रतिष्ठापिता वर्ग्गग्रामिकेण
१६. जे(ज्ये)ष्ठमास-शुक्लपक्षस्य द्विती-
१७. [यायां] ति[थौ] (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'तद्वन्शे' को 'तद्वंशे' पढ़ें। पंक्ति ६–७ : 'युधिष्ठिर' को 'युधिष्ठिरः' (अथवा 'युधिष्ठिरतुल्यः') पढ़ें और 'सत्येनचरविनय' को 'सत्याचारविनयैः' अथवा 'सत्येनाचारविनयैः'। पंक्ति ८ : 'गुप्तस्य' को 'गुप्तःतस्य' पढ़ें तथा 'सम्वत्०' को 'संवत्०'। पंक्ति ९ : 'चत्वारिन्शोत्तरके' को 'चत्वारिंशोत्तरके' पढ़ें। १६वीं तथा १७वीं पंक्तियाँ इसके बाद होनी चाहिये थीं।

शब्दार्थ

वास्तव्य=निवासी; नप्तृ=पौत्र या दौहित्र; कुटुम्बिक=गृहस्थ (प्रायः कृषक-गृहस्थ); आप्यायन=वृद्धि

अनुवाद

पं० १ श्री घटोत्कच (हुए)। उनके प्रवर्द्धमान वंश में महाराज श्री समुद्रगुप्त (हुए)। उनके पुत्र श्री विक्रमादित्य (थे)। उनके पुत्र महाराज श्री महेन्द्रादित्य (थे)। उनके पुत्र महाबल-विक्रम में चक्रवर्त्तियों के तुल्य, धर्मपालन में राम के तुल्य (तथा) सत्य(भाषण), आचार और विनय में युधिष्ठिर (के समान) महाराज श्री स्कन्दगुप्त (हुए)। (उन)के शासनकाल के एक सौ इकतालीसवें वर्ष में (अर्थात् गुप्त संवत् एक सौ इकतालीस में), इस तिथि को जो दिवस आदि द्वारा ऊपर निर्दिष्ट है—

पं० १० अवडर निवासी, कैवर्त्ति-श्रेष्ठि के पौत्र, हरि-श्रेष्ठि के पुत्र कुटुम्बिक श्रीदत्त (हुए)। उनके भाई वर्ग (नाम वाले) (हैं)। और उनके भाई छन्दक (हुए)।

पं० १३ अपने पुण्य की वृद्धि के लिए (इस जीवन में) यश और (परलोक में) कीर्त्ति को बढ़ाने वाली गोत्रशैलिका बलयष्टि (=वह स्तम्भ जिस पर लेख उत्कीर्ण है) ग्रामिक वर्ग द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी।

पं० १६ ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया तिथि को।

व्याख्या

(१) **चक्रवर्त्तितुल्यः**—चक्रवर्त्तियों के समान। प्राचीन काल में भारत आदि बारह वैदिक राजाओं को विशेषतः इस वर्ग में रखा जाता था। यहाँ स्कन्दगुप्त की तुलना उन वैदिक राजाओं से की गयी है।

(२) रामतुल्यः—राम के समान। यहाँ आशय दशरथ-पुत्र राम से लगता है, बलराम या परशुराम से नहीं।

(३) अस्यांदिवस पूर्व्वायाम्—इसके पूर्व पंक्ति १६–१७ में उल्लिखित मास पक्ष और दिवस लिखे जाने चाहिये थे।

(४) अवडर—स्पष्टतः यह उस ग्राम का नाम था जहाँ यह लेख स्थापित किया गया था। यह सूपिया से अभिन्न या उसके समीप रहा होगा।

(५) कुटुम्बिक—कृषक-गृहस्थ या केवल गृहस्थ। लेख की भाषा के अनुसार यह विशेषण कैर्वत्ति-श्रेष्ठि के लिए प्रयुक्त माना जाना चाहिए। परन्तु एक ही व्यक्ति के लिए 'कुटुम्बिक' और 'श्रेष्ठि', दोनों विशेषणों का प्रयोग हुआ है, यह मानना उचित नहीं जान पड़ता। इसलिए दि० च० सरकार ने 'कुटुम्बिक' को श्रीदत्त का विशेषण माना है।

(६) गोत्रशैलिका='गोत्र (=परिवार) पाषाण-स्तम्भ' अर्थात् ऐसा पाषाण-स्तम्भ जिसे परिवार के सदस्यों की स्मृति में प्रतिष्ठापित किया गया था। 'गात्र' (=गोत्र शब्द की गलत वर्तनी) का प्रयोग 'स्मारक-स्तम्भ' अर्थ में रीवा प्रदेश से ही प्राप्त एक लेख में हुआ है (इ० आई०, ३३, पृ० १७२)।

(७) बलयष्टि—'यष्टि' शब्द का मृतकों की स्मृति में स्थापित स्तम्भों के अर्थ में प्रयोग सुई-विहार तथा अन्धौ अभिलेखों में भी हुआ है (स० इ०, पृ० १४०, १७४)। 'यष्टि' के साथ 'बल' शब्द का प्रयोग 'सुदृढ़' या 'मजबूत' अर्थ में हुआ लगता है। एक अल्प सम्भावना यह भी हो सकती है कि जिस प्रकार बहुत-से प्रदेशों में अशोक स्तम्भों को 'भीमसेन की गदा' कहा जाने लगा था वैसे ही रीवा प्रदेश में पाषाण स्तम्भों को 'बलराम की यष्टि'='बलयष्टि' कहा गया। भूमरा-अभिलेख में 'व(ब)लयष्टि' शब्द का प्रयोग मिलता है। वहाँ फ्लीट ने इसका अर्थ 'सीमा सूचक स्तम्भ' माना है (कॉर्पस, ३, पृ० १११) जो सही नहीं लगता।

अभिलेख का महत्त्व

इस अभिलेख का कई दृष्टि से महत्त्व है। वस्तुतः अनेक दृष्टि से यह एक अनूठा लेख है। (१) इसमें गुप्त वंश का प्रथम नरेश घटोत्कच को बताया गया है। गुप्त अभिलेखों में इस वंश का संस्थापक सर्वत्र गुप्त नामक नरेश को बताया गया है, केवल प्रभावतिगुप्ता के दानपत्रों में गुप्त वंशावली घटोत्कच से प्रारम्भ होती है। (२) इस लेख में प्रथम चन्द्रगुप्त का उल्लेख नहीं है, समुद्रगुप्त को घटोत्कच के वंश में उत्पन्न कह दिया गया है। (३) इसमें द्वितीय चन्द्रगुप्त व प्रथम कुमारगुप्त का नाम से नहीं वरन् क्रमशः 'विक्रमादित्य' तथा 'महेन्द्रादित्य' उपाधियों द्वारा उल्लेख है। इन उपाधियों का प्रयोग अन्य गुप्त अभिलेखों में नहीं मिलता, केवल इन राजाओं के सिक्कों पर हुआ है। (४) इसमें समुद्रगुप्त, महेन्द्रादित्य (प्रथम कुमारगुप्त) तथा स्कन्दगुप्त, इन तीनों के लिए केवल 'महाराज' उपाधि का प्रयोग है। घटोत्कच तथा विक्रमादित्य (द्वितीय चन्द्रगुप्त) के लिए तो इसका भी प्रयोग नहीं मिलता, मात्र सम्मानसूचक 'श्री' शब्द प्रयुक्त है। परन्तु इस तथ्य से कोई राजनीतिक महत्त्व का निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा। गैर-राजकीय अभिलेखों में ऐसा बहुधा मिलता है (तु० मानकुँवर-लेख में प्रथम कुमारगुप्त को मात्र 'महाराज' कहा जाना)। (५) इस अभिलेख में किसी भी गुप्त सम्राट् की विशिष्ट उपलब्धियों की चर्चा नहीं है। केवल स्कन्दगुप्त के उत्तम चरित्र व शौर्य की ओर संकेत है।

इस लेख में वर्ग नामक ग्रामिक (=ग्राम मुख्य) ने अपने पितामह कैर्वत्तिश्रेष्ठि, पिता हरिश्रेष्ठि, तथा भाई श्रीदत्त (जिसे सम्भवतः 'कुटुम्बिक' कहा गया है—दे० ऊपर टि० ५) और छन्दक का उल्लेख

किया है। इनमें श्रीदत्त का नाम वर्ग से पहिले आया है इसलिए वह बड़ा रहा होगा और छन्दक, जिसका नाम वर्ग के बाद लिखा गया है, सबसे छोटा होगा। यह तथ्य रोचक है कि जबकि स्वयं वर्ग 'ग्राममुख्य' था (सम्भवतः अवडर ग्राम का) उसके पितामह व पिता श्रेष्ठि थे तथा बड़ा भाई कृषक-गृहस्थ। यह उस समय के समाज में आर्थिक गतिशीलता का प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अभिलेख के लिखे जाने के पूर्व वर्ग के परिवार के इन सभी सदस्यों की मृत्यु हो गयी थी इसलिए वर्ग ने उनकी स्मृति में यह वलयष्टि गौत्र शैलिका के रूप में स्थापित करवाई थी।

स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १४६ (=४६५ ई०)

लेख-परिचय—इस ताम्रपत्र अभिलेख का **प्राप्ति-स्थल** उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले की अनूपशहर तहसील के डिबाई परगने का इन्दौर नामक गाँव है जो अब एक छोटा-सा खेड़ा है। इस स्थल की पहिचान इस ताम्रपत्र में ही उल्लिखित इन्द्रपुर से अनायास की जा सकती है। यह अभिलेख एक ही ताम्रपत्र पर लिखा है जो ८ १/२" लम्बा तथा सिरों पर ५ १/२" चौड़ा है। बीच में इसकी चौड़ाई ५ ७/८" है। इसका भार एक पाउण्ड दो औंस है। ताम्रपत्र के किनारे बीच के भाग की अपेक्षा स्थूलतर हैं। लेख में मुहर जोड़ने के लिए छेद नहीं है और न मुहर संयुक्त रही होने का कोई संकेत मिलता है जबकि उत्तर भारतीय ताम्रपत्रों में ताम्रपत्रों के साथ मुहर जोड़ने की प्रथा काफी प्रचलित थी। इस ताम्रपत्र की सतह कुछ खराब हो गयी है परन्तु आद्योपान्त पठ्य है। लेख एक ही तरफ लिखा है और अक्षरों की खुदाई गहरी होने के कारण पृष्ठभाग में उनका उभार दिखायी देता है।

प्रस्तुत लेख में कुल बारह पंक्तियाँ हैं। इसकी **भाषा** संस्कृत है और यह गद्य-पद्य मिश्रित है। इसमें दो **श्लोक** हैं—पहिला जो शार्दूलविक्रीडित **छन्द** में है प्रथम पंक्ति के 'सिद्धम्' के और तृतीय पंक्ति के 'परमभट्टारक' के बीच में लिखा है तथा दूसरा जो इन्द्रवज्रा छन्द में है, अन्तिम दो पंक्तियों में लिखा है। लेख का शेषांश गद्यात्मक है। भाषा की दृष्टि से 'इन्द्रपुरक' (पं० ५), 'चेन्द्रापुरक' (पं० ६) तथा विशेषण रूप में प्रयुक्त 'प्रतिष्ठापितक' (पं० ७) में 'क' प्रत्यय का प्रयोग उल्लेख्य है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में स्थान-सूचक विशेषण बनाते समय 'क' प्रत्यय के साथ प्रथम अक्षर के स्वर में वृद्धि की गई है, यहाँ वह वृद्धि अनुपस्थित है। हिन्दी में सम्बन्ध कारक का 'के', 'की' आदि का प्रयोग संस्कृत के इस 'क' प्रत्यय का ही बिगड़ा रूप है। **वर्तनी** की भी कुछ बातें उल्लेख्य हैं: (१) 'चत्वारिङ्शद्' (पं० ३) तथा 'सिङ्ह' (पं० ६) आदि में 'श' तथा 'ह' के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग; (२) अनुवर्ती 'र' का संयोग होने पर 'क' का (यथा पं० ८ में 'अपक्क्रमण' में) तथा कभी-कभी 'त' का द्वित्व (यथा पं० ५ में 'पौत्त्र' में परन्तु 'पुत्रो' में नहीं); (३) अनुस्वार के उपरान्त 'व' का द्वित्व (यथा पं० ३ में 'संव्वत्सर' में)। लेख की **लिपि** उत्तरी वर्ग की पाँचवीं शती ई० के मध्य की ब्राह्मी है। 'इ' अक्षर का रूप समकालीन लेखों के रूप से भिन्न है। पंक्ति १० में २ का अंक मिलता है।

प्रस्तुत लेख में स्कन्दगुप्त के शासनकाल का वर्ष एक सौ छियालीस (अर्थात् गुप्त संवत् १४६) का फाल्गुन मास **तिथि** रूप में उल्लिखित है। पक्ष और दिवस संख्या नहीं दी गयी है। यह एक सौर-अभिलेख है जिसका **उद्देश्य** देवविष्णु नामक ब्राह्मण द्वारा इन्द्रपुर (आधुनिक इन्दौर) के सूर्य मन्दिर को अक्षयनीवी-दान दिये जाने का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख की प्राप्ति आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया के ए० सी० एल० कार्लेयल को १८७४ ई० में हुई थी। उसी वर्ष जे० बी० ए० एस०, ४३, भाग १ (पृ० ३६३) में इसका राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा तैयार किया गया पाठ व अनुवाद तथा कनिंघम द्वारा प्रस्तुत शिलामुद्रण प्रकाशित हुआ। तदनन्तर इसे फ्लीट ने 'कॉर्पस' में प्रकाशित किया (सं० १६)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ—

दि० च० सरकार, स० इ०, पृ० ३१८–२०; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १६०; कीलहार्न, आई० ए०, १८, १८८९, पृ० २१९; जगन्नाथ, जे० यू० पी० एच० एस०, १३, १९४०, भाग २, पृ० ९९; पी० आई० एच० सी०, ४, १९४०, पृ० ५९; भाण्डारकर सूची सं० १२७९; भाण्डारकर, छावड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३०८–१२।

मूलपाठ

१. सिद्धम् (।।*)
यं विप्रा विधिवत्प्रबुद्ध-मनसो ध्यानैकताना स्तुवः
यस्यान्तं त्रिदशासुरा न विविदुर्न्नोर्ध्वं न तिर्य-
२. ग्गति[म्] (।*)
यं लोको बहु-रोग-वेग-विवशः संश्रित्य चेतोलभः
पायाद्वः स जगत्पि[धा]न-पुट-भिद्रश्म्या-
३. करो भास्करः ।। १
परमभट्टारक-महाराजाधिराज-श्रीस्कन्दगुप्तस्याभिवर्द्धमान-विजय-राज्य-संव्वत्सर-शते षच्चत्वा-
४. [रि*]ङ्शदुत्तरतमे फाल्गुन-मासे तत्प(ा*)द-परिगृहीतस्य विषयपति-शर्व्वनाग-स्यान्तर्व्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्त्त-
५. माने चेन्द्रापुरक-पद्मा-चातुर्व्विद्य-सामान्य-ब्राह्मण-देवविष्णुर्द्देव-पुत्रो हरित्रातपौत्त्रः डुडिक-प्रपौत्त्रः सतताग्निहो-
६. त्र-छन्दोगो राणायणीयो वर्षगण-सगोत्त्र इन्द्रापुरक-वणिग्भ्यां क्षत्त्रियाचलवर्म-भृकुण्ठसिङ्हाभ्यामधिष्ठा-
७. नस्य प्राच्यां दिशीन्द्रपुराधिष्ठान-माडास्यात-लग्नमेव प्रतिष्ठापितक-भगवते सवित्रे दीपोपयोज्यमात्म-यशो-
८. भिवृद्धये मूल्यं प्रयच्छतिः (।।*) इन्द्रपुर-निवासिन्यास्तैलिक-श्रेण्या जीवन्त-प्रवराया इतो(ऽ*)-धिष्ठानादपक्क्रम-
९. ण-संप्रवेश-यथास्थिरायाः आजस्त्रिकं ग्रहपतेर्द्विज-मूल्य-दत्तमनया तु श्रेण्या यदभग्नयोगम्
१०. प्रत्थमार्हाव्य(व*)च्छिन्न-संस्थं देयं तैलस्य तुल्येन पलद्वयं तु २ चन्द्रार्क्क-समकालीयं(यम्) (।।*)
११. यो व्यक्क्रमेद्दायमिमं निबद्धम्
गोघ्नो गुरुघ्नो द्विज-घातकः सः (।*)
तैः पातकै(ः*)
१२. पञ्चभिरन्वितो(ऽ*)ध-
र्गच्छेन्नरः सोपनिपातकैश्चेति ।। २

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : '०ताना स्तुवः' को '०तानस्तवाः' या 'स्तुमः' पढ़ें। पंक्ति २ : फ्लीट ने प्रथम अक्षरों को '०ग्गतिः' पढ़ा है। सरकार की स० इ० में, 'चेतोलभः' की जगह 'चतोलभः' पाठ है जो सम्भवतः मुद्रण-दोष है। पंक्ति ३ : कनिंघम ने 'राज्य' को 'राज्ये' पढ़ा है। 'षच्चत्वा०' को 'षट्चत्वा०' पढ़ें। पंक्ति ४ : 'रिङ्श०' को 'रिंश०' पढ़ें। पंक्ति ५ : 'चेन्द्रापुरक' को फ्लीट 'चन्द्रापुरक' पढ़ते हैं। आगे पंक्ति ६ में 'इन्द्रापुर' पाठ है और पंक्ति ७–८ में 'इन्द्रपुर'। पंक्ति ६ : '०छन्दोगो' को '०च्छन्दोगो' पढ़ें और 'राणायणीयो' को 'राणायनीयो'। 'भृकुण्ठसिङ्हा०' को 'भृकुण्ठसिहा०' पढ़ें। फ्लीट ने '०धिष्ठा' को '०धिष्टा' पढ़ा है। सरकार की स० इ० में मुद्रण की भूल से '०घिष्ठा' छपा है। पंक्ति

७ : सरकार के ग्रन्थ में मुद्रण-दोष से 'सवित्रे' के स्थान पर 'सवित्र' छपा है । पंक्ति ८ : 'प्रयच्छतिः' को 'प्रयच्छति' पढ़ें । पंक्ति ९ : 'दत्तमनया' को 'दत्तम् । अनया' पढ़ें । पंक्ति १० : 'प्रत्थमा०' को 'प्रथमा०' पढ़ें । पंक्ति ११ : 'यो व्यक्क्रमे०' को 'योऽतिक्रमे०' पढ़ें तथा 'निबद्धम्' को 'निबद्धं' । पंक्ति १२ : '०धर्ग्गच्छे०' को '०धो गच्छे०' पढ़ें । अन्तिम अक्षरों को 'श्च ।। इति' पढ़ें ।

शब्दार्थ

पंक्ति १–२

विधिवत्=विहित कर्मों के सम्पादन से; ध्यानैकतानाः =एक पदार्थ पर स्थिर या केन्द्रित ध्यान वाले, एकान्तिकरूपेण ध्यान करने वाले; स्तुमः =स्तुति करते हैं, भजते हैं; अन्त=सीमा; विद्=जानना; विविदुन्=जान सके; ऊर्ध्व=ऊर्ध्वात्मक, ऊपर की ओर; तिर्यक्=क्षितिजीय, तिरछी; त्रिदश=देवता; संश्रित्य=शरण में जाने पर; वेग=क्षोभ, मानसिक द्वन्द्व; चेतोलभः =चेतना प्राप्त करते हैं; पिधान=ढकना, छिपाना; पुटः =आवरण, आच्छादन; रश्मिकर=किरणों का स्रोत; भास्कर=सूर्य; पा=रक्षा करना

पंक्ति ३–८

अन्तर्वेद्याम्=अन्तर्वेदी में; भोगाभिवृद्धिये=प्रसन्नता की वृद्धि के लिए; वर्त्तमान=चालू; सामान्य=समुदाय, समाज; छन्दोगः=श्लोकों का सस्वर पाठ करने वाला; अधिष्ठान=नगर, स्थान; लग्न=स्पर्श करते हुए; मूल्य=अक्षय नीवी; सवितृ=सूर्य

पंक्ति ९–१०

श्रेण्या=श्रेणी की; प्रवर=प्रधान, अध्यक्ष; अपक्क्रमण=पीछे मुड़ना, हटना; अजस्र=सदैव के लिए; आजस्रिक=सदैव के लिए, अविच्छिन्न; ग्रहपति=सूर्य; दत्तम्=दी गयी सम्पत्ति, दान; अभग्नयोगम्=बिना व्यवधान के निरन्तर, अर्ह=मूल्य; प्रथमार्ह=मूल मूल्य; तुल्य=समान (यहाँ 'तौल्य'=भार से आशय है); पल=एक भार विशेष; तु='तुल्येन' का संक्षेप

पंक्ति ११–१२

गोघ्नः =गोघाती; अन्वित=सहित, युक्त; अधः =नीचे, नरक में; उपनिपातक=उपपातक, छोटी श्रेणी के पातक

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो । जिनको विहित कर्मों के सम्पादन से प्रबुद्ध हो गये मन वाले (तथा) एकान्तिकरूपेण (उनका) ध्यान करने वाले विप्रजन भजते हैं, देवता और असुर (दोनों ही) जिनकी न तो ऊर्ध्वात्मक गतिसीमा जान सके और न तिरछी, जिनकी शरण में जाने पर प्रभूत रोगों (और) उद्वेगों से विवश मनुष्य चेतनालाभ करते हैं—जगत् के (अन्धकार रूपी) आवरण को भेदने वाली किरणों के स्रोत वह (भगवान्) भास्कर आपकी रक्षा करें ।

पं० ३ परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त के अभिवर्द्धमान विजयोन्मुखी शासन के वर्ष एक सौ छियालीस में (अर्थात् गुप्त संवत् १४६ में) प्रसन्नता की अभिवृद्धि के लिए चालू फाल्गुन मास में उनके चरणों (के अनुग्रह) से स्वीकृत विषयपति शर्वनाग की अन्तर्वेदी (नामक प्रदेश) में—

पं० ५ और इन्द्रापुर (नगर) के पद्मा (नामक मौहल्ले) के चतुर्वेदी समाज का ब्राह्मण देवविष्णु—(जो) देव का पुत्र, हरित्रात का पौत्र (तथा) डुडिक का प्रपौत्र है, (जो) सदैव अग्निहोत्र के मन्त्रों का पाठ करता रहता है, राणायनीय शाखा का है (तथा) (जो) वर्षगण गोत्र में उत्पन्न हुआ है—अपने यश की अभिवृद्धि के लिए (इस) अक्षय नीवीदान को देता है (जिसके ब्याज का) उपयोग इन्द्रापुर के वणिकों—क्षत्रिय अचलवर्मा तथा भ्रकुण्ठसिंह द्वारा नगर के पूर्व में (तथा) इन्द्रपुर नगर के माडास्यात (नामक मौहल्ले) का स्पर्श करते हुए (स्थित) (मन्दिर में) प्रतिष्ठापित भगवान् सूर्य के लिए दीपक (जलाने की व्यवस्था करने) में किया जाय।

पं० ८ (भगवान्) सूर्य (के मन्दिर) का यह ब्राह्मण-दान (अर्थात् सूर्य-मन्दिर को ब्राह्मण द्वारा दिया गया यह दान) इन्द्रपुर में निवास करने वाली तथा जीवन्त के नेतृत्व में स्थित तैलिक श्रेणी की (तब तक) अविच्छिन्न सम्पत्ति है जब तक यह (अर्थात् तैलिक श्रेणी) यथा स्थिर (=एकतायुक्त) है—(यहाँ तक कि) इस स्थान से दूर जाने और लौटने पर भी। किन्तु इस श्रेणी द्वारा अविच्छिन्न रूप से तथा मूल मूल्य में बिना किसी ह्रास के चन्द्र और सूर्य की स्थिति तक (अर्थात् जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान हैं तब तक) दो पल के तौल का (अथवा अंकों में) २ (पल) तौल तेल देय है।

पं० ११ जो इस निबद्ध दान का अतिक्रमण करेगा, गोघाती (अथवा) गुरुघाती (अथवा) द्विजघाती (के सदृश अपराधी बन गया) वह व्यक्ति उपपातकों सहित उन पञ्चमहापातकों से युक्त होकर नीचे (नरक में) जाएगा।

व्याख्या

(१) तत्पादपरिगृहीत=उनके चरणों (के अनुग्रह) से स्वीकृत। यह पद अभिलेखों में प्रायः किसी राजा के उत्तराधिकारियों अथवा पदाधिकारियों के लिए, उनके ऊपर उस राजा का कृपाभाव बताने के लिए प्रयुक्त मिलता है—उसी प्रकार जैसे 'तत्पादानुध्यात' पद का किसी राजा के उत्तराधिकारी या पदाधिकारी का उस राजा के प्रति श्रद्धाभाव दिखाने के लिए प्रयोग होता था। वस्तुतः इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किसी राजा के उत्तराधिकारी के लिए इसका प्रयोग संवैधानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाय या नहीं, इसके लिए दे०, भितरी-लेख, पृ० ४ पर टि०।

(२) विषयपति शर्व्वनागस्यान्तर्वेद्यां—विषय=जिला या प्रान्त। ध्यातव्य है कि यहाँ अन्तर्वेदी जैसे विशाल प्रदेश के अधिकारी को 'विषयपति' कहा गया है। अन्तर्वेदी=गंगा-यमुना का मध्यवर्ती प्रदेश, दोआब, जो प्रयाग से हरिद्वार तक विस्तृत माना जाता है। बुलन्दशहर जिला अन्तर्वेदी में ही पड़ता है। तु०, बुधगुप्त के एरण-अभिलेख में 'कालिन्दी-नर्मदयोर्मध्ये' पद का प्रयोग।

(३) इन्द्रापुर, इन्द्रपुर—फ्लीट ने पं० ५ में 'चन्द्रापुर' पढ़ा था। वस्तुतः वहाँ 'चेन्द्रापुर' पाठ है जिसमें 'इन्द्रापुर' नाम आता है और 'इन्द्रापुर' इन्द्रपुर नाम का गलती से लिखा गया रूप है। इन्द्रपुर= इन्दौर, जिला बुलन्दशहर (दे०, पीछे)।

(४) डुडिक—यह नाम कुछ विचित्र है और आर्येतर जान पड़ता है।

(५) वणिग्भ्यां क्षत्रियाचलवर्मभृकुण्ठसिंहाभ्याम्—ध्यान देने की बात है कि यहाँ क्षत्रिय जाति के दो व्यक्तियों को वणिक् कहा गया है। यह तत्कालीन युग में उत्तर भारतीय समाज में आर्थिक गतिशीलता का प्रमाण है।

(६) माडास्यात—फ्लीट इसका अर्थ नहीं कर पाये थे। सरकार ने इसे एक मौहल्ले का नाम बताया है।

(७) मूल्य—यहाँ इस शब्द का प्रयोग अक्षयनीवी अर्थ में हुआ है—अर्थात् ऐसा धन जो ट्रस्ट फण्ड के रूप में जमा कर दिया जाता था। इस धन का मूल भाग यथावत् बना रहता था और इसके ब्याज से वे काम सम्पादित किये जाते थे जिनके लिए यह धन जमा किया जाता था।

(८) दीपोपयोज्य—हिन्दू धर्म में दीपदान की बड़ी महिमा बतायी गयी है। 'महाभारत' के अनुशासन पर्व में अध्याय ६८ में दीपदान का माहात्म्य वर्णित है (श्लोक ४५–५४)। उदाहरणार्थ—दीपप्रदः स्वर्गलोके दीपमालेव राजते—श्लोक ५१।

(९) पञ्चमहापातक और उपपातक—दे० द्वितीय चन्द्रगुप्त के गु० स० ६१ के मथुरा-अभिलेख पर टि० ९।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक, यह सौर सम्प्रदाय से सम्बन्धित अभिलेख है। इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित प्राचीन अभिलेख कुछ कम ही मिलते हैं। इसका प्रथम श्लोक सूर्य की स्तुति में रचा गया एक सुन्दर श्लोक माना जाता है। दूसरे, इससे स्कन्दगुप्त के साम्राज्य की एक प्रादेशिक इकाई 'अन्तर्वेदी' तथा उसके अधिकारी शर्वनाग का ज्ञान होता है। शर्वनाग का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। स्मरणीय है कि समुद्रगुप्त के काल तक अन्तर्वेदी में नागवंशीय राजाओं का प्रभुत्व था। उन्हें समुद्रगुप्त ने उन्मूलित किया था। द्वितीय चन्द्रगुप्त की रानी कुबेरनागा भी नागकुलोत्पन्ना थी। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में नागान्त नाम वाले शर्वनाग का अन्तर्वेदी का गवर्नर होना इस बात का संकेत माना जा सकता है कि नाग अब भी राजनीतिक दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण थे।

प्रस्तुत अभिलेख हमें पाँचवीं शती की एक तैलिक श्रेणी से भी परिचित कराता है। इस तैलिक श्रेणी का अध्यक्ष जीवन्त नामक व्यक्ति था। यह श्रेणी अपने पास मन्दिरों को मिले दान को जमा रखती थी और उस पर ब्याज देती थी और दाता की इच्छानुसार उसके सूद के उपयोग के लिए न्यास (ट्रस्ट) का काम करती थी। इस प्रकार यह बैंकिंग या साहूकारी का धन्धा भी करती थी। इसकी साख इतनी अधिक थी कि ब्राह्मण देवविष्णु ने यहाँ तक स्वीकार किया कि अगर यह श्रेणी अविभाजित रहे तो इसके कहीं और चली जाने पर भी उसकी (अर्थात् देवविष्णु की) अक्षयनीवी का दान उसी के पास जमा रहे। आनुषंगिक रूप से इसमें श्रेणियों के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश जाने की सम्भावना मानी गयी है जिसका यथार्थ प्रमाण लाट देश से आकर दशपुर में बसने वाले रेशम बुनकरों की श्रेणी है जिसका विवरण मालव संवत् ५२९ के मन्दसौर-लेख में मिलता है।

प्रथम नरसिंहगुप्त व द्वितीय कुमारगुप्त के अभिलेख

स्कन्दगुप्त के उपरान्त शासन करने वाले गुप्त सम्राटों का अनुक्रम व तिथिक्रम विवादग्रस्त है। हमने इस समस्या पर पूर्वपीठिका 'आ' में विचार किया है। वहाँ प्रस्तावित अनुक्रमानुसार स्कन्दगुप्त के उपरान्त क्रमशः प्रथम नरसिंहगुप्त तथा द्वितीय कुमारगुप्त ने शासन किया। उनके निम्नलिखित अभिलेख प्राप्त हैं—

१. प्रथम नरसिंहगुप्त का नालन्दा-मुहर लेख
२. द्वितीय कुमारगुप्तकालीन सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा लेख : गुप्त संवत् १५४
३. द्वितीय कुमारगुप्त के भितरी तथा नालन्दा मुहर-लेख

प्रथम नरसिंहगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख

लेख-परिचय—गुप्त सम्राटों की नालन्दा से लाल मिट्टी की पकी हुई जो राजकीय मुहर-छापें प्राप्त हुई हैं वे, पुरुगुप्त के पौत्र द्वितीय कुमारगुप्त की एक मुहर (हम यहाँ मुहर-छापों को मुहर ही लिखेंगे) को छोड़कर, सभी खण्डितावस्था में हैं (नालन्दा मुहरों के विस्तृत परिचय के लिए दे० आगे)। लेकिन इनके अवशिष्टांशों से स्पष्ट है कि ये सभी बनावट में द्वितीय कुमारगुप्त की मुहर जैसी ही थीं। अत: द्वितीय कुमारगुप्त की मुहर के आधार पर इन सभी मुहरों की बनावट का अनुमान लगाया जा सकता है। द्वितीय कुमारगुप्त की मुहर का पुरोभाग अण्डाकार है। इसके उपरले भाग में ऊँची 'रिलीफ' में मानव-मुखी गरुड़ मूर्ति बनी है। गरुड़ के पंख फैले हैं, सिर पर 'विग' (कृत्रिम केश सज्जा) है, भाल पर वैष्णव तिलक है तथा गले में नाग का हार जिसका फन बायें कन्धे पर उठा है। उसकी बाईं ओर सूर्य बना है तथा दाहिनी ओर अर्द्धचन्द्र (चक्र और शंख नहीं, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं)। उसके नीचे क्रमश: लघुतर होती गई पंक्तियों में लेख लिखा है जो गरुड़ मूर्ति से एक रेखा द्वारा पृथक् किया गया है। नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त की मुहरों में लेख आठ पंक्तियों में लिखा है, लेकिन वैन्यगुप्त और विष्णुगुप्त की मुहरों के उपरले भाग के टूट जाने के कारण यह कहना कठिन है कि उनमें कुल कितनी पंक्तियाँ थीं (दे०, विष्णुगुप्त की नालन्दा मुहर पर टि० ३)।

पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त की मुहर की कुल दो छापें मिली हैं (एम० ए० एस० आई०, ६६, मुहर सं० ६५०, ६८७; फलक ८ बी० तथा सी०) और दोनों में ही मुहर का गरुड़ मूर्ति वाला भाग लगभग पूरी तरह तथा लेख का बायाँ भाग टूट कर खो चुके हैं। इन दोनों में मुहर सं० ६५० की छाप स्पष्टतर है और इसके लेख का कुछ अधिक भाग अवशिष्ट है यद्यपि इसकी पंक्तियों के भी बाईं ओर के अक्षर टूट चुके हैं। दोनों छापों के अक्षरों की बनावट में अन्तर से स्पष्ट है कि ये मुहरें दो अलग-अलग ठप्पों की हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस मुहर को सर्वप्रथम हीरानन्द शास्त्री ने एम० ए० एस० आई०, ६६, में छापा (पृ० ६५, फलक ८ बी० तथा सी०)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ : दि० च० सरकार, आई० एच० क्यु०, १९, पृ० २७३; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० २३२; निसार अहमद, जे० एन० एस० आई०, ३३, २, पृ० ५८ अ०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३५४–५

मूलपाठ

१. [सर्व्वराजोच्छेत्तुः पृथि*][व्या]मप्रतिरथस्य महाराज
श्री गुप्त-प्र[पौ]त्रस्य महाराज[श्री]घटोत्कच[पौ]-
२. [त्रस्य महाराजाधिरा*]ज श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य [लि]च्छवि
दौहि[त्र]स्य [महादेव्यां] कुमारदेव्यामुत्पन्न-
३. [स्य महाराजाधिरा*]ज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्प[रि
गृह[ी]त[ा] महादेव्यान्दत्तदेव्यामुत्पन्न-

४. [स्स्वयञ्चाप्रतिरथ*][:परम] भागवतो महाराजाधिराज
श्री चन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानु
५. [ध्यातो महादेव्यां*][ध्रुव]देव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज
श्री कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पा-
६. [दानुध्यातो म*][हादे]व्यामनन्तदेव्यामुत्प[न्नः]
महाराजाधिराज पुरुगुप्तस्तस्य पु-
७. [त्रस्तत्पादानुध्यातो*] महादेव्यां श्री चन्द्रदेव्यामुत्पन्न[:]
परमभाग
८. [वतो महाराजाधिरा*]ज श्र[ी*] नरसिंहगुप्त[:]

पाठ-टिप्पणी—उपर्युक्त पाठ एवं लुप्तांशों का पुनर्योजन हीरानन्द शास्त्री के अनुसार है, केवल पंक्ति ७ में 'वैन्यदेव्या०' (हीरानन्द शास्त्री का पाठ) के स्थान पर एन० पी० चक्रवर्ती द्वारा स्वीकृत 'चन्द्रदेव्या०' पाठ दिया गया है। पंक्ति ६ : सरकार '०पुरु०' के बजाय '०पूरु०' पढ़ते हैं।

अनुवाद

पं० १ महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री (प्रथम) चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छवि-दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त (हुए) जो समस्त राजाओं का उच्छेद करने वाले (तथा) पृथिवी पर अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान विचरण करने वाले) (थे। उन) के पुत्र, उनके द्वारा (अपने उत्तराधिकारी के रूप में) स्वीकृत, महादेवी दत्तदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न, साक्षात् अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान) परमभागवत महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त (थे।) उनके पुत्र, उनके चरणों का ध्यान करने वाले, महादेवी ध्रुवदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री (प्रथम) कुमारगुप्त (थे।) उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले महादेवी अनन्तदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त (थे।) उनके पुत्र, उनके चरणों का ध्यान करने वाले महादेवी श्री चन्द्रदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न परमभागवत महाराजाधिराज श्री नरसिंहगुप्त हैं (जिनकी यह मुहर है)।

व्याख्या

(१) नरसिंहगुप्त—नरसिंहगुप्त नामक गुप्त सम्राट् की सुवर्ण मुद्राएँ उपलब्ध हैं जिनमें उसकी उपाधि बालादित्य दी गयी है। ये धनुर्धारी प्रकार की मुद्राएँ हैं जिनको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (एलन, केटेलाग ऑव गुप्त क्वायन्स्, भू०, पृ० १०४)। 'वर्ग अ' प्रकार की मुद्राएँ संख्या में कम मिलती हैं, इनमें शुद्ध सुवर्ण की मात्रा ७० से ८० प्रतिशत तक है, बनावट अच्छी है और वर्तुलाकार लेख के अंश अवशिष्ट हैं। इसके विपरीत 'वर्ग ब' प्रकार की मुद्राएँ अपेक्षया भारी हैं तथा बनावट में भद्दी हैं। इनमें शुद्ध सुवर्ण की मात्रा केवल ५४ प्रतिशत है (द्र०, गोयल, हि० इ० गु०, पृ० ३१८–१९)। इसी प्रकार का अन्तर कुमारगुप्त क्रमादित्य की मुद्राओं में मिलता है जिसके आधार पर मुकर्जी, पी० एल० गुप्त तथा बी० पी० सिनहा ने प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य से पृथक् दो अन्य कुमारगुप्तों का अस्तित्व माना है—द्वितीय कुमारगुप्त क्रमादित्य जिसे ४७३ ई० के सारनाथ-अभिलेख का कुमारगुप्त मानना चाहिए तथा

तृतीय कुमारगुप्त क्रमादित्य जो छठी शती ई० के नरसिंहगुप्त बालादित्य का पुत्र था। हमारा आग्रह है कि विशुद्ध मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर इसी प्रकार दो नरसिंहगुप्त बालादित्यों का अस्तित्व भी मानना अनिवार्य है—एक पुरुगुप्त का पुत्र प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य तथा दूसरा वह नरसिंहगुप्त बालादित्य जिसने मिहिरकुल को हराया था। इन दोनों नरसिंहगुप्तों के समय में लगभग पचास वर्षों का अन्तर होगा। इतना ही अन्तर उपर्युक्त विद्वानों ने दोनों कुमारगुप्त क्रमादित्यों में माना है। दो नरसिंहगुप्त बालादित्यों का अस्तित्व साहित्य से भी प्रमाणित है क्योंकि एक ओर परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' में बालादित्य (=नरसिंहगुप्त) को विक्रमादित्य (=स्कन्दगुप्त) का उत्तराधिकारी बताया गया है तथा 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में कहा गया है कि सकार (=स्कन्दगुप्त) के बाद बाल (=बालादित्य) ने शासन किया तो दूसरी तरफ युवानच्वांग बालादित्य को मिहिरकुल (लग० ५१२–२७ ई०) का विजेता बताता है तथा नालन्दा-महाविहार के निर्माताओं में बालादित्य को बुद्धगुप्तराज (=बुधगुप्त, ज्ञात तिथियाँ ४७६–९५ ई०) और तथागत (=बुद्ध, अतः तथागतराज=बुद्धगुप्त=बुधगुप्त का ही दूसरी बार उल्लेख) के उपरान्त रखता है। प्रकटादित्य के सारनाथ-अभिलेख (आगे; फ्लीट, कॉर्पस, पृ० २३८) में भी दो बालादित्यों का उल्लेख है—एक प्रकटादित्य का पिता तथा दूसरा उसका पूर्वज। इस प्रकार पुरुगुप्त का पुत्र नरसिंहगुप्त, जिसकी यह नालन्दा मुहर है, स्कन्दगुप्त का भतीजा और उत्तराधिकारी था और मिहिरकुल के विजेता द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य से भिन्न था। एस० के० मैती (दी इम्पीरियल गुप्तज़, पृ० ६८) ने हमारी इस व्याख्या को स्वीकृत किया है।

(२) महादेव्यां श्री चन्द्रदेव्यामुत्पन्नः—इस मुहर पर नरसिंहगुप्त की माँ और पुरुगुप्त की महादेवी का नाम हीरानन्द शास्त्री ने वैण्यदेवी पढ़ा है (एम० ए० एस० आई०, ६६, पृ० ६५) एवं एन० पी० चक्रवर्ती, वही, टि० २) तथा दि० च० सरकार (स० इ०, पृ० ३३९, टि० ३; आई० एच० क्यु०, १९, पृ० २७३) ने चन्द्रदेवी। फ्लीट ने द्वितीय कुमारगुप्त की भितरी-मुहर में नरसिंहगुप्त की माँ का नाम वत्सदेवी पढ़ा था (आई० ए०, १९, १८९०, पृ० २२५)। हीरानन्द शास्त्री ने एम० ए० एस० आई०, ६६, के पृ० ६६ तथा ६७ पर द्वितीय कुमारगुप्त की नालन्दा तथा भितरी-मुहरों के मूलपाठ में नरसिंहगुप्त की माँ का नाम वत्सदेवी ही दिया है, यद्यपि वह पृ० ६४ पर फ्लीट के पाठ को गलत बताते हैं और अपने वैण्यदेवी पाठ को सही। शायद उनके द्वारा पृष्ठ ६६ पर प्रदत्त मूलपाठ में मुद्रण-दोष है। तेजराम शर्मा (ज्यो० प० ने०, पृ० ३१४) का कहना है कि कुमारगुप्त द्वितीय की भितरी तथा नालन्दा-मुहरों में तो नरसिंहगुप्त की माँ का नाम वत्सदेवी दिया गया है जबकि नरसिंहगुप्त की अपनी नालन्दा-मुहर में उसे चन्द्रदेवी का पुत्र कहा गया है। यह असम्भव है। हमारे विचार से सरकार का यह कहना सही है कि नरसिंहगुप्त की माँ का नाम इन सभी मुहरों में चन्द्रदेवी दिया गया है।

(३) गुप्त सम्राटों की भितरी तथा नालन्दा-मुहरों में प्रथम कुमारगुप्त की महादेवी तक के नामों में सम्मानसूचक 'श्री' शब्द प्रयुक्त नहीं है—लेकिन पुरुगुप्त की महादेवी से लेकर आगे आने वाले सभी राजाओं की महादेवियों के नामों के पूर्व 'श्री' शब्द का प्रयोग है।

(४) गुप्तों की नालन्दा व भितरी-मुहरों में 'परमभागवत' उपाधि का प्रयोग एक तो द्वितीय चन्द्रगुप्त के लिए हुआ है और दूसरे अन्तिम राजा अर्थात् मुहर जारी करने वाले नरेश के लिए, चाहे वह स्वयं वैष्णव धर्म को मानता था या नहीं।

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत मुहर-लेख स्कन्दगुप्त के उपरान्त शासन करने वाले राजाओं का प्रथम लेख है। यह पुरुगुप्त को स्पष्टतः महाराजाधिराज घोषित करता है। इससे पुरुगुप्त की रानी का नाम ज्ञात करने में भी सहायता मिलती है।

द्वितीय कुमारगुप्तकालीन सारनाथ बुद्ध प्रतिमा-लेख

गु० स० १५४ (=४७३ ई०)

लेख-परिचय—यह लेख जिस बुद्ध प्रतिमा पर उत्कीर्ण है वह बनारस के समीप सारनाथ नामक सुप्रतिथ बौद्ध **स्थल** से एच० हार्ग्रीव्ज़ को मिली थी। लेख प्रतिमा की चरण चौकी पर तीन पंक्तियों में तीन श्लोकों के रूप में १.७″×२$\frac{३}{४}$″ क्षेत्रफल में लिखा है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध की उत्तर भारतीय ब्राह्मी। अक्षरों का औसत आकार १$\frac{१}{२}$″ है। इसके श्लोक सरकार के अनुसार क्रमशः उद्गीति, आर्या और गीति (?) **छन्दों** में हैं तथा भाण्डारकर के अनुसार तीनों ही आर्या छन्द में। तीसरे छन्द का अन्तिम पाद अपठ्य हो गया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—गुप्ते, ए० एस० आई० ए० आर०, १६१४–१५, पृ० १२४ (फलक ५३, एन०); सरकार, स० इ०, पृ० ३२८–६; उपाध्याय, वा०, गुप्त अभिलेख, पृ० १६८, ३८६; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इ०, पृ० १०२; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३२१–२

मूलपाठ

१. वर्षशते गुप्तानां सचतुःपञ्चाशदुत्तरे (।*)
भूमिं रक्षति कुमारगुप्ते मासि ज्येष्ठे द्वितीयायाम् ॥ १
२. भक्त्यावर्ज्जित-मनसा यतिना पूजार्त्थमभयमित्रेण (।*)
प्रतिमाप्रतिमस्य गुणै[र]प[रे]यं [का]रिता शास्तुः ॥ २
३. माता-पितृ-गुरु-पू[र्व्वै]: पुण्येनानेन सत्व(त्त्व)-कायो(ऽ*)यं(यम्) (।*)
लभतामभिमतमुपशम-[*   *   *   * म् ॥ ३

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'सचतुः' को 'सच्चतुः' पढ़ें। ज्येष्ठ=ज्यैष्ठ। पंक्ति ३ : 'पूर्व्वैः' को भाण्डारकर तथा गुप्ते ने 'पूर्तिः' पढ़ा है, डी० आर० साहनी ने 'पूर्व्विः'। सरकार ने खण्डित अंश का नियोजन '०मुपशमं हितसुखं तदेव भवतु सत्त्वानाम्' सुझाया है। भाण्डारकर ने 'उपशम०' के उपरान्त 'महावह...प्रियम्' पढ़ा है।

शब्दार्थ

भक्त्या=भक्ति से; आवर्ज्जित=नम्र; शास्ता=बुद्ध; यति=भिक्षु; सत्त्वकाय=ऐसा व्यक्ति जिसकी काय सत्त्वगुण युक्त है; पूर्व=पूर्वज; लभताम्=पावें; अभिमत=इच्छित; उपशम=अन्त (यहाँ आशय है 'पार्थिव अस्तित्व से मुक्ति')।

अनुवाद

गुप्तों के (अर्थात् गुप्तवंश के शासन के) एक सौ से चव्वन अधिक वर्ष (अर्थात् एक सौ चव्वन वर्ष)

बीतने पर ज्येष्ठ मास की द्वितीया को, जब कुमारगुप्त पृथिवी की रक्षा कर रहे हैं, भक्ति से नम्र मन वाले यति अभयमित्र द्वारा शास्ता की अपरिमित गुणयुक्त यह अप्रतिम प्रतिमा पूजा के हेतु बनायी गयी। (उसके) इस पुण्य से माता-पिता, गुरु, पूर्वज तथा (सभी) सत्त्वकाय (=सज्जन) (पार्थिव अस्तित्व से) मुक्ति पावें (तथा प्राणियों का हितसुख हो)।

लेख का महत्त्व

इस अभिलेख का सर्वाधिक महत्त्व यह तथ्य है कि इससे निर्णायक रूप से सिद्ध हो जाता है कि कुमारगुप्त नामक एक गुप्त सम्राट्, जो प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य से भिन्न था (क्योंकि उस कुमारगुप्त की मृत्यु ४५५ ई० में या उसके पूर्व हो गयी थी), गुप्त संवत् १५४ (=४७३ ई०) में शासन कर रहा था। उसे भितरी-मुहर का कुमारगुप्त मानने पर, जो पुरुगुप्त का पौत्र और प्रथम नरसिंहगुप्त (बालादित्य) का पुत्र था, प्रथम नरसिंहगुप्त को ४७३ ई० के पूर्व रखना अनिवार्य हो जाता है। आर० के० मुकर्जी, पी० एल० गुप्त, बी० पी० सिनहा आदि इसे असम्भव मानते हैं क्योंकि नरसिंहगुप्त बालादित्य छठी शती के हूण शासक मिहिरकुल का समकालीन था; उसे ४७० ई० के लगभग नहीं रखा जा सकता। इसलिए ये विद्वान् इस लेख के कुमारगुप्त को भितरी-मुहर का कुमारगुप्त नहीं मानते। इस समस्या को सुलझाने के लिए रायचौधरी ने मिहिरकुल के समकालीन बालादित्य को ५१० ई० के एरण-लेख में उल्लिखित भानुगुप्त माना है और एस० चट्टोपाध्याय ने प्रस्तुत लेख के कुमारगुप्त को सम्राट् न मानकर 'गोप्ता' अर्थात् गवर्नर बताया है। परन्तु इस लेख की भाषा से स्पष्ट है कि यह कुमारगुप्त सम्राट् था, गोप्ता नहीं। ठीक इसी भाषा का प्रयोग सारनाथ से प्राप्त भिक्षु अभयमित्र द्वारा ही लिखवाये गये प्रतिमा-लेख में बुधगुप्त के लिए किया गया है जो निश्चय ही सम्राट् था, गोप्ता नहीं। हम इस कुमारगुप्त को भितरी-मुहर का कुमारगुप्त ही मानते हैं। विस्तृत विचार के लिए दे०, द्वितीय कुमारगुप्त के भितरी मुहर-लेख की व्याख्या व महत्त्व।

४७३ ई० में शासन करने वाला यह कुमारगुप्त स्पष्टतः वह कुमारगुप्त भी होगा जो रेशम बुनने वालों की श्रेणी द्वारा लिखवाये गये मन्दसौर-लेख के अनुसार मालव संवत् ५२९ (=४७२ ई०) में शासन कर रहा था।

द्वितीय कुमारगुप्त के भितरी तथा नालन्दा मुहर-लेख

लेख-परिचय—पुरुगुप्त के पौत्र तथा नरसिंहगुप्त के पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त की दो लगभग अक्षत मुहरें उपलब्ध हैं। इनमें एक उत्तर प्रदेश में १८८६ ई० के आसपास गाजीपुर जिले में सैदपुर के निकट भितरी नामक गाँव से एक मकान की नींव खोदते समय प्राप्त हुई थी। यह मिश्रित धातु से निर्मित है जिसमें ६२.६७ प्रतिशत ताम्र है, ३६.२२५ प्रतिशत चाँदी है तथा सुवर्ण की हल्की-सी झलक है। ऊपर से नीचे की ओर ५$\frac{3}{४}$ इंच लम्बी तथा ४$\frac{१}{२}$ इंच चौड़ी यह अण्डाकार मुहर किसी ताम्रपत्र के साथ जुड़ी रही होगी जो अब अनुपलब्ध है। अब यह लखनऊ-संग्रहालय में रखी है। इसकी बनावट वैसी ही है जैसी गुप्तों की नालन्दा से प्राप्त मृत्तिका मुहरों की। इसके उपरले भाग में बना गरुड़ मानवमुखी है और उसके गले में नाग पड़ा दिखाया गया है। इसमें अक्षरों की रक्षा के लिए किनारों को उभारा गया है। अक्षरों का आकार $\frac{१}{८}$" से कुछ कम है।

गुप्तों की नालन्दा से प्राप्त मृत्तिका मुहरों में द्वितीय कुमारगुप्त की दो मुहरें भी सम्मिलित हैं। इनका पाठ भितरी-मुहर के समान है। इनमें एक लगभग अक्षत है (एम० ए० एस० आई०, ६६, मुहर संख्या ८४९, फलक ८ डी०) तथा दूसरी का बाईं ओर का करीब एक-तिहाई भाग टूटा हुआ है (वही, मुहर सं० ८४३, फलक इ०)। बनावट में ये भितरी-मुहर के समान हैं लेकिन आकार में उससे छोटी हैं। ये सभी अलग-अलग ठप्पों से बनी हैं। जो मुहर लगभग अक्षत है (इसका केवल दाहिना बॉर्डर तथा पीठ कुछ क्षतिग्रस्त है) ४$\frac{१}{२}$"×३$\frac{१}{२}$" आकार की है। इसका विस्तृत वर्णन हमने प्रसंगवशात् प्रथम नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर के साथ किया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख—भितरी-मुहर के लिए दे० हॉर्नले, जे० ए० एस० बी०, ५८, भाग १, पृ० ८९; फ्लीट, आई० ए०, १९, १८९०, पृ० २२५; सरकार, स० इ०, पृ० ३२९–३०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस, ३, पृ० ३५८-६०; नालन्दा मुहर के लिए दे०, एम० ए० एस० आई०, ६६, पृ० ६६; एन० पी० चक्रवर्ती, इ० आई०, २१, पृ० ११; निसार अहमद, जे० एन० एस० आई०, ३३, भाग २, पृ० ४७–९; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० २३२; जगन्नाथ, जे० यू० पी० एच० एस०, १३, पृ० १००–१; पी० आई० एच० सी०, ४, १९४०, पृ० ६०–१; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३५५–८

भितरी-मुहर का मूलपाठ

१. [सर्व्व]-राजोच्छेत्तु⌒पृथिव्यामप्रतिरथस्य महाराज-श्री[गुप्त]-प्रपौ[त्र]स्य महाराज-श्रीघटोत्कच-
पौत्रस्य म[हा]-
२. [राजा]धिर[ा]ज-श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छ[वि-द्रौहित्रस्य] म[हादे]व्य[ां] [कुमा]रदेव्यामुत्पन्नस्य
महाराजाधिराज-
३. [श्री]समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परि[गृही]तो म[हादेव्या]न्दत्तदेव्या]मुत्पन्नस्स्वयं च[ा]प्रतिरथ
परमभाग-

४. [वतो] [महाराजा]धिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य [पुत्त्र]स्तत्पाद[ा]नु[द्ध्या]तो महादेव्य[ां] [ध्रु]वदेव्या-
मुत्पन्नो म[हारा]-

५. [जाधि]राज-श्रीकुमार[गुप्त]स्तस्य पुत्त्रस्तत्पादानुद्ध्य[ातो] महादेव्यामनन्तदेव्य[ा]मुत्पन्नो महा[रा]-

६. [जाधिरा]ज-श्री[पूरुगुप्त]स्तस्य पुत्त्रस्तत्पादानुद्ध्य[ातो] महादे[व्यां] श्रीचन्द्रदेव्यामुत्प[न्नो]
म[हा]-

७. [राजाधिरा]ज-श्रीनरसिंहगुप्तस्तस्य [पु]त्त्रस्त[त्प]ादा[नुद्ध्यातो] मह[ादेव्यां] श्रीमित्त्रदे-

८. [व्या]मु[त्प]न्न ‿ परमभ[ा]गवतो मह[ाराजाधिरा]ज-श्रीकुम[ा]र[गुप्तः ।।]

(हमने यहाँ नालन्दा-मुहर का पाठ आवश्यक न होने के कारण नहीं दिया है) ।

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ३ : हॉर्नले 'चाप्रतिरथ' को 'च प्रतिरथ' पढ़ते हैं । पंक्ति ५–६ : हॉर्नले व सरकार के अनुसार ५वीं पंक्ति के अन्तिम अक्षर 'महारा' हैं । लेकिन नालन्दा से प्राप्त दोनों मुहरों में अन्तिम अक्षर निश्चय ही 'महा' हैं और 'रा' छठी पंक्ति के प्रारम्भ में है। निसार अहमद भितरी-मुहर में भी 'रा' अक्षर को छठी पंक्ति में मानते हैं । पंक्ति ६ : भितरी-मुहर में पहिले 'पुरु' को 'पुर' पढ़ा गया था । 'श्रीचन्द्र०' को फ्लीट ने 'श्रीवत्स०' पढ़ा है, नालन्दा-मुहर में हीरानन्द शास्त्री ने 'श्रीवैण्य०' तथा एन० पी० चक्रवर्ती तथा सरकार ने 'श्रीचन्द्र०' । अन्तिम पाठ शुद्ध है (दे०, प्रथम नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर पर टि० १) । पंक्ति ७–८ : हीरानन्द शास्त्री ने 'व्यामुत्पन्नः' अक्षरों को नालन्दा-मुहर में सातवीं पंक्ति के अन्त में पढ़ा है जबकि ये दोनों ही छापों में वस्तुतः आठवीं पंक्ति के प्रारम्भ में हैं । ७वीं पंक्ति में 'महादेव्यां' के बाद भितरी-मुहर में फ्लीट ने 'महा[लक्ष्मी ?]' पढ़ा है, हॉर्नले ने 'श्रीमती०', सरकार ने 'श्रीमन्मित्त्र०' तथा हीरानन्द शास्त्री ने नालन्दा-मुहर में 'श्रीमित्त्र०' । परन्तु नालन्दा की खण्डित मुहर की छाप में 'श्रीमित्त्र०' पाठ स्पष्ट है । लेख में सर्वत्र आये 'पादानुद्धातो' को हीरानन्द शास्त्री ने 'पादानुध्यातो' लिखा है, परन्तु फलक में 'पादानुद्ध्यातो' स्पष्ट है ।

व्याख्या

(१) कुमारगुप्त—यह कुमारगुप्त, जो प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य का प्रपौत्र था, सिक्कों से भी ज्ञात है । उसकी सुवर्ण मुद्राओं की चर्चा हमने पीछे प्रसंगवशात् नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर की टिप्पणी १ में की है । इन पर राजा की उपाधि 'क्रमादित्य' लिखी है । इन सिक्कों को दो वर्गों में बाँटा गया है—'वर्ग अ', जिसके सिक्के भार में हल्के, ७० प्रतिशत से ८० प्रतिशत शुद्ध सुवर्ण वाले तथा बनावट में अच्छे हैं तथा 'वर्ग ब', जिसके सिक्के अपेक्षया भारी, केवल ५४ प्रतिशत सुवर्ण वाले तथा भद्दी बनावट के हैं। इन दोनों वर्गों के सिक्कों को एक नाम के दो पृथक् शासकों ने जारी किया—ऐसा मुकर्जी, पी० एल० गुप्त, तथा बी० पी० सिनहा मानते हैं । हम भी उनसे सहमत हैं और सिक्कों से ज्ञात इस द्वितीय कुमारगुप्त क्रमादित्य को ४७३ ई० के सारनाथ-अभिलेख का कुमारगुप्त मानते हैं तथा तृतीय कुमारगुप्त क्रमादित्य को छठी शती ई० में रखते हैं । परन्तु, जैसा कि हमने नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर की टि० १ में प्रदर्शित किया है, स्कन्दगुप्त के तत्काल बाद नालन्दा-मुहर तथा सिक्कों से ज्ञात प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य ने शासन किया । इसलिए अब राजक्रम इस प्रकार बनता है । स्कन्दगुप्त>पुरुगुप्त का पुत्त्र प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य>द्वितीय कुमारगुप्त क्रमादित्य (ज्ञात तिथि ४७३ ई०) । इसलिए अब सिक्कों से ज्ञात प्रथम कुमारगुप्त क्रमादित्य को नालन्दा तथा भितरी-मुहरों का कुमारगुप्त मानना अनिवार्य है । एस० के० मैती (द इम्पीरियल गुप्तज़, पृ० ६८) ने हमारे इस मत को माना है ।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत मुहर-लेख अतीव महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे प्रमाणित होता है कि स्कन्दगुप्त (अन्तिम ज्ञात तिथि ४६७ ई०) के बाद तथा ४७३ ई० के सारनाथ-अभिलेख (जिसमें कुमारगुप्त का उल्लेख है) के बीच में पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त ने शासन किया तथा नरसिंहगुप्त का पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त ४७३ ई० में शासन कर रहा था। पन्नालाल नामक विद्वान् ने १६१६ में ही यह मत प्रतिपादित किया था। परन्तु मुकर्जी, बी० पी० सिनहा तथा पी० एल० गुप्त आदि विद्वानों ने उनके मत को तीन कारणों से नहीं माना है। एक, पुरुगुप्त के पुत्र बुधगुप्त ने ४७६ से ४६५ ई० तक शासन किया था, इसलिए पन्नालाल के मत को मानने का अर्थ यह होता है कि ४६६ ई० से ४७६ ई० के मध्य मात्र ६ वर्ष में तीन पीढ़ी के तीन राजाओं—पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, तथा द्वितीय कुमारगुप्त—ने शासन किया था। यह असम्भव लगता है। सिनहा ने गणना करके बताया कि पन्नालाल के मत को मानने का अर्थ होगा कि जब नरसिंहगुप्त की ४७० ई० के लगभग मृत्यु हुई, वह अधिक से अधिक ३५ वर्ष का रहा होगा और उसका पुत्र कुमारगुप्त १४–१५ वर्ष का। दो, विष्णुगुप्त की नालन्दा से प्राप्त मुहर में उसे नरसिंहगुप्त का पौत्र और कुमारगुप्त का पुत्र बताया गया है। पन्नालाल के मत को मानने से इस विष्णुगुप्त को भी बुधगुप्त के पूर्व रखना होगा, जो असम्भव है। तीन, नरसिंहगुप्त की उपाधि बालादित्य थी और बालादित्य ने छठी शती के पूर्वार्द्ध में मिहिरकुल को हराया था ऐसा युवान च्वांग बताता है। अतः नरसिंहगुप्त को लग० ४७० ई० में नहीं रखा जा सकता।

परन्तु हमें मूलतः पन्नालाल का मत सही जान पड़ता है। प्रमाण : (१) पुरुगुप्त को स्कन्दगुप्त के बाद रखना अनिवार्य नहीं है। उसने ४५५ ई० के लगभग विद्रोह करके शासन किया। सिनहा का यह कहना भी सही है कि नरसिंहगुप्त की आयु ४७० ई० में ३५ वर्ष के आसपास रही होगी, परन्तु वस्तुतः यह तो हमारे मत के समर्थन में एक प्रमाण है क्योंकि 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में सकार (=स्कन्दगुप्त) के उत्तराधिकारी बाल (=नरसिंहगुप्त बालादित्य) के विषय में कहा गया है कि उसने ३६ वर्ष एक माह की आयु में आत्महत्या कर ली थी। उस अवस्था में उसका पुत्र और उत्तराधिकारी कुमारगुप्त स्पष्टतः किशोर ही रहा होगा। उसके चाचा बुधगुप्त ने उसे हटा कर राज्य छीन लिया होगा, जिसका संकेत युवान च्वांग ने भी दिया है। (२) विष्णुगुप्त इस कुमारगुप्त का पुत्र नहीं था। दे०, विष्णुगुप्त की नालन्दा-मुहर। (३) मिहिरकुल को हराने वाला बालादित्य पुरुगुप्त का पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्य नहीं, इस नाम का दूसरा राजा था। दे०, नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर का विवेचन।

बुधगुप्त के शासनकाल के अभिलेख

(ज्ञात तिथियाँ ४७६ ई० से ४९५ ई०)

इस पुस्तक में स्वीकृत राजक्रम व तिथिक्रम के अनुसार द्वितीय कुमारगुप्त के उपरान्त पुरुगुप्त के दूसरे पुत्र बुधगुप्त ने शासन किया। उसकी ज्ञात तिथियाँ ४७६ ई० से ४९५ ई० तक हैं। उसके शासन-काल के निम्नलिखित अभिलेख उपलब्ध हैं :—

(१) सारनाथ बुद्ध प्रतिमा-लेख : वर्ष १५७
(२) पहाड़पुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १५९
(३) वाराणसी पाषाण स्तम्भ-लेख : वर्ष १५९
(४) दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १६३
(५) एरण प्रस्तर स्तम्भ-लेख : वर्ष १६५
(६) शंकरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १६७
(७) नन्दपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १६९
(८) दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख
(९) बुधगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख

(इनके अतिरिक्त दो अन्य अभिलेखों की चर्चा यहाँ की जा सकती है। इनमें पहिला एक अत्यन्त खण्डित बुद्ध प्रतिमा की चरण चौकी पर उत्कीर्ण है। इसमें गुप्त संवत् के १५७वें वर्ष के मार्गशीर्ष माह के २०वें दिवस का उल्लेख है। दे०, आई० इ०, ए० आर०, १९५२-५३, पृ० ७३, संख्या ४६९, परिशिष्ट बी०। दूसरा अभिलेख बेलवा (वाराणसी) से प्राप्त हुआ है। यह तिथिविहीन है। इसकी लिपि पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध की बतायी गयी है। दे०, आई० इ०, ए० आर०, १९५९-६०, पृ० १२०, सं० ७४२, परिशिष्ट बी०।)

बुधगुप्तकालीन सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख

गु० स० १५७ (=४७६ ई०)

लेख-परिचय—यह लेख जिस बुद्ध प्रतिमा पर उत्कीर्ण है वह बनारस के समीपस्थ सारनाथ नामक बौद्ध **तीर्थस्थल** से एच० हार्ग्रीव्ज़ को १९१४–१५ में मिली थी। लेख प्रतिमा की चरण चौकी पर लिखा है। वस्तुत: इस लेख की दो प्रतियाँ दो पृथक्-पृथक् बुद्ध प्रतिमाओं पर लिखी मिली हैं। इन्हें भी, द्वितीय कुमारगुप्तकालीन बुद्ध प्रतिमा लेख की तरह, अभयमित्र नामक भिक्षु ने ये प्रतिमाएँ बनवाकर लिखवाया था। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध की उत्तरभारतीय ब्राह्मी। अक्षरों का औसत आकार ३/८″ है। इसमें कुल तीन पंक्तियाँ हैं जिसमें चार श्लोक अनुष्टुभ **छन्द** में लिखे हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—गुप्ते, वाई० आर०, ए० एस० आई० आर०, १९१४–१५, पृ० १२४–२५ (फलक ५६, ओ०); सरकार, स० इ०, पृ० ३३१; अग्रवाल, जगन्नाथ, पी० आई० एच० सी०, १९४०, पृ० ६०; जे० यू० पी० एच० एस०, १३, १९४०, अंक २, पृ० १००; उपाध्याय, वा०, गुप्त अभिलेख, पृ० १७०, ३९०; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इ०, पृ० १०३–४; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३३२

मूलपाठ

१. गुप्तानां समतिक्क्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे (।*)
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति ॥ १
[वैशाख-मास-सप्तम्यां मूले श्याम-गते*]
२. मया (।*)
कारिताभयमित्रेण प्रतिमा शाक्य-भिक्षुणा ॥ २
इमामुद्दण्ड-सच्छत्र-पद्मास[न-विभूषितां(ताम् ।*)]
[देवपुत्रवतो दिव्यां*]
३. चित्रवि[न्या]स-चित्रितां ॥ ३
यदस्ति पुण्यं प्रतिमां कारयित्वा ममास्तु तत् (।*)
माता-[पित्रोर्गु][रूणां च लोकस्य च समाप्तये ॥*] ४

पाठ-टिप्पणी—ये लेख काफी क्षत हैं। इन्हें द्वितीय कुमारगुप्त के ४७३ ई० के बुद्ध-प्रतिमा-लेख की सहायता से, जिसकी भाषा काफी समान है, पुनर्योजित किया गया है। पंक्ति २ : भाण्डारकर तथा गुप्ते ने 'इमामुद्दण्ड' को 'इमामुद्धस्त' पढ़ा है। पंक्ति ३ : गुप्ते ने 'चित्रविन्यासचित्रितां' को 'चित्रविद्यास-चित्रितां' पढ़ा है। 'चित्रितां' को 'चित्रिताम्' पढ़ें। गुप्ते के अनुसार 'यदस्ति' की जगह 'यदत्र' पाठ है और 'ममास्तु तत्' की जगह 'मयाभृतम्'।

शब्दार्थ

समतिक्क्रान्ते=(पूरी तरह) बीतने पर; मूले श्याम गते=मूल नक्षत्र के कृष्ण पक्ष में जाने पर; मया अभयमित्रेण=मुझ अभयमित्र के द्वारा; शाक्यभिक्षु=बौद्धभिक्षु; देवपुत्रवत्=बुद्ध; कारयित्वा=बनवाकर; समाप्ति=मुक्ति; लोक=मानव मात्र

अनुवाद

गुप्तों के (अर्थात् गुप्तवंश के शासन के) एक सौ से सत्तावन अधिक वर्ष (अथवा एक सौ सत्तावन वर्ष) बीतने पर वैशाख मास में मूल नक्षत्र के कृष्ण पक्ष में चले जाने पर सप्तमी (के दिन), जब बुधगुप्त पृथिवी पर शासन कर रहा है, मुझ बौद्ध भिक्षु अभयमित्र द्वारा बुद्ध की दण्ड, छत्र, पद्मासन विभूषित चित्र विन्यास चित्रित यह दिव्य प्रतिमा बनवायी गयी । (इस) प्रतिमा को बनवाने पर मेरा जो पुण्य है वह माता-पिता, गुरुओं तथा मानव मात्र की मुक्ति के लिए हो ।

अभिलेख का महत्त्व

इस अभिलेख में उल्लिखित तिथि गु० स० १५७ (=४७६ ई०) गुप्त सम्राट् बुधगुप्त की प्राचीनतम ज्ञात तिथि है। इससे सिद्ध है कि इस वर्ष या इसके कुछ पूर्व ही ४७३ ई० में शासन करने वाले कुमारगुप्त का अन्त हो गया था । इस लेख को लिखवाने तथा मूर्ति को बनवाने वाला भिक्षु अभयमित्र स्पष्टतः वही है जिसका उल्लेख ४७३ ई० के सारनाथ बुद्ध प्रतिमा-लेख में मिलता है। इस लेख में बुद्ध का 'देवपुत्रवत्' उपाधि द्वारा उल्लेख महत्त्वपूर्ण है । देवपुत्र कुषाण राजाओं की उपाधि रही थी । 'देव' उपाधि का प्रयोग सभी राजाओं के लिए किया जाता था । शायद बौद्ध भिक्षु बुद्ध के लिए राजकीय उपाधियों का प्रयोग करने में गर्व का अनुभव करते थे । गुप्ते ने यहाँ 'देव' का अर्थ 'दैवी' मानकर 'दैवपुत्रवत्' का अनुवाद 'वह जिसके दैवी पुत्र (=भिक्षु) हैं' किया है । भाण्डारकर ने 'देवपुत्रवत्' को 'देवपुत्रों के साथ' अर्थ में लिया है और 'इमामुद्दण्ड-सच्छत्र' को 'इमामुद्धस्तच्छत्र' पढ़कर 'उद्धस्त' का अर्थ 'उठे हाथ वाली' माना है ।

पहाड़पुर ताम्रपत्र-अभिलेख

गु० सं० १५९ (=४७९ ई०)

लेख-परिचय—इस अभिलेख का **प्राप्ति-स्थल** बांगला देश के राजशाही जिले के बादलगाछी थाने के अन्तर्गत स्थित पहाड़पुर नामक स्थान है। यहाँ एक महाकाय मन्दिर के उत्खनन के समय यह के० एन० दीक्षित को नवम्बर २९, १९२७ को प्राप्त हुआ था। श्रमिकों की असावधानी से **ताम्रपट्ट** में सामने से देखने पर दाहिनी ओर निचले भाग में एक छेद हो गया है। ताम्रपट्ट का आकार ७¼″×४½″ है और इसका भार २९ तोला है। लेख काफी बड़ा है। इसमें कुल २५ पंक्तियाँ हैं जिनमें १२ पुरोभाग पर लिखी हैं, शेष पृष्ठभाग पर। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** पाँचवीं शती के अन्त की उत्तर भारतीय ब्राह्मी जो दामोदरपुर-दानपत्रों की लिपि से सादृश्य रखती है। **वर्तनी** की विशेषताओं में 'य्' तथा 'र्' के पूर्व 'क' के द्वित्व तथा 'र्' के उपरान्त 'क्', 'ण्', 'द्', 'म्' और 'य्' का द्वित्व उल्लेख्य हैं। इसका **उद्देश्य** वट-गोहाली में स्थित जैनाचार्य गुहनन्दि के विहार के लिए ब्राह्मण नाथशर्मा और उसकी पत्नी रामी द्वारा प्रदत्त भूमिदान को निबद्ध करना है।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—सर्वप्रथम इसे इसके अन्वेषक दीक्षित ने ही इ० आई०, २०, में प्रकाशित किया (पृ० ५९–६४)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ—सरकार, स० इ०, पृ० ३५९–६३; मैती और मुखर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ५३–५८; वासुदेव उपाध्याय, गुप्त अभिलेख, पृ० १९५। भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि ने पता नहीं क्यों इसे 'संशोधित कॉर्पस ३' में स्थान नहीं दिया है।

मूलपाठ

पुरोभाग

१. स्वस्ति (।।*) पुण्ड्र [वर्द्ध]नादायुक्तका आर्य्यनगरश्रेष्ठि-पुरोगाञ्चाधिष्ठानधिकरणम्(णं)
दक्षिणांशकवीथेयनागिरट्ट-
२. माण्डलिक-पलाशाट्टपार्श्विक-वटगोहाली-जम्बुदेवप्रावेश्यपृष्ठिमपोत्तक-गोषाटपुञ्जकमूलनागिरट्ट-
प्रावेश्य-
३. नित्वगोहालीषु ब्राह्मणोत्तरान्महत्तरादि-कुटुम्बिनः कुशलमनुवर्ण्ण्यानुबोधयन्ति (।*) विज्ञापयत्य-
स्मान्ब्राह्मण-नाथ-
४. शर्म्मा एतद्भार्य्या रामी च (।*) युष्माकमिहाधिष्ठानाधिकरणे द्विदीनारिक्क्य-कुल्यवापेन
शश्वत्कालोपभोग्याक्षयनीवी-समुदयवा(बा)ह्या-
५. प्रतिकर-खिलक्षेत्रवास्तु-विक्क्रयो(ऽ*)नुवृत्तस्तदर्हथानेनैव क्क्रमेणावयोस्सकाशाद्दीनारत्रयमुपसङ्गृह्या-
वयो(:*) स्व-पुण्याप्या-
६. यनाय वटगोहाल्यामवास्याङ्काशिक-पञ्चस्तूपनिकायिक-निग्रन्थश्रमणाचार्य्य-गुहनन्दि-शिष्यप्रशि-
ष्याधिष्ठित-विहारे

७. भगवतामर्हतां गन्ध-धूप-सुमनो-दीपाद्यर्थन्तलवाटक-निमित्तञ्च अ(तः*) एव वटगोहालीतो वास्तु-द्रोणवापमध्यर्द्धञ्ज-

८. म्बुदेवप्रावेश्य-पृष्ठिमपोत्तके त्क्षे(क्षे)त्रं द्रोणवाप-चतुष्टयं गोषाटपुञ्जाद्द्रोणवापचतुष्टयम् मूलनागिरट्ट-

९. प्रावेश्य-नित्वगोहालीतः अर्द्धत्रिक-द्रोणवापानित्येवमध्यर्द्धं क्षेत्र-कुल्यवापमक्षय-नीव्या दातुमि[ति] (।*) यतः प्रथम-

१०. पुस्तपालदिवाकरनन्दि-पुस्तपालधृतिविष्णु-विरोचन-रामदास-हरिदास-शशिनन्दि-[सु]प्रभ-मनुद[त्ताना]मवधारण-

११. यावधृतम् अस्त्यस्मदधिष्ठानाधिकरणे द्विदीनारिक्क्य-कुल्यवापेन शश्वत्कालोपभोग्याक्षयनीवी-समु[दय]वा(बा)ह्याप्रतिकर-

१२. [खिल*]क्षेत्रवास्तु-विक्क्रयो(ऽ*)नुवृत्तस्तद्युष्माम्ब्रा(न्ब्रा)ह्मण-नाथशर्म्मा एतद्भार्य्या रामी च पलाशाट्टपार्श्विक-वटगोहाली-स्थ[ायि]-

पृष्ठभाग

१३. [काशि*]क-पञ्चस्तूपकुलनिकायिक-आचार्य्य-निग्रन्थ-गुहनन्दि-शिष्यप्रशिष्याधिष्ठित-सद्विहारे अरहतां गन्ध-[धूप]ाद्युपयोगाय

१४. [तल-वा*]टक-निमित्तञ्च तत्रैव वटगोहाल्यां वास्तु-द्रोणवापमध्यर्द्धं क्षेत्रञ्जम्बुदेव-प्रावेश्य-पृष्ठिमपोत्तके द्रोणवाप-चतुष्टयं

१५. गोषाटपुञ्जाद्द्रोणवाप-चतुष्टयं मूलनागिरट्ट-प्रावेश्य-नित्वगोहालीतो द्रोणवाप-द्वयमाढवा[प-द्व]याधिकमित्येवम-

१६. ध्यर्द्धं क्षेत्र-कुल्यवापम्प्रार्त्थय(ये)ते(ऽ*)त्र न कश्चिद्विरोधः गुणस्तु यत्परमभट्टारक-पादानामर्त्थोपचयो धर्म्म-षड्भागाप्याय-

१७. नञ्च भवति (।*) तदेवङ्क्रियतामित्यनेनावधारणा-क्क्रमेणास्माद्ब्राह्मणनाथशर्म्मत एतद्भार्य्या-रामिया(म्या)श्च दीनार-त्र-

१८. यमायीकृत्यैताभ्यां विज्ञापितक-क्रमोपयोगायोपरि-निर्द्दिष्ट-ग्राम-गोहालिकेषु तलवाटक(कं) वास्तुना सह क्षेत्रं

१९. कुल्यवाप(ः*) अध्यर्द्धो(ऽ*)क्षय-नीवी-धर्म्मेण दत्तः (।*) कु १ द्रो ४ (।*) तद्युष्माभिः स्व-कर्षणाविरोधि-स्थाने षट्क-नडैरप-

२०. विञ्छ्य दातव्यो(ऽ*)क्षय-नीवी-धर्म्मेण च शश्वदाचन्द्रार्क्क-तारक-कालमनुपालयितव्य इति (॥*) सम् १००(+*)५०(+*)९

२१. माघ-दि ७ (।*) उक्तञ्च भगवता व्यासेन (।*)
स्व-दत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् (।*)
२२. स विष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते (॥*) १
षष्टि-वर्षसहस्राणि स्वर्गे वसति भूमिदः (।*)
२३. आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् (॥*) २
राजभिर्व्वहुभिर्द्दत्ता दीयते च पुनः पुनः (।*)
यस्य यस्य
२४. यदा भूमि तस्य तस्य तदा फलम् (॥*) ३
पूर्व्व-दत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
महीम्महीमतां श्रेष्ठ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२५. दानाच्छ्रेयो(ऽ*)नुपालनं (नम्) (।।*) ४
विन्ध्याटवीष्वनम्भस्सु शुष्क-कोटर-वासिन (:*) (।*)
कृष्णाहिनो हि जायन्ते देव-दायं हरन्ति ये (।।*) ५

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : दीक्षित ने '०युक्तका' को '०युक्तकः' पढ़ा है। पंक्ति ६ : लिपिक ने पहिले 'कुल्य' के वजाय 'द्रोण' खोद दिया था फिर 'कुल्य' को 'द्रोण' के ऊपर खोदा। दीक्षित ने 'दातुमिति' को 'दातुमित्यत्र' पढ़ा है। पंक्ति १३ : 'निकायिक आचार्य्य' को 'निकायिकाचार्य्य' पढ़ें तथा 'अरहतां' को 'अर्हतां'। पंक्ति १६ : '०कर्षणा०' को दीक्षित ने '०कर्म्मणा०' पढ़ा है। पंक्ति २२ : 'क्रिमि' को 'क्रमि' पढ़ें। पंक्ति २३ : '०व्वंहु०' को 'ब्वंहु०' पढ़ें। पंक्ति २४ : 'भूमि तस्य' को 'भूमिस्तस्य' पढ़ें।

शब्दार्थ

प्रावेश्य=कर निर्धारण के लिए संयुक्त; निग्रन्थ=निर्ग्रन्थ, जैन; अध्यर्द्ध=डेढ़; अर्द्धत्रिक=अढ़ाई; प्रथम पुस्तपाल=प्रधान लेखाधिकारी; अधिष्ठित=आवासित; अर्थोपचय=अर्थलाभ; नड=नल; षट्कनल=छः हाथ लम्बा नल; दाय=भाग, हिस्सा, भेंट, दान (अन्य शब्दों के लिए अन्य दानपत्र देखें)।

अनुवाद

पं० १ कल्याण हो! पुण्ड्रवर्द्धन से आयुक्तक (तथा) आर्य नगर श्रेष्ठी सहित (अर्थात् जिसके अध्यक्ष नगरश्रेष्ठी हैं) अधिष्ठान अधिकरण दक्षिणांशक वीथी में नागिरट्ट मण्डल के अन्तर्गत पलाशाट्टपार्श्व में स्थित वटगोहाली, जम्बुदेव से (कर निर्धारण के लिए) संयुक्त पृष्ठिमपोत्तक, गोषाटपुञ्जक (तथा) मूलनागिरट्ट से (कर निर्धारण के लिए) संयुक्त नित्वगोहाली में श्रेष्ठतम ब्राह्मणों (और) महत्तरादि कृषक-गृहस्थों को कुशल कहकर सूचित करते हैं;—

पं० ३ "हमसे ब्राह्मण नाथशर्मा और उसकी पत्नी रामी ने यह आवेदन किया है। 'आपके इस अधिष्ठान अधिकरण में दो दीनार प्रति कुल्यवाप की दर से शाश्वत काल तक (=सदैव के लिए) अक्षयनीवी (धर्म के अनुसार) समुदयबाह्य, अप्रतिकर (जिससे कर नहीं मिलता हो) खिल एवं वास्तु (=भवन निर्माण के लिए) क्षेत्र विक्रय करने की प्रथा है। अतः आपको चाहिये कि हम दोनों से तीन दीनार लेकर (=वसूल करके) हम दोनों के पुण्य की अभिवृद्धि के लिए काशी के वटगोहाली में स्थित पञ्चस्तूप निकाय नामक सम्प्रदाय के निर्ग्रन्थ (=जैन) श्रमण आचार्य गुहनन्दि के शिष्यों और प्रशिष्यों द्वारा आवासित विहार में दैवी अर्हतों (की पूजा) के लिए गन्ध, धूप, पुष्प, दीप आदि के हेतु तथा तलवाटक के निमित्त वटगोहाली में डेढ़ द्रोणवाप वास्तु भूमि, जम्बुदेव से (कर निर्धारण के लिए) संयुक्त पृष्ठिमपोत्तक में चार द्रोणवाप, गोषाटपुञ्ज से चार द्रोणवाप, मूल नागिरट्ट से (कर निर्धारण के लिए) संयुक्त नित्वगोहाली में अढ़ाई द्रोणवाप, इस प्रकार कुल डेढ़ कुल्यवाप क्षेत्र अक्षयनीवी (धर्म) के अनुसार दें।'

पं० ६ तब प्रधान पुस्तपाल दिवाकरनन्दि (तथा) पुस्तपाल धृतविष्णु, विरोचन, रामदास, हरिदास, शशिनन्दि, सुप्रभ (तथा) मनुदत्त की जाँच-पड़ताल से निश्चित हुआ कि हमारे अधिष्ठान अधिकरण में दो दीनार प्रति कुल्यवाप की दर से सदैव के लिए उपभोग्य समुदयबाह्य अप्रतिकर खिल और वास्तु क्षेत्र अक्षयनीवी (धर्म के अनुसार) विक्रय किये

जाने की प्रथा है। इन ब्राह्मण नाथशर्मा और उसकी भार्या रामी ने मूलतः काशी के परन्तु अब पलाशाट्टपार्श्व में स्थित वटगोहाली के निवासी पञ्चस्तूपकुलनिकाय नामक सम्प्रदाय के आचार्य निर्ग्रन्थ गुहनन्दि के शिष्यों तथा प्रशिष्यों से आवासित सद्विहार में गन्ध, धूप आदि के उपयोग के लिए तथा तलवाटक के निमित्त वहीं वटगोहाली में डेढ़ द्रोणवाप वास्तु भूमि, जम्बुदेव से (कर निर्धारण के लिए) संयुक्त पृष्ठिमपोत्तक में चार द्रोणवाप, गोषाटपुञ्ज से चार द्रोणवाप, मूल नागिरट्ट से (कर निर्धारण के लिए) संयुक्त नित्वगोहाली में दो द्रोणवाप तथा दो आढ़वाप—इस प्रकार कुल डेढ़ कुल्यवाप क्षेत्र की प्रार्थना की है। यहाँ किसी प्रकार का विरोध (=आपत्ति) नहीं है। इसके अलावा परमभट्टारक पाद को कुछ अर्थलाभ और धर्म (=पुण्य) के षड्भाग की प्राप्ति होगी। अतएव आवेदन स्वीकृत किया जा सकता है।

पं० १७ तब इस अवधारणा (=निश्चय) के अनुसार ब्राह्मण नाथशर्मा और उसकी भार्या रामी से तीन दीनार लेकर विज्ञापित (=उपर्युक्त) क्रमोपयोग के लिए ऊपर निर्दिष्ट ग्रामों में जो गोहाली तक विस्तृत हैं, तलवाटक वास्तु भूमि के साथ डेढ़ कुल्यवाप क्षेत्र अक्षयनीवीधर्मानुसार दिया गया। कु(ल्यवाप) १ द्रो(णवाप) ४। इसे आपके द्वारा ऐसे स्थानों पर जहाँ आपके कृषि कर्म का विरोध न हो (अर्थात् जहाँ आपके कृषि कर्म को हानि न होती हो) छः हाथ लम्बे नलकों से मापकर दिया जाना चाहिये (तथा) अक्षयनीवीधर्मानुसार सदैव के लिए चन्द्र, सूर्य (और) तारक के काल तक (अर्थात् जब तक चन्द्र, सूर्य और तारक विद्यमान हैं तब तक) अनुपालन किया जाना चाहिये। संवत् १००+५०+९ (=१५९) माघ दिवस ७।''

पं० २१ और भगवान् व्यास द्वारा कहा गया है—

जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर (अपने पितरों के साथ) सड़ता है ॥१॥ भूमिदान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहर्ता तथा उसका अनुमोदक ठीक उतने ही समय नरक में वास करते हैं ॥२॥ बहुत-से राजाओं द्वारा (भूमि) पुनः पुनः दी गयी है। जब जिसकी-जिसकी भूमि होती है तब उसको-उसको फल मिलता है ॥३॥ हे राजाओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! द्विजातियों को पूर्वकाल में प्रदत्त भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो (क्योंकि) (भूमि के) दान से इसका अनुपालन श्रेष्ठ है ॥४॥ जो देवदाय (=देवताओं को दी गयी भेंट) को हरते हैं वे जलहीन विन्ध्याटवी में पेड़ों के सूखे खोलों में कृष्ण सर्प होकर वास करते हैं ॥५॥

व्याख्या

(१) **वटगोहाली, नित्वगोहाली, पृष्ठिमपोत्तक** तथा **गोषाट पुञ्जक** ये सभी **पलाशाट्ट पार्श्व** में स्थित थे जो **दक्षिणांशकवीथी** के **नागरिट्ट** मण्डल के अन्तर्गत था। वटगोहाली अथवा नित्वगोहाली में से कोई एक गोआलभीटा नामक आधुनिक ग्राम से अभिन्न होना चाहिये जो पहाड़पुर के समीप स्थित है। पहाड़पुर के मन्दिर के अवशेष 'गोआल भीटार पहाड़' कहे जाते रहे हैं।

(२) ब्राह्मणोत्तरान्महत्तरादि कुटुम्बिनः—दे०, नन्दपुर-लेख की टि० ३।

(३) कुशलमनुवर्ण्य—दे० गु० सं० १६३ के दामोदरपुर ताम्रपत्र-लेख की टि० ५।

(४) आयुक्तक—सरकार व शास्त्री के अनुसार यहाँ 'आयुक्तक' बहुवचन में है। पुण्ड्रवर्द्धन में बहुत-से आयुक्तक थे।

(५) अधिष्ठान अधिकरण=नगर का प्रमुख प्रशासनिक कार्यालय; नगर निगम।

(६) काशिक=काशी का। एच० शास्त्री ने इस काशी का सम्बन्ध नव्यावकाशिक से और दीक्षित ने बनारस से जोड़ा है।

(७) पञ्चस्तूपनिकायिक=पञ्चस्तूपनिकाय नामक सम्प्रदाय का। दे०, पंक्ति १३ में आया 'पञ्चस्तूपकुलनिकाय'=पञ्चस्तूप स्थान के कुल की शाखा।

(८) आढ़वाप एक भूमिमाप है। एक द्रोण में चार आढ़वाप या आढ़क होते हैं—चतुराढकोभवेद्द्रोणः। क्योंकि इसी लेख में ऊपर नित्वगोहाली से अढ़ाई द्रोणवाप भूमि माँगी गयी है और उसी का माप यहाँ दो द्रोणवाप और दो आढ़वाप दिया गया है, इसलिए एक द्रोणवाप में चार आढ़वाप ही होंगे। आढ़ा आज भी बंगाल में एक भूमिमाप होता है। मैमनसिंह जिले में एक आढ़ा में १००×१०० गज भूमि मानी जाती है।

(९) अन्य शब्दों की व्याख्या के लिए दे०, गुप्त वंश के अन्य दानपत्र।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख का महत्त्व अनेक दृष्टि से है। (१) इसके जारी किये जाने के समय अर्थात् ४७९ ई० में बंगाल में बुधगुप्त का शासन था। परन्तु इसमें गुप्त सम्राट् का नाम नहीं दिया गया है यद्यपि उसका 'परमभट्टारकपाद' उपाधि द्वारा पंक्ति १६ में उल्लेख है। यही बात नन्दपुर दानपत्र पर लागू होती है। यह तथ्य बुधगुप्त के काल में सम्राट् की शक्ति में अवनति का संकेत माना जा सकता है। दूसरे, यह अभिलेख एक ब्राह्मण दम्पति द्वारा एक जैन विहार को दान दिये जाने का उल्लेख करता है। इससे गुप्त काल के धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण पर प्रकाश मिलता है। तीसरे, इस लेख से प्रमाणित होता है कि बंगाल के इस भाग में जैन धर्म प्रचलित था। युवान च्वांग ने भी पुण्ड्रवर्द्धन में निर्ग्रन्थों के काफी संख्या में होने की चर्चा की है। इस अभिलेख के जैनाचार्य गुहनन्दि अपने युग के कोई प्रसिद्ध आचार्य रहे होंगे। जैन धर्म में ऐसे नाम धारण करने वाले आचार्य प्रायः मिलते हैं जिनके नाम के अन्त में 'नन्दि' शब्द आता है। जैन धर्म की पूजा विधि में पुष्प आदि के प्रयोग का उल्लेख भी रोचक है। प्राचीन जैन धर्म में इसकी अनुमति नहीं थी। चौथे, इस लेख से गुप्तकालीन बंगाल की भूमि व प्रशासन व्यवस्था स्पष्टतर होती है। उदाहरणार्थ, इसमें भूमि की जाँच-पड़ताल करने वाले प्रधान पुस्तपाल के अतिरिक्त पाँच अन्य पुस्तपालों के नाम दिये गये हैं। फरीदपुर व दामोदरपुर दानपत्रों में प्रायः एक से ज्यादा पर पाँच से कम पुस्तपालों का उल्लेख मिलता है। एक फरीदपुर-दानपत्र में तो केवल एक पुस्तपाल उल्लिखित है। इस अभिलेख में भूमि की दर प्रति कुल्यवाप दो दीनार बतायी गयी है जबकि कुछ अभिलेखों में यह तीन या चार दीनार प्रति कुल्यवाप तक मिलती है। अनुमानतः या तो इस प्रदेश में खिल भूमि प्रचुर थी अथवा यह हीनतर प्रकृति की रही होगी।

बुधगुप्तकालीन वाराणसी पाषाण स्तम्भ-लेख

गु० स० १५६ (=४७६ ई०)

लेख-परिचय—यह स्तम्भ, जिस पर यह लेख लिखा है, उत्तर प्रदेश के बनारस नगर में राजघाट **स्थल** से मिला था। आजकल यह भारतकला भवन, वाराणसी, में रखा है। चुनार के बलुहा पत्थर से निर्मित यह स्तम्भ ४'४½" ऊँचा है। इसके आयताकार आधार में, जो २'४½" ऊँचा है, चार आलों में विष्णु के चार अवतारों की मूर्तियाँ बनी हैं। लेख का आकार १'४" है और अक्षरों का औसत आकार ½"×½"। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। इसका 'ह' पश्चिमी वर्ग का है और 'स', 'ल', 'म' पूर्वी वर्ग के। इसकी व्याकरण व **वर्तनी** में कुछ अशुद्धियाँ हैं। लेख का **उद्देश्य** दामस्वामिनी नामक महिला द्वारा इस स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख करना है।

अध्ययन-इतिहास तथा सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख की चर्चा सर्वप्रथम ए० सी० बनर्जी ने जर्नल ऑव गंगानाथ रिसर्च इन्स्टीट्यूट, ३, खण्ड १ (नवम्बर १९४५) में की। बाद में श्री रायकृष्णदास द्वारा प्रेषित तीन छापों की सहायता से इसे दि० च० सरकार ने जे० आर० ए० एस० बी०, एल० (१५, खण्ड १, १९४९, पृ० ५ अ०) में सम्पादित किया। अन्य सन्दर्भ—सरकार, स० इ०, पृ० ३३२; उपाध्याय, वी०, गुप्त अभिलेख, पृ० १७१, ३९०; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३३४–५

मूलपाठ

१. स[म्व] १०० (+*) ५० (+*) ९ मार्ग्ग-दि [२०] (+*)८ महाराजाधिरा[ज]-
२. बुध[गु*]प्त-राज्ये पार्वरिक-वास्तव्य-मार-
३. [विष ?]-दुहिता(त्रा) साभाटि(?)-दुहि(त्रा*) च दामस्वा-
४. मि[न्या] शिलास्तम्भ स्था[पि]तः (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'सम्ब' को 'संवत्सरे' पढ़ें तथा 'मार्ग्ग-दि' को 'मार्गशीर्ष दिवसे'।

शब्दार्थ

वास्तव्य=निवासिनी; दुहिता=पुत्री

अनुवाद

महाराजाधिराज बुधगुप्त के राज्य में संवत् १५९ में मार्गशीर्ष के २८वें दिन पार्वरिक की निवासिनी (और) मारविष (?) की पुत्री दामस्वामिनी ने (जो) साभाटि (?) की पुत्री (भी है), शिला स्तम्भ स्थापित कराया।

लेख का महत्त्व

इस लेख में यह नहीं बताया गया है कि दामस्वामिनी ने स्तम्भ क्यों स्थापित कराया था। ऐसे स्तम्भ प्रायः दो प्रकार के होते थे। एक वे जो धार्मिक स्थानों पर पुण्यार्थ स्थापित किये जाते थे। इनको प्रायः 'स्तम्भ' या 'थभ' कहा गया है। दूसरे वे जो पूर्वजों की स्मृति में स्थापित किये जाते थे। इनको सामान्यतः 'यष्टि' कहते थे। दे०, कनिष्क का सुई विहार व चष्टन का अन्धौ लेख। सरकार ने प्रस्तुत लेख में उल्लिखित स्तम्भ को एक स्थान पर (जे० आर० ए० एस० बी०, एल०, १५, अंक १, पृ० ५ अ०) प्रथम वर्ग का बताया है और अन्यत्र (स० इ०, पृ० ३३२, टि० ४) दूसरे वर्ग का अर्थात् माता-पिता की स्मृति में स्थापित। लेख में उल्लिखित 'पार्वरिक' स्थान अज्ञात है।

बुधगुप्तकालीन दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १६३ (=४८२ ई०)

लेख-परिचय—प्रस्तुत दानपत्र आधुनिक बांगला देश के दीनाजपुर जिले के फुलवाड़ी कस्बे से आठ मील पश्चिम की ओर स्थित दामोदरपुर गाँव से अन्य चार दानशासनों सहित मिला था जिनमें दो, जो प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के हैं, यथास्थान वर्णित किये जा चुके हैं। यह दानशासन एक ही **ताम्रपत्र** पर दोनों ओर लिखा है। इसमें कुल तेरह पंक्तियाँ हैं—जिनमें आठ पुरोभाग पर लिखी हैं और पाँच पृष्ठभाग पर। यह ताम्रपत्र कुमारगुप्तकालीन ताम्रपत्रों से कुछ मोटा है और लिखावट की सुरक्षा के लिए किनारों को उभारने का ध्यान नहीं रखा गया है। ताम्रपत्र का आकार ७$\frac{3}{4}$"×३$\frac{1}{4}$" है और भार १३ तोला। इसकी **भाषा** संस्कृत है और भूमिदान सम्बन्धित श्लोकों को छोड़कर जो अनुष्टुभ **छन्द** में लिखे हैं, यह सम्पूर्णतः गद्य में है। इसकी **लिपि** गुप्तकालीन उत्तर भारतीय ब्राह्मी की पूर्वी शैली है। प्रथम पंक्ति में १० और ३ अंकों के लिए चिह्न प्रयुक्त हैं। **वर्तनी** की उल्लेख्य विशेषताओं में 'स्' के पूर्व विसर्ग का 'स्' हो जाना (यथा, पंक्ति ४ में 'माता पित्रोस्स्व पुण्य०' में), अनुवर्ती 'र्' के साथ 'ग्', 'त्', 'ध्', 'म्', 'य्', 'व्' तथा 'ष्' का द्वित्व (यथा, पंक्ति १३ में 'स्वर्ग्गे' में, पंक्ति ६ में 'कर्त्तुम्' में, आदि), अन्तिम 'म्' को अनुस्वार में बदलने के बजाय अगले अक्षर 'प' से जोड़ना (यथा, पंक्ति ११ में 'स्वदत्ताम्परदत्तां' में), आदि। लेख में **सम्राट्** के रूप में बुधगुप्त का उल्लेख है और **तिथि** के रूप में (गुप्त संवत् के) वर्ष १६३ के आषाढ़ मास की त्रयोदशी का। इसका **उद्देश्य** नाभक नामक ग्रामिक द्वारा कुछ ब्राह्मणों को बसाने के लिए एक कुल्यवाप खिल भूमि खरीदे जाने को निबद्ध करना है।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख का सम्पादन सर्वप्रथम रा० गो० बसाक ने वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी की ओर से इ० आई०, १५, १९१९-२० में अन्य दामोदरपुर दानपत्रों के साथ किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ—सरकार, स० इ०, पृ० ३३२-३४; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३३५-६; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० १७१; मैती तथा मुखर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ५८-६१; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इ०, पृ० १०४-५

मूलपाठ

पुरोभाग

१. [सं १००*] (+*) [६०] (+*) ३ आषाढ़-दि १० (+*) ३ परमदैवत-परम-भट्टा[र]क-महाराजाधिराज-श्रीबुधगुप्ते [पृथि]वी-पतौ तत्पाद-[परि]गृहीते पुण्ड्र[व]-

२. [र्द्धन]भुक्तावुपरिक-महाराज-ब्रह्मदत्ते संव्यवहरति (।*) स्व[स्ति] (।*) पलाशवृन्दकात्सविश्वासं महत्तराद्यष्टकुलाधि[क]-

३. [र]ण(णं) ग्रामिक-कुटुम्बिनश्च चण्डग्रामके ब्राह्मणाध्यक्षक्षुद्र-प्रकृति-कुटुम्बिनः कुशलमुक्त्वानुदर्शयन्ति [यथैवं ?]

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

४. [वि]ज्ञापयती नो ग्रामिक-नाभको(ऽ*)हमिच्छे मातापित्रोस्स्वपुण्याप्यायनाय कदि(ति)चिद्ब्राह्मणा-
र्य्यान्प्रतिवासयितुं

५. [तद]र्हथ ग्रामानुक्रम-विक्रय-मर्य्यादया मत्तो हिरण्यमुपसंगृह्य समुदयबाह्याप्रद-खिलक्षेत्राणा[ं]

६. [प्र]सादं कर्त्तुमति (।*) यतः पुस्तपाल-पत्रदासेनावधारितं युक्तमनेन विज्ञापितमस्त्ययं विक्रय-

७. मर्य्यादा-प्रसङ्गस्तद्दीयतामस्य परमभट्टारक-महाराज-पा[दे]न पुण्योपचयायेति (।*) पुनरस्यैव

८. [पत्रदा]सस्यावधारणयावधृत्य नाभक-हस्ताद्दीनार-[द्वय]मुपसंगृह्य स्थाय(न ?)पाल-कपिल-
श्रीभद्राभ्यायाय(मायि)कृ[त्य] च समुदय-

पृष्ठभाग

९. [बाह्याप्रद*]-[खि]ल-क्षेत्रस्य कुल्यवापमेकमस्य वायिग्रामकोत्तर-पार्श्वस्यैव च सत्यमर्य्यादाया
दक्षिण-पश्चिम-पूर्व्वेण

१०. मह[त्त]राद्यधिकरण-कुटुम्वि(म्बि)भिः प्रत्यवेक्ष्याष्टक-नवक-नवक-नलाभ्यामपविञ्छ्य चतुस्सीमो-
ल्लिङ्ग्य च नाभ[काय*]

११. [दत्तं(त्तम्)] (।*) [तदु]त्तर-कालं संव्यवहारिभिर्द्धर्म्ममवेक्ष्य प्रतिपालनीयमुक्तञ्च महर्षिभिः (।*)
स्वदत्ताम्परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां(राम्) ।

१२. [स विष्ठा]यां कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह पच्यते (।।*) १
बहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभिः (।*)
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य
१३. तदा फलं(लम्) (।।*) २
षष्टिं वर्ष-सहस्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः (।*)
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति ।। ३

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ३ : 'कुटुम्वि०' को 'कुटुम्बि०' पढ़ें। सरकार '०ध्यक्ष क्षुद्र०' को '०द्यान्नक्षुद्र' पढ़कर '०द्यानक्षुद्र०' सुधारते हैं। भाण्डारकर 'ग्रामके' को 'ग्रामक' पढ़ते हैं। पंक्ति ४ : 'विज्ञापयती' को 'विज्ञापयति' पढ़ें। 'इच्छे' को 'इच्छये' या 'इच्छामि' पढ़ें। पंक्ति ६ : 'कर्त्तुमति' को 'कर्त्तुमिति' पढ़ें। पंक्ति ७ : 'पादेन' की जगह '०पादानां' होना चाहिए था। पंक्ति ८ : 'द्वय' को 'दीनार' के नीचे उत्कीर्ण किया गया है। बसाक ने 'स्थाय०' को 'स्थाण०' पढ़ा है। पंक्ति ९ : 'मर्य्यादाया' को 'मर्य्यादया' पढ़ें। पंक्ति १० : बसाक 'च' के वाद 'तुष्टिमो०' पढ़ते हैं तथा भाण्डारकर 'कृषिं नोच्छिन्ध्य'। 'सीमो०' को 'सीमा उ०' पढ़ें। 'नाभकाय' को सरकार ने 'नागदेवस्य' पढ़ा है। 'अष्टक-नवक-नवक' को अष्टक-नवक' पढ़ें। पंक्ति ११ : 'प्रतिपालनीयमुक्तञ्च' को 'परिपालनीयम् । उक्तञ्च' पढ़ें। पंक्ति १३ : वसेदिति' को 'वसेत् ।।इति।।' पढ़ें।

शब्दार्थ

संव्यवहरति=प्रशासन चला रहे हैं; सविश्वासं=विश्वास (पदनाम वाले अधिकारी) सहित; महत्तराद्यष्टकुलधिकरणं=महत्तर के नेतृत्व में अष्टकुल अधिकरण; ग्रामिक=गाँव का मुखिया; कुटुम्बी=कृषक-गृहस्थ; ब्राह्मणाध्यक्ष क्षुद्र प्रकृति कुटुम्बिनः=निम्नस्तरीय कृषक-गृहस्थ जो ब्राह्मणों की अध्यक्षता में अर्थात् उनके अधीन हैं; कुशलमुक्त्वा=कुशल पूछकर; नो=नः, अस्माकं=हमको; इच्छे=इच्छामि, मैं इच्छा करता हूँ; आप्यायनाय=बढ़ाने के लिए; कतिचिद्=कुछ, किन्हीं; आर्य=आदरणीय, श्रेष्ठ; समुदयबाह्य=जिससे आय नहीं होती; अप्रद=अप्रदा, अहस्तान्तरणीय; प्रसाद=कृपा; पुस्तपाल=

लेखाधिकारी; अवधारित=जाना गया; उपचयाय=वृद्धि के लिए; अवधारणयावधृत्य=पड़ताल से निश्चित; अपविञ्छ्य=काटकर, मापकर; उल्लिङ्ग्य=सीमाचिह्न लगाकर

अनुवाद

पं० १ संवत् १००(+)६०(+)३(=११३) के आषाढ़ के १०(+)३(=१३)वें दिन परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज पृथिवीपति श्री बुधगुप्त (के शासनकाल) में जब उनके चरणों से स्वीकृत उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति का प्रशासन चला रहे हैं;—

पं० २ कल्याण हो ! पलाशवृन्दक से महत्तर की अध्यक्षता में अष्टकुल अधिकरण तथा ग्रामिक कृषक-गृहस्थ विश्वास सहित (अर्थात् विश्वास पदनाम वाले अधिकारी सहित) चण्डक ग्राम के निम्नस्तरीय कृषक-गृहस्थों को, जो ब्राह्मणों की अध्यक्षता में हैं (अर्थात् उनके अधीन हैं), कुशल कहकर, कहते हैं;—

पं० ३ ''ग्रामिक नाभक ने हमको (यह) विज्ञापित किया है, '(अपने) माता-पिता (तथा) अपने पुण्य की वृद्धि के लिए मैं चाहता हूँ कि कुछ आर्य (=श्रेष्ठ) ब्राह्मणों को बसाऊँ । अतः ग्राम में प्रचलित विक्रय मर्यादा के अनुसार मुझसे हिरण्य (=सोना) लेकर समुदयबाह्य अप्रद खिल क्षेत्र देने की कृपा करना आपको उचित है (अर्थात् देने की कृपा करें) ।'

पं० ६ जब लेखाधिकारी पत्रदास द्वारा यह जान लिया गया (अर्थात् उसकी जाँच-पड़ताल से निश्चित हो गया) कि 'यह विज्ञापन विक्रय मर्यादा (=विक्रय के नियमों) के अन्तर्गत आता है और (याचित भूमि) परमभट्टारक महाराजपाद के पुण्य की वृद्धि के लिए दी जा सकती है';

पं० ७ (तब) नाभक के हाथ से दो दीनार लेकर (और) उन्हें स्थायपाल (=स्थानपाल ?) (तथा) कपिल-श्रीभद्र द्वारा (कोष में) जमा करा दिये जाने पर उसी पत्रदास की पड़ताल से निश्चित एक कुल्यवाप समुदयबाह्य अप्रद खिल क्षेत्र वायिग्राम के उत्तरी पार्श्व में और सत्य (नामक स्थान) की मर्यादा (=सीमा) के दक्षिण, पश्चिम तथा पूर्व में, महत्तर की अध्यक्षता में अष्टकुल तथा कृषक-गृहस्थों द्वारा सर्वेक्षित होने के बाद, आठ×नौ नलकों से मापकर चारों सीमाओं को चिह्नित करके नाभक को दे दिया गया। उत्तरकाल के (=भविष्य के) प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा इसे धर्म (=धर्मदान) मानकर (इसका) प्रतिपालन (=रक्षा) किया जाना चाहिये ।''

पं० ११ और महर्षियों ने कहा (भी) है;—

जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर अपने पितरों के साथ सड़ता है ।।१।।

सगर आदि बहुत से राजाओं द्वारा वसुधा (भूमि) दी गयी है । जब जिसकी-जिसकी भूमि होती है तब उसको-उसको फल मिलता है ।।२।।

भूमिदान देने वाला साठ सहस्र वर्ष तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहर्ता तथा (अपहरण का) अनुमोदक ठीक उतने ही (वर्ष) नरक में रहते हैं । इति ।।३।।

व्याख्या

(१) उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त—पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति पर प्रथम कुमारगुप्त के काल में चिरातदत्त उपरिक=गवर्नर रूप में शासन कर रहा था (दे०, गु० सं० १२४ तथा १२८ के दामोदरपुर-दानपत्र)। गु० सं० १६३ के प्रस्तुत दानपत्र में बुधगुप्त के काल में इस भुक्ति के गवर्नर के रूप में 'उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त' का शासन बताया गया है तथा बुधगुप्त के ही एक अन्य दामोदरपुर दानपत्र में जिसकी तिथि अपठ्य हो गयी है (दे०, आगे), 'उपरिक महाराज जयदत्त' का। इससे स्पष्ट कि पुण्ड्रवर्द्धन पर 'दत्तान्त' नाम धारण करने वाले पदाधिकारियों ने, जो अनुमानतः एक ही परिवार के सदस्य रहे होंगे, शासन किया था। तु०, द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि-लेख में वीरसेन को 'अन्वयप्राप्त सचिव' कहा जाना तथा करमदाण्डा-अभिलेख में वंशानुगत रूप से पद प्राप्त करने वाले मन्त्रियों का उल्लेख। प्रथम कुमारगुप्त के काल की 'उपरिक' उपाधि का बुधगुप्त के काल में 'उपरिक महाराज' हो जाना इन प्रादेशिक पदाधिकारियों की प्रतिष्ठा में वृद्धि का सूचक है।

(२) अष्टकुलाधिकरण—दे०, धनैदह दानपत्र, टि० ३।

(३) सविश्वासम्—इसका अर्थ सरकार ने 'विश्वासपूर्वक' (विद कॉन्फिडेंस) किया है। यह शब्द ऐसे ही सन्दर्भ में कुछ अन्य अभिलेखों में भी मिलता है (दे०, इ० आई०, २३, पृ० ५४)। भाण्डारकर ने इसको एक पदनाम माना है जो एक जाति या कुल नाम रूप में बंगाल में अब तक अवशिष्ट है। परवर्ती गौड़ में विश्वास राय तथा विश्वास खाँ जैसे पदनाम मिलते हैं। शायद मूलतः यह ग्राम लेखपाल (विलेज एकाउण्टेण्ट) अर्थ में प्रयोग में आता था (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३३७, टि० ७)।

(४) ग्रामिक कुटुम्बिनः तथा **क्षुद्र प्रकृति कुटुम्बिनः**—इसको बसाक ने दो शब्द माना है और उनका अर्थ 'गाँवों के मुखिया' तथा 'गृहस्थ' किया है। 'मनुस्मृति' (७.११६–११६) में ग्रामिक नामक पदाधिकारी का वर्णन है जो गाँव में राजा का प्रतिनिधि होता था। 'ग्रामिक' शब्द का प्रयोग पंक्ति ४ में भी आया है। वहाँ बसाक ने इसका अर्थ 'गाँव का' किया है परन्तु इसको दोनों ही स्थानों पर 'ग्राम का मुखिया' अर्थ मानना श्रेष्ठतर होगा। ध्यातव्य है कि इस पंक्ति में ग्रामिक कुटुम्बियों और क्षुद्र-प्रकृति कुटुम्बियों में अन्तर किया गया है। पहिले प्रकार के कुटुम्बी पदाधिकारी कुटुम्बी हैं और दूसरे प्रकार के कुटुम्बी सामान्य कुटुम्बी। दे०, जे० सी० घोष, इ० आई०, २४, पृ० १२७–६।

(५) कुशलमुक्त्वा—'कुशल कहकर'। नन्दपुर दानपत्र में 'कुशलमनुवर्ण्य' पाठ है। वहाँ मजूमदार ने इसका अर्थ 'कुशल पूछकर' किया है। 'कुशलमुक्त्वा' का भी प्रायः यही अर्थ किया जाता है। परन्तु मनु (२.१२७) ने कहा है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी अन्य की कुशल पूछना शिष्टाचार के विरुद्ध है।

(६) स्वस्ति ! पलाशवृन्दकात्—'स्वस्ति' से लेख शुरू माना जा सकता है। इसके पूर्व का अंश तिथि सम्बन्धी भूमिका है। पलाशवृन्दक गाँव कई गाँवों का, जिनमें एक **चण्डग्राम** रहा होगा, प्रशासनिक केन्द्र प्रतीत होता है। दामोदरपुर के पास पलाशडांगा तथा पलाशवाड़ी नाम के गाँव अभी तक विद्यमान हैं।

(७) अष्टक-नवक-नवक-नलाभ्यास्—इसका शुद्ध पाठ 'अष्टक-नवक-नलाभ्याम्' होना चाहिये। इसके अर्थ के लिए दे०, धनैदह दानपत्र की टि० ६।

(८) वायिग्राम—बांगला देश के बोगरा जिले में स्थित आधुनिक बैग्राम। दे०, बैग्राम दानपत्र, टि० ४।

(९) सत्यमर्य्यादा—सत्य नामक स्थान की पहिचान नहीं हो सकी है। सरकार ने सत्य को स्थल नाम नहीं माना है।

अभिलेख का महत्त्व

यह दानपत्र दामोदरपुर से प्राप्त अन्य दानपत्रों के साक्ष्य को स्पष्टतर करता है। दे०, बंगाल के दानपत्रों से ज्ञात भूमि तथा प्रशासन-व्यवस्था सम्बन्धी परिशिष्ट।

बुधगुप्तकालीन एरण प्रस्तर स्तम्भ-लेख

गु०स० १६५ (=४८४ ई०)

लेख-परिचय—यह स्तम्भ अभिलेख मध्य प्रदेश के सागर जिले के एरण नामक **स्थल** से १८३८ ई० में कैप्टन टी०एस० बर्ट को मिला था। यह एक लाल बलुहा एकाश्मीय स्तम्भ के निचले चौकोर भाग पर उत्कीर्ण है। लेख का आकार २'६½"×१'७½" है और यह काफी अच्छी अवस्था में अवशिष्ट है। अक्षरों का आकार ½" से ¾" तक है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध की उत्तर भारतीय ब्राह्मी। लेख में कुल ९ पंक्तियाँ हैं जिनमें चौथी पंक्ति के प्रारम्भ तक आर्या **छन्द** में तीन श्लोक दिये गये हैं। शेष लेख गद्य में है। इसकी तिथि १६५ गु०स० है जो शब्दों में भी लिखी है और तीसरी पंक्ति में अंकों में १००, ६० तथा ५ के चिह्नों द्वारा भी। **वर्तनी** की उल्लेखनीय विशेषता 'र्' के पूर्व 'त्' का संयोग होने पर 'त्' का द्वित्व है—यथा पंक्ति ६ में 'पौत्त्रेण' में, तथा पंक्ति ८ में 'पित्त्रोः' में। लेख का **उद्देश्य** बुधगुप्त के शासनकाल में महाराज मातृविष्णु एवं उसके भाई धन्यविष्णु द्वारा भगवान जनार्दन के सम्मान में ध्वजस्तम्भ की स्थापना का वर्णन करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख की छाप व अनुवाद को सर्वप्रथम जे०बी०ए०एस०, ७, पृ० ६३३ अ० पर प्रिन्सेप ने १८३८ ई० में प्रकाशित किया था। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ : हाल, वही, ३०, पृ० १७ अ०; कनिंघम, ए०एस०आई०, १०, पृ० ८२; फ्लीट, कॉर्पस ३, पृ० ८८–९०; सरकार, स०इ०, पृ० ३३४–३६; उपाध्याय, वा०, पृ० १७२, ३०५; पाण्डेय, रा० ब०, पृ० १०६; बनर्जी, एम० ए०, स्टडी ऑव इम्पोर्टेण्ट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ६०–६२; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३३९–४१।

मूलपाठ

१. जयति विभुश्चतुर्भुजश्चतुरर्ण्णव-विपुल-सलिल-पर्य्यङ्कः [।]
जगतः स्थित्युत्पत्ति-न्य[यादि*]-
२. हेतुर्ग्गरुड-केतुः (।।*) १
शते पञ्चषष्ट्यधिके वर्षाणां भूपतौ च बुधगुप्ते।
आषाढ-मास-[शुक्ल]-
३. [द्वा]दश्यां सुरगुरोर्द्दिवसे।(।*) २
सं १०० (+*) ६० (+*) ५ (।।*)
कालिन्दी-नर्म्मदयोर्म्मध्यं पालयति लोकपाल-गुणै-
र्ज्जगति महा[राज]-
४. श्रियमनुभवति सुरश्मिचन्द्रे च। (।*) ३
अस्यां संवत्सर-मास-दिवस-पूर्व्वयां स्वकर्म्माभिरतस्य क्रतु-याजि[नः]

५. अधीत-स्वाध्यायस्य विप्रर्षेर्म्मैत्त्रायणीय-वृषभस्येन्द्रविष्णोः प्रपौत्त्रेण पितुर्गुणानुकारिणो वरुण [विष्णोः]

६. पौत्त्रेण पितरमनुजातस्य स्व-वंश-वृद्धि-हेतोर्हरिविष्णोः पुत्त्रेणात्यन्त-भगवद्भक्तेन विधातुरिच्छया स्वयंवरयेव र[ा]ज-

७. लक्ष्म्याधिगतेन चतुःसमुद्र-पर्य्यन्त-प्रथित-यशसा अक्षीण-मानधनेनानेक-शत्त्रु-समर-जिष्णुना महा-राज मातृविष्णुन[ा]

८. तस्यैवानुजेन तदनुविधायिन[ा] तत्प्रसाद-परिगृ[ही]तेन धन्यविष्णुना च । मातृप्रित्त्रोः पुण्याप्याय-नार्थमेष भगवतः ।

९. पुण्यजनार्द्दनस्य जनार्द्दनस्य ध्वजस्तम्भो(ऽ*)भ्युच्छ्रितः (।।*) स्वस्त्यस्तु गो-ब्राह्मण[पु]रोगाभ्यः सर्व्व-प्रजाभ्य इति ।(।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : '०न्ययादि' में 'यादि' अक्षरों का पुनर्योजन हाल ने सुझाया था। पंक्ति ३ : प्रिन्सेप ने 'द्वादश्यां' की जगह 'त्रयोदश्यां' सुझाया था, पर फ्लीट के अनुसार यह सुझाव छन्द के आधार पर अशुद्ध है । 'गुणैर्जगति' को 'गुणैः जगति' पढ़ें । पंक्ति ८ : 'धन्यविष्णुना च' के उपरान्त व अन्त में विराम चिह्न निरर्थक हैं । 'मातृप्रित्त्रोः' को 'मातृपित्त्रोः' पढ़ें ।

शब्दार्थ

विभुः =प्रभु; अर्णवः =समुद्र; पर्य्यङ्क=शय्या; न्यय=क्षय, प्रलय; हेतुः =कारण; केतुः =ध्वज, पताका, चिह्न; सुरगुरुदिवस=बृहस्पतिवार; जगति=जगत में; श्रियम्=महिमा; कालिन्दी=यमुना; स्वकर्माभिरत=स्वकर्त्तव्यरत, अपने कर्त्तव्यपालन में लगा रहने वाला; क्रतुः =यज्ञ; क्रतुयाजी=यज्ञ करने वाला; अधीत=मन से लगे हुए; विप्रर्षि=ब्रह्मर्षि; पितरम् अनुजातः =जो गुणों में पिता के समान है; विधातृ=देव, ईश्वर, विधाता; प्रथित=फैले हुए; अक्षीण=अक्षय; जिष्णु=विजयी, विजेता; प्रसाद=कृपा, अनुग्रह; अनुविधानम्=आज्ञाकारिता; अनुविधायी=आज्ञाकारी; आप्यायनम्=मोटा करना, वृद्धि करना; पुण्यजन=दैत्य; अर्द्दन=सताने वाला; पुण्यजनार्द्दन=दैत्यों का पीड़क अर्थात् विष्णु; पुरोग=मुख्य, अग्रणी, सर्वप्रथम ।

अनुवाद

पं० १ चारों समुद्रों के विपुल जल की शय्या वाले, जगत् की स्थिति (=पोषण), उत्पत्ति व प्रलय (=संहार) के कारण, गरुड़ के प्रतीक वाले भगवान् चतुर्भुज (=विष्णु) की जय हो ।।१।।

वर्ष एक सौ पैंसठ में; और जब बुधगुप्त भूपति हैं आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी को बृहस्पतिवार को; (या अंकों में) वर्ष १००(+)६०(+)५=१६५ (को) ।।२।।

कालिन्दी (=यमुना) और नर्मदा (नदियों) के मध्य (स्थित भूखण्ड) को लोकपाल के गुणों से युक्त सुरश्मिचन्द्र पालता है (अर्थात् उस पर शासन कर रहा है) और जगत् में 'महाराज' (होने) की महिमा का अनुभव करता है ।।३।।

पं० ४ इस (तिथि) को जो ऊपर संवत्सर, मास तथा दिवस द्वारा निर्दिष्ट है, महाराज मातृविष्णु द्वारा—जो उस इन्द्रविष्णु के प्रपौत्र हैं जो अपने कर्त्तव्य के पालन में रत, यज्ञ करने वाले, (शास्त्रों के) स्वाध्याय में लगे हुए, विप्रर्षि (=ब्रह्मर्षि) तथा मैत्रायणीय (शाखा के)

अनुयायियों में वृषभ के समान (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ) (थे); (उस) वरुणविष्णु के पौत्र हैं जो अपने पिता के गुणों का अनुकरण करने वाले (थे); (उस) हरिविष्णु के पुत्र हैं जो गुणों में अपने पिता के अनुरूप (तथा) अपने वंश की वृद्धि का हेतु (थे); जो भगवान् के अत्यन्त भक्त हैं; जिनका विधाता की इच्छा से राजलक्ष्मी ने स्वयं वरण किया है; जिनका यश चारों समुद्रों तक फैला हुआ है; जो अक्षय मान और धन वाले हैं; जो समर में अनेक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले हैं;—

पं० ८ (उन मातृविष्णु के द्वारा) तथा उनके ही अनुज, उनके प्रति आज्ञाकारी, उनके अनुग्रह से स्वीकृत धन्यविष्णु द्वारा माता-पिता के पुण्य की अभिवृद्धि के हेतु, दैत्यपीड़क भगवान् जनार्दन (=विष्णु) का यह ध्वजस्तम्भ स्थापित किया गया।

पं० ९ समस्त प्रजा का, जिसमें गो (तथा) ब्राह्मण प्रथम हैं, कल्याण हो।

व्याख्या

(१) कालिन्दीनर्म्मदयोर्म्मध्यं=कालिन्दी अर्थात् यमुना और नर्मदा के मध्य। यहाँ नदियों का सीमा रूप में उल्लेख है। तु०, 'अन्तर्वेदी' की कल्पना (स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र-लेख)।

(२) पालयति लोकपालगुणैः =लोकपाल के गुणों से पालन करता है। लोकपालों को हिन्दू धर्म में दिशाओं का रक्षक और स्वामी माना गया है। इनकी संख्या ८ बतायी गयी है (पूर्व के इन्द्र, दक्षिण-पूर्व के अग्नि, दक्षिण के यम, दक्षिण-पश्चिम के सूर्य, पश्चिम के वरुण, उत्तर-पश्चिम के वायु, उत्तर के कुबेर, और उत्तर-पूर्व के ईशान या चन्द्र या पृथिवी)। कभी-कभी केवल चार लोकपाल माने गये हैं—इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर। भाण्डारकर के अनुसार इस लेख में 'लोकपाल' शब्द का प्रयोग 'राजा' अर्थ में हुआ है। दे०, 'राजतरंगिणी', १.३४४।

(३) पितरमनुजात=वह जो गुणों में पिता के सदृश हो। डॉ० हाल ने 'पञ्चतन्त्र' से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार पुत्र चार प्रकार के होते हैं : 'जात'=जिसके गुण माता के बराबर होते हैं; 'अनुजात'=जिसके गुण पिता के समान होते हैं; 'अतिजात'=जो गुणों में पिता से बढ़कर होता है; तथा 'अपजात'=जो गुणों में पिता से बहुत हीन होता है।

(४) सुरगुरुदिवस=बृहस्पतिवार। सुरगुरु=बृहस्पति। अभिलेखों में सप्ताह के दिनों के नामों का यह प्राचीनतम उल्लेख है। सरकार के अनुसार यह बात भारतीयों ने यूनानियों से सीखी होगी। वराहमिहिर (छठी शती ई०) पर यूनानी प्रभाव होना सर्वज्ञात है। उसका 'पॉलिश-सिद्धान्त' अलेक्ज़ेण्ड्रिया के पॉल की रचनाओं से प्रभावित माना जाता है। उसके 'रोमक-सिद्धान्त' पर यूनानी-रोमक प्रभाव नाम से ही स्पष्ट है।

(५) पुण्यजनार्द्दन—'पुण्य जन' का सामान्य अर्थ 'धर्मात्मा' होता है। लेकिन इसका दूसरा अर्थ 'दैत्य' भी है। अतः 'पुण्यजन (=दैत्य)+अर्द्दन (=पीड़क)' का अर्थ हुआ 'दैत्यपीड़क'=विष्णु।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख कई दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। **एक,** इससे गुप्त साम्राज्य में सामन्ती व्यवस्था के सबलतर होते जाने का संकेत मिलता है। इसमें कहा गया है कि बुधगुप्त के काल में यमुना व नर्मदा के मध्य 'महाराज' सुरश्मिचन्द्र शासन कर रहा था। अब हम जानते हैं कि समुद्रगुप्त ने गंगा की उपत्यका पर अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित किया था। स्कन्दगुप्त के इन्दौर-दानपत्र से भी स्पष्ट है कि उसके काल

में अन्तर्वेदी का प्रशासन सामन्त राजा नहीं वरन् 'विषयपति' शर्वनाग सम्भालता था। परन्तु प्रस्तुत लेख के अनुसार बुधगुप्त के काल में कम से कम यमुना के दक्षिण में एक 'महाराज' उपाधिधारी व्यक्ति—सुरश्मिचन्द्र—शासन कर रहा था। स्पष्टतः गुप्तों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से अब वह प्रदेश भी निकलने लगा था जो उनकी शक्ति का स्रोत था। **दो,** इस लेख में केवल सुरश्मिचन्द्र को ही नहीं उसके अधीन एरण प्रदेश पर शासन करने वाले मातृविष्णु को भी 'महाराज' कहा गया है। इससे स्थानीय पदाधिकारियों की महत्त्वाकांक्षा का पता चलता है। **तीन,** इस अभिलेख में मातृविष्णु की सफलताओं का वर्णन करते समय जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह कभी समुद्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त जैसे सम्राटों के लिए प्रयोग में आती थी। उदाहरणार्थ, उसके यश के चारों समुद्रों तक फैले होने तथा उसके द्वारा समर में अनेक शत्रुओं को पराजित करने का वर्णन समुद्रगुप्त की याद दिलाता है और स्वयं लक्ष्मी द्वारा उसका वरण किया जाना स्कन्दगुप्त की। यहाँ यह भी उल्लेख्य है उसने अपने अनुज धन्यविष्णु को किसी पद पर स्वयं नियुक्त करने की कृपा की थी। ये सब तथ्य गुप्त सम्राटों की वर्द्धमान दुर्बलता व स्थानीय सामन्तों की शक्ति बढ़ने की ओर संकेत करते हैं।

गुप्त सम्राटों को इस प्रवृत्ति का परिणाम शीघ्र ही भुगतना पड़ा क्योंकि इस अभिलेख की तिथि के बाद परन्तु एक पीढ़ी के अन्दर ही जब हूण नरेश तोरमाण का आक्रमण हुआ तो हम पाते हैं कि धन्यविष्णु ने तोरमाण के शासन के प्रथम वर्ष से ही हूण प्रभुसत्ता मान ली थी (दे०, तोरमाण का एरण-अभिलेख)। स्पष्टतः सामन्तवादी व्यवस्था में सामन्त स्वहित की चिन्ता अधिक करते थे, साम्राज्य की कम। प्रस्तुत अभिलेख का साक्ष्य इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत अभिलेख से सामन्तवाद के विकास की एक और प्रक्रिया स्पष्ट होती है। इस लेख में बताया गया है कि मातृविष्णु के वंश का प्रथम सदस्य इन्द्रविष्णु यज्ञधर्म व शास्त्रों में रुचि रखने वाला ब्राह्मण था। उसका पुत्र वरुणविष्णु अपने पिता के गुणों के अनुरूप था। इस वंश की वृद्धि का कारण बना वरुणविष्णु का पुत्र हरिविष्णु—लेकिन कैसे, यह लेख में नहीं बताया गया है। हरिविष्णु के पुत्र मातृविष्णु ने अपना यश चारों समुद्रों तक फैलाया, अनेक शत्रुओं पर विजय पायी तथा 'महाराज' उपाधि पायी। इस प्रकार इस अभिलेख में मूलतः यज्ञ धर्म व शास्त्रों में रुचि रखने वाले एक वंश के द्वारा राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का वर्णन है। इस प्रक्रिया का अन्य उदाहरण परिव्राजक वंश है जिसका अभ्युत्थान इसी युग में लगभग इसी प्रकार हुआ। दक्षिण में इसका उदाहरण कदम्ब वंश के रूप में मिलता है (दे०, तालगुण्ड-अभिलेख)।

बुधगुप्तकालीन शंकरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख

गु० सं० १६७ (=४८६ ई०)

लेख-परिचय—यह अभिलेख, जो एक ही ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है, मध्य प्रदेश के सीधी जिले के निवास नामक **स्थल** के हायर सेकेण्डरी स्कूल के प्रिन्सिपल को किसी ग्रामीण किशोर ने दिया था। उसे यह जून १६७७ के पहिले कभी उसी जिले की गोपदबनस तहसील के शंकरपुर गाँव से मिला था। इस ताम्रपत्र का आकार २४×११ सेण्टिमीटर है और भार २७५ ग्राम। लेख, जो ताम्रपत्र पर एक ही ओर लिखा है, काफी अच्छी अवस्था में है लेकिन इसका उपरला दाहिना कोना व निचले कोने टूट गये हैं जिससे कुछ अक्षर नष्ट हो गये हैं। ताम्रपत्र के बायें भाग में पाँचवीं-छठी पंक्तियों के मध्य मुहर जोड़ने के लिए लघु छिद्र बना है, पर मुहर अब उपलब्ध नहीं है। लेख में दस पंक्तियाँ हैं। अक्षरों का औसत आकार ३/४ से०मी० है और इन्हें काफी गहरा खोदा गया है। लेख की **भाषा** संस्कृत है। 'महाभारत' से उद्धृत दो श्लोकों को छोड़कर यह गद्य में है। **वर्तनी** में 'र' के उपरान्त कुछ स्थलों पर व्यञ्जनों का द्वित्व उल्लेखनीय है (यथा, पंक्ति ३ तथा ४ में 'वर्म्मा' में तथा पंक्ति ६ में 'तारार्क्क' में; परन्तु पंक्ति ४ में 'शर्व' तथा पंक्ति १० में 'सर्म' में नहीं)। कहीं-कहीं 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' का **प्रयोग** है (यथा, पंक्ति ७ में 'विस्ट' में तथा पंक्ति १० में 'सर्म' में)। पंक्ति ८ में 'फलं' में अन्तिम 'म्' को अनुस्वार कर दिया गया है।

लेख की **लिपि** पाँचवीं शती की उत्तर भारतीय ब्राह्मी है। बालचन्द्र जैन के अनुसार इसके अक्षर महाराज हस्तिन् के गुप्त संवत् १६३ के खोह दानपत्र के अक्षरों जैसे हैं। 'र' और 'ज' पुराने ढंग से बनाये गये हैं। ह्रस्व 'इ' की मात्रा अक्षर के ऊपर अर्द्धचन्द्र द्वारा बनायी गयी है और दीर्घ ई की मात्रा प्रदर्शित करने के लिए एक अतिरिक्त बिन्दु लगा दिया गया है।

लेख की **तिथि** में, जो अक्षरों में लिखी है, किसी संवत् का उल्लेख नहीं है लेकिन स्पष्टतः यहाँ गुप्त संवत् का प्रयोग हुआ है। बालचन्द्र जैन के अनुसार लेख में गु०स० १६६ (=४८५ ई०) उल्लिखित है और के०वी० रमेश के अनुसार गु०स० १६७। रमेश ने यह ध्यान दिलाया है कि लेख के अनुसार उस समय गुप्त संवत् के १६७ वर्ष व्यतीत हो चुके थे इसलिए इसे गु०स० १६८ (=४८७ ई०) में लिखवाया गया होगा। हमारे विचार से लेख में व्यतीत गु०स० १६६ (=४८६ ई०) है।

लेख का **उद्देश्य** परमदेव बुधगुप्त के काल में महाराज हरिवर्मा द्वारा चित्रपल्य नामक ग्राम दान दिये जाने का वर्णन करना है।

सन्दर्भ-सूची—इस लेख को बालचन्द्र जैन ने जर्नल ऑव एपिग्राफिकल सोसायटी के अंक ४ में (पृ० ६२–६४ तथा संलग्न फलक) सम्पादित किया है। उनके लेख के साथ के०वी० रमेश की उपयोगी पाद-टिप्पणियाँ हैं।

मूलपाठ

१. सिद्धम् [।।*] सम्व(संव)त्सर ष(श)त्[`*] षट्-षष्ट्युत(त्त)रे महा-माघ सम्व(संव)त्सर(रे) श्रावण · · ·

२. म्यां परमदेव-बुधगुप्ते राजनि अस्यां दिवस-पूर्वायां श्री-महाराज-सालण-

३. कुलोद्भूतेन श्री-महाराज-गीतवर्म-पौत्रेण श्री-महाराज-विजयवर्म्मसुते[न]

४. महादेव्या[ं*] शर्वस्वामिन्यामुत्पन्नेन श्री-महाराज-हरिवर्म्मण अस्य ब्राह्मण-कौ[त्सं*]-

५. सगोत्र-गोस्वामिन(ने) तच्चित्रपल्य तामु(म्र)पट्टेनाग्रहारोतिसृष्टः अकरः अचाटभटप्रा-

६. वेश्यः [।*] चन्द्रताराक्कर्-समकालीयः [।*] उक्तञ्च भगवता व्यासेन [।*] स्वदत्ताम् परदत्ताम् वा यो

७. हरेत वसुन्धरा(रां) [।*] स्व(स)विस्ठा(ष्ठा)या(यां) कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह मज्यते [।।१।।*] बहुभिर्व्वसुधा

८. भुक्ताराजभिः सगरादिभि(भिः) [।*] यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं(लम्) [।।२।।*]

९. कुमारामात्य-भगवद्रुद्रछदि भोगिक-महाप्रतिहार लवणः बपिद्र भोगिक(के)[न]

१०. दूतक(के)न लिखितं रुयष्टराजेन नागस(श)र्मसु[तेन*][।।*]

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'सिद्धम्' को चिह्न द्वारा लिखा गया है । इसके उपरान्त के०वी० रमेश का पाठ 'सम्वतसर ष(श)त[`] ष्ट-षष्ट्युत(त्त)रे' है । पंक्ति २ : तिथि के अन्तिम अक्षर 'म्या' से लगता है यहाँ पञ्चमी जैसी कोई तिथि रही होगी । पंक्ति २–३ : 'दिवस पूर्वायां' के बाद बालचन्द्र जैन ने 'श्री-महाराज साटन स[श]क[दौहि]ते(त्रे)न' पढ़ा है । पंक्ति ३ : गीतवर्मा नाम का 'गी' अक्षर स्पष्ट नहीं है । पंक्ति १० : के०वी० रमेश के अनुसार उत्कीर्णक ने 'लिखितं' के बाद 'श्री यष्टराजेन' लिखना चाहा था ।

शब्दार्थ

राजति=राज्य में; मज्यते=नरक में जाता है; अर्क=सूर्य ।

अनुवाद

पं० १ सिद्धि हो ! संवत् एक सौ छियासठ व्यतीत हो जाने पर महा माघ संवत्सर में श्रावण · · · को परमदेव बुधगुप्त के राज्य में इस पूर्वोक्त तिथि को श्री महाराज सालण के कुल में उत्पन्न, श्री महाराज गीतवर्मा के पौत्र, श्री महाराज विजयवर्मा के पुत्र महादेवी शर्वस्वामिनी (के गर्भ) से उत्पन्न श्री महाराज हरिवर्मा ने कौत्स गोत्र में उत्पन्न इस गोस्वामी नामक ब्राह्मण को अकरदेय तथा चाटों और भटों के लिए अप्रवेश्य, सूर्य, चाँद और तारों का समकालीन (अर्थात् जब तक सूर्य, चाँद और तारे हैं तब तक बना रहने वाला) यह चित्रपल्य अग्रहार ताम्रपट्ट द्वारा अर्थात् ताम्रपट्ट पर लिखकर) दिया ।

पं० ६ और भगवान् वेदव्यास द्वारा कहा (भी) गया है—जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर पितरों के साथ नरक में जाता है ।।१।। वसुधा को सगर आदि अनेक राजाओं द्वारा भोगा गया है। जब जिसकी-जिसकी भूमि होती है उसको-उसको फल मिलता है ।।२।।

पं० ९ भगवद् रुद्रछदि के भोगिक कुमारामात्य महाप्रतिहार लवण (साक्षी हैं ?)। बपिद्र के भोगिक तथा नागशर्मा के पुत्र दूतक रुयष्टराज (श्री यष्टराज ?) द्वारा लिखा गया।

व्याख्या

(१) महामाघ सम्वत्सरे श्रावण· · ·म्यां—यहाँ जुपीटर के द्वादशवर्षीय चक्र के महामाघ वाले वर्ष का उल्लेख है। तिथि सूचक शब्द के अक्षर मिट गये हैं परन्तु 'म्यां' अक्षरों से लगता है कि पञ्चमी जैसी कोई तिथि उल्लिखित रही होगी।

(२) परमदेव बुधगुप्त=स्पष्टतः गुप्त सम्राट् बुधगुप्त। उसका इस प्रदेश पर अधिकार गु०स० १६५ (=४८५ ई०) के एरण-लेख से भी सिद्ध है। दामोदरपुर-दानपत्र में उसे 'परमदैवत' कहा गया है।

(३) श्री महाराज सालण कुलोद्भूतेन—इस लेख का महाराज हरिवर्मा किसी महाराज सालण के कुल में उत्पन्न हुआ था। बालचन्द्र जैन ने इस अंश का पाठ 'श्री महाराज साटन शक दौहित्रेन' मानकर सुझाव दिया है कि हरिवर्मा की माँ शर्वस्वामिनी शकवंशीय महाराज साटन की पुत्री थी। वह यह भी सुझाव देते हैं कि हो सकता है साटन का शुद्ध नाम शान्तन रहा हो और उसने एक वाराणसी-लेख में उल्लिखित शान्तनपुर बसाया हो जिसकी पहिचान मध्य प्रदेश के सतना नगर से की जाती है। परन्तु हमें के० वी० रमेश का ऊपर दिया गया पाठ सही प्रतीत होता है।

(४) अकरः अचाटभटप्रावेश्य—इनकी व्याख्या अन्य दानपत्रों के अन्तर्गत की गयी है।

(५) महाप्रतिहार लवण—उसका उल्लेख सम्भवतः साक्षी के रूप में है, यद्यपि यह कहा नहीं गया है।

(६) भगवद् रुद्रछदि बपिद्र-तथा चित्रपल्य—भगवद्रुद्रछदि तथा बपिद्र नामक भोगों (अर्थात् जागीरों) और चित्रपल्य गाँव की पहिचान अभी तक नहीं की जा सकी है।

लेख का महत्त्व

इस लेख का सर्वाधिक महत्व इसलिए है क्योंकि इससे बघेलखण्ड प्रदेश पर पाँचवीं शती में शासन करने वाले एक नए राजवंश का पता चला है जो गुप्त सम्राटों के आधिपत्य को मानता था और जिसके राजा प्रायः वर्मान्त नाम धारण करते थे। इस वंश का संस्थापक महाराज श्री सालण था। उसके वंश में महाराज गीतवर्मा हुआ जिसका उत्तराधिकारी महाराज विजयवर्मा था। विजयवर्मा की महादेवी शर्वस्वामिनी के गर्भ से महाराज हरिवर्मा उत्पन्न हुआ जिसने ४८६ ई० में यह दानपत्र जारी किया। बालचन्द्र जैन ने इस सम्भावना पर बहुत बल दिया है कि यह हरिवर्मा हराहा तथा जौनपुर लेखों तथा असीरगढ़ मुहर-लेख आदि से ज्ञात कन्नौज के मौखरि वंश का प्रथम नरेश हरिवर्मा था। क्योंकि मौखरि वंश के चौथे राजा ईशानवर्मा की ज्ञात तिथि ५५४ ई० है, इसलिए हरिवर्मा का समय पाँचवीं शती का अन्तिम चरण हो सकता है और अगर हरिवर्मा मौखरि को प्रस्तुत अभिलेख का हरिवर्मा मान लिया जाये तो कन्नौज के मौखरि वंश का इतिहास पाँचवीं शती के मध्य तक चला जाएगा। उस समय यह वंश गुप्तों के अधीन बघेलखण्ड पर शासन कर रहा होगा। बालचन्द्र जैन का सुझाव है कि महाराज गीतवर्मा स्कन्दगुप्त का समकालीन रहा होगा।

लेकिन हमें इस लेख के हरिवर्मा को मौखरि हरिवर्मा मानने का कोई कारण नहीं लगता। इन दोनों व्यक्तियों में नाम के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं है। उल्टे, इस लेख का हरिवर्मा बघेलखण्ड प्रदेश में कहीं शासन करता था जबकि मौखरियों का उदय कन्नौज प्रदेश में हुआ था। मौखरि लेखों में

हरिवर्मा के पूर्वजों का अनुल्लेख भी संकेत देता है कि हरिवर्मा मौखरि के पूर्वज सामान्य व्यक्ति रहे होंगे जबकि प्रस्तुत लेख के हरिवर्मा के कम से कम तीन पूर्वजों ने 'महाराज' उपाधि धारण की थी।

हमारे विचार से प्रस्तुत लेख के हरिवर्मा के वंश का उदय समुद्रगुप्त के काल में—शायद उसके द्वारा बघेलखण्ड-बुन्देलखण्ड के राजनीतिक पुनर्गठन किये जाने के समय—हुआ। हरिवर्मा की इस लेख में प्रदत्त तिथि (=४८६ ई०) को अगर उसके शासन की मध्यवर्ती तिथि माना जाए तो एक पीढ़ी का औसत शासन बीस वर्ष मानने पर गीतवर्मा का राज्यारोहण ४३५ ई० के लगभग पड़ेगा। उसके और उसके पूर्वज महाराज सालण के बीच पिता-पुत्र सम्बन्ध नहीं बताया गया है, इसलिए उनके मध्य एक-दो पीढ़ी का अन्तर जरूर रहा होगा। अतः सालण का समय चौथी शती के उत्तरार्द्ध के पूर्व नहीं पड़ेगा। दूसरी तरफ उसे समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पूर्व भी रखना कठिन है क्योंकि समुद्रगुप्त के काल में ही अधीन राजाओं द्वारा 'महाराज' उपाधि का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इसलिए सालण को ३५० और ४०० ई० के मध्य रखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के द्वारा बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड के राजनीतिक पुनर्गठन के दौरान लघु आटविक राज्यों का अन्त होने पर जब समुद्रगुप्त की कृपा से उच्चकल्प, परिव्राजक और पाण्डव वंश अस्तित्व में आये, तभी महाराज सालण का यह वंश भी अस्तित्व में आया था।

नन्दपुर ताम्रपत्र-अभिलेख

गु० सं० १६९ (=४८८ ई०)

लेख-परिचय—इस ताम्रपत्र का **प्राप्ति-स्थल** बिहार राज्य के मुंगेर जिले के अन्तर्गत सूरजगढ़ के निकट स्थित नन्दपुर नाम का स्थान है। यह गंगा के दक्षिणी तट पर स्थित एक जीर्ण-शीर्ण मन्दिर में, जो बूढ़ानाथ महादेव का मन्दिर कहलाता है, एक ताक (आले) में जड़ा हुआ था। १९२९ में यह बेलिया-घाट (कलकत्ता) के जमींदार गणपति सरकार के अधिकार में आया। इस ताम्रपत्र का आकार ७½" × ४½" है। इसमें एक मुहर जुड़ी है जिसका लेख मिट गया है। लेख की **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध की उत्तर भारतीय ब्राह्मी। इसकी **वर्तनी** में 'व' और 'ब' का अविवेकपूर्ण प्रयोग उल्लेख्य है। इसका **उद्देश्य** यह घोषणा करना है कि विषयपति छत्रमह ने किसी ब्राह्मण को, जिसके नाम का पूर्व भाग मिट गया है, दान देने के लिए जंगोयिका ग्राम में भूमि क्रय करने के लिए जो आवेदन किया था वह स्वीकार कर लिया गया है।

अध्ययन-इतिहास और सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस अभिलेख को एन० जी० मजूमदार ने इ० आई०, २३, में सम्पादित किया है (पृ० ५२ अ०)। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ—सोहोनी, एस० वी०, जे० बी० आर० एस०, ५०, पृ० १२६–१२९; सरकार, स० इ०, पृ० ३८२–८४; घोष, जे० सी०, इ० आई०, २४, पृ० १२७–९; भाण्डारकर, छावड़ा तथा गायि ने पता नहीं क्यों इसे संशोधित कॉर्पस, ३, में स्थान नहीं दिया है।

मूलपाठ

पुरोभाग

१. स्वस्त्य[म्बि]लग्रामाग्रहारात्सविश्वासमधिकरणाम्(णं) जङ्गोयिका-ग्रामे ब्राह्मणोत्तरान्संव्यवहा-

२. र्यादिकुटुम्वि(म्बि)नः कुशलमनुवर्ण्य बोधयन्ति लिखन्ति च (।*) विज्ञापयति नः विषयपति छत्त्रमहः

३. इच्छाम्यहं स्वपुण्याभिवृद्धये नन्दवैथेय-खटापूरणाग्रहारिक-छान्दोग-काश्यपसगोत्त्र-ब्राह्मणा-

४. * * स्वामिने पञ्च-महायज्ञ-प्रवर्त्तनाय क्षिलक्षेत्त्र-कुल्यवाप-चतुष्टयं क्रीत्वातिस्त्रष्टुम् (।*)

५. युष्मद्विषये च समुदयवा(बा)ह्याद्यस्तम्व(म्ब) खिल-क्षेत्त्राणां शश्वदाचन्द्रार्कतारक-भोज्या[ना*]-

६. मक्षय-नीव्या द्विदीनारिक्य-कुल्यवाप-विक्क्रयो(ऽ*)नुवृत्तस्तदर्हथ मत्तो(ऽ*)ष्टौ दीनारानुप-

७. संगृह्य जङ्गोयिका-ग्रामे खिलक्षेत्त्र-कुल्यवाप-चतुष्टयमक्षय-नीव्यास्ताम्र-पट्टेन दातुमिति (।*)

८. यतः पुस्तपाल प्रद्योतसिङ(सिंह)-व(ब)न्धुदासयोरव धारणयावधृतमस्तीह-विषये समुदय-

९. वा(बा)ह्याद्यस्तम्व(म्ब)-खिलक्षेत्त्राणामकिञ्चित्प्रतिकराणां द्विदीनारिक्य-कुल्यवाप-विक्क्रयो(ऽ*)-नुवृत्तः (।*)

१०. एवम्वि(वंवि)धोत्प्रतिकर-खिल-क्षेत्त्र-विक्रये च न कश्चिद्राजार्त्थं विरोधः दीयमाने तु परमभट्टारक-

११. पादानां धर्म्म-षड्भागावाप्तिस्तद्दीयतामित्येतस्माद्विषयपति-छत्त्रमहादष्टौ दीनारानुप-
१२. संगृह्य जङ्गोयिका-ग्रामे गोरक्षित-ताम्रपट्ट-दक्षिणेन गोपालिभोगाया(:*) पश्चिमेन खिल-
१३. क्षेत्त्र-कुल्यवाप-चतुष्टयं दत्तम् (।*) कु ४ (।*) ते यूयमेवं विदित्वा कुटुम्वि(म्बि)नां कर्षणा-विरोधि-स्थाने
१४. दर्व्वीकर्म्म-हस्तेनाष्टक-नवक-नलाभ्यामपविञ्छ्य चिरकाल-स्थायि-तुषाङ्गारादिचिह्नैश्चतुर्द्दि-
१५. ङ्नियमित-संमानं कृत्वा दास्यथ (।*) दत्वा(त्त्वा) चाक्षय-नीवी-धर्म्मेण शश्वत्कालमनुपालयिष्यथ (।*)

पृष्ठभाग

१६. वर्त्तमान-भविष्यैश्च संव्यवहारिभिरेतद्धर्म्मापेक्षयानुपालयितव्यमिति (।*) उक्तञ्च भग-
१७. [वता] [व्या]से[न] (।*)
स्व-दत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां(राम्) ।
स विष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह
१८. पच्यते (।।*) १
[षष्टिं] वर्ष-सहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः (।*)
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव न-
१९. रके वसेत् (।।*) २
सं १०० (+*) ६०(+*)९ वै-शुदि ८ (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति २ : 'बोधयन्ति लिखन्ति' को 'बोधयति लिखयति' पढ़ें। पंक्ति ८ : '०द्दासयोरव०' का 'व' उत्कीर्णक पहिले लिखना भूल गया था, बाद में उसने इसे पंक्ति के नीचे खोदा।

शब्दार्थ

विश्वास=एक पदनाम; सविश्वासं=विश्वास पदनाम वाले पदाधिकारी सहित; ब्राह्मणोत्तरान्=श्रेष्ठतम ब्राह्मणों; संव्यवहारी=पदाधिकारी; कुटुम्बी=कृषक-गृहस्थ; संव्यवहार्या-दिकुटुम्बिनः=वे कुटुम्बी जो संव्यवहारी थे (अथवा पदाधिकारी और कुटुम्बी); नः=हमको; आद्यस्तम्ब=मूल झाड़ियों से ढकी अर्थात् ऐसी भूमि जिस पर कभी खेती नहीं की गयी; समुदयबाह्य=राज्य को आय न देने वाली भूमि; उपसंगृह्य=लेकर, वसूल करके; अकिञ्चित्प्रतिकर=वह जिससे जरा भी आय न होती हो; उत्प्रतिकर=अप्रतिकर या अकिञ्चित्प्रतिकर; दीयमाने=दिये जाने पर; अपविञ्छ्य=नापकर, काटकर; तुष=भूसा; अंगार=कोयला (अन्य शब्दों के लिए अन्य दानपत्रों के शब्दार्थ देखें)।

अनुवाद

पं० १ कल्याण हो ! अम्बिल अग्रहार से विश्वास सहित (विश्वास पदनाम वाले पदाधिकारी सहित) अधिकरण (अर्थात् अधिकरण के सदस्य) जङ्गोयिका ग्राम में श्रेष्ठतम ब्राह्मणों (तथा) पदाधिकारी कृषक-गृहस्थों से कुशल कहकर सूचित करता और लिखता है (अर्थात् अधिकरण के सदस्य सूचित करते व लिखते हैं); —

पं० २ ''हमको विषयपति छत्त्रमह ने आवेदन किया है : 'मेरी इच्छा है कि मैं अपने पुण्य की अभिवृद्धि के लिए नन्दवीथी में खटपूरण अग्रहार के निवासी छान्दोग (अर्थात् सामवेद के छान्दोग चरण से (सम्बन्धित) (और) आपके विषय (=जिले) में समुदयबाह्य

आद्यस्तम्ब खिल क्षेत्रों को सदैव के लिए, जब तक चन्द्र, सूर्य और तारक विद्यमान हैं तब तक भोगने के लिए, अक्षयनीवी (धर्म) के अनुसार प्रति कुल्यवाप दो दीनार की दर से विक्रय किये जाने की प्रथा है। अतः आपको चाहिये कि मुझसे आठ दीनार लेकर (=वसूल करके) जङ्गोयिका ग्राम में चार कुल्यवाप खिल क्षेत्र अक्षयनीवी (धर्म) के अनुसार ताम्रपट्ट द्वारा (अर्थात् ताम्रपट्ट पर लिखवाकर) प्रदान करें।'

पं० ८ जबकि पुस्तपाल (=लेखपाल) प्रद्योतसिंह और बन्धुदास की जाँच-पड़ताल से यह निश्चित हो गया कि इस विषय में समुदयबाह्य, आद्यस्तम्ब, जरा भी आय न देने वाले खिल क्षेत्रों को दो दीनार प्रति कुल्यवाप की दर से विक्रय करने की प्रथा है (और) ऐसी उत्प्रतिकर (=कर न देने वाले) खिल क्षेत्र के विक्रय से राज्य के अर्थ का कोई विरोध नहीं है (=राज्य को अर्थ अर्थात् आय की कोई हानि नहीं होगी), उल्टे परमभट्टारकपाद (=सम्राट्) को धर्म (=पुण्य) के षड्भाग (अर्थात् छठे भाग) की प्राप्ति होगी—अतः तय किया गया कि प्रार्थित भूमि दे दी जाय।

पं० ११ इस प्रकार विषयपति छत्रमह से आठ दीनार वसूल करके जङ्गोयिका ग्राम में, गोरक्षित को ताम्रपट्ट द्वारा (प्रदत्त) (भूमि के) दक्षिण में (तथा) गोपालि भोग के पश्चिम में, चार कुल्यवाप खिल क्षेत्र दिया गया—कु० ४।

पं० १३ इसलिए इसे जानकर आप लोगों द्वारा ऐसे स्थान पर, जहाँ कृषक गृहस्थों के कृषि-कर्म का विरोध न होता हो (अर्थात् उनके कृषि-कर्म को हानि न पहुँचती हो), दर्व्वीकर्म के (मानक) हाथ द्वारा आठ×नौ नलकों से नाप कर चिरकाल तक स्थायी रहने वाले चिह्नों से चारों दिशाओं में अंकित करके (उक्त चार कुल्यवाप भूमि) दी जानी चाहिये। और देने के बाद अक्षयनीवीधर्मानुसार शाश्वत्काल तक (अर्थात् हमेशा) (इसका) अनुपालन किया जाना चाहिये और वर्तमान तथा भविष्य के संव्यवहारियों (=पदाधिकारियों) द्वारा भी इसका धर्म-भावना से अनुपालन किया जाना चाहिये।"

पं० १६ और भगवान् व्यास द्वारा कहा गया है—'जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर (अपने) पितरों के साथ सड़ता है॥१॥ भूमिदान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहर्ता तथा उसका अनुमोदक ठीक उतने ही समय नरक में वास करते हैं' ॥२॥

पं० १९ संवत् १६९ वैशाख शुद्ध दिवस ८।

व्याख्या

(१) अग्रहार—अग्रहार का सामान्य अर्थ ब्राह्मणों या धार्मिक अथवा शिक्षा संस्थाओं को दान में प्रदत्त भूमि होता है। लेकिन यहाँ अम्विल नामक अग्रहार के प्रशासनिक केन्द्र से आशय है।

(२) सविश्वासम्—दे०, बुधगुप्त का गु० सं० १६३ (=४८२ ई०) के दामोदरपुर-दानपत्र की टि० ३।

(३) संव्यवहार्यादिकुटुम्बिनः—'संव्यवहारी' का अर्थ है पदाधिकारी और कुटुम्बी का अर्थ है कृषक-गृहस्थ। एन० जी० मजूमदार ने इस पद का अर्थ किया है 'पदाधिकारी तथा कुटुम्बी'। जे० सी० घोष का कहना है कि यहाँ तात्पर्य उन कुटुम्बियों से है जो पदाधिकारी भी थे। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि बुधगुप्त के गु० सं० १६३ के दामोदरपुर-दानपत्र में ग्रामिक कुटुम्बियों और क्षुद्रप्रकृति कुटुम्बियों में अन्तर किया गया है।

(४) **कुशलमनुवर्ण्य**—दे०, गु० सं० १६३ के दामोदरपुर-दानपत्र की टि० ५ ।

(५) प्रथम दो पंक्तियों के अर्थ के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है । एन० जी० मजूमदार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"अम्बिल अग्रहार से हमारे विषयपति छत्रमह अधिकरण तथा जङ्गोयिका ग्राम के ब्राह्मणों, संव्यवहारियों तथा अन्य जनों एवं कुटुम्बियों को, उनकी कुशल पूछकर, सूचित करते हैं और लिखते हैं" (इ० आई०, २३, पृ० ५२–६) । इस पर टिप्पणी करते हुए सम्पादक एच० एन० शास्त्री ने लिखा है कि यहाँ आयुक्तकों का प्रच्छन्न उल्लेख मानकर इसका अनुवाद इस प्रकार करना चाहिए, "अम्बिल अग्रहार से···(आयुक्तक लोग) अधिकरण को सूचित करते और लिखते हैं कि विषयपति छत्रमह ने हमको सूचित किया है कि···" ।

(६) अधिकरण में बहुत-से सदस्य होते थे इसलिए इस लेख और ऐसे ही अन्य कई दानपत्रों का प्रारूप तैयार करने वालों ने गलती से क्रिया में बहुवचन का प्रयोग कर दिया है (बोधयन्ति लिखन्ति च) जबकि 'अधिकरण' के लिए एकवचन की क्रिया प्रयुक्त होनी चाहिये थी (बोधयति लिखयति च) ।

(७) **नन्दवीथी**—'वीथी' एक प्रशासनिक इकाई होती थी । नन्दवीथी ऐसी ही किसी प्रशासनिक इकाई का नाम था । नन्दपुर, जहाँ से यह दानपत्र मिला था, इसका प्रशासनिक केन्द्र रहा होगा ।

(८) **पञ्च महायज्ञ**—दे०, प्रथम कुमारगुप्तकालीन द्वितीय दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १२८ की टिप्पणी सं० ३ ।

(९) **उत्प्रतिकर**=जिससे कर न लिया जाता हो; वह भूमि जो कर न देती हो । तु०, अशोक के रुम्मिनदेई-अभिलेख का 'उद्‌विलिक' शब्द ।

अभिलेख का महत्त्व

यह अभिलेख कई दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है । एक, इसमें तत्कालीन गुप्त सम्राट् का नाम नहीं दिया गया है जो निश्चयतः ही बुधगुप्त था, लेकिन इसमें पंक्ति १०–११ में 'परमभट्टारक' का उल्लेख अवश्य हुआ है । बुधगुप्त के शासनकाल के ही वर्ष १५८ (=४७७ ई०) के महाराज लक्ष्मण के एक ताम्रपत्र अभिलेख में, जो कौशाम्बी के समीपस्थ पाली स्थान से मिला है, गुप्त सम्राट् की ओर संकेत तक नहीं है । लेकिन यह मानना असम्भव है कि ४७७ ई० में कौशाम्बी प्रदेश पर, जो गुप्त साम्राज्य का हृदय-स्थल था, बुधगुप्त का प्रभुत्व नहीं था और महाराज लक्ष्मण वहाँ स्वतन्त्ररूपेण शासन कर रहा था । वास्तव में ये अभिलेख बुधगुप्त के शासनकाल में स्थानीय महाराजाओं और गवर्नरों पर गुप्त नियन्त्रण के ढीला होने का सूचक माने जाने चाहिये । दूसरे, इस अभिलेख से अन्य दानपत्रों का भूमि-व्यवस्था आदि से सम्बन्धित साक्ष्य स्पष्टतर होता है । उदाहरणार्थ इससे ज्ञात होता है कि भूमि खरीदने के लिए स्वयं विषयपति को भी अधिकरण से अनुमति लेनी होती थी । एन० जी० मजूमदार ने बिहार से प्राप्त इस दानपत्र की शैली की तुलना उत्तरी बंगाल के बैग्राम व अन्य दानपत्रों की शैली से की है और निष्कर्ष निकाला है कि इसका प्रारूप उत्तरी बंगाल में तैयार हुआ था और इसमें उल्लिखित भूमि उसी प्रदेश में थी यद्यपि दान प्राप्त करने वाले ब्राह्मण आधुनिक बिहार के मुंगेर प्रदेश के रहने वाले थे ।

बुधगुप्तकालीन दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख

लेख-परिचय—यह दानपत्र दामोदरपुर से प्राप्त अन्य चार दानपत्रों के साथ मिला था जिनमें प्रथम कुमारगुप्त के काल के गुप्त संवत् १२४ तथा १२८ के एवं बुधगुप्त के काल के गु० सं० १६३ के दानपत्र का अध्ययन पीछे किया जा चुका है। प्रस्तुत दानपत्र बुधगुप्त के काल का है और उसका नाम से उल्लेख करता है। परन्तु इसकी **तिथि** में, जो प्रथम पंक्ति में दी गयी है, वर्ष संख्या अपठ्य हो गयी है; केवल फाल्गुन मास के १५वें दिन का उल्लेख पढ़ा जा सकता है। दानपत्र एक ही **ताम्रपत्र** पर लिखा है जो आजकल बांगला देश के राजशाही नगर के वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी के संग्रहालय में दामोदरपुर से प्राप्त अन्य दानपत्रों के साथ रखा है। दानपत्र का आकार ७$\frac{१}{८}$″ × ४$\frac{१}{४}$″ है। इसमें कुल १८ पंक्तियाँ हैं जिनमें १२ पुरोभाग पर लिखी हैं और ६ पृष्ठभाग पर। लिखावट की सुरक्षा के लिए किनारों को उभारने का ध्यान नहीं रखा गया है। ताम्रपत्र का पुरोभाग अच्छी हालत में है, केवल इसका एक कोना (पुरोभाग की तरफ पंक्तियों की सीध में देखने पर उपरला बायाँ कोना) टूट गया है। पृष्ठभाग की पंक्तियाँ काफी नष्ट हो गयी हैं। मुहर का आकार १$\frac{३}{४}$″ × १$\frac{५}{८}$″ है और यह अण्डाकार है। इसका लेख मिट गया है। मुहर सहित ताम्रपत्र का भार २७$\frac{१}{८}$ तोला है। अभिलेख की **भाषा** संस्कृत है और अन्त में प्रदत्त तीन श्लोकों को छोड़कर, जो अनुष्टुभ **छन्द** में हैं, यह सम्पूर्णतः गद्य में है। **लिपि** पाँचवीं शती के अन्त की उत्तर भारतीय ब्राह्मी की पूर्वी शैली है। **वर्तनी** की मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) 'र्' के उपरान्त 'द्', 'ध्' तथा 'थ्' का द्वित्व (यथा, पंक्ति १५ में 'संव्यवहारिभिर्द्दैव' में, पंक्ति २ में 'पुण्ड्रवर्द्धन' में तथा पंक्ति ४ में 'सार्त्थवाह' में) एवं 'र्' के बाद 'व्' और 'ष' का द्वित्व जो अशुद्ध है (यथा पंक्ति ६ में 'पूर्व्व' में और पंक्ति ४ में 'कोटिवर्ष्ष' में); (२) अनुवर्ती 'र्' के संयोग में 'त्' का द्वित्व (यथा, पंक्ति ७ और ११ में 'क्षेत्त्र' में); (३) 'स्' के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर 'न्' का प्रयोग (यथा, पंक्ति ६ में 'फलाशन्सिनो' में); (४) विसर्ग के साथ 'स्' की सन्धि होने पर विसर्ग का 'स्' हो जाना (यथा, पंक्ति १६ में 'पितृभिस्सह' में) तथा (५) विसर्ग के साथ 'व्' की सन्धि होने पर विसर्ग का 'म्' हो जाना (यथा पंक्ति ४ में 'सम्वयवहरति' में)। अभिलेख का **उद्देश्य** श्रेष्ठी रिभुपाल के द्वारा कोकामुखस्वामी और श्वेतवराहस्वामी नामक देवताओं के लिए (जिनके लिए वह चार तथा सात कुल्यवाप भूमि पहिले ही दान कर चुका था) दो मन्दिर तथा दो कोष्ठिकाएँ बनवाने के लिए प्रति कुल्यवाप तीन दीनार की दर से छः कुल्यवाप भूमि के क्रय को निबद्ध करना है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस दानपत्र को सर्वप्रथम रा० गो० बसाक ने वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी की ओर से इ० आई०, १५, पृ० १३८ अ० पर प्रकाशित किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ—सरकार, स० इ०, पृ० ३३६–६; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३४२–५; वा० उपाध्याय, गुप्त अभिलेख, पृ० १७३; मैती तथा मुखर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ६१–४; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इ०, पृ० १०७–८।

मूलपाठ

पुरोभाग

१. ··· ··· फाल्गुन-दि १० (+*) [५] परमदैवत-परमभट्टारक-महाराजाधिराज-श्रीवुधगु[प्ते] [पृथिवी*]-

२. [पतौ*] [त*]त्पाद-परिगृहीतस्य पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तावुपरिक-महाराज-जयदत्तस्य भोगेनानु[वहमा]-

३. नके [को]टि[वर्ष्ष]-विषये च तन्नियुक्तकेहायुक्तक शण्डके अधिष्ठानाधिकरण[ं*] नगरश्रेष्ठिरिभु-

४. पा[ल]-सार्त्थवाहवसुमित्त्र-प्रथमकुलिकवरदत्त-प्रथमकायस्थविप्रपाल-पुरोगे च स[म्व्य]वहरति

५. अनेन श्रेष्ठि-रिभुपालेन विज्ञापितं हिमवच्छिखरे कोकामुखस्वामिनः चत्वारः कुल्यवापाः [श्वे]तव-

६. राहस्वामिनो(ऽ*)पि सप्त कुल्यवापाः अस्मत्फलाशन्सिनो पुन्याभिवृद्धये डोङ्गाग्रापे पूर्व्वं मया

७. अप्रदा अतिसृष्टकास्तदहन्तक्षेत्त्र-सामीप्य-भूमौ तयोराद्य-कोकामुखस्वामिश्वेतवराह-

८. स्वामिनोर्ना[म]ल्लिङ्गमेकं देवकुल-द्वयमेतत्कोष्ठिका-द्वयञ्च कारयितुमिच्छाम्यर्हथ वास्तुना

९. षट् [कुल्य]वापान्यथाक्रय-मर्य्यादया दातुमिति (।*) यतः पुस्तपाल-विष्णुदत्त-विजय-[नन्दि]-स्थानु-

१०. नन्दिनामवधारणयावधृतमस्त्यनेन हिमवच्छिखरे तयोः कोकामुखस्वामिश्वेतवरा[ह]-स्वामि[नोः]

११. अप्रदा-क्षेत्त्र-कुल्यवापा एकादश दत्तकास्तदर्त्थञ्चेह देवकुल-कोष्ठिका-करणे युक्त[मे]त[द्विज्ञा]-

१२. [पितं][क्र]मेण तत्क्षेत्र सामीप्य-भूमौ वास्तु दातुमित्यनुवृत्त त्रिदीनारिक्यकु[ल्यवा]पविक्रय[मर्य्या]द-

पृष्ठभाग

१३. [या*]··· ··· ··· ··· ···

१४. ··· ··· ··· पु[ष्करि]णी पू[र्व्वेण] रिभु[पा]ल-पू[र्व्व-दत्तक-क्षेत्र*] [दक्षिणेन]

१५. ··· ··· ··· दत्ताः (।*) [त]दुत्तरकालं [सं]व्यवहारिभिर्द्देवभ[क्त्या]नुमन्तव्या [उक्तं] व्यासेन (।*)

स्व-दत्तां परदत्ता-

१६. [म्वा यो हरेत] वसुन्धराम् (।*)

स विष्टा[यां] क्रिमिर्भूत्वा पि[तृ]भिस्स[ह पच्यते] (॥*) १

पूर्व्व-दत्तां द्विजातिभ्यो

१७. [यत्नाद्रक्ष यु]धिष्ठिर (।*)

महीं [महीमतां] श्रेष्ठ दा[नाच्छ्रेयो(ऽ*)नुपालनं] (॥*) २

[बहु]भिर्व्वसु[धा द]त्ता

१८. [राजभिश्च] पुनः पुनः (।*)

[य]स्य [य]स्य यदा भूमि[स्तस्य तस्य] त[दा] फलमिति (॥*) ३

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'वुध०' को 'बुध०' पढ़ें। पंक्ति ३ : 'शण्डके' को 'गण्डके' पढ़ा जा सकता है तथा भाण्डारकर ने 'भण्डके' पढ़ा है। यहाँ तथा पंक्ति ५ में 'रिभु०' की वर्तनी 'ऋभु०' होनी चाहिये थी। पंक्ति ४ : 'सम्व्य०' को 'संव्यव०' पढ़ें। पंक्ति ६ : '०शन्सिनो' को '०शंसिना' पढ़ें, 'पुन्या०' को 'पुण्या०' तथा 'ग्रापे' को 'ग्रामे'। पंक्ति ७ : '०सृष्टकास्तद०' को 'सृष्टकाः (=दत्ता)। तद०' पढ़ें। पंक्ति ८ : 'नामल्लिङ्गमेकः' को 'नामलिङ्गमेतद०' पढ़ें। भाण्डारकर ने 'नामलिङ्ग (क्षोणि)' पढ़ा है। पंक्ति ९ : सरकार ने 'षट्' को 'सह' पढ़ा है। 'स्थानु०' को 'स्थाणु' पढ़ें। पंक्ति १३ : भाण्डारकर इस खण्डित पंक्ति में 'या' के उपरान्त कुछ अक्षर पढ़ते हैं। पंक्ति १४ : सरकार ने 'रिभुपाल' के उपरान्त 'पुष्करिणी' पढ़ा है। भाण्डारकर 'दक्षिणेन' के बाद 'पञ्चकुल्यवाप' पुनर्योजित करते हैं पर अनुवाद में 'छः कुल्यवाप' देते हैं। पंक्ति १५ : 'मन्त्व्या' का 'मन्त्व्याः।' पाठ अच्छा रहता। पंक्ति १६ : '०दत्ताम्वा'

को 'दत्तां वा' पढ़ें। पंक्ति १६ : 'विष्टा' तथा 'क्रिमि' की वर्तनी 'विष्ठा' तथा 'कृमि' होनी चाहिये थी। पंक्ति १८ : 'फलमिति ।।' को 'फलम् ।। इति ।।' पढ़ें।

शब्दार्थ

अनुवह्मानक=निरन्तर, चलना; भोग=जागीर, सत्ता, यहाँ आशय 'सत्ता के भोग' से है; पुरोग=अध्यक्ष, साथ में; पूर्व्व=पहिले, पूर्वकाल; सृष्टकाः =दत्ता; आशंस्=पाने की इच्छा; अप्रदा=अहस्तान्तरणीय; नामलिङ्ग=नाम से चिह्नित, नाम से पुकारे जाने वाले; देवकुल=मन्दिर; कोष्ठिका=कोष्ठागार; यथाक्रयमर्य्यादया=खरीदने की प्रचलित प्रथा के अनुसार; करणे=करणाय, बनवाने के लिए; युक्तं=उचित, सही; अनुवृत्त=प्रचलित; देवभक्त्या=देवताओं के प्रति भक्तिभाव के कारण; अनुमन्तव्या=अनुमोदनीय, पालनीय।

अनुवाद

पं० १ (संवत्)···(में) फाल्गुन (मास) के १० (+) ५ (=१५)वें दिन परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज पृथिवीपति श्री बुधगुप्त (के शासनकाल) में जब उनके चरणों से स्वीकृत उपरिक महाराज जयदत्त पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति के शासन को भोगते हुए चला रहे हैं और जब अधिष्ठान अधिकरण को नगरश्रेष्ठि रिभुपाल, सार्त्थवाह वसुमित्र, प्रथम कुलिक वरदत्त तथा प्रथम कायस्थ विप्रपाल के साथ (अर्थात् उनके अध्यक्ष के रूप में) उनके (अर्थात् जयदत्त के) द्वारा नियुक्त आयुक्तक शण्डक चला रहे हैं;

पं० ५ इन श्रेष्ठि रिभुपाल ने विज्ञापित किया है—''पूर्वकाल में मेरे द्वारा हिमवत् शिखर पर डोङ्गा ग्राम में चार कुल्यवाप अप्रदा (भूमि) कोकामुखस्वामी के लिए तथा सात कुल्यवाप (भूमि) श्वेत वाराहस्वामी के लिए पुण्य की अभिवृद्धि के लिए, अपने लिए फल पाने की इच्छा से, दी गयी थी। अब उस जुते हुए क्षेत्र (=खेत) के समीप की भूमि पर इन आदि(देव) कोकामुखस्वामी (तथा) श्वेतवराहस्वामी के नामों से पुकारे जाने वाले दो देवकुल (=मन्दिर) तथा दो कोष्ठिकाएँ (=भण्डारगृह) बनवाने की मेरी इच्छा है। (अतः) आपको चाहिए कि मुझे क्रय करने की प्रचलित प्रथानुसार छः कुल्यवाप वास्तु भूमि (=भवन-निर्माण के लिए भूमि) दें।''

पं० ९ जब लेखाधिकारी विष्णुदत्त, विजयनन्दि तथा स्थाणुनन्दि की पड़ताल से निश्चित हो गया कि उसके (=रिभुपाल के) द्वारा ग्यारह कुल्यवाप अप्रदा क्षेत्र उन कोकामुखस्वामी और श्वेतवराहस्वामी के हेतु हिमवत् शिखर पर दिया गया था और यह (भी निश्चित हो गया) कि उनके लिए (अर्थात् दोनों उपर्युक्त देवताओं के लिए) देवकुल और कोष्ठिका बनवाने के लिए उसके (अर्थात् रिभुपाल के) द्वारा उस खेत के समीप वास्तु भूमि हेतु उचित विज्ञापन (=प्रार्थना-पत्र) दिया गया है, तब एक कुल्यवाप के लिए तीन दीनार की प्रचलित प्रथानुसार···पुष्करिणी के पूर्व में रिभुपाल द्वारा पूर्वकाल में प्रदत्त क्षेत्र के दक्षिण में···दी गयी। उत्तरकाल में (=भविष्य में) (यह दान) पदाधिकारियों द्वारा देवताओं के प्रति भक्तिभाव के कारण अनुमोदनीय है।

पं० १५ व्यास द्वारा कहा गया है—जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर अपने पितरों के साथ सड़ता है ।।१।। हे राजाओं

में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! द्विजातियों को पूर्वकाल में प्रदत्त भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो (क्योंकि) (भूमि के) दान से उसका अनुपालन श्रेष्ठ है ।।२।। वसुधा (अर्थात् भूमि) बहुत-से राजाओं द्वारा पुनः पुनः दी गयी है । जब जिसकी-जिसकी भूमि होती है तब उसको-उसको फल मिलता है ।।३।।

व्याख्या

(१) **उपरिक महाराज जयदत्त**—जयदत्त, चिरातदत्त और ब्रह्मदत्त के परिवार का सदस्य लगता है । दे०, गु० सं० १६३ के दामोदरपुर-दानपत्र की टि० १ ।

(२) **भोगेनानुवहमानक कोटिवर्ष विषये**—दे०, गु० सं० १२४ के दामोदरपुर-दानपत्र की टि० ३ ।

(३) यह तथ्य रोचक है कि कम से कम नामों से ऐसा लगता है कि प्रथम कुमारगुप्त और बुधगुप्त के काल के श्रेष्ठी धृतिपाल और रिभुपाल, सार्त्थवाह बन्धुमित्र और वसुमित्र, कुलिक वरदत्त और मतिदत्त, कायस्थ शाम्बपाल, विप्रपाल और स्कन्दपाल, क्रमशः एक-एक ही परिवार के सदस्य थे अर्थात् इनमें प्रत्येक पद किसी एक परिवार के प्रभावान्तर्गत आ गया था ।

(४) **हिमवच्छिखर**—हिमालय का शिखर । सरकार के अनुसार यहाँ आशय नेपाल के वराह-क्षेत्र से है जबकि इस लेख में तथा ५४३ ई० के दामोदरपुर-दानपत्र में उल्लिखित भूमि दामोदरपुर के आस-पास ही थी । दे०, ५४३ ई० के दामोदरपुर-दानपत्र की टि० ४ ।

(५) **कोकामुखस्वामी तथा श्वेतवराहस्वामी**—ये निस्सन्देह विष्णु के रूप हैं । बसाक के अनुसार कोकामुखस्वामी का सम्बन्ध 'हरिवंश', 'महाभारत' तथा 'वराह पुराण' में उल्लिखित कोकामुख तीर्थ से था (इ० आई०, १५, पृ० १४०, टि० ३) । भाण्डारकर के अनुसार इन दोनों देवताओं के मन्दिर सिक्किम तथा दार्जिलिंग में कहीं थे (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३४३) । अतः वह कोटिवर्ष विषय को सिक्किम तथा दार्जिलिंग तक विस्तृत मानते हैं । सरकार इससे असहमत हैं (स० इ०, पृ० ३३६, टि० ३ तथा ४) । उनका कहना है कि वराह-क्षेत्र में स्थित 'आदि' अर्थात् मूल कोकामुखस्वामी और वराहस्वामी के नाम पर दान दी गयी भूमि पर नये मन्दिर बनवाये गये थे । इसीलिए पंक्ति ८ में 'नामलिङ्ग' (नाम से चिह्नित) देवकुलों (=मन्दिरों) का उल्लेख है । क्योंकि दाता के लिए नेपाल स्थित मन्दिरों को दान दी गयी भूमि की आय भेजना कठिन होगा, इसलिए वराह-क्षेत्र के मूल देवताओं के नाम पर ये मन्दिर बनवाकर इन्हें नयी भूमि दान दे दी गयी थी । यह तथ्य ५४३ ई० के दामोदरपुर दानपत्र में आये 'अत्रारण्ये' शब्द से स्पष्ट है (दे०, ५४३ ई० का दामोदरपुर-दानपत्र, टि० ४) ।

(६) **क्रयमर्यादा**—खरीदार की दृष्टि से 'क्रयमर्यादा' (=क्रय करने की प्रथा) वही थी जो विक्रेता की दृष्टि से विक्रयमर्यादा ।

(७) **व्यास**—इन्हें कभी-कभी वेदव्यास भी कहा गया है । जयनाथ के दानपत्रों में ये श्लोक 'महाभारत' से उद्धृत बताये गये हैं । शर्वनाथ के २१४ गु० सं० के खोह-दानपत्र में इनको 'शतसाहस्री' संहिता से उद्धृत कहा गया है । इससे प्रमाणित है कि गुप्तकाल के अन्त तक 'महाभारत' एक लाख श्लोकों की संहिता के रूप में अस्तित्व में आ चुकी थी ।

अभिलेख का महत्त्व

इस अभिलेख से अन्य दामोदरपुर-दानपत्रों का साक्ष्य स्पष्टतर होता है । इसमें कोकामुखस्वामी व श्वेतवराहस्वामी का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है । दे०, बंगाल के दानपत्रों के आधार पर भूमि व प्रशासन व्यवस्था के अध्ययन से सम्बन्धित परिशिष्ट ।

बुधगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख

लेख-परिचय—बुधगुप्त की नालन्दा से केवल एक खण्डित मुहर प्राप्त हुई है (नालन्दा-मुहरों के विस्तृत परिचय के लिए दे०, प्रथम नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर का परिचय)। इसका केवल दाहिना अर्द्धांश मिला है। बनावट में यह प्रथम नरसिंहगुप्त व द्वितीय कुमारगुप्त की मुहरों के सदृश है। उपलब्धांश में गरुड़ का मुख व दाहिने ओर का पंख अवशिष्ट है। गरुड़मूर्ति व लेख के बीच में दो रेखाएँ खिची हैं। पृष्ठभाग पर डोर बाँधने एवं कपड़े के निशान मिले हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ एवं निबन्ध—हीरानन्द शास्त्री, एम० ए० एस० आई०, ६६, पृ० ६४ (मुहर संख्या ६६, फलक ८, ए); अमलानन्द घोष, आई० एच० क्यु०, १६, १६४३, पृ० ११६–२५; सरकार, स० इ०, पृ० ३३६; आई० एच० क्यु०, १६, पृ० २७२–५; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० २३३; निसार अहमद, जे० एन० एस० आई०, ३३, भाग २, पृ० ४४–७; भाण्डारकर, छाबड़ा और गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३५०–५१।

मूलपाठ

१. [सर्व्वराजोच्छेतुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य महाराज*]-श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्क-
२. [चपौत्रस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-पुत्रस्य लिच्छवि*]-दौहित्रस्य महादेव्वां कुमारदेव्यामुत्पन्न-
३. [स्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परि*]गृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नः
४. [स्वयञ्चाप्रतिरथः परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री*]-चन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो
५. [महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज*]-श्रीकुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादा-
६. [नुध्यातो महादेव्यामनन्तदेव्यामुत्पन्नो म*]हाराजाधिराज-श्री-[पूरु]गुप्तस्तस्य पुत्र-
७. [स्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्री*][महा ?]देव्यामुत्पन्नः
८. [परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री*]-बुधगुप्तः (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति ७ : इस पंक्ति में हीरानन्द शास्त्री 'महादेव्यामुत्पन्नः' पाठ को शंकाग्रस्त मानते हैं। सरकार इसे स्वीकृत करते हैं पर कुछ शंका के साथ। अमलानन्द घोष व भाण्डारकर 'चन्द्रदेव्यामुत्पन्नः' सुझाते हैं। निसार अहमद घोष से सहमत हैं। अलग-अलग पंक्तियों के पुनर्योजन के विषय में सरकार व घोष आदि असहमत हैं। हमने सरकार का पुनर्योजन स्वीकार किया है।

अनुवाद

पं० १ महाराजा श्री गुप्त के प्रपौत्र, महाराजा श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री (प्रथम) चन्द्रगुप्त के पुत्र लिच्छवि-दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त (हुए) जो समस्त राजाओं का उच्छेद करने वाले (तथा) पृथिवी पर अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान विचरण करने वाले) (थे। उन) के पुत्र, उनके द्वारा (अपने उत्तराधिकारी के रूप में), स्वीकृत महादेवी दत्तदेवी (के गर्भ) से

उत्पन्न, साक्षात् अप्रतिरथ (=विष्णु) (के समान) परमभागवत महाराजाधिराज श्री (द्वितीय) चन्द्रगुप्त (थे।) उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले महादेवी ध्रुवदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त (थे।) उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले महादेवी अनन्तदेवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त (थे।) उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले महादेवी श्री महा(?)देवी (के गर्भ) से उत्पन्न परमभागवत महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त हैं (जिनकी यह मुहर है)।

व्याख्या

(१) महादेव्यां श्री महादेव्यामुत्पन्न—हीरानन्द शास्त्री के अनुसार बुधगुप्त की माँ का नाम महादेवी था। अमलानन्द घोष, मुखर्जी तथा निसार अहमद उसका नाम चन्द्रदेवी बताते हैं जो प्रथम नरसिंहगुप्त की माँ का नाम भी था। सरकार को शास्त्री के पाठ में कुछ शंका है परन्तु उन्हें यह निश्चय है कि बुधगुप्त की माँ चन्द्रदेवी नहीं थी, पुरुगुप्त की कोई अन्य पत्नी थी।

लेख का महत्त्व

प्रस्तुत मुहर-अभिलेख का महत्व बुधगुप्त के इतिहास की दृष्टि से है। बुधगुप्त गुप्त वंश का एक महत्वपूर्ण नरेश था। उसने कम से कम ४७६ ई० से ४९५ ई० तक शासन किया परन्तु इस मुहर के मिलने के पूर्व उसके किसी अभिलेख से उसका साम्राज्यिक गुप्तवंश के साथ सम्बन्ध प्रमाणित नहीं था। फ्लीट के समय तक तो उसे मालवा का गुप्त शासक ही माना जाता था। प्रस्तुत अभिलेख उसे पुरुगुप्त का पुत्र सिद्ध करके इस कमी को पूरा करता है।

बुधगुप्त के उत्तराधिकारियों के अभिलेख

(५५० ई० तक)

बुधगुप्त के उपरान्त गुप्त वंश ने ५५० ई० तक शासन किया। इस बीच में शासन करने वाले नरेशों का अनुक्रम व तिथिक्रम बड़े विवादग्रस्त हैं। दे०, पूर्वपीठिका 'आ', पृ० ११–१५। इस ग्रन्थ में बुधगुप्त के उपरान्त जिन शासकों को गुप्त राजक्रम में स्थान दिया गया है उनमें कुछ के निम्नलिखित अभिलेख मिलते हैं—

(१) वैन्यगुप्त का गुणैघर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष १८८
(२) वैन्यगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख
(३) भानुगुप्त के काल का एरण स्तम्भ-लेख : वर्ष १६१
(४) प्रकटादित्य का तिथिविहीन सारनाथ-लेख
(५) (विष्णु)गुप्त का दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख : वर्ष २२४
(६) विष्णगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख

वैन्यगुप्त का गुणैघर ताम्रपत्र-अभिलेख

गु० सं० १८८ (=५०७ ई०)

लेख-परिचय—इस ताम्रपत्र-अभिलेख का **प्राप्ति-स्थल** बांगला देश के तिपेरा जिले में कोमिल्ला से १८ मील उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित गुणैघर नामक स्थान है । इस दानपत्र में उल्लिखित गुणेकाग्रहार (पंक्ति १८–१९) अथवा गुणिकाग्रहार (पंक्ति २१) के साथ गुणैघर की पहिचान अनायास की जा सकती है । यह १९१८ में एक तालाब की सफाई करते समय मिला था और श्री वैकुण्ठनाथ दत्त ने, जिनके अधिकार में यह आया, इसे श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य को उद्वाचन हेतु दिया । अभिलेख एक ही **ताम्रपत्र** पर दोनों ओर लिखा है । इसमें कुल ३१ पंक्तियाँ हैं जिनमें २३ पुरोभाग पर लिखी हैं और शेष पृष्ठभाग पर । ताम्रपत्र पर एक मुहर लगी है जिस पर बायीं ओर बैठे वृषभ का अंकन है और नीचे 'महाराज-श्री वै(न्यगुप्तस्य)' लेख लिखा है । अभिलेख की **भाषा** संस्कृत हैं और **लिपि** ब्राह्मी की छठी शती ई० के प्रारम्भ की उत्तर-भारतीय वर्ग की पूर्वी शैली । भूमिदान से सम्बन्धित तीन श्लोकों को छोड़कर यह सम्पूर्णतः गद्य में है । ये तीनों श्लोक अनुष्टुभ **छन्द** में हैं और लेख के बीच में पंक्ति १२ से १४ तक लिखे हैं ।

लेख में **वर्तनी** की अशुद्धियाँ कई स्थलों पर हैं, यथा पंक्ति ५ में 'त्रिकाल' को 'त्रिष्काल' लिखा है, पंक्ति ९ में 'विशेषेण स्मृतौ' को 'विशेषे स्मृतो', पंक्ति १७ में 'विग्रहाधिकरण' को 'विग्रहारिकरण' तथा पंक्ति ३१ में 'पुष्करिणी' को 'पुष्किणी' तथा 'पौष' को 'पोष्ष' । 'विंशति' को 'व्विन्शति' या 'विन्शति' लिखा गया है ।

लेख में (गु० सं०) १८८ की २४ पौष तिथि दी गयी है लेकिन इसे शुरू में न देकर भूमिदान सम्बन्धी श्लोकों के बाद शब्दों में तथा अन्तिम पंक्ति में अंकों में दिया गया है । अभिलेख का **उद्देश्य** यह बताना है कि महाराज श्री वैन्यगुप्त ने आचार्य शान्तिदेव द्वारा निर्मित कराये गये अवलोकितेश्वराश्रम विहार को ११ पाटक भूमि उत्तर मण्डलान्तर्गत कान्तेडदक ग्राम में पूजा के व्यय, रोगियों की सहायता व विहार की मरम्मत के निमित्त प्रदान की थी ।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—प्रस्तुत अभिलेख को सर्वप्रथम दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने 'इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली' के १९३० के अंक ६ में (पृ० ४५–६०) प्रकाशित किया । अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ :— एम० घोष, वही, पृ० ५६१; सरकार, स० इ०, पृ० ३४०–४५; वासुदेव उपाध्याय, गु०अ०, पृ० १७६; मैती एवं मुकर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ६५–७० ।

मूलपाठ

पुरोभाग

१. स्वस्ति (।।*) महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावारात्क्रीपुराद्भगवन्महादेव-पादानुद्ध्यातो महाराज-श्रीवैन्यगुप्तः

२. कुशली * * * * * * * * स्वपादोपजीविनश्च कुशलमाशंस्य समाज्ञापयति (।*) विदितं भवतामस्तु यथा

३. मया मातापित्त्रोरात्मनश्च पु[ण्या]भिवृ[द्ध]ये(ऽ*)स्मत्पाददास-महाराज-रुद्रदत्त-विज्ञाप्यादनेनैव माहायानिक-शाक्यभिक्षवा-

४. चार्य्य-शान्तिदेवमुद्दिश्य गोप(?)··· ··· ··· ···[दिग्भागे ?] कार्य्यमाणकार्य्यावलोकितेश्वराश्रम-विहारे अनेनै-

५. वाचार्य्येण प्रतिपादित[क?]-माहायानिक-वैवर्त्तिक-भिक्षु-संघनाम्परिग्रहे भगवतो बुद्धस्य सततं त्रिष्कालं

६. गन्ध-पुष्प-दीप-धूपादि-प्र[वर्त्तनाय*] [त*]स्य भिक्षुसंघस्य च चीवर-पिण्डपातशयनासन-ग्लान-प्रत्ययभैषज्यादि-

७. परिभोगाय विहारे [च] खण्ड फुट्ट-प्रतिसंस्कार-करणाय उत्तरमाण्डलिक-कान्तेडदकग्रामे सर्वतो भो-

८. गेनाग्रहारत्वेनैकादश-खिल-पाटकाः पञ्चभिः खण्डैस्ताम्र-पट्टेनातिसृष्टाः (।*) अपि च खलु श्रुति-स्मृती-

९. [ति*]हा[स]-विहितं पुण्य-भूमिदान-श्रुतिमैहिकामुत्त्रिक-फल-विशेषे स्मृतो भावतः समुपगम्य स्वतस्तु पी-

१०. डामप्यूरीकृत्य पात्त्रेभ्यो भूमिं * * * * * * * (।*) * * * द्विष(?)द्भिरस्मद्वचन-गौरवात्स्व-यशो-धर्म्मावाप्तये चैते

११. पाटका अस्मिन्वि(?)हारे शश्वत्कालमभ्य[नुपालयितव्याः ।।*] अनुपालनम्प्रति च भगवता पराशरात्मजेन वेदव्या-

१२. सेन व्यासेन गीताः श्लोका भवन्ति (।*)
षष्टिं वर्ष-स[हस्रा]णि स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः (।*)
आक्षेप्ता चानुमन्ता च ता-

१३. न्येव न(र*)के वसेत् (।।*) १
स्व-दत्तां पर-दत्ताम्वा यो हरेत [वसु]न्धरां(राम्) (।*)
[स] विष्ठायां कृमिर्भुत्वा पितृभिः सह पच्यते (।।*) २

१४. पूर्व-दत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
महीं महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो(ऽ*)नुपालनं(नम्) (।।*) ३
वर्त्तमानाष्टाशीत्यु-

१५. त्तर-शत-संवत्सरे पौष-मासस्य चतुर्व्विन्शतितम-दिवसे दूतकेन महाप्रतीहार-महापीलुपति-पञ्चाधि-

१६. करणोपरिक-पाट्युपरिक-[पुर?]पुरपालोपरिक-महाराज-श्रीमहासामन्त-विजयसेनेनैतदेकादश-पाटक-दा-

१७. नायाज्ञामनुभाविताः कुमारामात्य-रेवज्जस्वामी भामह-वत्स-भोगिकाः (कौ च) (।।*) लिखितं सन्धिविग्रहारि(धि)करण-काय-

१८. स्थ-नरदत्तेन (।।*) यत्त्रैकक्षेत्त्रखण्डे नव-द्रोणवापाधिक-सप्त-पाटक-परिमाणे सीमालिङ्गानि (।*) पूर्व्वेण गुणेका-

१९. ग्रहारग्राम-सीमा विष्णुवर्धकि-क्षेत्त्रश्च (।*) दक्षिणेन मिदुविलाल(?)-क्षेत्त्रं राजविहार-क्षेत्त्रश्च (।*) पश्चिमेन सूरी-नाशी-रम्पूर्ण्णक-

२०. क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।*) उत्तरेण दोषी-भोग-पुष्करिण[ी] ··· ··· ··· ··· ··· [ए*]वम्पिया-कादित्य-व(ब)न्धु-क्षेत्राणाञ्च सीमा (।।*)

२१. द्वितीय-खण्डस्याष्टाविन्शति-द्रोणवाप-परिमाणस्य सीमा (।*) पूर्व्वेण गुणिकाग्रहारग्राम-सीमा (।*) दक्षिणेन पक्क-

२२. विलाल(?)-क्षेत्रं(त्त्रम्) (।*) पश्चिमेन राजविहार-क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।*) उत्तरेण वैद्य(?)-क्षेत्त्रं-(त्त्रम्) (।।*) तृतीय-खण्डस्य त्रयोविन्शति-द्रोणवाप-

२३. परिमाणस्य सीमा (।*) पूर्व्वेण ··· ··· ··· ··· क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।*) दक्षिणेन नखद्दार्च्चरिक(?)-क्षेत्त्र-सीमा (।*) पश्चिमेन

पृष्ठभाग

२४. ज(जो?)लारी-क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।*) उत्तरेण नागी-जोडाक-क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।।*) चतुर्थस्य त्रिंशद्द्रोणवाप-परिमाण-क्षेत्त्र खण्डस्य सीमा (।*) पूर्व्वेण

२५. बुद्धाक-क्षेत्र-सीमा (।*) दक्षिणेन कालाक-क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।*) पश्चिमेन [सू]र्य्य-क्षेत्त्र-सीमा (।*) उत्तरेण महीपाल-क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।।*) [प]ञ्चमस्य

२६. पादोन-पाटक-द्वय-परिमाण-क्षेत्त्र-खण्डस्य सीमा (।*) पूर्व्वेण खण्ड-वि[डु]ग्गुरिक-क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।*) दक्षिणेन मणिभद्द्र-

२७. क्षेत्त्रं(त्त्रम्) (।*) पश्चिमेन यज्ञरात-क्षेत्त्र-सीमा (।*) उत्तरेण नादडदकग्राम-सीमेति (।।*) विहार-तलभूमेरपि सीमा-लिङ्गानि (।*)

२८. पूर्व्वेण चूडामणिनगरश्रीनौयोगयोर्म्मध्ये जोला (।*) दक्षिणेन गणेश्वरविलाल-पुष्करिण्या नौ-खातः (।*)

२९. पश्चिमेन प्रद्युम्नेश्वर-देवकुल-क्षेत्र प्रान्तः (।*) उत्तरेण प्रडामार-नौयोग-खातः (।।*) एतद्विहार-प्रावेश्य-शून्यप्रतिकर-

३०. हज्जिक-खिल-भूमेरपि सीमा-लिङ्गानि (।*) पूर्व्वेण प्रद्युम्नेश्वर-देवकुल-क्षेत्त्र-सीमा (।*) दक्षिणेन शाक्यभिक्ष्वाचार्य्य-जित-

३१. सेन-वैहारिक-क्षेत्त्रावसा(?)नः(नम्) (।*) पश्चिमेन ह(?)चात-गंग उत्तरेण दण्ड-पुष्किणी चेति ।। सं १० (+*) ८० (+*) ८ पोष्ष-दि २० (+*) ४ (।।*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति २ : 'कुशली' के उपरान्त करीब आठ अक्षर मिट गये हैं। सरकार का अनुमान है कि यहाँ 'ब्राह्मणादीन्कुटुम्बिनः' अथवा 'समवेतान्कुटुम्बिनः' जैसा कोई वाक्यांश रहा होगा। पंक्ति ५ : 'संघनाम्परिग्रहे' को 'सङ्घानां परिग्रहे' पढ़ें। पंक्ति ९ : 'विशेषे स्मृतो' को 'विशेषेणस्मृतौ' पढ़ें। कुछ विद्वान् 'स्मृतो' की जगह 'स्मृता' पढ़ते हैं। पंक्ति १० : सरकार ने 'भूमि' के उपरान्त 'नापहरेत्, वाधाञ्च न कुर्यात्' शब्द पुनर्योजित किये हैं। पंक्ति ११ : भट्टाचार्य ने '०भ्यनुपालयितव्याः' के बजाय '०भ्यनुमन्तव्याः' पाठ सुझाया है। पंक्ति १३ : 'दत्ताम्वा' के बजाय 'दत्तां वा' पढ़ें। पंक्ति १४ : 'दानात्श्रयो' को 'दानाच्छ्र्यो' पढ़ें। पंक्ति १५ : '०व्विन्शति०' को '०व्विशति०' पढ़ें। पंक्ति १६ : '०पुर' शब्द गलती से दो बार उत्कीर्ण हो गया है। पंक्ति १९ : दोनों स्थानों पर 'क्षेत्रश्च' को 'क्षेत्रञ्च' पढ़ें। पंक्ति २१

तथा २२ : '०विन्शति' को '०विंशति' पढ़ें। पंक्ति २१ : 'गुणिकाग्रहार' की वर्तनी पंक्ति १८–१९ में 'गुणेकाग्रहार' है। पंक्ति ३१ : 'पुष्किणी' को 'पुष्करिणी' पढ़ें तथा 'पोष्ष०' को 'पौष०'।

शब्दार्थ

महानौ=जलपोत; जयस्कन्धावार=विजयी सैनिक शिविर; कुशली=जो सकुशल हैं; स्वपादोपजीवी=अपने भृत्य, अपने सेवक; कुशलमाशंस्य=कुशल कामना करके; अस्मत्पाददास=अपने सेवक; त्रिष्कालं (त्रिकालं)=त्रिसन्ध्यां, दिन में तीन बार; परिग्रह=परिवार, वासस्थान; पिण्डवात=भिक्षा देना, यहाँ भोजन से आशय है; ग्लान=रोगी; प्रत्यय=आवश्यक वस्तुएँ; ग्लानप्रत्यय=आवश्यक वस्तुएँ तथा दवाइयाँ; खण्ड फुट्ट=टूट-फूट; प्रतिसंस्कारकरणाय=मरम्मत के लिए; सर्वतोभोग=पूर्ण रूप से भोग; पाटक=भूमि का एक माप; अतिसृजन=दान देना; अतिसृष्टाः =दान दी गयी; श्रुति=वेद; विहित=बताये गये, दिये गये; उत्त्रिक=परलोक सम्बन्धी; पीडाम्प्यूरीकृत्य=पीड़ा सहन करते हुए भी; द्विष=शत्रु; गीताः =गाये गये श्लोक; महाप्रतिहार=राजमहल के द्वार और राजधानी का प्रधान रक्षक; उपरिक=मुख्य अधिकारी, गवर्नर; पञ्चाधिकरणोपरिक=पाँच अधिकरणों का उपरिक अर्थात् प्रधान अधिकारी; पाटी=गणित; पाट्युपरिक=सांख्यिक, 'एकाउण्ट्स' विभाग का प्रधान पदाधिकारी; पुरपाल=राजधानी का प्रधान अधिकारी; पीलु=हाथी; पीलुपति=हस्तिसेनाध्यक्ष या हाथियों का प्रधान रखवाला; भोगिक=जिसे वेतन के बदले (या वेतन के साथ) जागीर या भोग के रूप में भूमि मिली हुई हो; सन्धिविग्रहाधिकरण=सन्धि और युद्ध विभाग का कार्यालय; नवद्रोणवापाधिक सप्त पाटक=सप्त पाटक से नौ द्रोणवाप अधिक; सीमालिङ्ग=सीमा चिह्न; वर्धकि=बढ़ई (पेशे या जाति से); राजविहार=राजकीय विहार; दोषी=यहाँ 'ज्योतिषी' से आशय लगता है; पुष्करिणी=तालाब; पादोन पाटक द्वय=पौने दो पाटक; जोला=(बंगला में) खात, खाई; हज्जिक=यहाँ सम्भवतः इसका अर्थ 'दलदली भूमि' है; प्रवेश=आय; विहार प्रावेश्य=लगान के निर्धारण के लिए विहार से संयुक्त; शून्य प्रतिकर=जिससे कोई आय न होती हो; तलभूमि=किसी धार्मिक संस्था को उसके प्रतिष्ठापन के समय प्रदत्त भूमि; विलाल=वर्धकि के समान कारीगरों की कोई जाति; नौयोग=नौकाश्रय, नौकाओं को ठहराने का स्थान; नौखात=ऐसी खाई जिसमें नावें चलती हों; क्षेत्रावसान=क्षेत्र का अन्त।

अनुवाद

पं० १ कल्याण हो! जलपोतों, हाथियों और अश्वों (से युक्त) क्रीपुर जयस्कन्धावार से भगवान् महादेव के पादानुध्यात महाराज श्री वैन्यगुप्त, जो सकुशल हैं, ··· तथा अपने सेवकों की कुशल कामना करके आज्ञा जारी करते हैं;—

पं० २ आप सबको विदित हो कि मेरे द्वारा अपने माता-पिता के तथा स्वयं अपने पुण्य की अभिवृद्धि के लिए अपने सेवक महाराज रुद्रदत्त के आवेदन करने पर महायान सम्प्रदाय के शाक्य भिक्षु (=बौद्ध भिक्षु) आचार्य शान्तिदेव को, उन आचार्य के (अर्थात् शान्तिदेव के) द्वारा ··· निर्मित अवलोकितेश्वराश्रम विहार में रहने वाले माहायानिक वैवर्त्तिक भिक्षु संघ के वासस्थान में सदैव (अर्थात् प्रतिदिवस) दिन में तीन बार भगवान् बुद्ध (की पूजा) के हेतु गन्ध, दीप, धूप आदि के प्रवर्त्तन के लिए, उस भिक्षु संघ को चीवर (=वस्त्र), पिण्डपात (=भोजन), शयन (=शय्या), आसन, रोगियों के लिए आवश्यक वस्तुएँ और दवाइयों आदि (की व्यवस्था) के लिए तथा विहार में टूट-फूट की मरम्मत

के लिए उत्तर मण्डल में स्थित कान्तेडदक ग्राम में ग्यारह पाटक खिल भूमि पाँच खण्डों में पूर्णतः भोगे जाने वाले अग्रहार (=ब्राह्मण या देवता की प्रदत्त भूमि) के समान ताम्रपट्ट द्वारा (=ताम्रपट्ट पर लिखवा कर) दान में दी गयी।

पं० ८ और भी, वेद, स्मृति तथा इतिहास में बताये गये भूमिदान के पुण्य से सम्बन्धित, इस लोक तथा परलोक में फल देने वाले श्रुति वचनों का स्मरण करके (और) उनका भाव समझकर स्वयं पीड़ा सहकर भी (राजा लोग) पात्रों (=सुपात्रों) की भूमि (का अपहरण न करें, और बाधा न डालें)। शत्रु राजा भी हमारे वचन के गौरव के लिए (=सम्मान के लिए) तथा (अपने लिए) वंश और धर्म की प्राप्ति के लिए इस विहार में इन पाटकों (=पाटकों में नापी गयी भूमि के इस दान) को सदैव अनुपालित करें और (भूमिदान के) अनुपालन के लिए पराशर-पुत्र, वेदों का व्यास करने वाले (=वेदों को संगृहीत और सम्पादित करने वाले) भगवान् व्यास द्वारा गाये गये श्लोक (ये) हैं—

भूमि दान देने वाला साठ सहस्र वर्ष तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहर्ता तथा उसका (=अपहरण का) अनुमोदक ठीक उतने ही समय नरक में वास करते हैं ॥१॥ जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त भूमि को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर अपने पितरों के साथ सड़ता है ॥२॥ हे राजाओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! द्विजातियों को पूर्व काल में प्रदत्त भूमि की यत्नपूर्वक रक्षा करो (क्योंकि) (भूमि के) दान से (उसका) अनुपालन श्रेष्ठ है ॥३॥

पं० १४ एक सौ अट्ठासीवें वर्तमान (=चालू) वर्ष के पौष मास के चौबीसवें दिन दूतक, महाप्रतीहार, महापीलुपति, पञ्चाधिकरणोपरिक, पाट्युपरिक, पुरपाल, उपरिक, महाराज, महासामन्त श्री विजयसेन द्वारा (उपर्युक्त) ग्यारह पाटक (भूमि) के दान के लिए कुमारामात्य रेवज्जस्वामी तथा भोगिक भामह (और) वत्स को यह आज्ञा सुनायी गयी (और यह) सन्धि-विग्रह-अधिकरण के कायस्थ (=लिपिक) नरदत्त द्वारा लिखी गयी।

पं० १८ सात पाटक और नौ द्रोणवाप परिमाण वाले प्रथम क्षेत्र खण्ड के सीमा चिह्न (इस प्रकार हैं):—पूर्व में गुणेकाग्रहार ग्राम की सीमा और विष्णु नामक बढ़ई का क्षेत्र (=खेत); दक्षिण में मिदुविलाल (गाँव का ?) क्षेत्र तथा राजविहार (=राजकीय विहार) का क्षेत्र; पश्चिम में सूरी, नाशी तथा रम्पूर्णेक का क्षेत्र; उत्तर में भोग नामक दोषी (=ज्योतिषी) की पुष्करिणी (अथवा दोषी=ज्योतिषी द्वारा भोगी जाने वाली पुष्करिणी) ··· तथा पियाक और आदित्यबन्धु के क्षेत्रों की सीमा।

पं० २१ अट्ठाइस द्रोणवाप परिमाण वाले दूसरे खण्ड की सीमा (इस प्रकार है):—पूर्व में गुणिकाग्रहार ग्राम की सीमा; दक्षिण में पक्कविलाल (गाँव का ?) क्षेत्र; पश्चिम में राजविहार का क्षेत्र; उत्तर में वैद्य (को प्रदत्त ?) क्षेत्र।

पं० २२ तेईस द्रोणवाप परिमाण वाले तीसरे खण्ड की सीमा (इस प्रकार है):—पूर्व में ··· (का) क्षेत्र; दक्षिण में नखद्दार्च्चरिक (?) की क्षेत्र-सीमा; पश्चिम में जोलारी क्षेत्र; उत्तर में नागी जोडाक क्षेत्र।

पं० २४ तीस द्रोणवाप परिमाण वाले चौथे क्षेत्रखण्ड की सीमा (इस प्रकार है):—पूर्व में बुद्धाक के क्षेत्र की सीमा; दक्षिण में कालाक का क्षेत्र; पश्चिम में सूर्य के क्षेत्र की सीमा; उत्तर में महीपाल का क्षेत्र।

पं० २५ पौने दो पाटक परिमाण वाले पाँचवें क्षेत्र खण्ड की सीमा (इस प्रकार है):—पूर्व में खण्डविडुगुरिक का क्षेत्र; दक्षिण में मणिभद्र का क्षेत्र; पश्चिम में यज्ञरात के क्षेत्र की सीमा; उत्तर में नादडकग्राम.की सीमा।

पं० २७ और विहार की तलभूमि के सीमाचिह्न (इस प्रकार हैं):—पूर्व में चूड़ामणि नगर और श्री नौयोग के मध्य की खात (अथवा चूड़ामणि तथा नगरश्री के नौयोगों=नावाश्रयों के मध्य स्थित खात); दक्षिण में गणेश्वर तथा विलाल जातियों की पुष्करिणी से जुड़ी नौ-खात; पश्चिम में प्रद्युम्नेश्वर देवकुल (=मन्दिर) के क्षेत्र का सीमान्त; उत्तर में प्रडामार के नौयोग (=नावें ठहराने का स्थान) की खात।

पं० २९ और कर-निर्धारण के लिए इस विहार से संयुक्त, शून्यप्रतिकर (=जिससे कोई आय नहीं होती), दलदली, खिल (=वंजर) भूमि के सीमाचिह्न (इस प्रकार हैं):—पूर्व में प्रद्युम्नेश्वर मन्दिर के क्षेत्र की सीमा, दक्षिण में शाक्य भिक्षु (=बौद्ध) आचार्य जितसेन के विहार के क्षेत्र का अवसान (अर्थात् अन्त); पश्चिम में हचात (नामक) गंगा (=छोटी-सी नदी) तथा उत्तर में दण्ड की पुष्करिणी।

पं० ३१ संवत् १०(+)८०(+)८(=१८८), पौष दिवस २०(+)४(=२४)।

व्याख्या

(१) महानौहस्त्यश्वजयस्कन्धावारात् क्रीपुरात्—प्राचीन भारत में सेना के चार अंग हाथी, घोड़ा, पैदल व रथ माने जाते थे (हस्त्यश्व-रथ-पादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्)। परन्तु गुप्तकाल में रथ की चर्चा कम होने लगती है और जलपोतों का महत्त्व बढ़ जाता है। 'महानौ' का उल्लेख समुद्रगुप्त के सन्दिग्ध गया- और नालन्दा-दानपत्रों में भी आया है। दे०, नालन्दा-दानपत्र की टि० १। क्रीपुर की स्थिति अज्ञात है।

(२) भगवन्महादेव-पादानुध्यातो महाराज-श्री वैन्यगुप्तः—वैन्यगुप्त ('वैन्य' की वर्तनी साहित्य में 'वैण्य' भी मिलती है) स्पष्टतः शिवभक्त था। परन्तु अभिलेखों में शिवभक्ति का भाव प्रकट करने के लिए प्रायः 'परममाहेश्वर' विरुद प्रयोग में लाया जाता था। इस प्रसंग में सरकार ने कल्चुरि अभिलेखों में आये 'वामदेवपादानुध्यात' और चालुक्य अभिलेखों में आये 'नागदेवपादानुध्यात' वाक्यांशों की तरफ ध्यान दिलाया है। इस अभिलेख में वैन्यगुप्त को केवल 'महाराज' कहा गया है जबकि उसकी नालन्दा-मुहर में 'महाराजाधिराज' बताया गया है। उसके पाददास रुद्रदत्त (पं० ३) तथा उपरिक विजयसेन (पं० १६) के लिए 'महाराज' उपाधि का प्रयोग भी यह सिद्ध करता है कि वैन्यगुप्त स्वयं पर्याप्त महत्वपूर्ण नरेश था। गुप्त इतिहास में उसके स्थान के लिए दे०, उसकी नालन्दा-मुहर की टिप्पणियाँ और महत्त्व।

(३) माहायानिक शाक्यभिक्ष्वाचार्य्य शान्तिदेव—महायान बौद्ध धर्म का एक रूप है। महायानी बुद्ध की प्रतिमा का पूजन करते थे, बोधिसत्व सिद्धान्त को मानते थे और अनेक देवी-देवताओं का पूजन करते थे। पंक्ति ४ में उल्लिखित अवलोकितेश्वर एक बोधिसत्व का ही नाम है। बौद्धों के लिए 'शाक्य' शब्द का प्रयोग प्राचीन अभिलेखों व साहित्य में प्रायः मिलता है। आचार्य शान्तिदेव अन्य साक्ष्य से अज्ञात हैं।

(४) वैवर्त्तिक—शायद यहाँ आशय उस बौद्ध सम्प्रदाय से है जो विवर्त्तवाद में विश्वास करता था।

(५) पाटक—पाटक भूमि के एक माप को कहते थे। हेमचन्द्र के अनुसार इसका अर्थ आधा गाँव होता था। शायद बंगला शब्द 'पाड़ा' इसी से निकला है। प्रस्तुत अभिलेख में कहा गया है कि वैन्यगुप्त ने कुल ग्यारह पाटक भूमि दान दी थी। उसके पाँच खण्डों का विवरण देते समय उनका जो क्षेत्रफल बताया गया है उसका जोड़ ८$\frac{3}{४}$ पाटक+९० द्रोणवाप होता है, इसलिए ११−८$\frac{3}{४}$=२$\frac{१}{४}$

पाटक ६० द्रोणवाप के बराबर हुए और एक पाटक ४० द्रोणवाप के बराबर । क्योंकि एक कुल्यवाप में आठ द्रोणवाप होते थे इसलिए एक पाटक में ५ कुल्यवाप हुए । दे०, धनैदह ताम्रपत्र की टि० ७ ।

(६) दूतकेन महाप्रतीहार-महापीलुपति-पञ्चाधिकरणोपरिक-पाट्युपरिक-पुरपालोपरिक-महाराज-श्री महासामन्तविजयसेन—स्पष्टतः वैन्यगुप्त की इस दानाज्ञा का **दूतक** (=इसे कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी पदाधिकारी) महाराज विजयसेन था । वह उपर्युक्त अनेक उच्च पदों का भोक्ता था, इसलिए बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा होगा । **महाप्रतीहार**=राजमहल के द्वार व राजधानी का प्रधान रक्षक । महाप्रतीहार की वर्तनी कहीं-कहीं 'महाप्रतिहार' भी मिलती है । प्रतिहारों के अनेक परिवार कालान्तर में राजसत्ता हस्तगत करने में सफल हुए । कान्यकुब्ज का प्रतिहार वंश इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है । बाद के प्रतिहारों ने अपना उदय दाशरथि राम के भाई लक्ष्मण से माना । **पञ्चाधिकरणोपरिक** का अर्थ है पाँच अधिकरणों अर्थात् प्रमुख कार्यालयों का सर्वोच्च पदाधिकारी । 'पाटी' का अर्थ 'गणित' होता है, अतः सरकार ने **पाट्युपरिक** का अर्थात् 'एकाउण्ट्स' विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी वताया है । **पीलु**=हाथी; अरबी में 'फील' । समुद्रगुप्त के सन्दिग्ध नालन्दा-दानपत्र में 'पीलु' की वर्तनी 'पीलू' है । **'पुरपालोपरिक'** को सरकार ने एक शब्द माना है । पर ये दो शब्द भी हो सकते हैं—पुरपाल तथा उपरिक । **उपरिक** का सामान्य अर्थ गवर्नर था । विजयसेन किसी प्रदेश का गवर्नर भी रहा हो सकता है । इसके अतिरिक्त वह **महासामन्त** भी था जो सामन्तों में उसकी तुलनात्मक महत्ता का सूचक है । विजयसेन की उपाधियाँ उच्च सामन्तों के द्वारा शासन-तन्त्र पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने में सफलता का प्रमाण हैं । एक महाराज विजयसेन का उल्लेख गोपचन्द्र के वर्ष ३३ के मल्लसारुल-दानपत्र में भी मिलता है । वह गुणैघर-दानपत्र का विजयसेन हो सकता है ।

(७) कुमारामात्य रेवज्जस्वामी भामह-वत्स भोगिका (कौ च)—ऐसा लगता है कि दूतक विजयसेन ने वैन्यगुप्त द्वारा प्रदत्त दान के कार्यान्वियन का भार कुमारामात्य रेवज्जस्वामी तथा भोगिक भामह तथा वत्स पर छोड़ दिया था । भामह और वत्स को वेतन के बदले में या उसके साथ जागीरें 'भोग' रूप में मिली होंगी, इसलिए उन्हें भोगिक कहा गया है ।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत अभिलेख अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण है । (१) इससे वैन्यगुप्त की तिथि ज्ञात होती है—५०७ ई०—जिससे उसका (जिसका एक गुप्त 'महाराजाधिराज' होना नालन्दा-मुहर से सिद्ध है) गुप्त इतिहास में समय और स्थान निर्धारित करने और परवर्ती गुप्त सम्राटों का तिथिक्रम तय करने में सहायता मिलती है । (२) इस लेख में वैन्यगुप्त के लिए केवल 'महाराज' उपाधि का प्रयोग महत्वपूर्ण है । लेकिन इसके प्रयोग का यह तात्पर्य मानना गलत होगा कि वह एक परतन्त्र नरेश था । उसके पाददास रुद्रदत्त व उपरिक विजयसेन भी 'महाराज' कहे गये हैं । अतः वैन्यगुप्त की प्रतिष्ठा उनसे अधिक ही रही होगी । नालन्दा-मुहर में उसे 'महाराजाधिराज' कहा ही गया है । (३) इस लेख से सिद्ध है कि सभी गुप्त सम्राट् 'परमभागवत' नहीं थे । कम से कम वैन्यगुप्त शैव था । (४) इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस समय तक गुप्त सेना में जलपोतों का महत्व बढ़ गया था । इसमें रथों की चर्चा न होना भी महत्वपूर्ण है । (५) विजयसेन की उपाधियों का विश्लेषण सिद्ध करता है कि इस समय तक गुप्त शासन-तन्त्र 'सामन्ती' हो गया था । दे० ऊपर, टि० ६ । (६) इस लेख से बंगाल से प्राप्त अन्य दानपत्रों में वर्णित भूमि-व्यवस्था स्पष्टतर होती है । विशेषतः इसमें भूमि माप की इकाई के रूप में पाटक का उल्लेख तथा दान में दी गयी भूमि के सीमा-चिह्नों का विस्तृत विवरण रोचक है ।

वैन्यगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख

लेख-परिचय—नालन्दा से प्राप्त मृत्तिका मुहरों में गुप्त सम्राट् वैन्यगुप्त की मुहर भी सम्मिलित है। गुप्त सम्राटों की नालन्दा-मुहरों के सामान्य परिचय के लिए दे०, प्रथम नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर का परिचय। इसका केवल एक तिकोना टुकड़ा मिला है जिसमें अन्तिम चार पंक्तियों के कुछ शब्द मिलते हैं। नीचे से पाँचवीं पंक्ति के कुछ अक्षर के चिह्न मात्र दिखायी देते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व निबन्ध—हीरानन्द शास्त्री, एम० ए० एस० आई०, ६६, पृ० ६९, मुहर सं० ६८, फलक ८ एफ; ए० घोष, आई० एच० क्यु०, १९, १९४३, पृ० २९५–९९; मजूमदार, आई० एच० क्यु०, २४, पृ० ६–८; निसार अहमद, जे० एन० एस० आई०, २९, भाग १, पृ० ४४; वही, ३३, भाग २, पृ० ४९–५५; के० के० थपल्याल, जे० एन० एस० आई०, ३३, भाग १, पृ० ५४–५; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३१९–२१।

मूलपाठ

उपलब्ध पंक्ति संख्या

१. ······गुप्तस्तस्य पुत्र[स्त][त्यादानुध्यातो महादेव्यां श्री······देव्यामुत्पन्नो महारा*]

२. [जाधिराज श्री······गुप्त*]स्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातः श्री[देव्यां······देव्यामुत्पन्नो महाराजा*]

३. [धिराज श्री······*] गुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्री[······देव्यामुत्पन्नः]

४. परमभागवतो महाराजाधिराज श्री वैन्यगुप्तः [।*]

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : भाण्डारकर इसके पूर्व भी एक पंक्ति का 'स्य' अक्षर पढ़ते हैं। पंक्ति ३ : प्रथम अक्षरों को हीरानन्द शास्त्री ने 'गुप्तस्य' पढ़ा। मजूमदार को 'गु' के पूर्व एक टेढ़ा-सा मात्रा चिह्न दिखता है जिसे वह पुरुगुप्त के नाम का अवशेष मानते हैं। लेकिन वह 'द्र' का भी अवशिष्ट भाग हो सकता है। पंक्ति ४ : निसार अहमद ने पहिले 'वैन्य' के स्थान पर 'चन्द्र' पढ़ा था (जे० एन० एस० आई०, २९, भाग १, पृ० ४४–५)। अब वह भी 'वैन्य' ही पढ़ते हैं (वही, ३३, भाग २, पृ० ४९–५५)। उन्होंने अनुमान से इस मुहर में महाराजा गुप्त और घटोत्कच से लेकर वैन्यगुप्त तक की सम्पूर्ण वंशावली पुनर्योजित कर दी है।

अनुवाद

उपलब्ध पं० १ ·····गुप्त (हुए।) उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले महादेवी श्री·····देवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री·····गुप्त (हुए।) उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले श्री देवी·····देवी (के गर्भ) से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री····· गुप्त (हुए।) उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले महादेवी श्री·····देवी (के गर्भ) से उत्पन्न परमभागवत महाराजाधिराज श्री वैन्यगुप्त (हैं)।

व्याख्या

(१) वैन्यगुप्त—वैन्यगुप्त का गु० स० १८८ (=५०७ ई०) का एक दानपत्र बांगला देश के तिपेरा जिले के गुणैघर स्थान से मिला है। इसमें उसे 'महाराजा' उपाधि दी गयी है और शिवोपासक बताया गया है। उसकी सुवर्ण मुद्राएँ भी उपलब्ध हैं जिनमें ७० प्रतिशत से ८० प्रतिशत तक सुवर्ण मिलता है। इनमें इसकी उपाधि 'द्वादशादित्य' दी गयी है। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में द्वादश नामक नरेश को भकार (=भानुगुप्त, ज्ञात तिथि ५१० ई०) के पूर्व रखा गया है जिससे अभिलेखों के ज्ञात क्रम (५०९ ई० में वैन्यगुप्त, ५१० ई० में भानुगुप्त) का समर्थन होता है।

(२) वैन्यगुप्त के पिता और पितामह की पहिचान—प्रस्तुत नालन्दा-मुहर में वैन्यगुप्त के पिता का नाम प्राप्त नहीं होता। र० च० मजूमदार (आई० एच० क्यु०, २४, पृ० ६९) ने उसे पुरुगुप्त का पुत्र माना है। उनका कहना है कि इस मुहर की तीसरी पंक्ति में 'गुप्तस्तस्य' के पहिले बाईं ओर को खुला एक वक्र मात्राचिह्न द्रष्टव्य है। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि वैन्यगुप्त के पिता के नाम का प्रथम भाग उकारान्त था। उनके विचार से यह नरेश पुरुगुप्त ही होना चाहिये क्योंकि भानुगुप्त तथा विष्णुगुप्त का समय (जिनके नाम के प्रथम भाग उकारान्त हैं) ५०९ ई० (वैन्यगुप्त की ज्ञात तिथि) के बाद पड़ेगा। लेकिन जिसे मजूमदार ने 'उ' की मात्रा का अवशिष्ट चिह्न माना है वह अधोलिखित 'र' का अवशेष भी हो सकता है। जैसा कि हमने अन्यत्र ध्यान दिलाया है (गोयल, हि० इ० गु०, १९६७, पृ० ३७०—५; प्रा० भा० रा० इ०, १९७०, पृ० २५१—४) उपलब्ध साक्ष्य संकेत देते हैं कि वैन्यगुप्त सम्भवतः तृतीय चन्द्रगुप्त का पुत्र था। आभिलेखिक साक्ष्य से हमें इस युग में शासन करने वाले तीन राजाओं के नाम ज्ञात हैं—बुधगुप्त (अन्तिम ज्ञात तिथि ४९५ ई०), वैन्यगुप्त (ज्ञात तिथि ५०७ ई०) तथा भानुगुप्त (ज्ञात तिथि ५१० ई०)। इसी युग में हमें मुद्राओं से ज्ञात तृतीय चन्द्रगुप्त (उपाधि श्री विक्रम) को भी रखना है जिसकी कम से कम तीन सुवर्ण मुद्राएँ (आई० एम० सी०, सं० ३०—३२) उपलब्ध हैं। इन मुद्राओं में शुद्ध सुवर्ण काफी कम है और इनका भार सुवर्ण तौलमान के अनुसार है। स्पष्टतः ये सिक्के द्वितीय चन्द्रगुप्त के नहीं हो सकते। अब, एक स्थल पर 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में चार राजाओं की सूची दी गयी है—एक देव (जिसे शत्रुओं ने घेर कर मार डाला), दूसरा चन्द्र (जिसको शस्त्रों से काट डाला गया), तीसरा द्वादश (जिसने कुछ ही माह शासन किया) तथा चौथा भकार जो गोप का मित्र और एक अग्रणी नरेश था लेकिन जो बीमार पड़ा और मर गया। जैसा कि स्पष्ट है इनमें द्वादश वैन्यगुप्त द्वादशादित्य है और भकार भानुगुप्त है। उसके मित्र गोप का उल्लेख, जो एरण-अभिलेख में भी मिला है, इस तथ्य को निर्णायक रूप से सिद्ध करता है। उस अवस्था में द्वादश का पूर्वगामी राजा सिक्कों से ज्ञात तृतीय चन्द्रगुप्त होना चाहिये तथा देव को बुधगुप्त माना जा सकता है [बुध=(गलती से) बुद्ध=देव]। इसलिए प्रस्तुत नालन्दा-मुहर में तीसरी पंक्ति के प्रारम्भ में मूलपाठ '०धिराज श्री चन्द्रगुप्तस्तस्य······' आदि रहा होगा, दूसरी पंक्ति के प्रारम्भ में '०जाधिराज श्री बुधगुप्तस्तस्य······' आदि तथा प्रथम पंक्ति के प्रारम्भ में 'महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्तस्तस्य······' आदि। निसार अहमद (जे० एन० एस० आई०, ३१, भाग २, पृ० ४९ से ५५) ने वैन्यगुप्त के पिता तथा पितामह की पहिचान विषयक हमारा यह सुझाव माना है, यद्यपि हम स्वयं इस सुझाव के आधार पर वैन्यगुप्त की मुहर के सम्पूर्ण पाठ का पुनर्योजन कर देना, जैसा कि निसार अहमद ने किया है, उचित नहीं समझते। ऐसे सुझाव इतिहास के पुनर्निर्माण के समय विचार योग्य होते हैं, इनके आधार पर सम्पूर्ण मुहर का पुनर्योजन कर देना अभिलेख-शास्त्र और पाठालोचन के सिद्धान्तों के विपरीत है।

(३) इस मुहर की एक अन्य विशेषता दूसरी पंक्ति में 'अनुध्यातः' के उपरान्त श्री शब्द लिखा होना है। सामान्यतः यहाँ पाठ इस प्रकार होना चाहिये था, 'तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्री(रानी का नाम)-देव्यामुत्पन्नो।' इसके बजाय 'अनुध्यातः' के उपरान्त 'श्री' शब्द के प्रयोग का कारण अज्ञात है। इसका

एक कारण यह हो सकता है कि इस मुहर में 'श्री' शब्द 'महादेव्यां' के बाद में लिखने के बजाय पहिले लिख दिया गया है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि इसमें 'महादेव्यां' शब्द लिखा ही न गया हो, सीधे राजा का नाम रहा हो। परन्तु इस अवस्था में 'श्री' के पूर्व 'महाराजाधिराज' लिखा रहा होता। हमने जो उपर्युक्त पाठ माना है वह इस अनुमान पर आधारित है कि तृतीय चन्द्रगुप्त की माँ हो सकता है 'महादेवी' ही न रही हो—उसे केवल 'देवी' कहा गया हो। अतः लेख का पाठ इस प्रकार रहा हो सकता है—तत्पादानुध्यातः श्री देव्यां (रानी का नाम) देव्यामुत्पन्नो।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत मुहर-अभिलेख का महत्त्व कई दृष्टि से है। (१) यह सिद्ध करता है कि वैन्यगुप्त गुप्तवंशीय नरेश था और उसने महाराजाधिराज रूप में शासन किया था। क्योंकि उसके गुणैघर-दानपत्र में उसे मात्र 'महाराज' कहा गया है इसलिए यह तथ्य विशेषतः महत्वपूर्ण है। (२) इस मुहर में वैन्यगुप्त को 'परमभागवत' कहा गया है जबकि गुणैघर-दानपत्र उसे 'महादेव पादानुध्यात' बताता है। इससे स्पष्ट है कि वह व्यक्तिगत रूप से तो शैव था परन्तु गुप्तों का पारिवारिक धर्म वैष्णव धर्म होने के कारण वह इस मुहर में 'परमभागवत' कहा गया है। स्मरणीय है कि गुप्त-मुहर छापों में द्वितीय चन्द्रगुप्त के अलावा (जिसकी विशिष्ट उपाधि 'परमभागवत' थी) केवल मुहर जारी करने वाले राजा के नाम के साथ 'परमभागवत' उपाधि का प्रयोग मिलता है। हो सकता है शैव वैन्यगुप्त को इस मुहर में इस परम्परा के कारण 'परमभागवत' कहा गया हो।

भानुगुप्त के काल का एरण स्तम्भ-लेख

गु० सं० १९१ (=५१० ई०)

G.E 165

लेख-परिचय—यह अभिलेख मध्यप्रदेश के सागर जिले के एरण **स्थल** से, जहाँ से समुद्रगुप्त व बुधगुप्तकालीन लेख भी उपलब्ध हुए हैं, १८७४–७५ में मिला था। इसका **उद्देश्य** भानुगुप्त नामक राजा के मित्र गोपराज के युद्ध में मारे जाने पर उसकी पत्नी के सती होने का उल्लेख करना है। यह एक लघु **स्तम्भ** पर लिखा है जिसकी पूजा बाद में शिवलिंग रूप में की जाने लगी थी। स्तम्भ का निचला भाग टूट कर खो चुका है; उपरला ३′११″ ऊँचा भाग अवशिष्ट है। स्तम्भ के उपलब्ध भाग का निचला हिस्सा अष्टकोणीय है जिसके तीन पहलुओं पर यह लेख लिखा है। लेख का आकार १′९″×११″ है। यह पर्याप्त अच्छी अवस्था में है। इसमें ऐतिहासिक महत्त्व की केवल दो सूचनाएँ क्षत हुई हैं—गोपराज के पितामह के नाम का प्रथम भाग व उसके वंश का नाम। लेख की **भाषा** संस्कृत है। इसमें कुल सात पंक्तियाँ हैं। दूसरी पंक्ति में तिथि के उल्लेख तक यह गद्य में है, तदुपरान्त पद्य में। इसमें कुल ४ श्लोक हैं। इनमें प्रथम दो अनुष्टुभ **छन्द** में हैं और शेष दो इन्द्रवज्रा छन्द में।

प्रस्तुत लेख की **लिपि** छठी शती ई० के प्रारम्भ की उत्तर भारतीय ब्राह्मी है और बुधगुप्त के एरण-लेख की लिपि से सादृश्य रखती है, यद्यपि इसके अक्षरों की बनावट उतनी सुन्दर नहीं है। अक्षरों का आकार ३/८″ से ५/८″ तक है। अंकों में १, ७, ९० तथा १०० के चिह्न प्रयुक्त हैं। **वर्तनी** की विशेषताओं में 'वंश' के स्थान पर 'वङ्श' लिखा जाना व अधोलिखित 'र्' के साथ संयुक्त होने पर 'क्' व 'त्' का द्वित्व (यथा, पंक्ति ३ में 'विक्क्रान्त' तथा 'पुत्त्र' में) उल्लेख्य हैं। लेख में प्रदत्त **तिथि** १९१वाँ वर्ष है जो स्पष्टतः गुप्त संवत् की है। यह शब्दों व अंकों, दोनों में दी गयी है।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस लेख की चर्चा सर्वप्रथम कनिंघम ने ए० एस० आई०, १० (पृ० ८९ अ०) में की। तदुपरान्त इसे फ्लीट ने अपने कॉर्पस, ३, में (पृ० ९१ अ०) सम्पादित किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ—सरकार, स० इ०, पृ० ३४५–६; उपाध्याय, वा०, गुप्त अभिलेख, पृ० १८०, ३९४; पाण्डेय, रा० ब०, हि० लि० इ०, पृ० १०८–९; भाण्डारकर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३५२–५४।

मूलपाठ

१. १° संवत्सर शते एकनवत्युत्तरे श्रावण-बहुलपक्ष-स[प्त]म्य[ां](म्याम्) (।*)
२. संवत् १०० (+*) ९० (+*) १ श्रावण-ब-दि ७ ॥
* * क्ल-वङ्शादुत्पन्नो * *-
३. राजेति विश्रुतः (।*)
तस्य पुत्त्रो(ऽ*)तिविक्क्रान्तो नाम्ना राजाथ माधवः ॥ १
गोपराज[ः]

४. सुतस्तस्य श्रीमान्विख्यात-पौरुषः (।*)
शरभराज-दौहित्रः स्व-वङ्श-तिलको(ऽ*)धुना(?) (।।*) २
५. श्री-भानुगुप्तो जगति प्रवीरो
राजा महा(न्*) पार्थ-समो(ऽ*)ति-शूरः(।*)
तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपर[ाजो]
६. मित्त्रानु[गत्येन] किलानुयातः ।। ३
कृत्वा (च*) [यु]द्धं सुमहत्प्रक[ा]शं
स्वर्ग्गं गतो दिव्य-न[रे?][न्द्र-कल्पः*] (।*)
७. भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता
भ[ार्य्याव]ल[ग्न]ानुगता[ग्नि]र[ा]शिम् ।। ४

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : प्रारम्भ में दिये गये चिह्न को सरकार ने 'सिद्धम्' का प्रतीक माना है, फ्लीट ने 'ओ३म्' का । पंक्ति २ : 'वङ्शदुत्पन्नो' के पूर्व तीन अक्षर मिट गये हैं । फ्लीट ने दूसरे व तीसरे अक्षरों को क्रमशः 'ल' व 'क्ष' पढ़ने का सुझाव दिया था । सरकार ने तीसरे को 'क्ल' पढ़ा है। भाण्डारकर ने इन तीन अक्षरों को 'शुलक्ख' माना है। पंक्ति २ तथा ४ : 'वङ्श' को 'वंश' पढ़ें। पंक्ति ४ : भाण्डारकर ने 'तिलकोऽधुना' को 'तिलको भवद्' पढ़ा है । पंक्ति ६ : 'मित्त्रानु॰' के उपरान्त फ्लीट ने अनुमानतः 'वत्यार' पढ़ा है । ऊपर सरकार द्वारा स्वीकृत पाठ दिया गया है । भाण्डारकर तीसरे श्लोक के अन्तिम पद को 'मैत्त्रानुदश्याचकितानुयातः' पढ़ते हैं ।

शब्दार्थ

शत एकनवत्युत्तरे=एक सौ इक्यानवें; ब='बहुलपक्ष' (=कृष्ण पक्ष) का संक्षेप; दि='दिवस' का संक्षेप; विश्रुत=विख्यात; विक्रान्त=पराक्रमी; पार्थ=अर्जुन; अनुयात=आया; सुमहत्प्रकाशम्=सुप्रथित; कृत्वा=करके; दिव्य नरेन्द्र=देवराज इन्द्र; कल्प=लगभग समान; अवलग्ना=चिपकी हुई, घनिष्ठ; अग्निराशि=चिता ।

अनुवाद

पं० १ सिद्धम् ! संवत् एक सौ इक्यानवे में, श्रवण (माह) के बहुल (=कृष्ण) पक्ष की सप्तमी को,

पं० २ (अथवा अंकों में) संवत् १००+९०+१ और श्रावण (माह के) बहुल पक्ष में दिवस ७ (को),

**क्ल वंशोत्पन्न···राज नाम से प्रसिद्ध राजा (था) उसका पुत्र वह अति पराक्रमी माधव (नामक) राजा (था) ।।१।। उसका पुत्र (तथा) शरभराज का दौहित्र विख्यात पौरुष वाला श्रीमान् गोपराज था जो अब भी अपने वंश का तिलक है ।।२।।

पं० ५ जगत में परमवीर, महान् राजा, पार्थ (=अर्जुन) के समान (तथा) अति शूर श्री भानुगुप्त (हैं) । इनके साथ गोपराज ने (अपने) मित्त्रों का अनुगमन किया (और) यहाँ आया ।।३।। (तथा) सुप्रतिथ युद्ध करके (अर्थात् लड़कर) वह—जो दिव्य नरेन्द्र के लगभग समान था (अर्थात् इन्द्र से बस कुछ ही कम था)—स्वर्गगामी हुआ । (उसकी) भक्ता (=भक्तिभाव युक्ता), अनुरक्ता, प्रिया और सुन्दरी भार्या अग्निराशि (=चिता) पर घनिष्ठतापूर्वक (उसकी) अनुगता हुई ।।४।।

व्याख्या

(१) ब दि='बहुलपक्ष दिवस' का संक्षिप्त रूप। आजकल बदि और सुदि (=शुक्ल पक्ष दिवस) संकेतों का, जो अब स्वतन्त्र शब्द से बन गये हैं, उत्तर भारत में प्रयोग खूब प्रचलित है। प्राचीन काल में 'ब' के बजाय कभी-कभी 'व' का प्रयोग भी होता था जो वद्य (=बहुल) का संक्षेप माना जा सकता है।

(२) ** राज राजेति विश्रुतः —माधव के पिता के नाम का प्रथमांश, जिसमें दो अक्षर थे, मिट गया है। सरकार का विचार है कि इनमें दूसरे अक्षर में अधोलिखित 'र' का प्रयोग हुआ था जिसका कुछ चिह्न अवशिष्ट है। अतः उसका नाम 'ध्रुवराज' जैसा रहा होगा। हो सकता है उसका नाम भी गोपराज रहा हो। प्राचीन काल में पौत्र का नाम पितामह के नाम पर प्रायः रखा जाता था।

(३) फ्लीट के अनुसार चौथे श्लोक के छन्द में दोष है क्योंकि 'भक्तानुरक्ता' के उपरान्त 'च' जिसे ह्रस्व होना चाहिये, अनुवर्ती संयुक्ताक्षर 'प्रि' के कारण दीर्घ हो गया है। परन्तु सरकार का कहना है कि 'वर्ण संयोगपूर्वश्च' नियम में 'प्र' 'त्र' 'क्र' आदि अपवाद होते थे। दे०, कुमारसम्भव, ७.११; शिशुपालवध १०.६०।

अभिलेख का महत्त्व

यह अभिलेख अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक, यह भानुगुप्त नामक नरेश का उल्लेख करने वाला एक मात्र स्रोत है। यह राजा स्पष्टतः गुप्तवंशीय था, परन्तु उसका उल्लेख न तो गुप्त वंशावली में मिलता है और न उसके सिक्के ही उपलब्ध हैं। इस अभिलेख से भी उसका गुप्त वंशावली में स्थान निश्चित नहीं हो पाता यद्यपि तिथि—५१० ई०—अवश्य तय हो जाती है। यह तिथि वैन्यगुप्त की ज्ञात तिथि (५०७ ई०) के एकदम निकट है, इसलिए सरकार का विचार है कि यह असम्भव नहीं है कि इस समय तक गुप्त साम्राज्य का विभाजन हो गया हो और वैन्यगुप्त साम्राज्य के पूर्वी भाग पर, भानुगुप्त पश्चिमी भाग पर तथा गुप्त वंश की एक अन्य शाखा मध्यवर्ती प्रदेशों पर शासन कर रही हो (स० इ०, पृ० ३४६, टि० २)। परन्तु हमारे विचार से साम्राज्य के विभाजन की कल्पना निराधार है। इस विषय में हमारी सहायता 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' नामक बौद्ध ग्रन्थ करता है। इसमें एक स्थान पर गुप्त वंश के चार राजाओं का वर्णन है—देव, चन्द्र, द्वादश तथा 'भकार'—और अन्यत्र 'भकार' तथा उसके पुत्र 'प्रकार' का। इनमें द्वादश स्पष्टतः वैन्यगुप्त द्वादशादित्य है और 'भकार' भानुगुप्त। अतः हम चन्द्र की पहिचान सिक्कों से ज्ञात तृतीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा देव की बुधगुप्त से कर सकते हैं। यह ग्रन्थ बताता है कि 'देव' के बाद 'चन्द्र' और 'द्वादश' की अल्पकाल तक शासन करने के बाद ही हत्या कर दी गयी थी। ठीक यही स्थिति अभिलेखों से ज्ञात होती है क्योंकि बुधगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि ४९५ ई० के बाद गोपराज की ज्ञात तिथि ५१० ई० तक व्यतीत होने वाले मात्र करीब १५ वर्ष में ये कई राजा शासन करते हैं।

यह अत्यन्त रोचक तथ्य है कि 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में 'भकार' (=भानुगुप्त) का ही नहीं उसके मित्र गोप का भी उल्लेख मिलता है जिसको हमारे इस लेख में भी भानुगुप्त का मित्र बताया गया है। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार 'भकार' ने अपने मित्र 'गोप' से कहकर अपने पुत्र 'प्रकार' को बन्दी बनवा लिया था। इस 'प्रकार' की पहिचान हमने सिक्कों से ज्ञात प्रकाशादित्य से की है। दे०, हि० इ० गु०, पृ० ३७६–८१; प्रा० भा० रा० इ० पृ० २६० अ०; जे० एन० एस० आई०, २८, पृ० १७ अ०। सिनहा (डे० कि० म०, पृ० ९३) को यह पहिचान स्वीकार्य नहीं है। इसलिए वह इस ग्रन्थ में उल्लिखित 'भकार' की पहिचान के लिए अनेक सुझाव रखते हैं और उसे समुद्रगुप्त का भाई तक बताते हैं, परन्तु 'आर्यमञ्जुश्री-

मूलकल्प' के इन कथनों को सर्वथा नज़रअन्दाज़ कर देते हैं कि 'भकार' ने 'द्वादश' (=वैन्यगुप्त द्वादशादित्य) के बाद शासन किया और उसका मित्र 'गोप' था—जिनसे उसकी भानुगुप्त से अभिन्नता निर्विवादरूपेण प्रमाणित होती है।

प्रस्तुत अभिलेख से ज्ञात होता है कि भानुगुप्त ने एरण में ५१० ई० में कोई महत्त्वपूर्ण युद्ध लड़ा था जिसमें उसके मित्र गोपराज ने भी भाग लिया था। लेकिन इसमें न तो यह बताया गया है कि यह युद्ध किसके विरुद्ध लड़ा गया था और न यह कि इसका क्या परिणाम निकला। जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, भाण्डारकर ने उनकी पहिचान मैत्रकों से की है (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३५३–४)। परन्तु भानुगुप्त के शत्रु की पहिचान हूणराज तोरमाण से करना अधिक उचित है। यह तथ्य पारिस्थितिक साक्ष्य से स्पष्ट है। जैसा कि बुधगुप्त के एरण अभिलेख से ज्ञात है इस प्रदेश पर ४८५ ई० में बुधगुप्त के अधीन महाराज मातृविष्णु का शासन था। उस लेख में उसके अनुज धन्यविष्णु का उल्लेख भी मिलता है। अब, वही धन्यविष्णु तोरमाण के 'प्रथम वर्ष' के एरण अभिलेख में अपने को तोरमाण के अधीन बताता है। इसलिए तोरमाण का एरण पर आधिपत्य ४८५ ई० के बाद, परन्तु बहुत बाद में नहीं, रखा जा सकता। शावानीज़ ने विभिन्न स्रोतों का विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला है कि ५०० ई० तक हूण गन्धार तक ही सीमित थे, भारत के अन्दर नहीं घुसे थे। ५०० ई० के बाद कभी उन्होंने तोरमाण के नेतृत्व में आक्रमण किया और पंजाब (जहाँ से तोरमाण के सिक्के व कुरा-अभिलेख उपलब्ध हैं) पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश (कौशाम्बी से 'तोरमाण' व 'हूणराज' लेख वाली मुहरें मिली हैं) बिहार व बंगाल आदि जीते। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार 'हकाराख्य' (अर्थात् 'हूणराज' अर्थात् तोरमाण) गौड़ तक बढ़ गया था। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर तोरमाण की एरण विजय को (जो उत्तर प्रदेश की विजय के बाद ही सम्भव थी) ५१० ई० के पहिले रखना कठिन है। इस विजय को इसके बाद रखना भी कठिन है क्योंकि उत्तर भारत से हूण आधिपत्य का अन्त ५३२ ई० (यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन की ज्ञात तिथि) के पूर्व रखना होगा क्योंकि यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन ने मिहिरकुल को हराया था और मिहिरकुल ने उत्तर भारत में कम से कम १५ वर्ष अवश्य शासन किया (दे०, उसका ग्वालियर-लेख)। इस तरह तोरमाण की एरण विजय ५१० ई० के आसपास ही रखी जा सकती है, इसके बहुत बाद में नहीं। इसलिए भानुगुप्त ने ५१० ई० में जो युद्ध लड़ा वह तोरमाण के विरुद्ध लड़ा गया होगा—या तो उसे रोकने के लिए और या उसके निष्कासन के लिए।

एरण युद्ध में विजेता पक्ष कौन-सा था, कहना कठिन है। शायद इसमें भानुगुप्त परास्त हुआ था क्योंकि (१) इस लेख के बाद उसकी चर्चा अन्यत्र नहीं मिलती। ५१० ई० के बाद तोरमाण भी लम्बे समय जीवित नहीं रहा। उसके बाद हूण राज्य का स्वामी उसका पुत्र मिहिरकुल बना जिसका प्रतिस्पर्द्धी युवान-च्वांग ने बालादित्य (=द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य) को बताया है न कि भानुगुप्त को। वास्तव में भानुगुप्त व नरसिंहगुप्त बालादित्य के बीच में सिक्कों से ज्ञात प्रकाशादित्य ने भी शासन किया होगा। हमने उसकी पहिचान उस 'प्रकाराख्य' से की है जिसे 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार उसके पिता भकाराख्य (=भानुगुप्त) ने गोप (=गोपराज) द्वारा बन्दी बनवा लिया था परन्तु जिसे पश्चिमी दिशा से आने वाले हकाराख्य (=हूणराज=तोरमाण) ने बन्दीघर से छुड़ाकर राजा बना दिया था। (२) क्योंकि ५१० ई० के बाद भी हूण उत्तर भारत पर शासन करते रहे, इसलिए एरण युद्ध में विजय तोरमाण की हुई होगी न कि भानुगुप्त की।

प्रस्तुत अभिलेख से एरण का एक युद्ध-स्थल के रूप में महत्त्व स्पष्टतर होता है। इस स्थल से शक महाक्षत्रप श्रीधरवर्मा व समुद्रगुप्त के अभिलेख मिले हैं। उनके बाद बुधगुप्त व तोरमाण के लेख भी मिलते हैं। ये लेख एरण के महत्त्व के परिचायक हैं और यह महत्त्व इस स्थान को इसलिए मिला क्योंकि गंगा-उपत्यका के राजाओं को मालवा में घुसने पर प्रायः यहाँ संघर्ष करना पड़ता था।

भानुगुप्त का मित्र गोपराज किस वंश का सदस्य था, कहना कठिन है। उसके कुल का नाम लेख में मिट गया है। यह नाम तीन अक्षर वाला था जिसके अन्तिम दो अक्षरों को फ्लीट ने 'लक्ष' पढ़ा था और सरकार ने अन्तिम अक्षर को 'क्ल' माना है। भाण्डारकर ने उसे 'शुलक्ख' वंश का बताया है जिसे वह हराहा अभिलेख में उल्लिखित 'शुलिक' मानते हैं। उसके वंश के तीन राजाओं के नाम दिये गये हैं—गोपराज, उसका पिता माधवराज और माधवराज का पिता (जिसके नाम का पूर्व भाग मिट गया है)। गोपराज को इस लेख में 'शरभराज दौहित्र' कहा गया है। इस शरभराज की पहिचान विवादग्रस्त है। मिराशी (इ० आई०, २२, पृ० १७; स्टडीज इन इण्डोलोजी, १, पृ० २३२–३३) का सुझाव है उसकी पहिचान दक्षिण कोसल के शरभपुरीय वंश के संस्थापक शरभराज से की जानी चाहिये। यह सुझाव सामान्यतः माना जाता है (क्ला० ए०, पृ० २११; गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, ३, पृ० ३६०)। परन्तु एस० एल० कटारे तथा बी० सी० जैन को इसमें शंका है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'हर्षचरित' में भी शरभ नामक राजा का उल्लेख है जिसे अश्मक का स्वामी बताया गया है।

प्रस्तुत अभिलेख में गोपराज की पत्नी के सती होने की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण व रोचक है। सम्भवतः यह उत्तर भारत में सती प्रथा का प्राचीनतम आभिलेखिक उल्लेख है। नेपाल में इस प्रथा की प्राचीनतम चर्चा मानदेव के चांगुनारायण-लेख में मिलती है जिसके अनुसार मानदेव के गद्दी पर बैठने के समय (लग० ४६५ ई०) उसकी माता राज्यवती ने सती होने का निश्चय किया था और उसे मानदेव बड़ी कठिनाई से इस निश्चय से रोक पाया था (गोयल, प्रा० भा० रा० इ०, पृ० ३३०–३१)। दक्षिण भारत में इसका प्राचीनतम उल्लेख एक खण्डित पाषाण लेख में मिलता है जिसका आशय यह लगता है कि कदम्ब रविवर्मा (मृ० लगभग ५२० ई०) की मृत्यु होने पर उसकी रानी सती हो गई थी (दे०, सरकार, सक्सैसर्स ऑव सातवाहनज़ इन दि लोअर डकन, पृ० २७६–७७; गोयल, वही, पृ० ४८०, टि० १; शकुन्तला राव शास्त्री, ए० बी० ओ० आर० आई०, १४, पृ० २३३)।

प्रकटादित्य का तिथिविहीन सारनाथ-अभिलेख

लेख-परिचय—यह लेख एक **प्रस्तर खण्ड** पर उत्कीर्ण है जो अब २'३"×१'६" आकार का है। यह किसी विशालतर लेख का अंश मात्र है। यह अत्यन्त क्षत अवस्था में मिला है। इसका निचला बायाँ भाग तो मिट-सा गया है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और **लिपि** उत्तर भारतीय ब्राह्मी। फ्लीट ने इसकी लिपि को सातवीं शती ई० की बताया है, परन्तु वस्तुतः यह इतना बाद का नहीं है। फ्लीट के समय पुरालिपिशास्त्र में कई भ्रम प्रचलित थे। इसलिए वह द्वितीय प्रवरसेन वाकाटक के लेखों को भी (जिसने पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध में शासन किया) लिपिशास्त्रीय आधार पर सातवीं शती के अन्त में रखते थे। लेख की अन्तिम पंक्ति गद्यात्मक जान पड़ती है, परन्तु शेष लेख पद्य में है यद्यपि इसके खण्डित होने के कारण **छन्दों** की पहिचान असम्भव है। **वर्तनी** में अनुवर्ती 'र्' के साथ संयुक्त होने पर 'त्' का द्वित्व (यथा, पंक्ति १६ में 'पुत्त्रेण' में) तथा 'ब' के स्थान पर कहीं-कहीं 'व' का प्रयोग (यथा, पंक्ति ३ में 'वालादित्य' में) उल्लेख्य हैं।

यह लेख प्रकटादित्य नामक राजा का है। इसका **उद्देश्य** मुरद्विष अर्थात् विष्णु के मन्दिर के लिए किसी प्रकार की सहायता दिये जाने का उल्लेख करना है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—फ्लीट, कॉर्पस ३, पृ० ३६७–६।

मूलपाठ

१. ······दे (?)वो(?) ······ ॥ काशीति विख्यातं पुरं का(?)मे(?)न भूषितं। ·······

२. ·····[॥][पु]रंदर इ[व] ······ पतत्यहो(?) ॥ त्[ ]ङ्गत(?)रङ्ग (?) व···शास्त्रविदो ······तटानाम्। करि···

३. ······रान्मध्य—द··शमानीतः। तद्वंशसम्भवोऽन्यो वा(बा)लादित्यो नृपः प्रीत्या ॥ तद्गोत्र-लव्ध(ब्ध)जन्मावा(बा)लादित्यो

४. ···पतिः ॥ तस्य धवलेति जाया पतिव्रता रोहिणीव चन्द्रस्य। गौरीव शूलपाणेर्ल्(ल)क्ष्मीरिव वासु[देवस्य ॥]

५. ···[प्र] तापतप्तामित्रवधूसिन्धुशो[ष]····· । ······तिविनया द्वयभृ(?)तं भक्तिधर्म्मैकशक्ति-सततप्रथित

६. ······नु(?): सुतवत्सल·········सुतः शौर्य्यविनयसम्पन्नः। श्रीमान्प्रकटादित्यो·······

७. ······[द्वि]जवरनिकराश्रयः प्रवृ(?)द्ध(?)गुणः। कल्पद्रुम इव नितरां निष्कम्पः प्रकट-मूलोऽपि ॥

८. ·······[।]·······द्विजगणसेव्यः स[तत] विद्वत्समुदयविहितरुचिः ॥ निरि[ज्ज्]त[दु]र्ज्जयशत्[त्रु]स्त्रि—

९. ······पू(?)र्व्वः कार्त्तिकेय इव ॥ यस्य······व···निर्गत····लुव्ध(ब्ध)हृष्टभ्रमद्भ्रम[र] ····वि······

१०. ······तदिनं पृथुपुष्करिण्यः ॥ ये(?)न(?) रिपुसुन्दरीणाम् मलिनानि कृतानि [ि]वपु[ल]········

११. ······नश(?)न(?)द्विजगुरु······ ॥ ······कारितमेतद्भवनं मुरद्विषो र·········

१२. ·········यामा(?)सु(?) युतायामिका प्रकट··········

१३. ·········बहुमतो धर्म्मयशोराशि············

१४. ·········यः(?) ॥ खण्ड स्फुटितसंस्कार··धू·····

१५. ·····हंसम··प्रशस्तिः स्वा··त (?) : ॥·····

१६. ·········र्[ा]मचन्द्र[पु]त्त्र्[े]ण देवकेन ॥

अभिलेख का महत्त्व

यह लेख इतना खण्डित है कि इसका सुसम्बद्ध अनुवाद नहीं दिया जा सकता। परन्तु इससे कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ अवश्य ज्ञात होती हैं : (१) इस लेख में श्रीमान् 'प्रकटादित्य' का उल्लेख है (पंक्ति ६) जिसके गुण और शक्ति कार्तिकेय के समान थे (पंक्ति ८)। (२) वह काशीनगर से किसी प्रकार सम्बद्ध रहा होगा जिसका उल्लेख पंक्ति १ में हुआ है। (३) वह बालादित्य का पुत्र था जिसकी पत्नी का नाम धवला था। धवला की तुलना चन्द्रमा की पत्नी रोहिणी, शूलपाणि (शिव) की पत्नी गौरी तथा वासुदेव की पत्नी लक्ष्मी से की गयी है (पंक्ति ४)। (४) इस बालादित्य के पूर्व इस वंश में एक और बालादित्य हो चुका था (पंक्ति ३)। (५) लेख की पंक्ति ११ में मुरद्विष देवता के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है, पंक्ति १४ में जीर्णोद्धार के लिए दी गयी किसी सुविधा का तथा पंक्ति १६ में सम्भवतः उत्कीर्णक के रूप में रामचन्द्र के पुत्र देवक का।

इस लेख का सर्वाधिक महत्त्व इसमें बालादित्य नामक दो राजाओं की चर्चा होना है—एक बालादित्य वह जो प्रकटादित्य का पिता था और दूसरा वह जो उसके पूर्व उसके वंश में कभी हुआ था। अब, हमारे अन्य साक्ष्य भी वस्तुतः दो बालादित्यों की चर्चा करते हैं। (१) साहित्यिक साक्ष्य दो बालादित्यों से परिचित हैं। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार महेन्द्र (=कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य) के उत्तराधिकारी सकार (=स्कन्दगुप्त) का उत्तराधिकारी बाल (=बालादित्य) था। परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' के अनुसार भी विक्रमादित्य (=स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य) का उत्तराधिकारी बालादित्य (=प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य) था। इस बालादित्य का समय लगभग ४६७–७० ई० होगा। दूसरी तरफ युवान-च्वांग बालादित्यराज को मिहिरकुल (छठी शती का दूसरा-तीसरा दशक) का समकालीन बताता है और नालन्दा में संघाराम बनवाने वाले राजाओं में उसे बुद्धगुप्तराज (=बुधगुप्त) तथा तथागतराज (बुधगुप्त का बुद्ध=तथागत नाम से पुनरुल्लेख ?) के बाद रखता है। (२) मौद्रिक साक्ष्य से भी दो नरसिंहगुप्त बालादित्यों का अस्तित्व प्रमाणित है। जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है 'नरसिंहगुप्त बालादित्य' लेख वाले दो वर्गों के सिक्के परस्पर इतने भिन्न हैं कि इन्हें उसी प्रकार दो पृथक् नरसिंहगुप्तों द्वारा जारी किया गया माना जा सकता है जैसे 'कुमारगुप्त क्रमादित्य' लेख वाले सिक्कों को दो राजाओं का माना जाता है।

प्रस्तुत अभिलेख हमारे इस सुझाव को कि गुप्त वंश में दो नरसिंहगुप्त बालादित्य हुए, आभिलेखिक आधार प्रदान करता है क्योंकि इसमें दो बालादित्यों का स्पष्टरूपेण उल्लेख है। लेकिन हम स्पष्ट करना चाहेंगे कि हमारा यह सुझाव कि गुप्त वंश में दो बालादित्य हुए साहित्यिक तथा मौद्रिक साक्ष्यों से सिद्ध है। यह इस अभिलेख से समर्थित होता है, इस पर आधृत नहीं है।

(विष्णु)गुप्त का दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख

गु० सं० २२४ (=५४३ ई०)

लेख-परिचय—यह दानपत्र प्रथम कुमारगुप्त एवं बुधगुप्त के शासनकाल के अन्य चार दानपत्रों के साथ उन्हीं परिस्थितियों में बांगला देश के दामोदरपुर **स्थान** से मिला था और अब वहाँ वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी के राजशाही नगर में स्थित संग्रहालय में सुरक्षित है। यह लेख एक ही **ताम्रपत्र** पर दोनों ओर लिखा है। इसका आकार $६\frac{3}{८}'' \times ४\frac{७}{८}''$ है। इसमें कुल २२ पंक्तियाँ हैं जिनमें १३ पुरोभाग पर लिखी हैं और ९ पृष्ठभाग पर। १३वीं पंक्ति में कुछ ही अक्षर हैं जो १२वीं पंक्ति के अन्तिम अक्षरों के नीचे लिखे हैं। अक्षरों की सुरक्षा के लिए ताम्रपत्र के किनारों को उभारने का ध्यान नहीं रखा गया है। इसकी लिखावट काफी अच्छी है परन्तु पंक्ति १–४ तथा १२ के अन्तिम अक्षर अपठ्य हो गये हैं। १३वीं पंक्ति भी बहुत धूमिल हो गयी है। इसकी **मुहर** कुछ अण्डाकार है और सीधी तरफ से पढ़ते समय बायीं ओर जुड़ी है। इसका आकार $२'' \times १\frac{५}{८}''$ है। यह दो भागों में विभक्त है। उपरले भाग में त्रिशूल की उभरी आकृति बनी है और निचले भाग में 'कोटिवर्षाधिष्ठानाधिकरणस्य' लेख लिखा है। ताम्रपत्र का भार मुहर सहित $२२\frac{६}{१६}$ तोला है। लेख की **भाषा** संस्कृत है और भूमिदान सम्वन्धी तीन श्लोकों को छोड़कर, जो अनुष्टुभ **छन्द** में हैं और अन्त में लिखे हैं, यह सम्पूर्णतः गद्य में है। यह उत्तर भारतीय ब्राह्मी **लिपि** की पूर्वी शैली में लिखा है। **वर्तनी** की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं : (१) पूर्वगामी 'र्' के संयोग में 'क्', 'ग्', 'त्', 'थ्', 'ध्', 'म्' तथा 'व' का द्वित्व (यथा, पंक्ति ९ में 'मधुपर्क्क' में, पंक्ति २१ में 'स्वर्ग्गे' में तथा पंक्ति १० में 'धर्म्मेण' में)। (२) पूर्वगामी 'र्' के साथ 'ष्' का भी गलती से द्वित्व मिलता है (यथा, पंक्ति ३ में 'कोटिवर्ष्ष' में तथा पंक्ति २१ में 'वर्ष्ष' में)। (३) अनुवर्ती 'र्' के साथ 'त्' का विकल्परूपेण द्वित्व किया गया है (यथा, पंक्ति ६ में 'क्षेत्त्र' में परन्तु पंक्ति १० में 'क्षेत्र' में तथा पंक्ति ८ में 'अत्रारण्ये' में नहीं)। (४) अनुवर्ती 'स्' के साथ विसर्ग को 'स्' लिखा गया है (यथा, पंक्ति १५ में 'वास्तुभिस्सह' में)। (५) 'म्' को अनुवर्ती 'ब' से जोड़ दिया गया है (यथा पंक्ति २० में 'परदत्ताम्बा' में)।

अध्ययन-इतिहास व सन्दर्भ-ग्रन्थ—इस दानपत्र को सर्वप्रथम रा० गो० बसाक ने इ० आई०, १५, में सम्पादित किया। अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ : दीक्षित, के० एन०, वही, १७, पृ० १९३ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० ३४६–५०; वा० उपाध्याय, गु० अ०, पृ० ८०–८२; रा० ब० पाण्डेय, हि० लि० इ०, पृ० १०७–८; मैती एवं मुखर्जी, कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ७०–७४; जगन्नाथ, जे० आई० एच०, २१, पृ० २१७–९८; भाण्डारकर, छाबड़ा व गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३६०–६४।

मूलपाठ

मुद्रा

कोटिवर्ष्षाधिष्ठानाधि[करणस्य] ।

पुरोभाग

१. स[म्व] २००(+*) २० (+*) ४ भाद्र-दि ५ परमदैवत-परमभट्टारक-म[हा]राजाधिराज-श्री···
२. गुप्ते पृथिवीपतौ तत्पाद-परिगृहीते पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तावुपरि[क-महाराज]स्य [महा*]-
३. राजपुत्त्र-देवभट्टारकस्य हस्त्यश्व-जन-भोगेनानुवहमा[न]के को[टिव]र्ष्ष-विष[ये] च त-
४. न्नियुक्तकेह-विषय-पति-स्वयम्भुदेवे अधिष्ठानाधिकरण(ञ्च*) आर्य्य[न]गर-[श्रे ष्ठिरिभु]पाल-
५. सार्त्थवाहस्थाणुदत्त-प्रथमकुलिकमतिदत्त-प्रथमकायस्थस्कन्दपाल-पुरोगे [स]ंव्य[वह]रति
६. आयोध्यक-कुलपुत्त्रक-अमृतदेवेन विज्ञापितमिह-विषये समुदयबाह्याप्रहतखिल-[क्षे]त्त्रा-
७. णां त्रिदीनारिक्य-कुल्यवाप-विक्रयो(ऽ*)नुवृत्तः तदर्हथ मत्तो दीनारानुपसंगृह्य मन्मातुः [पु]ण्या-
८. भिवृद्धये अत्रारण्ये भगवतः श्वेतवराहस्वामिनी देवकुले खण्ड-फुट्ट-प्रति-[सं]स्का[र]-[क]-
९. रणाय बलिचरुसत्रप्रवर्त्तन-गव्यधूपपुष्पप्रापण-मधुपर्क्कदीपाद्युप[यो]गा[य] च
१०. अप्रदा-धर्म्मेण ताम्रपट्टीकृत्य क्षेत्र-स्तोकन्दातुमिति (।*) यतः प्रथमपुस्तपाल-नर[न]न्दि-
११. गोपदत्त-भट(?)नन्दिनामवधारणया युक्त[त]या ध[र्म्माधि]कार-[बु]द्ध्या विज्ञापित(*)
ना[त्त्र*] [वि*]-
१२. षय-पतिना(ं*) कश्चिद्विरोधः केवलं श्री-परमभट्टारकपादेन धर्म्म-[फ][ल-ष*]-
१३. ड्-भा[गा*] वाप्[त][ः*]

पृष्ठभाग

१४. इत्यनेनावधारणाक्रमेण एतस्मादमृतदेवात्पञ्चदश-दीनारानुपसंगृह्य एतन्मातु[ः*]
१५. अनुग्रहेण स्वचछन्दपाटके(ऽ*)[द्धं]टी-प्रावेश्य-लवङ्गसिकायाञ्च वास्तुभिस्सह कुल्यवाप-द्वयं
१६. साटुवनाश्रमके(ऽ*)पि वास्तुना सह कुल्यवाप एकः परस्पतिकायां पञ्चकुल्यवापकस्योत्त[रे]ण
१७. जम्वून[द्या]ः पूर्व्वेण कुल्यवाप एकः पूरणवृन्दिकहरौ पाटक-पूर्व्वेण कुल्यवाप एकः इत्येवं खिल-क्षेत्त्र-
१८. स्य वास्तुना सह पञ्च कुल्यवापाः अप्रदा-धर्म्मेण भग(व*)ते श्वेतवराहस्वामिने शश्वत्कालभोग्या
दत्ताः (।*)
१९. तदुत्तरकालं संव्यवहारिभिः देवभक्त्यानुमन्तव्याः (।*) अपि च भूमि[दा]न-सम्वद्धाः श्लोका
भवन्ति (।*)
२०. स्व-दत्तां पर-दत्ताम्वा यो हरेत वसुन्धरां(राम्) (।*)
स विष्ठायां क्रिमिर्भ्भुत्वा पितृभिस्सह पच्यते (।।*) १
व(ब)हुभिर्व्वसुधा दत्ता
२१. राजभिस्सगरादिभिः (।*)
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं(लम्) (।।*) २
षष्टिं वर्ष्ष-सहस्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिद[ः*]
२२. आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति (।।*) ३

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : 'सम्व' को 'संव' पढ़ें जो 'संवत्सरः' का संक्षेप है। बसाक ने इसकी तिथि पहिले २१४ पढ़ी थी। 'श्री' के बाद राजा के नाम का प्रथम भाग ताम्रपत्र से कट गया है। बसाक ने लुप्तांश को 'भानु' माना है, कृष्णशास्त्री ने 'कुमार' तथा भाण्डारकर ने 'विष्णु'। पंक्ति २ : '०गृहीते' को '०गृहीतस्य' पढ़ें। पंक्ति ६ : 'पुत्त्रक-अमृत०' को 'पुत्त्रकामृत०' पढ़े। पंक्ति ११ : बसाक ने 'विज्ञापित'

को 'विज्ञापितवा' पढ़ा है। पंक्ति १२–१४ : 'धर्म्मफलषड्भागावाप्तिः' को सरकार ने 'धर्म्म परतावाप्तिः' पढ़ा है। १३वीं पंक्ति के अक्षर १२वीं पंक्ति के अन्तिम अक्षरों के नीचे खुदे हैं। भाण्डारकर ने अपने 'संशोधित कॉर्पस ३' में इस लेख के परिचय में लिखा है कि १३वीं पंक्ति में तीन अक्षर हैं जबकि लेख के मूलपाठ में उन्होंने इस पंक्ति को 'ड्भागावाप्तिः' पढ़ा है। पंक्ति १७ : 'जम्वूः' को 'जम्बूः' पढ़ें। पंक्ति १९ : 'सम्वद्धाः' को 'सम्बद्धाः' पढ़ें। पंक्ति २० : 'दत्ताम्वा' को 'दत्तां वा' पढ़ें और 'क्रिमिर्भ्भुत्वा' को 'कृमिर्भूत्वा' पढ़ें। पंक्ति २२ : 'वसेदिति' को 'वसेत् ।।इति।।' पढ़ें।

शब्दार्थ

जन=यहाँ 'सैनिकों' से तात्पर्य है; आयोध्यक=अयोध्यावासी; कुलपुत्र=उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति; विज्ञापितम्=आवेदन किया गया; समुदयबाह्य=फसल के रूप में आय न देने वाली; अप्रहत=कुछ समय से न जोती गयी; खिल=दीर्घकाल से न जोती गयी; अत्रारण्ये=इस वन में; फुट=स्फुटित; खण्डफुट्ट=टूट-फूट; प्रतिसंस्कार=मरम्मत; बलि=देवता को दी जाने वाली भेंट (बलिपशु आदि); चरु=चावल या जौ की प्रायः दुग्ध में पकाई गयी बलि; सत्र=यहाँ आशय यात्रियों को दिये जाने वाले भोजन और प्रसाद से लगता है; गव्य=दूध; अप्रदाधर्म=वापिस न की जाने की शर्त; ताम्रपट्टीकृत्य=ताम्रशासन के रूप में; क्षेत्रस्तोक=एक छोटा-सा भूमिखण्ड; षड्भागावाप्ति=छठे भाग की प्राप्ति होगी; विरोध=हित-विरोध, आपत्ति; उपसंगृह्य=वसूल हो जाने पर; प्रवेश=आय, लगान; प्रावेश्य=लगान निर्धारण के लिए संयुक्त; वास्तु=भवन-निर्माण योग्य भूमि।

अनुवाद

मुद्रा

कोटिवर्ष अधिकरण की (मुद्रा)

पं० १ संवत् २००+२०+४ (=२२४) (के) भाद्र (मास) के ५वें दिन परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज पृथिवीपति श्री ** गुप्त (के शासनकाल) में जब पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति में उनके चरणों से स्वीकृत उपरिक-महाराज महाराज-पुत्र देवभट्टारक के द्वारा हस्ति, अश्व और सैनिकों (की सत्ता) को भोगा जा रहा है (अर्थात् वहाँ का शासन चलाया जा रहा है) और जब कोटिवर्ष विषय में उनके द्वारा (अर्थात् देवभट्टारक के द्वारा) नियुक्त विषयपति स्वयम्भूदेव अधिष्ठान अधिकरण को नगरश्रेष्ठि आर्य रिभुपाल, सार्त्थवाह स्थाणुदत्त, प्रथम-कुलिक मतिदत्त, प्रथम कायस्थ स्कन्दपाल के साथ (अर्थात् उनके अध्यक्ष के रूप में) चला रहे हैं; —

पं० ६ (तब) अयोध्या के निवासी कुलपुत्र अमृतदेव द्वारा यह विज्ञापित (=निवेदित) किया गया, "इस विषय (=जिले) में समुदयबाह्य (=फसल के रूप में आय न देने वाले) अप्रहत खिल क्षेत्रों (=भूमिखण्डों) को तीन दीनार प्रति कुल्यवाप की दर से विक्रय करने की प्रथा है। अतः आपको उचित है कि मुझसे दीनारें लेकर मेरी माता के पुण्य की अभिवृद्धि के लिए इस वन में भगवान् श्वेतवराह स्वामी के देवकुल (=मन्दिर) की टूट-फूट की मरम्मत करने के लिए (और इस मन्दिर में) बलि, चरु, सत्र के प्रवर्त्तन के लिए, गौदुग्ध, धूप, पुष्प की प्राप्ति के लिए तथा मधुपर्क, दीप आदि के उपयोग के लिए अप्रदाधर्मानुसार, ताम्रपट्ट पर लिखवाकर, एक छोटा-सा भूमिखण्ड दिलायें।"

पं० १० (और जब कि प्रथम (=प्रधान) लेखाधिकारी नरनन्दि तथा गोपदत्त और भटनन्दि की पड़ताल से (यह निश्चित हो गया है) कि विज्ञापन (=आवेदन) युक्तियुक्त (अर्थात् नियमानुकूल) (और) धर्म को ध्यान में रखकर किया गया है (तथा) विषयपति (के हित) का यहाँ (=इससे) कोई विरोध नहीं है, (अर्थात् इसमें विषयपति को कोई आपत्ति नहीं होगी), केवल (=उल्टे) श्री परमभट्टारकपाद (=सम्राट्) को धर्मफल के षड्भाग की प्राप्ति होगी;—

पं० १४ (तब) इस पड़ताल के परिणामस्वरूप (और) उस अमृतदेव से पन्दरह दीनार वसूल हो जाने पर उसकी माता के प्रति अनुग्रह के हेतु स्वच्छन्दपाटक में जो लगान-निर्धारण के लिए अर्द्धटी से संयुक्त है तथा लवङ्गसिका में वास्तु सहित दो कुल्यवाप (भूमि), साटुवनाश्रमक में भी वास्तु सहित एक कुल्यवाप (भूमि), पञ्चकुल्यवापक के उत्तर और जम्बू नदी के पूर्व में परस्पतिका में वास्तु सहित एक कुल्यवाप (भूमि), तथा पूरण-वृन्दिकहरि में पाटक के पूर्व में एक कुल्यवाप (भूमि) (इस प्रकार कुल मिलाकर) पाँच कुल्यवाप (भूमि) अप्रदाधर्मानुसार (वापिस न होने की शर्त के अनुसार) भगवान् श्वेत-वराहस्वामी के लिए शाश्वतकाल तक भोगी जाने के लिए दी गयी।

पं० १९ इस तरह यह (अर्थात् पाँच कुल्यवाप का यह भूमिदान) उत्तर काल में (=भविष्य में) प्रबन्ध-अधिकारियों द्वारा देवताओं के प्रति भक्तिभाव के कारण अनुपालनीय (=आदरणीय) है। भूमिदान से सम्बन्धित ये श्लोक भी हैं;—

पं० २० जो स्वयं द्वारा प्रदत्त अथवा दूसरों के द्वारा प्रदत्त वसुन्धरा को छीनता है वह विष्ठा का कीड़ा होकर पितरों के साथ सड़ता है ।।१।। वसुधा सगर आदि बहुत से राजाओं द्वारा दी गयी है। जब जिसकी-जिसकी भूमि होती है, तब उसको-उसको उसका फल मिलता है ।।२।। भूमिदान देने वाला साठ हजार वर्ष तक स्वर्ग में सुख भोगता है और (भूमि का) अपहर्ता तथा (अपहरण का) अनुमोदक ठीक उतने ही (वर्ष) नरक में रहते हैं। इति ।।३।।

व्याख्या

(१) महाराजाधिराज श्री······गुप्त—बसाक का यह आग्रह प्रायः माना जाता है कि इस ताम्रपत्र के कट जाने से प्रथम पंक्ति के केवल अन्तिम दो अक्षर टूटे हैं, अतः इस दानपत्र में उल्लिखित गुप्त सम्राट् के नाम का प्रथम भाग दो अक्षरों का रहा होगा। बसाक ने उसे 'भानु' गुप्त माना है (हिस्टरी ऑव नॉर्थ ईस्टर्न इण्डिया, पृ० १२)। एक स्थल पर वह यहाँ 'बुध' गुप्त का उल्लेख मानते हैं (स० इ०, पृ० ३४७, टि० ५ में उद्धृत)। इसके विपरीत भाण्डारकर (संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३६१) इस लेख को विष्णुगुप्त का मानते हैं। सरकार (स० इ०, पृ० ३४७, टि० ५) को यह सुझाव मानने में कोई आपत्ति नहीं है यद्यपि वह यहाँ 'उप' गुप्त पाठ होना भी संभव बताते हैं। हमारे विचार से इस लेख को बुधगुप्त या भानुगुप्त का तो माना ही नहीं जा सकता क्योंकि बुधगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि ४९५ ई० है और भानुगुप्त की एक मात्र ज्ञात तिथि है ५१० ई० जबकि यह लेख ५४३ ई० का है। ५१० और ५४३ ई० के बीच में तोरमाण, मिहिरकुल, यशोधर्मा, आदि राजा हुए। इसी बीच में गुप्त वंश में मिहिरकुल का विजेता नरसिंहगुप्त बालादित्य हुआ। इसलिए बुधगुप्त या भानुगुप्त का ५४३ ई० तक शासन करना सम्भव नहीं लगता। कृष्णशास्त्री (इ० आई०, १७, पृ० १९३, टि० १) ने इसके राजा का नाम कुमारगुप्त माना है। पर 'कुमार' नाम में तीन अक्षर आते हैं। इसलिए हमने अपने अन्य ग्रन्थों में इस राजा की

पहिचान उस 'विष्णु' गुप्त से की है जिसे नालन्दा-मुहर में नरसिंहगुप्त का पौत्र (परन्तु पुरुगुप्त का प्रपौत्र नहीं) और कुमारगुप्त का पुत्र कहा गया है। उसने चन्द्रादित्य विरुद वाली सुवर्ण मुद्राएँ जारी कीं जो गुप्त सुवर्ण-मुद्रा-माला में सबसे अकलात्मक, सर्वाधिक भार वाली और मात्र ४३ प्रतिशत सुवर्ण वाली होने के कारण गुप्त इतिहास के अन्तिम वर्षों की मानी जानी चाहियें। हमें वही 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' का उकार भी लगता है क्योंकि इस ग्रन्थ में राजाओं के नामों को प्रायः उनका अनुवाद देकर उल्लिखित किया गया है और 'विष्णु' का एक अर्थ 'उपेन्द्र' भी होता है।

(२) उपरिक-महाराज महाराज-पुत्र देवभट्टारक—स्पष्टतः इस अभिलेख के लिखे जाने के समय पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति में प्रथम कुमारगुप्त व बुधगुप्त के काल में शासन करने वाले उस गवर्नर-परिवार के हाथ से सत्ता निकल गयी थी जिनके सदस्य 'दत्तान्त' नाम वाले थे। इस समय यहाँ 'महाराजपुत्र देवभट्टारक' उपरिक-महाराज था। भाण्डारकर तथा बसाक यहाँ 'महाराज-पुत्र' नहीं, मात्र 'राजपुत्र' ही पढ़ते हैं। उसका नाम हो सकता है 'देव' रहा हो। वह विष्णुगुप्त का पुत्र रहा होगा। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में 'उकार' (=उपेन्द्र=विष्णु) के उपरान्त 'देव' का उल्लेख है। परन्तु यह राजकुमार कभी सम्राट् बना या नहीं, कहना कठिन है।

(३) आयोध्यक कुल पुत्त्रक अमृतदेव—आयोध्यक=अयोध्यावासी। कुलपुत्र=उच्चकुल में उत्पन्न। 'कुलपुत्र' शब्द संस्कृत व पालि साहित्य में प्रायः मिलता है। आधुनिक शब्द 'कुलीन' का कुछ वही अर्थ है जो प्राचीन कुलपुत्र का था। इस अभिलेख से संकेतित है कि अयोध्या के कुलीन व्यक्ति बंगाल में जाकर बस रहे थे। दे०, प्रथम कुमारगुप्तकालीन करमदाण्डा प्रस्तर अभिलेख जिसमें अयोध्या के नाना गोत्र और चरणों के वेदज्ञ ब्राह्मणों का उल्लेख है।

(४) अत्रारण्ये भगवतः श्वेतवराहस्वामिनो देवकुले—अत्रारण्ये='यहाँ वन में'। जैसा कि सरकार ने ध्यान दिलाया है 'अत्रारण्ये' शब्द से स्पष्ट है कि श्वेतवराह स्वामी का मन्दिर (जिनके मूल रूप की पूजा हिमवत् शिखर पर होती थी—दे०, बुधगुप्तकालीन तिथिविहीन दामोदरपुत्र-दानपत्र, टि० ४ तथा ५) इस लेख में उल्लिखित वन में बनवाया गया था। उसी को इन दानपत्रों में उल्लिखित भूमि दान में दी गयी थी। मैती एवं मुखर्जी का यह कहना कि प्रस्तुत दानपत्र में 'हिमवत् शिखर' का उल्लेख है (कॉर्पस ऑव बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० ७१) गलत है।

(५) अप्रहत खिल क्षेत्र—दे०, गु० सं० १२४ के दामोदरपुर-दानपत्र की टि० ६।

(६) अप्रदाधर्म्मेण ताम्रपट्टीकृत्य-दातुम्—वापिस न किये जाने अर्थात् अहस्तान्तरण की शर्त के साथ ताम्रपट्ट पर लिखवा कर दें। तु०, बैग्राम-दानपत्र की पंक्ति १७ का वाक्यांश 'अक्षयनीव्यास्ताम्रपट्टेन दत्तम्।'

(७) अर्द्धटी-प्रावेश्य=लगान निर्धारण करने के लिए अर्द्धटी में सम्मिलित। प्रवेश=लगान, आय।

(८) 'पञ्चकुल्यवापक' नाम इसलिए पड़ा होगा क्योंकि इसमें पाँच कुल्यवाप भूमि रही होगी। पूरणवृन्दिकहरि की पहिचान दामोदरपुर से १४ मील उत्तर की तरफ स्थित बृन्दकूरी से की गयी है।

अभिलेख का महत्त्व

यह अभिलेख गुप्त सम्राटों की प्रभुसत्ता और उनका नाम से उल्लेख करने वाला अन्तिम अभिलेख है। इससे ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य ५४३ ई० तक अस्तित्व में था। इससे यह भी सिद्ध है कि उस समय तक पुण्ड्रवर्द्धन का पुराना, दत्तान्त नाम वाले गवर्नरों का, परिवार अपदस्थ किया जा चुका था और इस प्रान्त पर स्वयं 'महाराज-पुत्र' की नियुक्ति की गयी थी। इस तरह यह परोक्षतः प्रमाणित करता है कि गुप्त सम्राट्, जिनका प्रभाव पश्चिम में घटता जा रहा था, बंगाल में बने रहने का प्रयास कर रहे थे। यह दानपत्र बंगाल से प्राप्त दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय व भूमि-व्यवस्था आदि को भी स्पष्टतर करता है।

विष्णुगुप्त का नालन्दा मुहर-लेख

लेख-परिचय—विष्णुगुप्त नामक गुप्त सम्राट् की एक मुहर का केवल निचला दाहिना अंश नालन्दा से प्राप्त हुआ है। यह विहार सं० १ से १९२७–२८ में प्राप्त हुआ था। उपलब्ध अंश, जो पूरी मुहर का लगभग एक-चौथाई भाग है, त्रिकोणाकार—३″ × २$\frac{१}{२}$″ × २$\frac{३}{८}$″—है और इसमें केवल अन्तिम चार पंक्तियाँ अंशतः मिलती हैं। अक्षरों का आकार $\frac{१}{१०}$″ से $\frac{१}{८}$″ तक है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ और निबन्ध—कृष्णदेव, इ० आई०, २६, पृ० २३५–९; सरकार, स० इ०, पृ० ३४०; एस० आर० गोयल, हि० इ० गु०, पृ० ३२५–६; निसार अहमद, जे० एन० एस० आई०, ३३, भाग २, पृ० ५५–८; किरणकुमार थपल्याल, वही, ३३, भाग १, पृ० ५३–५४; वही, ३५, पृ० १६६–७०; भाण्डारकैर, छाबड़ा तथा गायि, संशोधित कॉर्पस ३, पृ० ३६४।

मूलपाठ

उपलब्ध पंक्ति संख्या

१. ······[म*]हाराजाधिराज श्र[ी*][प्*]र् (?)······
२. ······[म*]ह[ा*]र[ा]ज[ा]धिराज-श्री नरसिंह[गुप्तस]तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्[या]त[ो]
३. ······[महा*]राजाधिराज-श्री कुमारगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो म[हा]-
४. [देव्यां······देव्यामुत्प*]न्नः परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री विष्णुगु[प्त*](॥*)

पाठ-टिप्पणी—पंक्ति १ : कृष्णदेव व सरकार आदि 'श्री' के उपरान्त 'पु' अक्षर की मात्रा के अवशेष पढ़ते हैं। निसार अहमद ने इस आधार पर महाराजगुप्त से लेकर विष्णुगुप्त तक सम्पूर्ण वंशावली का आठ पंक्तियों में पुनर्योजन कर दिया है।

अनुवाद

उपलब्ध पं० १ ······महाराजाधिराज श्री प्र······
२ ······महाराजाधिराज श्री नरसिंहगुप्त हुए। उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले······
३ ······महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त हुए। उनके पुत्र उनके चरणों का ध्यान करने वाले महा-
४ देवी (रानी का नाम) देवी (के गर्भ) से उत्पन्न परमभागवत महाराजाधिराज श्री विष्णुगुप्त (हैं)।

व्याख्या

(१) विष्णुगुप्त—विष्णुगुप्त का नाम किसी अन्य अभिलेख से अज्ञात है, लेकिन उसकी सुवर्ण मुद्राएँ मिलती हैं जिनमें उसकी उपाधि 'चन्द्रादित्य' दी गयी है। ये मुद्राएँ सुवर्ण तौलमान (१४४ ग्रेन) के अनुसार जारी की गयी हैं। कुछ की तौल तो १५० ग्रेन से भी अधिक है। ये बनावट में बहुत मामूली हैं तथा इनमें शुद्ध सुवर्ण की मात्रा केवल ४३ प्रतिशत है। इतना कम सुवर्ण और किसी गुप्त सम्राट् के सिक्कों में नहीं मिलता। इसलिए उसे सभी विद्वान् गुप्त वंश का अन्तिम सम्राट् मानते हैं। उस अवस्था में यह सम्भव है कि ५४३ ई० का पञ्चम दामोदरपुर ताम्रपत्र-लेख (जिसमें गुप्त सम्राट् के नाम का पूर्वार्द्ध मिट गया है) उसी के शासनकाल का हो।

(२) महाराजाधिराज नरसिंहगुप्त तथा महाराजाधिराज कुमारगुप्त—हमारे विचार से ये दोनों राजा इन्हीं नामों के उन राजाओं से भिन्न हैं जिनका ज्ञान भितरी-मुहर से होता है। नरसिंहगुप्त की नालन्दा-मुहर की टि० १ में हम उन साक्ष्यों का वर्णन कर चुके हैं जिनसे दो नरसिंहगुप्त बालादित्यों तथा दो कुमारगुप्त क्रमादित्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है। इनमें प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य तथा द्वितीय कुमारगुप्त क्रमादित्य ने स्कन्दगुप्त के बाद शासन किया। वे द्वितीय कुमारगुप्त की भितरी तथा नालन्दा मुहरों में उल्लिखित हैं। लेकिन इन नामों के दो अन्य राजा और हुए—द्वितीय नरसिंहगुप्त (जिसने 'वर्ग ब' प्रकार के सिक्के चलाये, नालन्दा में विहार बनवाया तथा मिहिरकुल को हराया) तथा तृतीय कुमारगुप्त क्रमादित्य (जिसने 'वर्ग ब' प्रकार के सिक्के चलाये)। क्योंकि इन दोनों राजाओं के सिक्कों में ५४ प्रतिशत सुवर्ण मिलता है तथा विष्णुगुप्त के सिक्कों में केवल ४३ प्रतिशत, इसलिए इनको गुप्तवंश के अन्तकाल में रखना चाहिये। प्रस्तुत नालन्दा-मुहर इसका समर्थन करती है और बताती है कि विष्णुगुप्त तृतीय कुमारगुप्त क्रमादित्य का पुत्र तथा द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य का पौत्र था। उसको भितरी-मुहर के कुमारगुप्त का पुत्र मानना गलत है।

(३) महाराजाधिराज श्री प्र··· कृष्णदेव ने 'प्र' के स्थान पर 'पु' पढ़कर इसे पुरुगुप्त नाम का प्रथम अक्षर माना है। सरकार, पी० एल० गुप्त, निसार अहमद तथा के० के० थपल्याल ने उनका अनुसरण किया है। परन्तु विशुद्ध लिपिशास्त्रीय दृष्टि से यह अक्षर 'प्र' भी हो सकता है। वस्तुतः मुहर के उपलब्ध भाग में 'श्री' के बाद केवल एक रेखा-चिह्न मिलता है जो 'पु' की मात्रा का चिह्न भी हो सकता है और 'प्र' जैसे किसी अक्षर का अधोलिखित 'र्' भी। इन दोनों में हम पारिस्थितिक साक्ष्य के प्रकाश में द्वितीय विकल्प को सही मानते हैं। हमारा सुझाव है कि यहाँ प्रकाशादित्य नाम लिखा था जो इस मुहर के नरसिंहगुप्त का पिता रहा होगा। इस मत के विरुद्ध किरणकुमार थपल्याल (जे० एन० एस० आई०, ३५, पृ० १६६–७०) की आपत्ति है कि गुप्त अभिलेखों में गुप्त सम्राटों के नाम मिलते हैं जब कि प्रकाशादित्य एक उपाधि है। परन्तु (१) सूपिया अभिलेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा प्रथम कुमारगुप्त का मात्र उनकी उपाधियों—विक्रमादित्य तथा महेन्द्रादित्य—द्वारा उल्लेख है। (२) यह मानना अनिवार्य नहीं है कि 'प्रकाशादित्य' उपाधि ही है। उस युग में प्रकटादित्य, शीलादित्य, धर्मादित्य आदि नाम रखे जाने लगे थे। (३) थपल्याल ने हमारे उन सब तर्कों को नजरअन्दाज कर दिया है जो नरसिंहगुप्त बालादित्य तथा कुमारगुप्त क्रमादित्य नाम के दो-दो राजाओं का अस्तित्व सिद्ध करके विष्णुगुप्त के पिता कुमारगुप्त और पितामह नरसिंहगुप्त को भितरी-मुहर के नरसिंहगुप्त तथा कुमारगुप्त से भिन्न प्रमाणित करते हैं। उन तर्कों के स्वीकार से कम से कम यह मानना तो अनिवार्य हो ही जाता है कि विष्णुगुप्त का पितामह नरसिंहगुप्त पुरुगुप्त का पुत्र नहीं था, चाहे उसके पिता का नाम प्रकाशादित्य था या नहीं। इस विषय में हमने इस मुहर के महत्व पर विचार करते समय और प्रमाण दिये हैं।

(४) विष्णुगुप्त की नालन्दा-मुहर की हमारी उपर्युक्त व्याख्या को एस० के० मैती (द इम्पीरियल

गुप्तज्ञ, पृ० ६८) ने स्वीकृत किया है। निसार अहमद ने इस मुहर के नरसिंहगुप्त को पुरुगुप्त का पुत्र मानकर महाराज गुप्त से लेकर विष्णुगुप्त तक सम्पूर्ण वंशावली पुनर्योजित कर दी है (जे० एन० एस० आई०, ३३, भाग २, पृ० ५८)। परन्तु यह प्रयास अभिलेख-शास्त्र व पाठालोचन के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। इस प्रकार के प्रयास इतिहास के पुर्ननिर्माण के समय विचार का विषय हो सकते हैं, किसी लेख का इस प्रकार पुनर्योजन अवैज्ञानिक है। निसार अहमद इस विषय में कुछ भ्रम में पड़े हुए हैं। उनका सम्पूर्ण प्रयास इस पूर्वाग्रह पर निर्भर है कि सभी मुहरों में वंशावली आठ पंक्तियों में लिखी है, लेकिन यह बात वैन्यगुप्त और विष्णुगुप्त की खण्डित मुहरों के विषय में निश्चयपूर्वक कैसे की जा सकती है? स्मरणीय है कि समुद्रगुप्त के गया-दानपत्र पर लगी मुहर में केवल पाँच पंक्तियाँ हैं और उसके एक शती बाद शासन करने वाले प्रथम नरसिंहगुप्त की मुहर में आठ। अतः प्रथम नरसिंहगुप्त के लगभग ८० वर्ष बाद शासन करने वाले विष्णुगुप्त की मुहर में भी आठ पंक्तियाँ थीं, यह पहिले ही मान लेना स्पष्टतः हठवादिता है।

अभिलेख का महत्त्व

प्रस्तुत मुहर-लेख खण्डित होने के बावजूद बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे यह लगभग निश्चितरूपेण प्रमाणित हो जाता है कि गुप्तवंश में नरसिंहगुप्त तथा कुमारगुप्त नामक दो और राजा हुए थे जो इन्हीं नामों के उन राजाओं से भिन्न थे जिनका उल्लेख भितरी-मुहर में हुआ है। जैसा मौद्रिक साक्ष्य से स्पष्ट हैं तथा सभी विद्वान् मानते हैं, विष्णुगुप्त गुप्तवंश का अन्तिम राजा था इसलिए विशुद्ध तिथिक्रमिक दृष्टि से भी उसके पिता को ४५५ ई० में शासन करने वाले पुरुगुप्त का पौत्र नहीं माना जा सकता। इस विषय में दो और तथ्य विचारणीय हैं। एक गुप्तवंश ने ३१९ ई० से ५५० ई० तक शासन किया अर्थात् २३१ वर्ष। अब अगर हम विष्णुगुप्त के पिता कुमारगुप्त को भितरी-मुहर का कुमारगुप्त मानते हैं तो इन २३१ वर्षों में केवल आठ पीढ़ियाँ होंगी—प्रथम चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, द्वितीय चन्द्रगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त, पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, द्वितीय कुमारगुप्त तथा विष्णुगुप्त। इससे एक पीढ़ी का औसत शासन २९ वर्ष आता है जो बहुत ही अधिक है। दो, यह कल्पना बड़ी असंगत लगती है कि गुप्तवंश के अवनति काल में, जब इस वंश के सदस्यों में परस्पर संघर्ष हुआ होगा (जैसा सभी शासक वंशों में देखने में आता है) तब ४५५ ई० में शासन करने वाले पुरुगुप्त का पुत्र उसके लगभग साठ वर्ष बाद ५१५ ई० में सिंहासनारूढ़ हो पाया होगा और वंश के इतिहास का अन्त ५५० ई० में पुरुगुप्त के प्रपौत्र के साथ हुआ होगा।

प्रस्तुत नालन्दा-मुहर के नरसिंहगुप्त तथा कुमारगुप्त को भितरी-मुहर के नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त से भिन्न मान कर इस कठिनाई से बचा जा सकता है और पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त को लगभग ४७० ई० में रखकर इस मुहर में उल्लिखित नरसिंहगुप्त को छठी शती ई० में रखा जा सकता है।

परिशिष्ट

बंगाल से उपलब्ध दानपत्रों से ज्ञात प्रशासकीय व भूमि-व्यवस्था

बंगाल से गुप्त काल के अनेक दानपत्र मिले हैं। ये ५वीं–६ठी शती ई० में गुप्त सम्राटों के पदाधिकारियों या गुप्तों के बाद उनका स्थान लेने वाले राजवंशों द्वारा जारी किये गये थे। इनमें कुछ उत्तरी बंगाल से मिले हैं। ये सभी गुप्त सम्राटों से सम्बन्धित हैं। इनमें दामोदरपुर (जिला दीनाजपुर) से मिले पाँच दानपत्र तथा धनैदह, पहाड़पुर, कलैकुरी-सुल्तानपुर, जगदीशपुर (सब जिला राजशाही से) तथा वैग्राम (जिला बोगुड़ा) से प्राप्त एक-एक दानपत्र सम्मिलित हैं। शेष दानपत्र दक्षिणी बंगाल (वंग-समतट प्रदेश) से मिले हैं जिनमें एक गुप्त सम्राट् वैन्यगुप्त का ५०७ ई० का गुणैघर (जिला तिपेरा)-दानपत्र है और शेष गुप्तों के बाद शासन करने वाले नरेशों के। इनमें पाँच फरीदपुर जिले से मिले हैं (एक गोपचन्द्र का, दो धर्मादित्य के तथा दो समाचारदेव के—कूर्पाला तथा घाग्राहाटी से प्राप्त) तथा एक बर्दवान जिले से (विजयसेन तथा गोपचन्द्र का मल्लसारुल-दानपत्र) से मिला था। गोपचन्द्र का एक दानपत्र उड़ीसा के वालासोर जिले के जयरामपुर स्थल से भी मिला है।

उपर्युक्त अभिलेखों से हमें गुप्तकालीन बंगाल की प्रशासकीय व भूमि-व्यवस्था का काफी विस्तार से ज्ञान होता है। हम यहाँ उत्तरी बंगाल के अभिलेखों पर विशेष ध्यान देंगे। गुप्तेतर दानपत्रों का अध्ययन एक अन्य ग्रन्थ में किया जायेगा। उत्तरी बंगाल के दानपत्रों से स्पष्ट है कि गुप्त साम्राज्य के इस भाग में प्रान्त को 'भुक्ति' कहा जाता था (जवकि स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में प्रान्त के लिए 'देश' शब्द का प्रयोग है)। भुक्तियों का विभाजन विषयों, मण्डलों, वीथियों और ग्रामों में किया गया था। उत्तरी बंगाल का अधिकांश पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति में सम्मिलित था जिसका मुख्य नगर पुण्ड्रवर्द्धन ही था। वर्द्धमान भुक्ति का उल्लेख मल्लसारुल-दानपत्र में आता है। 'भुक्ति' का गवर्नर प्रथम कुमारगुप्त के काल में 'उपरिक' कहलाता था—शायद इसलिए कि वह अन्य पदाधिकारियों से ऊपर, उनसे उच्चतर पद वाला, था। लेकिन बुधगुप्त के काल से उसे 'उपरिक-महाराज' कहा जाने लगा जो गवर्नरों की वर्द्धमान प्रतिष्ठा और शक्ति तथा साम्राज्य में सामन्तवाद के सबलतर होने का प्रमाण है। इसी प्रकार विषय का अधिकारी पहिले 'कुमारामात्य' कहलाता था, बाद में उसे 'आयुक्तक' कहा जाने लगा। सामान्यतः विषय के अधिकारी की नियुक्ति 'उपरिक' करता था, परन्तु बैग्राम दानपत्र में पञ्चनगरी विषय के कुमारामात्य कुलवृद्धि को सीधे 'परमभट्टारक पादानुध्यात' कहा जाना शायद यह प्रमाणित करता है कि उसकी नियुक्ति स्वयं सम्राट् ने की थी।

भुक्ति, विषय, वीथि तथा ग्राम इन सभी के अपने-अपने अधिकरण—प्रशासकीय कार्यालय—होते थे। इनमें हमारे पास सर्वाधिक सूचनाएँ विषय के अधिकरणों के बारे में हैं। उनमें भी हमारे ज्ञान स्रोत क्योंकि भूमिदान से सम्बन्धित हैं इसलिए हम उनकी तत्सम्बन्धित गतिविधियों के बारे में ज्यादा जानते हैं। परन्तु इसमें शक नहीं किया जा सकता कि विषय और अन्य प्रादेशिक इकाइयों के अधिकरण अन्य प्रशासकीय गतिविधियों से भी सम्बन्धित थे। अगर विषयाधिकरण का सम्बन्ध केवल भूमि क्रय-विक्रय से होता तो इसके सदस्यों में नगरश्रेष्ठी, प्रथम कायस्थ, प्रथम कुलिक आदि नहीं होते। साहित्य से भी इसका

समर्थन होता है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के नवें अंक में एक मुकदमे का दृश्य वर्णित है जो 'अधिकरण मण्डप' में होता है और जिसकी कार्यवाही को अधिकरणिक, श्रेष्ठी तथा कायस्थ सञ्चालित करते हैं। 'दशकुमारचरित' में भी 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग 'न्यायालय' अर्थ में किया गया है और 'पञ्चतन्त्र' में न्यायाधीशों को 'धर्माधिकरण' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि अधिकरणों का सम्बन्ध भूमि क्रय-विक्रय के अतिरिक्त कम से कम न्याय-व्यवस्था से अवश्य ही था।

दामोदरपुर से प्राप्त दानपत्रों में (बुधगुप्त के गु० स० १६३=४८२ ई० के दामोदरपुर दानपत्र को छोड़कर) कोटिवर्ष विषय के अधिकरण के सदस्यों में कुमारामात्य के अतिरिक्त नगरश्रेष्ठी, प्रथम सार्थवाह, प्रथम कुलिक तथा प्रथम कायस्थ को गिनाया गया है। इन शब्दों पर हम पीछे विचार कर आये हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि वैशाली-मुहरों तथा भीटा से प्राप्त मुहरों में 'श्रेष्ठिसार्थवाहकुलिक निगम', 'श्रेष्ठिनिगम', 'कुलिक निगम' आदि लेख मिलते हैं। ऐसे ही निगमों के प्रतिनिधि विषयाधिकरण के सदस्य होते होंगे। लेकिन उनकी नियुक्ति कुमारामात्य करता था, या वे अपने-अपने निगमों द्वारा चुने जाते थे, या अपने-अपने निगमों के अध्यक्ष होने के कारण अधिकरण के पदेन सदस्य होते थे—यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन नारद तथा बृहस्पति स्मृतियों से जान पड़ता है कि इन निगमों के अध्यक्ष सदस्यों द्वारा निर्वाचित होते थे (दे०, मजूमदार, कोरपोरेट लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० ६–७)। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट नहीं है कि विषयाधिकरणों के ये सदस्य कुमारामात्य के मात्र सलाहकार थे (बसाक के शब्दों में 'बोर्ड ऑव एडवाइजर्स'—हि० नॉ० ई० इ०, पृ० ५६) या वे अधिकरण के अभिन्न अधिकारी थे। इनमें प्रथम विकल्प सही लगता है यद्यपि उनके नामोल्लेख के साथ 'पुरोग' शब्द का प्रयोग उनको अधिकरण का अभिन्न अंग मानने के पक्ष में है।

यहाँ यह तथ्य रोचक है कि गु० स० १२० के कलैकुरी-सुलतानपुर दानपत्र, गु० स० १२८ के बैग्राम-दानपत्र तथा गु० स० १६३ के दामोदरपुर-दानपत्र में नगरश्रेष्ठी आदि का उल्लेख नहीं है। पहाड़पुर-दानपत्र में मात्र नगरश्रेष्ठी का उल्लेख है पर उसका नाम नहीं दिया गया है। इस अनुल्लेख का कारण अज्ञात है। ग्राम के अष्टकुलाधिकरण का उल्लेख सर्वप्रथम प्रथम कुमारगुप्तकालीन धनैदह-दानपत्र में मिलता है और बुधगुप्त के १६३ गु० स० के दामोदरपुर-दानपत्र में, जो पलाशवृन्दक से जारी किया गया था, भूमि-क्रय-आवेदन और उसकी अनुमति से सम्बन्धित अधिकारी महत्तर, अष्टकुलाधिकरण, ग्रामिक और कुटुम्बी कहे गये हैं। उन्होंने इस भूमिक्रय की सूचना चण्डक ग्राम में कृषक-गृहस्थों को दी थी जो ब्राह्मणों की अध्यक्षता में थे। ग्रामों से सम्बन्धित अधिकरणों में श्रेष्ठियों, कुलिकों व सार्थवाहों का सदस्य न होने का कारण स्वतः स्पष्ट है। लेकिन स्वयं अष्टकुलाधिकरण का संगठन स्पष्ट नहीं है। इनके सदस्य कौन होते थे, कैसे नियुक्त होते थे, आदि प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं, यद्यपि यह अनायास कल्पनीय है कि स्थानीय स्वायत्तता का सिद्धान्त थोड़ा-बहुत जरूर ही व्यवहार में लाया जाता होगा।

वीथियों के अधिकरणों का रूप भी कुछ ऐसा ही होगा (वीथियों, विषयों और भुक्तियों के सम्बन्ध के लिए दे०, आई० सी०, ६, पृ० १५६ अ०)। गोपचन्द्र के मल्लसारुल-दानपत्र में एक वीथि-अधिकरण का उल्लेख है जिसके सदस्यों में महत्तर, अग्रहारी, खाड्गी तथा वाहनायक (=यातायात अधिकारी) गिनाये गये हैं। ऐसे ही वीथि-अधिकरण गुप्त साम्राज्य में होंगे। भुक्तियों के अधिकरणों की चर्चा कम ही मिलती है। पहाड़पुर-दानपत्र में उल्लिखित पुण्ड्रवर्द्धन के अधिकरण को मजूमदार ने इस नगर का नहीं, इस नाम की भुक्ति का अधिकरण माना है। उसका उल्लेख 'आर्य नगरश्रेष्ठि पुरोगम्' पद के साथ है। इससे लगता है कि इसकी अध्यक्षता नगरश्रेष्ठी करता था। इसकी कार्यप्रणाली—जहाँ तक भूमि क्रय-विक्रय का प्रश्न है—वही थी जो विषयाधिकरणों की बताई गयी है। एक वैशाली-मुहर से ज्ञात होता है कि भुक्ति के गवर्नर का अपना अधिकरण भी होता है।

गुप्तकाल में भूमिदान का भारी महत्त्व था। इस काल में सम्पूर्ण हुए महाकाव्य 'महाभारत' तथा इस युग में ही रचित पुराणादि ग्रन्थों में भूमिदान की बड़ी प्रशंसा की गयी है और अभिलेखों में भूमिदान की प्रशंसा में इन ग्रन्थों के श्लोकों को उद्धृत किया गया है (दे०, सरकार, दि० च०, इण्डियन एपिग्रेफी, १९६५, पृ० १७०–२०१)। लेकिन उत्तरी बंगाल से प्राप्त दानपत्र विशेष प्रकार के हैं। इनमें ऐसी परती, अछूती या बंजर (समुदयबाह्य, अप्रहत और खिल) भूमि बेचे जाने की घोषणा है जिससे सरकार को कोई आय नहीं होती थी और जो धार्मिक कार्यों के सम्पादन के हेतु मन्दिरों और ब्राह्मणों आदि को परम्परानुसार घटे मूल्य पर दे दी जाती थी। यह घटा मूल्य भूमि पाने वाला ब्राह्मण स्वयं भी दे सकता था और कोई नागरिक या पदाधिकारी भी पुण्य-अर्जन के लिए राज्य से अनुरोध कर सकता था कि उससे घटा मूल्य लेकर अमुक ब्राह्मण या मन्दिर को वह भूमि दे दी जाय। क्योंकि ऐसी भूमि के लिए राज्य प्रथानुसार घटा मूल्य लेता था और वह किसी ब्राह्मण आदि को पुण्यार्जन के लिए दी जाती थी इसलिए ये अभिलेख दानपत्र कहे जा सकते हैं। इनमें 'महाभारत' आदि ग्रन्थों से उद्धृत भूमिदान सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत किये जाने से इसका समर्थन होता है। परन्तु कानून की दृष्टि से ये दानपत्र नहीं विक्रय-पत्र हैं जिनमें राज्य द्वारा घटा मूल्य लेकर भूमि बेचने का वर्णन है। इसलिए वास्तव में ये लेख दानपत्र भी हैं और विक्रय-पत्र भी।

उपर्युक्त दानपत्रों से भूमि के क्रय किये जाने की प्रक्रिया स्पष्ट होती है। इनसे ज्ञात होता है कि दान के लिए भूमि क्रय करने का इच्छुक व्यक्ति अधिकरण में इसके लिए यह बताते हुए आवेदन करता था कि वह किस स्थान की कितनी भूमि किस उद्देश्य से परम्परानुसार घटे मूल्य पर खरीदना चाहता था। अधिकरण उस आवेदन को पुस्तपाल (रिकार्ड कीपर) के पास भेजता था जो जाँच-पड़ताल कर बताता था कि आवेदन नियमानुसार है या नहीं। उसकी रिपोर्ट ठीक होने पर और भूमि का मूल्य मिल जाने पर भूमि क्रेता को या उस ब्राह्मण अथवा मन्दिर आदि को मिल जाती थी जिसके लिए उसे खरीदा जाता था। जो दानपत्र आजकल मिलते हैं वे वास्तव में भूमि प्राप्त करने वालों को दिये जाने वाले औपचारिक क्रय-पत्र हैं। बेचे गये भूमिखण्ड को शेष भूमि से पृथक् करने के लिए दानपत्र में नैसर्गिक चिह्न उल्लिखित किये जाते थे और उनके अभाव में तुषांगार आदि से उसकी सीमा चिह्नित की जाती थी।

भूमि माप की इकाइयों के लिए इन दानपत्रों में 'कुल्यवाप' और 'द्रोणवाप' आदि शब्द मिलते हैं। भूमिमापन नलकों से किया जाता था। 'नल' शब्द के साथ 'अष्टक' और 'नवक' शब्दों का प्रायः प्रयोग मिलता है। पहाड़पुर-दानपत्र में षट्क शब्द का प्रयोग है। नल किसी व्यक्ति विशेष के हाथ की माप होती थी, इसका संकेत भी मिलता है। इन सब प्रश्नों पर पीछे टिप्पणियों में विचार किया जा चुका है।

उपर्युक्त दानपत्रों के साक्ष्य के प्रकाश में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि गुप्त काल में भूमि पर किसका अधिकार माना जाता था। बसाक के अनुसार सम्पूर्ण ग्राम या स्वयं कृषक भूमि का स्वामी होता था। उनका तर्क है कि अगर राजा भूमि का स्वामी था तो उसके विक्रय के लिए उसे जन-प्रतिनिधियों की अनुमति क्यों लेनी पड़ती? दूसरे, इन अभिलेखों में कहा गया है कि विक्रय मूल्य का केवल $\frac{१}{६}$ भाग कोष में जाता था; अतः शेष मूल्य जन-प्रतिनिधियों को मिलता होगा। लेकिन यू० एन० घोषाल का आग्रह है कि गुप्त काल में भूमि पर राजा का ही स्वामित्व माना जाता था। उनका कहना है कि राज्य जन-प्रतिनिधियों की अनुमति नहीं लेता था। जिनको बसाक जन-प्रतिनिधि मानते हैं वे भी छोटे-मोटे पदाधिकारी थे। जहाँ तक कोष में मूल्य का मात्र $\frac{१}{६}$ भाग जाने की बात है वह गलत है। इन दानपत्रों में राज्य या सम्राट् को भूमिदान के पुण्य का $\frac{१}{६}$ भाग मिलने की बात कही गयी है (धर्मषड्भाग) न कि मूल्य का। पहाड़पुर-दानपत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि इस भूमि-विक्रय से सम्राट् को धन भी मिलेगा और धर्मषड्भाग भी।

भूमि पर दान पाने वाले के अधिकार की शर्त का उल्लेख करने के लिए अक्षयनीवी, अक्षयनीवी धर्म, अप्रदाधर्म आदि पद प्रयुक्त हुए हैं। इनका तात्पर्य था कि भूमि पाने वाला उस भूमि को सदैव भोग सकता था—दानपत्र में लिखी शर्तों का पालन करने पर—परन्तु उसे न वेच सकता था और न बन्धक रख सकता था। घोषाल का विचार है ऐसी भूमि शुरू में करमुक्त होती थी परन्तु ज्यों-ज्यों उसकी उर्वरा-शक्ति बढ़ती जाती थी उस पर कर भी बढ़ता जाता था, जब तक वह सामान्य स्तर पर नहीं पहुँच जाती थी। लेकिन अन्य विद्वानों का कहना है कि क्योंकि ऐसी भूमि धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए दान में दी जाती थी इसलिए उसे सदैव के लिए करमुक्त माना जाता था।

इस परिशिष्ट के विषय पर पठनीय सामग्री : उपर्युक्त दानपत्रों के अध्ययन के लिए उनके साथ निर्देशित सामग्री; घोषाल, यू० एन०, हिन्दू रेवेन्यु सिस्टम, पृ० २६२–७५; मजूमदार, आर० सी०, हिस्टरी ऑव बंगाल, पृ० २६४–७२; चक्रवर्ती, पी० सी०, वही, पृ० ६४५–५४; बसाक, हि० नॉ० ई० इ०, पृ० ५६ अ०; घोषाल, यू० एन०, तथा नीलकान्त शास्त्री, के० ए०, ए कॉम्प्रेहेन्सिव हिस्टरी ऑव इण्डिया (मजूमदार द्वारा सम्पादित), १९८१, पृ० ७५३ अ०; मैती, एस० के०, इकोनॉमिक लाइफ इन नॉर्दर्न इण्डिया इन द गुप्त पीरियड, १९७०, अध्याय २, ३; झा, डी० एन०, रेवेन्यु सिस्टम इन पोस्ट-मौर्य एण्ड गुप्त टाइम्स्, अध्याय २, ४।

गुप्तकाल के अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख

आटविक प्रदेश : उच्चकल्प तथा परिव्राजक वंश

१. उच्चकल्पवंशीय शर्वनाथ का खोह-दानपत्र : (गुप्त) सं० १९३
२. परिव्राजकवंशीय संक्षोभ का खोह-दानपत्र : गुप्त सं० २०९

दशपुर-प्रदेश : गुप्तों के सामन्तों के लेख

१. नरवर्मा का मन्दसौर-शिलालेख : मालव सं० ४६१
२. नरवर्मा का बिहार-कोटरा शिलालेख : मालव सं० ४७४
३. विश्ववर्मा का गंगधार-शिलालेख : मालव सं० ४८०
४. प्रभाकर का मन्दसौर-लेख : मालव सं० ५२४
५. बन्धुवर्मा (और कुमारगुप्त) का मन्दसौर पाषाण-लेख : मालव सं० ४९३ तथा ५२९

हूणों के अभिलेख

१. तोरमाण का कुरा पाषाण फलक-लेख
२. तोरमाण का एरण वराहमूर्त्ति-लेख : शासन वर्ष १
३. तोरमाण तथा महाराज भूत का सञ्जेली (एम० एस० यूनीवर्सिटी)-दानपत्र : शासन वर्ष ३
४. मिहिरकुल का ग्वालियर पाषाण-लेख : शासन वर्ष १५

दशपुर-प्रदेश : साम्राज्यिक औलिकर वंश और उसके सामन्तों के लेख

१. महाराज गौरि का खण्डित मन्दसौर-शिलालेख
२. प्रकाशधर्मा औलिकर का रिस्थल-पाषाण-लेख : मालव सं० ५७२
३. यशोधर्मा का तिथिविहीन मन्दसौर पाषाण-लेख
४. महाराज भूत का सञ्जेली (एम० एस० यूनीवर्सिटी) दानपत्र : वर्ष ६

वाकाटकों के अभिलेख

१. प्रभावती का पूना-दानपत्र : (प्रभावती के संरक्षिका काल का वर्ष १३)
२. द्वितीय प्रवरसेन का चम्मक दानपत्र : शासन वर्ष १८
३. द्वितीय प्रवरसेन के शासनकाल का प्रभावती का रिथपुर-दानपत्र : वर्ष १९

प्रकीर्ण-लेख

१. उदयसेन का मुण्डेश्वरी-लेख : (गुप्त ?) सं० ३० (=३४९ ई० ?)
२. महाराज नन्दन का अमौना-दानपत्र : (गुप्त) सं० २३२

उच्चकल्पवंशीय शर्वनाथ का खोह-दानपत्र

(गुप्त) संवत् १९३ (=५१२ ई०)

प्राप्तिस्थल : मध्य प्रदेश के सतना जिले का खोह स्थल ।

भाषा : संस्कृत ।

लिपि : उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : फ्लीट, कॉर्पस ३, पृ० १२६ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० ३९०–३ ।

मूलपाठ

प्रथम ताम्रपत्र

१. १˘ स्वस्त्युच्चकल्पात्म(न्म)हाराजौघदेवस्तस्य पुत्त्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्या (ं*)
२. कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराज-कुमारदेवस्तस्य पुत्त्रस्तत्पादानु-
३. द्ध्यातो महादेव्यां जयस्वामिन्यामुत्पन्नो महाराज-जयस्वामी तस्य
४. पुत्त्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यां रामदेव्यामुत्पन्नो महाराज-व्याघ्रस्तस्य
५. पुत्त्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यामज्झितदेव्यामुत्पन्नो महाराज-जय-
६. नाथस्तस्य पुत्त्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यां मुरुण्डदेव्यामुत्पन्नो महाराज-
७. शर्व्वनाथः कुशली तमसा-नद्या उत्तर-पारे आश्रमके ब्राह्मणा-
८. दीन्कुटुम्बिनस्सर्व्व-कारून्श्च(रूंश्च) समाज्ञापयति (।*) विदितम्वास्तु (विदितंवोऽस्तु) यथैष
९. ग्रामो मयाचन्द्रार्क्क-समकालिकस्स(स्सो)द्रङ्गस्सोपरिकरः अ-चाट-
१०. भट-प्रावेश्यश्चोर-दण्ड-र्व्जितः चतुर्भिरन्शे(र्भिरंशैः) प्रतिपादितः (।*) अतो-
११. (ऽ*)न्श(अतोऽशं)-द्वयं विष्णुनन्दिनः (।*) अपरो(ऽ*)प्यन्शः(प्यंशः) स्वामिनाग-पुत्त्र-वणिज-
१२. शक्तिनागस्य (।*) अपरो(ऽ*)प्यन्श(प्यंशः) कुमारनाग-स्कन्दनागयोः (।।*) एतत्पु-
१३. त्त्र-(पौत्त्र*)-प्रपौत्त्र-तत्पुत्त्राद्यनुक्क्रमेण ताम्र-शासनेनातिसृष्ट[म्] (।*) एभिरप(पि) मया(*)-
१४. नुमोदितकं यथोपरिलिखितक-क्क्रमेणैव स्व-पुण्याभिवृद्धये स्व-प्रति-
१५. ष्ठापितक-भगवत्पादानामादित्सा(त्य)-भट्टारकपादानाञ्च खण्ड-फुट्ट-प्रतिसं-
१६. स्कार-करणाय वलि(बलि)-चरु-सत्त्र-गन्ध-धूप-माल्य-दीप-[प्र]वर्त्तनाय च(ा*)ति-सृ[ष्टम्] (।*)

द्वितीय ताम्रपत्र

१७. तै(ते) यूयमेषां समुचित-भाग-भोग-कर-हिरण्यादि-प्रत्यायोप-
१८. नय(ं*) करिष्यथाज्ञा-श्रवण-विधेयाश्च भविष्यथ (।*) ये चास्मद्वन्शो(द्वंशो)त्पद्य-
१९. मानक-राजानस्तैरियन्दत्तिर्न्न विलोप्यानुमोदनीया यथो(था)कालञ्च
२०. [प्रति]पालनीया समुचित-राजाभाव्य-कर-प्रत्यायाश्च न ग्राह्याः (।*) यः
२१. इमान्दत्तिन्लो(र्त्ति लो)पयेत्स≍पञ्चभिर्म्महापातकैरुपपातकैश्च संयुक्त(ः*)

२२. स्यादुक्तञ्च महाभारते भगवता वेदव्यासेन व्यासेन(।*)
स्व-दत्ताम्पर-दत्ता-
२३. म्वा (दत्ता वा) यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*)
महीम्महीमताञ्छ्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो(ऽ*)नुपालनं(नम्) (।।*) १
२४. प्रायेन(ण) हि नरेन्द्राणां विद्यते न शुभा गतिः (।*)
पूयन्ते ते तु सततं प्र-
२५. यच्छन्तो वसुन्धरा(म्*) (।।*) २
बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभिः (।*)
यस्य
२६. यस्य यदा भू(भू)मिस्तस्य तस्य तदा फलं(लम्) (।।*) ३
षष्टिं वर्ष-सहस्राणि स्वर्ग्गे मोद-
२७. ति भूमिदः (।*)
आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसे- ४
तसर्व्वं(त् ।। सर्व्वं)-सस्य-समृ-
२८. द्धान्तु यो हरेत वसुन्धरां(राम्) (।*)
श्वविष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह मज्जते (।।*) ५
२९. लिखितं सम्ब(संव)त्सर-शते तृ(त्रि)नवत्युत्तरे चैत्त्र-मास-दिवसे दशमे
३०. भोगिक-फाल्गुदत्तामात्य-नप्त्रा भोगिक-वराहदिन्न-पुत्त्रे[ण] महा-
३१. सान्धिविग्ग्रहिक-मनोरथेन (।*) दूतकर्म-(म*)हावलाधिकृत-क्षत्त्रिय-
३२. शिव[गु]प्त[:] (।।*)

परिव्राजकवंशीय महाराज संक्षोभ का खोह-दानपत्र

गुप्त सं० २०९ (=५२९ ई०)

प्राप्तिस्थल : मध्य प्रदेश के सतना जिले का खोह स्थल ।
भाषा : संस्कृत ।
लिपि : उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी ।
सन्दर्भ-ग्रन्थ : फ्लीट, कॉर्पस ३, पृ० ११४ अ०; सरकार, स० इ०, पृ० ३९४—६ ।

मूलपाठ

प्रथम ताम्रपत्र

१. १ँ नमो भगवते वासुदेवाय ।। स्वस्ति (।।*) नवोत्तरे(ऽ*)व्द(ब्द)-शत-द्वये गुप्तनृप र(ा*)ज्य-भुक्तौ
२. श्रीमति प्रवर्द्धमान-विजय-राज्ये महाश्वयुज्ञ-स(ं*) वत्सरे चैत्र-मास-शुक्ल-
३. पक्ष त्रयोदश्य(ा*)मस्यां संब(व)त्सर-मास-दिवस-पूर्व्वाया[ं] (।*) चतुर्द्दशविद्यास्थान-विदि-
४. त-परमार्थस्य कपिलस्यव(स्येन) महर्षेः सर्व्व-तत्व(त्त्व)ज्ञस्य भरद्वाज-सगोत्रस्य नृप-
५. पि(ति)-परिव्राजक-सुशर्म्मणः कुलोत्पन्नेन महाराज-श्रीदेवाढ्य-पुत्रप्रनप्त्रा महारा-
६. ज-श्रीप्रभञ्जन-प्रनप्त्रा महाराज श्रीदामोदर-नप्त्रा गोसहस्र-हस्त्यश्व-हिरण्यानेक-
७. भूमि-प्रदस्य गुरुपितृमातृ-पूजा-तत्परस्यात्यन्त-देव-व्रा(ब्रा)ह्मण-भक्तस्यानेक-समर-
८. शत-विजयिनः साष्टादशाटवी-राज्याभ्यन्तरं डभाला-राज्यमन्वयागतं समडि(धि)-
९. पालयिप्नो(ष्णो)रनेक-गुण-विख्यात-यशसो महाराज-ग्री(श्री)-हस्तिनः सुतेन
१०. वर्ण्णाश्रम-धर्म्म-स्थापना-निरतेन परमभागवतेनात्यन्त-पितृ-भक्तेन स्व-वं-
११. शामोदकरेण महाराज-श्रीसंक्षोभेन(ण) माता-पित्रोरात्मनश्च पुण्याभि-
१२. व्रिर्द्धये(वृद्ध्ये) छोड़गोमि-विज्ञाप्त्या तमेव च स्वग्ग(र्ग)-सोपान-पंक्तिमारोपय-

द्वितीय ताम्रपत्र

१३. ता भगवत्याः पिष्टपुर्याः कारितक-देवकुले व(ब)लि-चरु-सत्रोपयो-
१४. गार्थः(र्थं) खण्ड-स्फुटित-संस्कारार्थञ्च मणिनाग पेठे ओपाणिग्राम-
१५. स्यार्द्धं चोर-द्रोहक-वर्ज्जः(र्ज्जं) ताम्र-शासनेनातिसृष्टं(ष्टम्) (।*)
तदस्मत्कुलोत्थौः(त्थैः) म-
१६. त्पादपिण्डोपजीविभिर्व्वा कालान्तरेष्वपि न व्याघातः कार्य्यः (।*) एवमाज्ञा- ,
१७. प्त(ज्ञप्ते) यो(ऽ*)न्यथा कुर्यात्तिमहं देहान्तर-गतो(ऽ*)पि महतावध्यानेन निर्द्दहेयं(यम्) (।।*)
१८. उक्तं च भगवता परमर्षिणा वेदव्यासेन व्यासेनः(न) (।*)
पूर्व्व-दत्तां द्विजातिभ्यो

१९. यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिरः(र) (।*)

महीम्महिमता(ं*)श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयो(ऽ*)नुपालनः(नम्) (।।*) १

वहुभिः

२०. वसुधा(बहुभिर्व्वसुधा) भुक्ता राजभिस्सगरादिभिः (।*)

यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा

२१. फलं(लम्) (।।*) २

षष्टि वर्ष-सहस्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः (।*)

आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्ये-

२२. व नरके वसेत् (।।*) ३

भूमि-प्रदानान्ना(न्न) परं प्रदानं

दानाद्विशिष्टं परिपालनञ्छ(ञ्च) (।*)

२३. सर्व्वे(ऽ*)तिसृष्टा(ं*) परिपाल्य भूमि(ं*)

नृपा नृगाद्यास्त्रिदिवं प्रपन्नाः ।। ४

लिखितंञ्च(तञ्च)

२४. जीवित-नप्त्रा भुजंगदास-पुत्रेश्वरीदासेनेति (।*) स्व मुखाज्ञा (।*) चैत्र-दि २० (+*) ८ (।।*)

नरवर्मा का मन्दसौर-शिलालेख

मालव सं० ४६१ (=४०४ ई०)

प्राप्तिस्थल : भूतपूर्व ग्वालियर राज्य में मन्दसौर जिले में स्थित मन्दसौर (प्राचीन दशपुर)।

भाषा : संस्कृत ।

लिपि : पाँचवीं शती के प्रारम्भ की दक्षिण प्रकार की ब्राह्मी ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : शास्त्री, एच० पी०, इ० आई०, १२, पृ० ३२० अ०; सरकार, दि० च०, स० इ०, पृ० ३६७–८; बनर्जी, आर० डी०, इ० आई०, १४, पृ० ३६७–७१; भाण्डारकर, आर० जी०, आई० ए०, पृ० ४२, पृ० ११६ अ० ।

मूलपाठ

१. सिद्धम् (।*)
सहस्र-शिरसे तस्मै पुरुषायामितात्मने (।*)
चतुस्समुद्र-पर्य्यङ्क-तोय-निद्रालवे नमः (॥*) १
श्रीर्म्मालव-गणाम्नाते प्रशस्ते कृत-संज्ञिते (।*)

२. एकषष्टाधिके प्राप्ते समा-शत-चतु[ष्टये] (॥*) २
प्रावृट्का(प्रावृक्का)ले शुभे प्राप्ते मनस्तुष्टिकरे नृणाम् (।*)
मघे(हे) प्रनृ(वृ)त्ते शक्रस्य कृष्णस्यानुमते तदा (॥*) ३

३. निष्पन्न-व्रीहि-यवसा काश-पुष्पैरलंकृता (।*)
भाभिरभ्यधिकं भाति मेदिनी सस्य-मालिनी (॥*) ४
दिने आश्वोज(आश्विन)-शुक्लस्य पंचम्यामथ सत्कृते (।*)

४. ईदृक्कालवरे रम्ये प्रशासति वसुन्धराम् (॥*) ५
प्राक्पुण्योपचयाभ्यासात्संवर्द्धित-मनोरथे (।*)
जयवर्म्म-नरेन्द्रस्य पौत्रे देवेन्द्र-विक्रमे (॥*) ६

५. क्षितीशे सिङ्ह(सिंह)वर्म्मणस्सिङ्ह(सिंह)विक्रान्त-गामिनि (।*)
सत्पुत्रे श्रीर्म्महाराज-नरवर्म्मणि पार्त्थिवे (॥*) ७
तत्पालन-गुणोद्देशाद्धर्म्म-प्राप्त्यर्त्थ-विस्तरः (।*)

६. पूर्व्व[ज]न्मान्तराभ्यासाद्बलादाक्षिप्त-मानसः (॥*) ८
स्व-यशः-पुण्य-संभार-विवर्द्धित-कृतोद्यमः (।*)
मृगतृष्णाजल-स्वप्न-विद्दु(द्यु)द्दीपशिखा-चलम् (॥*) ९

७. जीवलोकमिमं ज्ञात्वा शरण्यं शरणङ्गतः (।*)
त्रिदशोदार-फलदं स्वर्ग्गस्त्री-चारु-पल्लवम् (॥*) १०
विमानानेक-विटपं तोयदांबु-मधु-स्रवम् (।*)
८. वासुदेवं जगद्धासमप्रमेयमजं विभुम् (॥*) ११
मित्र-भृत्यार्त्त-सत्कर्त्ता स्व-कुलस्य(ा*)थ चन्द्रमाः (।*)
यस्य वित्तं च प्राणाश्च देव-ब्राह्मण-सागता[:] (॥*) १२
९. महाकारुणिकः सत्यो धर्म्मार्ज्जित-महाधनः (।*)
सत्पुत्रो वर्ण्णवृद्धेस्तु सत्पौत्रो(ऽ*)थ जयस्य वै (॥*) १३
दुहितुर्ब्बलशूराया(:*) सत्पुत्रो जयमित्र(ा*)या[:] (।*)
१०. ... ...

नरवर्मा का बिहार-कोटरा शिलालेख

मालव सं० ४७४ (=४१७ ई०)

प्राप्तिस्थल : राजगढ़ जिले का बिहार-कोटरा स्थान ।

लिपि : दक्षिणी वर्ग की परवर्ती ब्राह्मी ।

भाषा : संस्कृत ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : चक्रवर्ती, एस० एन०, इ० आई०, २६, पृ० १३० अ०; सरकार, दि० च०, स० इ०, पृ० ३६६ ।

मूलपाठ

१. [सि*]द्धम् (।*) श्रीम्मर्म(म)हाराज-नरवर्म्मणः [औ]लिकरस्य
२. राज्य-संवत्सरे चतुर्षु वर्ष-शतेषु चतु[ः*]-
३. [म*]प्ततेषु(प्तधिकेषु) श्रावण-शुक्ल-द्वितीयायाम् भट्टिमह-
४. र-सत्पुत्त्रेण वीरसेनेनायमुदपानः खानि-
५. तश्चातुर्द्दिशं भिक्षु-संघमुद्दिश्य (।*) सर्व्व-सत्वा(त्त्वा)नां
६. तृण्णा-क्षयायास्तु [।।]

विश्ववर्मा का गंगधार-शिलालेख

मालव सं० ४८० (=४२३ ई०)

प्राप्तिस्थल : राजस्थान के झालावाड़ जिले का गंगधार स्थल ।

भाषा : संस्कृत ।

लिपि : दक्षिणी वर्ग की ब्राह्मी ।

महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-ग्रन्थ : भाण्डारकर, डी० आर०, आर० जी० भाण्डारकर कोमेमोरेशन वॉल्यूम्, पृ० १८७ अ०; भिड़े, जे० बी० ओ० आर० एस०, ७, पृ० ३३–५; सरकार, स० इ०, पृ० ३९९–४०५; फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० ७४ अ०; अग्रवाल, आर० सी०, जे० बी० आर० एस०, ४१, पृ० ३०९–१० ।

मूलपाठ

१. — — ⌣ — ⌣ ⌣ ⌣ — ⌣ ⌣ — ⌣ मस्य
विष्णोर्भुजस्सुरपति-द्विप-हस्त-[स]र्प्प[:*] (।*)
— — ⌣ — ⌣ ⌣ ⌣ — ⌣ ⌣ — ⌣ — —
— — ⌣

२. — ⌣ ⌣ ⌣ — ⌣ ⌣ — ⌣ — — (।।*) १
प्रक्ख्यात-वीर्य्य-यशस[ां] [क्षिति]पाधिपानां
वंशोद्भवो [ज*]गति वि[श्रुत-कीर्त्ति-भाजाम्*] (।*)
— — ⌣ — ⌣ ⌣ ⌣ — ⌣

३. ⌣ — ⌣ कान्त-
श्श्रीमान्बभूव नरवर्म्म-नृपः प्रकाशः ।। २
यज्ञैस्सुरान्मुनि-गणा[न्नियमै]रुदारै[:]
— — ⌣ — ⌣ ⌣ ⌣ — ⌣ ⌣ — ⌣ — — (।*)

४. [माने]न भृत्त्य-जनमप्प्रतिमेन लोके
यो(ऽ*)तोषयत्सुचरितैश्च जगत्समग्रं(ग्रम्) ।। ३
हस्त्यश्व-साधन ⌣ — ⌣ ⌣ — ⌣ — —
— — ⌣ — ⌣ ⌣

५. ⌣ खड्ग मरीच(चि)मत्सु ।।
सङ्ग्राम-मूर्द्धसु मुखं समुदीक्ष्य यस्य
नाशम्प्रयान्त्यरि-गणा भय-न[ष्ट-चेष्टा:] (।।*) ४
[तस्यात्मज:*] ⌣ ⌣ ⌣ — ⌣

६. ‿*ै महात्मा
बुद्ध्या वृहस्पति-समस्सकलेन्दु-वक्तः ।।
औपम्य-भूत इव राम-भगीरथाभ्यां
रा — ‿ — ‿ ‿

७. — [भु*]वि विश्ववर्म्मा ।। ५
धैर्य्येण मेरुमभिजाति-गुणेन वैण्य-
मिन्टुं प्रभा-समुदयेन वलेन विष्णुं(ष्णुम्) (।*)
[सं*]-

८. [व]र्त्तकानलमसह्यतमञ्च दीप्त्या
यो विक्क्रमेण च सुराधिपतिं विजिग्ये ।। ६
व्यावृत्त-मार्ग्ग इव भा-

९. [नुरस*]ह्य-मूर्त्ति-
र्व्यब्भ्रोदयाधिकतरोज्वल(ज्ज्वल)-घोर-दीप्तिः ।
यश्शक्यते न रिपुभिर्ब्भय-विह्वलाक्षै-
रुद्वी-

१०. [क्षितुं क्ष*]णमपि प्प्रगृहीत-शस्त्रः ।। ७
निर्ब्भूषणैरविगतास्र-जलार्द्र-गण्डै-
र्व्विच्छिन्न-मण्डनतयोज्व(ज्ज्व)ल-नष्ट-

११. [शोभै*]: ।।
यस्स्वारि-कामिनि मुखाम्बुरुहैर्ब्बलस्य
पूर्व्वं प्रताप-चकितै×क्रियते प्रणामः ।। ८
रत्नोद्गम-द्युति-

१२. [विर*]ञ्जित-कूल-तालै-
रुत्त्रस्त नक्क्र-मकर क्षत-[फे]न-मालैः ।।
चण्डानिलोद्धत-तरङ्ग-समस्त-हस्तै-

१३. र्य्यस्स्या[र्ण्णवै*]रपि बलानि नम×क्रियन्ते ।। ९
भूरुद्ध्र(द्धृ)त-द्रुम-विकम्पित-शैल-कील-
वित्त्रस्त-विद्रुत-मृग-द्विज-शूण्य-गु-

१४. [ल्मा*] (।*)
यस्स्योन्नत-प्रविष[मी]क्रित-राजमार्ग्गा
स्सैण्य-प्रयाण-समये(सैन्ये) विनिमज्जतीव ।। १०
प्रत्त्यस्त-मौलि-

१५. [म*]णि-रश्मि-नख-प्रभान्धै-
रब्भ्युद्यताञ्जलितया शबलाग्र-गण्डैः ।।
विद्याधरैः प्प्रियतमा-भुज-पाश-ब-

१६. [द्वै*]-
[र्य्य*]स्स्यादराद्दिवि यश[ां]सि नम × क्रियन्ते ।। ११
अग्रे(ऽ*)पि या(यो) वयसि सम्परिवर्त्तमान-
श्शास्त्रानुसार-परि-
१७. [वर्द्धित*]-शुद्ध-बुद्धिः ।।
सद्धर्म्म-मार्ग्गमिव राजसु दर्शयिष्य-
नृक्षा-विधिं भरतवज्जगत × करोति ।। १२
तस्मिन्प्र-
१८. [शास*]ति महीन्नृपति-प्रवीरे
स्वर्ग्गं यथा सुरपतावमित-प्रभावे ।।
नाभूदधर्म्म-निरतो व्यसनान्वितो
१९. [वा*]
[लोके*] कदा च न जनस्सुख-वर्ज्जितो वा ।। १३
यातेषु चतु[र्षं] क्रितेपु शतेषु सौस्यै-
ष्वाशीत-सोत्तरपदेष्विह वत्स-
२०. [रेषु*] ।।
शुक्ले त्रयोदश-दिने भुवि कार्त्तिकस्य
मासस्य सर्व्वजन-चित्त-सुखावहस्य ।। १४
नीलोत्पल-प्र-
२१. [सृत-रे*]ण्वरुणाम्बु-कीर्ण्णे
बन्धूक-वाण-कुसुमोज्व(ज्ज्व)ल-काननान्ते ।।
निद्रा-व्यपाय-समये मधुसूदनस्य
का-
२२. [ले प्रबु*]द्धकुमुदागर-शुद्ध-तारे ।। १५
वापी-तडाग-सुरसद्म-सभोदु(द)पान-
नानाविधोपवन-सङ्क्रम-दीर्घिक[ा]-
२३. [भिः*] ।।
शिष्टामिवाभरण-जातिभिरङ्गनां स्वां
यो गर्ग्गरा-तट-पुरं सक्क(म)लञ्चकार ।। १६
राज्ञस्त्रि(स्तृ)तीयमिव चक्षुरुदा-
२४. [र-वृत्ति*]-
द्दैव-द्विजाति-गुरु-ब[ा]न्धव-साधु-भक्तः ।।
शास्त्रै स्तुते च विनय(ये) व्यवहार-हीने
यो(ऽ*)पक्षपात-रहितो निद[धौ]
२५. [स्व-चिन्त*]ाम् ।। १७
सर्व्वस्य जीवितमनित्यमसारवच्च
दोला-चलामनुविचिन्त्य तथा विभूतिम् ।।
न्यायाग[ते*]-

२६. [न वि*]भवेन पराञ्च भक्ति
विक्ख्यापयन्नुपरि चक्क्र-गदा-धरस्य ।। १८
पीन-व्यायत-वृत्त-लम्बि-सुभुज × खड्ग ब्र[णै]-
२७. [रङ्कि*]तः ।।
कण्र्णान्त-प्रतिसर्प्पमान(ण)-नयन(:*) ग्या(श्या)मावदातच्छविः ।।
दर्प्पाविष्क्रितसोर(ष्कृतसार)-शत्रु-मथनो दुष्ठाश्व(दुष्टाश्व)-
२८. [यन्ता*] बली ।।
भकत्या चासुहृदाञ्च बान्धव-समो धर्म्मार्त्थ-कामोदितः ।। १९
प्रज्ञा-शौर्य्य-कुलोद्गतो दिशि
२९. [दिशि*] प्रक्ख्यात-वीर्य्यो वशी ।
पुत्त्रे विष्णुभटे तथा हरिभटे सम्बद्ध-वङ्श(वंश)-क्रियः ।।
एत-
३०. [त्पाप*]-पथावरोधि विपुलश्री-वल्लभैरात्मजैः ।।
विष्णो स्थानमकारयद्भगव-
३१. [तश्श्री*]मान्मयूराक्षकः ।। २०
कैलास-तुङ्ग-शिखर-प्प्रतिमस्य यस्स्य
दृष्ट्वाक्रि(कृ)तिं प्र-
३२. [मुदितै*]र्व्वदनारविन्दिः(न्दैः) ।।
विद्याधराः प्प्रियतमा-सहिताः सु-शोभ-
मादर्शि(र्श)-विम्ब-
३३. [मिव*] यान्त्यवलोकयन्तः ।। २१
यान्दृष्ट्वा सुर सुन्दरी-कर-तल-व्याघृष्ट-पृष्ठ-क्षणम् ।।
प्रत्त्या-
३४. [वर्त्त*]न-शङ्किनो रथ-हयानाक्रि(कृ)ष्य चञ्चत्सटान् ।।
पुण्योदर्क-मति-प्रभाव-मुनिभिस्सं-
३५. [स्तू*]यमानो(ऽ*)म्बरे ।।
संरज्याञ्जलि-कूट्टलन्नत(संकुच्याञ्जलिकुट्मलन्नत)-शिरा भीतः प्रयात्त्यङ्शु(त्त्यंशु)मान् ।। २२
मातृणाञ्च
३६. [प्रमु*]दित-घनात्यर्त्थं निह्लादिनीनाम् ।।
तन्त्रोद्भूत-प्रवल-पवनोद्वर्त्तिताम्भोनिधीनाम् ।।
३७. — — — — ⏑ ⏑ गतमिदं डाकिनी-संप्रकीर्ण्णम् ।।
वेश्मात्युग्ग्रं नृपति-सचिवो(ऽ*)कारयत्पुण्य-हेतोः ।। २३
पाताले ⏑ ⏑ —
३८. ⏑ — ⏑ रतिभिर्ग्गुप्तं भुजङ्गो(प*)मैः ।।
शीत-स्वादु-विशुद्ध-भूरि-सलिलं सोपानि(न)-मालोज्व(ज्ज्व)लम् ।।
द — — ⏑ ⏑
३९. — ⏑ — ⏑ गहनं क्षीरोदधि-स्पर्द्धिनम् ।।
कूपञ्चैनमकारयद्गुण-निधिः श्रीमान्मयूराक्षकः ।। २४
यावच्च — ⏑ ⏑ ⏑

४०. ⏑ ⏑ — सागरा रत्नवन्तो
नाना-गुल्म-द्रुम-वनवती यावदुर्व्वी स[शै]ला ।।
यावच्चेन्दुर्ग्रह-गण-चितं व्योम भा[सीक*]-
४१. [रोति*]
[ता*]वत्कीर्त्तिर्भवतु विपुला श्रीमयूराक्षकस्यैदिति कस्य ।। इति (।।*) २५
सिद्धिरस्तु (।।*)

प्रभाकर का मन्दसौर-अभिलेख

मालव सं० ५२४ (=४६७ ई०)

प्राप्तिस्थल : मन्दसौर दुर्ग की पूर्वी दीवार का भीतरी भाग ।

भाषा : संस्कृत ।

लिपि : दक्षिण वर्गीय ब्राह्मी ।

लेखक : रविल नामक कवि ।

उद्देश्य : दशपुर के शासक प्रभाकर के, जो गुप्तों के अधीन था (उसे गुप्तों के शत्रुओं का नाश करने वाला कहा गया है), सेनापति दत्तभट द्वारा एक स्तूप, एक कूप, एक प्रपा और एक आराम के निर्मित कराये जाने का उल्लेख करना ।

महत्त्व : इस लेख से सिद्ध होता है कि दशपुर प्रदेश ४६७ में भी गुप्तों के अधीन था। दूसरे, इसमें कहा गया है कि दत्तभट उस वायुरक्षित का पुत्र था जो द्वितीय चन्द्रगुप्त के पुत्र गोविन्दगुप्त का सेनापति रहा था—वह गोविन्दगुप्त जिसके चरणों में अनेक सामन्त नरेश शीश झुकाते थे और स्वयं विबुधाधिप (=इन्द्र) भी जिसके शौर्य से भयभीत रहता था । इससे गोविन्दगुप्त के द्वारा एक सम्राट् के रूप में शासन किये जाने की सम्भावना उत्पन्न होती है, यद्यपि उसका नाम गुप्त वंशावली में नहीं मिलता । स्वयं प्रभाकर की पहिचान का प्रश्न भी रोचक है क्योंकि यह सर्वथा अज्ञात है कि उसका बन्धुवर्मा के वंश से क्या सम्बन्ध था ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : गर्दे, इ० आई०, २७, पृ० १२–१८; सरकार, स० इ०, पृ० ४०६–६; अग्रवाल, जगन्नाथ, जे० ए० आई० एच०, ३, पृ० १०१ अ० ।

मूलपाठ

१. सिद्धम् (।।*)
ये[ने]दमुद्भव-निरोध-परंपरायां
मग्नं जगद्विविध-दुःख-निरन्तरायाम् (।*)
तित्त्रासुना त्रिपदिरो(को) निरदेशि धर्म्म-
स्तस्मै नमो(ऽ*)स्तु सुगताय [ग]ताय शान्तिम् (।।*) १
२. गुप्तान्वय-व्योमनि चन्द्रकल्पः
श्रीचन्द्रगुप्त-प्रथिताभिधानः (।*)
आसीन्नृपो लोक-विलोचनानां
नवोदितश्चन्द्र इवापहर्त्ता (।।*) २
भुवः पती[नां] भुवि भूपतित्व-
माच्छिद्य

३. धी-विक्क्रम-साधनेन (।*)
नाद्यापि मोक्षं समुपैति येन
स्व-वंश्य-पाशैरवपाशिता भूः (।।*) ३
गोविन्दवत्ख्यात-गुण-प्रभावो
गोविन्दगुप्तोर्ज्जि(त•)-ना[मधे]यम् (।*)
वसुन्धरेश-

४. स्तनयं प्रजज्ञे
स दित्यदि[त्यो]स्तनयैस्सरूपम् (।।*) ४
यस्मिन्नृपैरस्तमित-प्रतापै-
शिशरोभिरालिङ्गित-पादपद्मे ।
विचार-दो[लां] विबुधाधिपो(ऽ*)पि
शङ्कापरीतः

५. समुपा[रु]रोह (।।*) ५
सेनापतिस्तस्य बभूव नाम्ना
वाय्वादिना रक्षित-पश्चिमेन (।*)
यस्यारिसेनास्समुपेत्य सेनां
न कस्यचिल्लोचनमार्ग्गमीयुः (।।*) ६

६. शौचानु-
राग-व्यं(व्य)वसाय-मेधा-
दाक्ष्य-क्षमादिङ्गुणराशिमेकः (।*)
यशश्च यश्चन्द्र-मरीचि-गौरं
दधार धाराधर-धीर-घोषः (।।*) ७
उदीच्य-भूभृत्कुल-चन्द्रिकायां
स रा[ज]पुत्र्यां

७. जं(ज)नयांबभूव ।
नाम्नात्मजं दत्तभटं गुणानां
कीर्त्तेश्च यो(ऽ*)भून्निलयः पि[ते]व ।(।*) ८
दाने धनेशं धियि वाचि चेशं
रतौ स्मरं संयति पाशपाणिम् (।*)
यमर्त्थि-

८. विद्वत्प्रमदारिवर्ग्गा-
स्सम्भावयांचक्क्रुरनेकधैकम् (।।*) ९
गुप्तान्वयारि-द्रुम-धूमकेतुः
प्रभाकरो भूमिपतिर्य्यमेनम् (।*)
स्वेषाम्बलानां बलदेववीर्य्यं
गुणा-

९. नुरागादधिपं चकार ॥
चिकीर्षुणा प्रत्युपमार-लेशं
तेनैष पित्रोः शुभयोग-सिद्धैव ।
स्तूप-प्रपारामवरैरुपेतः
कूपो(ऽ*)र्ण्णवागाधजलो [व्य]खानि ।(।*) ११
यस्मि-

१०. न्सुहृत्सङ्गम-शीतलञ्च
मनो मुनीनामिव निर्म्मलं च ।
वचो गुरूणामिव चाम्बु पत्थ्यं
पेपीयमानः सुखमेति लोकः ।(।*) १२
शरन्निशानाथ-करामलायाः(या)

११. विख्यापके मालव-वङ्श(वंश)-कीर्त्तेः ।
शरद्गणे पञ्चशते व्यतीते
त्रि-घातिताष्टाभ्यधिके क्क्रमेण ।(।*) १३
भृङ्गाङ्ग-भारालस-बाल-पद्मे
काले प्रपन्ने रमणीय-साले ।

१२. गतासु देशान्तरित-प्रियासु
प्रियासु काम-ज्वलनाहुतित्वम् (।।*) १४
नात्युष्ण-शीतानिल-कम्पितेषु
प्रवृत्त-मत्तान्यभृत-स्वते(ने)षु ।
प्रियाधरोष्ठारुण-पल्लवेषु

१३. नवां व[ह]त्सूपवनेषु कान्तिम् ॥ १५
यो धातुमात्रे हृत-धातु-दोषः
सर्व्व-क्रिया-सिद्धिमुवाच तस्य ।
कुन्देन्दु-शुभ्रो(ऽ*)ऽभ्र-विघृष्ट-यष्टि-
रयं कृतो धातुवरः स-कूपः ।(।*) १६

१४. अनेक-सरिदङ्गनाङ्ग-परिभोग-नित्योत्सवो
महार्ण्णव इवाम्बुतो(नो) निचय एष मा भू(त्*) क्षयी ।
सुरासुर-नरोरगेन्द्र-महितो(ऽ*)प्ययं धातुधृ-
क्परैतु सम-

१५. कालताममरभूधरार्क्केन्दुभिः ।(।*) १७
स्तूप-कूप-प्रपारामा ये चैते परिकीर्त्तिताः (।*)
लोकोन्त(त्त)र-विहारस्य सीम्नि ते(ऽ*)भ्यन्तरीकृता(:*) ॥ १८
रविलस्य कृतिः ।(।*)

बन्धुवर्मा (और कुमारगुप्त) का मन्दसौर पाषाण-लेख

मालव संवत् ४९३ तथा ५२९ (=४३६ तथा ४७२ ई०)

प्राप्तिस्थल : १८८४ ई० में फ्लीट द्वारा प्रेषित लिपिकारों की खोज के दौरान मन्दसौर में एक फलक पर मिला।

वर्णन : प्रस्तर खण्ड २'७$\frac{3}{4}$"×१'४$\frac{1}{2}$" आकार का है और इसके लगभग सम्पूर्ण धरातल पर लेख लिखा है। लेख काफी अच्छी अवस्था में है।

लिपि : दक्षिणी वर्ग की परवर्ती ब्राह्मी।

भाषा : संस्कृत। प्रारम्भिक शब्द 'सिद्धम्' एवं समापन-शब्दों के अतिरिक्त पूर्णतः पद्यमय है।

छन्द : कुल ४४ श्लोक हैं। १–२ : शार्दूलविक्रीडित; ३, ५, ६, ११, १४, १८, २०, २२, २५, २७, ३०–३२, ४० : वसन्ततिलका; ४, १३, २१, ३३, ३८, ३९, ४१, ४२ : आर्या; ७–९, २४ : उपेन्द्रवज्रा; १०, १२, २८ : उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा); १५ : द्रुतविलम्बित; १६ : हरिणी; १७, २६ : इन्द्रवज्रा; १९, ४३ : मालिनी; २३ : वंशस्थ; २९ : मन्दाक्रान्ता; ३४–३७, ४४ : श्लोक (अनुष्टुभ्)।

प्रयत्नेन

लेखक : वत्सभट्टि। पूर्व्या चेयं रचिता वत्सभट्टिना

उद्देश्य : रेशमी वस्त्र बुनने वालों की एक श्रेणी द्वारा, जो लाट से आकर मन्दसौर में बसी थी, ४३६ ई० में, जब बन्धुवर्मा शासन कर रहा था, एक सूर्य मन्दिर बनवाये जाने तथा कालान्तर में अन्य राजाओं के काल में मन्दिर के क्षत हो जाने पर ४७२ ई० में उसी श्रेणी द्वारा मन्दिर के जीर्णोद्धार का वर्णन।

श्रेण्या देशेन भक्त्या च कारित भवनं रवेः

महत्त्व : यह लेख कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक, यह हमें बताता है कि किस प्रकार रेशम बुनने वाले लाट से आकर मन्दसौर बसे और कैसे उसके अनेक सदस्यों ने नये-नये पेशे अपना लिये परन्तु बहुत से पुराने व्यवसाय में लगे रहे और स्वयं को पृथक् श्रेणी के रूप में संगठित किया। दूसरे, इसमें दशपुर नगर का रोचक वर्णन मिलता है। तीसरे, इसमें कुमारगुप्त नामक गुप्त सम्राट् का उल्लेख मिलता है लेकिन यह स्पष्टतः नहीं कहा गया है कि वह उस समय शासन कर रहा था जब ४३६ ई० में मन्दिर बनवाया गया अथवा तब जब ४७२ ई० में मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया गया। इस विषय में विद्वानों में भारी विवाद रहा है। हमें ऐसा लगता है कि क्योंकि इन दोनों ही अवसरों पर कुमारगुप्त नामक व्यक्ति सम्राट् था—४३६ ई० में प्रथम कुमारगुप्त तथा ४७२ ई० में द्वितीय कुमारगुप्त—इसलिए इसके लेखक ने अपनी प्रबुद्ध कल्पनाशक्ति का परिचय देते हुए तत्कालीन सम्राट् का नाम केवल एक स्थान पर दे दिया है। चौथे, इसमें दशपुर का स्थानीय शासक बन्धुवर्मा को बताया गया है जो विश्ववर्मा नामक गोप्ता का पुत्र था। इससे वर्मा वंश की एक और पीढ़ी का ज्ञान होता है। पाँचवें, प्रस्तुत लेख बताता है कि ४३६ से ४७२ के बीच में, अन्य राजाओं के काल में (बहुवचन के प्रयोग से लगता है कम से कम तीन राजा इस बीच में हुए) रेशम बुनने वालों की श्रेणी द्वारा निर्मित मन्दिर क्षत हो गया था—टूट-फूट गया था या क्षत

कर दिया गया था। दशरथ शर्मा 'क्षत कर दिया गया' अर्थ लेते हैं और सरकार उनसे सहमत लगते हैं। परन्तु मन्दिर को यह क्षति हूण आक्रमण के कारण पहुँची थी—जैसा कि कुछ विद्वानों ने आग्रह किया है—कहना कठिन है।

महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-ग्रन्थ : फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० ८१ अ०; सरकार, स०इ०, पृ० २९९–३०७; जगन्नाथ, जे० यू० पी० एच० एस०, १३, खण्ड २, १९४०, पृ० ९९–१००; दिस्कल्कर, सेलेक्शन्स्, पृ० ६१–७५; भाण्डारकर, आर० जी०, जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १७, भाग २, पृ० ९४ अ०; दशरथ शर्मा, आई० सी०, ६, पृ० ११०।

मूलपाठ

१. [सिद्]ध्[अ]म् (।।) य्[ो व्]ऋत्[त्*]य[ ]र्थमुपास्यते सुरगणैस्सिद्धैश्च सिद्ध्यर्थिभिर्द्ध्यानकाग्र-
परैर्व्विधेयविषयेम्मोक्षार्त्थिभिर्य्योगिभिः। भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभिश्शापप्रसादक्षमैर्हेतुर्य्यो
जगतः क्षयाभ्युदयोः पायात् स वो भास्करः। (।।) तत्[त्*]व ज्ञानविदोऽपि यस्य न विदुर्ब्रह्मर्षे-

२. योऽभ्युद्यताः कृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रविसृतैः पुष्(ण्)ाति लोकत्रयम्। गन्धर्व्वामरसिद्धकिन्नर-
नरस्ससस्तूयतेऽभ्युत्थितो भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषितं सवित्ने नमः। (।।) यः प्रत्यहं प्रति-
विभात्युदयाचलेन्द्रविस्तीर्ण्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः क्षीबांगना-

३. जनकपोलतलाभिताम्रः पायात् स वस्सु(ि)क्रणाभरणो विवस्वान्। (।।) कुसुमभरान्ततरुवरदेव-
कुलसभाविहाररमणि(णी)यात्। लाटविषयान्नगावृतशैलाज्जगति प्रथितशिल्पाः। (।।) तेदेश
पार्त्थिवगुणापहृत्ताः प्रकाशमद्ध् वादिजान्यविरलान्यसुखा-

४. न्यपास्य। जातादरा दशपुरं प्रथमं मनोभिरन्वागतास्ससुतबन्धुजनास्समेत्य।। मत्तेभगण्डतटविच्युत-
दानविन्दुसिक्तोपचलाचलसहस्रविभूषा(ष)णायाः [।*] पुष्पावनम्रतरुमण्डवतंसकाया भूमेः परन्-
तिलकभूतमिदं क्रमेण।। तटोत्थवृक्षच्युत-

५. नैकपुष्पविचित्रतीरान्तजलानि भान्ति। प्रफुल्लपद्माभरणानि यत्र सरांसि कारण्डवसंकुलानि।।
विलोलवीची चलितारविन्दपतद्रजः पिञ्जरितैश्च हंसैः। स्वकेसरोदारभरावभुग्नैः कवचित्
सरांस्यम्बुरुहैश्च भान्ति। (।।) स्वपुष्पभारावनतैर्न्नगेन्द्रैर्मद-

६. प्रगल्भालिकुलस्वनैश्च। अजस्रयाभिश्च पुरङ्गनाभिर्व्वनानि यस्मिन् समलंकृतानि।। चलत्पता-
कान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि। तडिल्लताचित्रसिताकूटभ्रतुल्योपमानानि
गृहाणि।। यत्र कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्ति दीर्ग्घवलभी-

७. नि सवेदिकानि। गान्धर्व्वशब्दमुखरानि(णि) निविष्टचित्रकर्म्माणि लोलकदलीवनशोभितानि।।
प्रासादमालाभिरलंकृतानि धरां विदार्य्येव समुत्थितानि। विमानमाला सदृशानि यत्र गृहाणि
पूर्णेन्दुकरामलानि।। यद् भात्यभिरम्यसरिद्[द्*] वयेन चपलोर्म्मिणा समुपगूढं-

८. रहसि कुचशालिनीभ्यां प्रीतिरतिभ्या स्माराङ्गमिव।। सत्यक्षमादमशमव्रतशौचधैर्य्यस्वद्धायाय-
वृत्तविनयस्थितिबुद्ध्युपेतैः।। विद्यातपोनिधिभिरस्मयितैश्च विप्रैर्य्यद् भ्राजते ग्रहगणैः खमिव
प्रदीप्तैः।। अथ समेत्य निरन्तर संङ्गतैरहरहःप्रविजृम्भित-

९. सौहृदाः [।*] नृपतिभिस्तुतवत् प्रतिम्[ा]नितः प्रमुदिता न्यवसन्त सुखं पुरे।। श्रवण[सु]भग[ं]
ध्[ा]नुर्व्वेद्य[ं] दृढं परिनिष्ठिताः सुचरितशतासङ्गकेचिद्विचित्रकथाविदः। विनयनिभृतास्सम्य-
ग्धर्म्मं प्रसङ्गपरायण प्रियमपरुषं पत्थ्यं चान्ये क्षमा बहु भाषितुं।।

१०. केचित् स्वकर्म्मण्यधिकास्तथान्यैर्विज्ञायते ज्योतिषमात्मवद्भिः । अद्यापि चान्ये समरप्रगल्भाः कुर्व्वन्त्यरीणामहितं प्रसह्य । (।।) प्रज्ञा मनोज्ञवधवः प्रथितोरुवंशा वंशानुरूपचरिताभरणास्तथान्ये । सत्यव्रताः प्रणयिनामुपकारदक्षा विस्रम्भ-

११. [पूर्व्वं]मपरे दृढसौहृदाश्च ।। विजितविषयसङ्गैर्द्धर्म्मशीलैस्तथान्यैर्म् (ऋ)दुभिरधिकसत्[त्*]वैर्ल्लोकयात्रामरैश्च । स्वकुलतिलकभूतैर्मुक्तरागैरुदारैरधि कमभिविभाति श्रेणिरेवंप्रकारैः ।। तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्ण्णहारतांबूलपुष्पनिधिना सम-

१२. [लंकृ]तोऽपि । नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्या(श्र्या) यावन्न पट्टमयवस्त्रय्[ु]गानि धत्ते ।। स्पर्श[व]ता वर्ण्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन । यैस्सकलमिदं क्षितितलंकृतं पट्टवस्त्रेण ।। विद्याधरी रुचिरपल्लवकर्ण्णपूरवातेरितास्थरतरं प्रविचिन्त्य

१३. [लो]कं । मानुष्यमर्थनिचयांश्च तथा विशालांस्तेषां शुभा मतिरभूदचला ततस्तु ।। चतुस्समुद्रान्[त] विलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् । वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ।। समानधीश्शुक्रबृहस्पतिभ्यां ललामभूतो भुवि

१४. पार्त्थिवानां । रणेषु यः पार्त्थसमानकर्म्मा बभूव गोप्ता नृपविश्ववर्म्मा ।। दीनानुकम्पनपरः कृपणार्त्तवर्ग्गसन्ध्[ा]प्रदोऽधिकदयालुरनाथनाथः । कल्पद्रुमः प्रणयिनामभयं प्रदश्च भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत् ।। तस्यात्मजः स्थैर्य्यनयोपपन्नो बन्धुप्रियो

१५. बन्धुरिव प्रजानां । बंध्वर्त्तिहर्त्ता नृपबन्धुवर्म्मा द्विदृप्तपक्षक्षपणैकदक्षः ।। कान्तो युवारणपटुर्व्विनयान्वितश्च राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः । शृङ्गार मूर्त्तिरभिभात्यनलंकृतोऽपि रूपेण याः कुसुमचाप इव द्वितीयः ।। वैधव्य तीवरव्यसनक्षतानां

१६. स्म्रि(स्मृ)त्वा यमद्याप्यरिसुन्दरीणाम् । भयाद्भवत्यायतलोचनानां धनस्तनायासकरः प्रकम्पः ।। तस्मिन्नेव क्षितिपतिव्रि(वृ)षे बंधुवर्म्मण्युदारे सम्यक्स्फीतं दशपुरमिदं पालयत्युन्नतांशे । शिल्पावाप्तैर्द्धनसमुदयै पाट्टवायैरुदारं श्रेणीभूतैर्ब्भवनमतुलं कारितं

१७. दीप्तरश्मेः ।। विस्तीर्ण्णतुङ्गशिखरं शिखरि प्रकाशमभ्युद्गतेन्द्वमलरश्मिकलापगौरं । यद्भाति पश्चिमपुरस्य निविष्टकान्तचूडामणिप्रतिसमन्नयनाभिरामं ।। रामासनाथ[र]चने दरभास्करांशु वह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने चन्द्रांशुहर्म्यतल-

१८. चन्दनतालवृन्तहारोपभोध(ग)रहिते हिमदग्धपद्मे ।। रोद्ध्रप्रियंगुतरुकुन्दलताविकोशपुष्पासव प्रमु[ि]द्तालिकलाभिरामे । काले तुषारकणकर्क्कशशीतवातवेगप्रवृत्तलवलीनगणैकशाखे ।। स्मरवशगतरुणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरु-

१९. स्तनजघनघनालिङ्गननिर्भर्प्सृततुहिनहिमपाते ।। मालवानांगणस्थित्या यात्[े] शतचतुष्टये । त्रिनवत्यधिकेऽब्दानाम्रि(मृ)तौ सेव्यघनस्वने ।। सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे । मंगलाचारविधिना प्रासादोऽयं निवेशितः ।। बहुना समतीतेन

२०. कालेनान्यैश्च पार्त्थिवैः । व्यशीर्य्यतैकदेशोऽस्य भवनस्य ततोऽधुना ।। स्वयशोवि्[र्](वृ)द्धये सर्व्वमत्युदारमुदारया संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहं ।। अत्युन्नतमवदातम् नभ[ः] स्पृशन्निवमनोहरैः शिखरैः ।: शशिभान्वोरभ्युदयेष्वमलमयूखायतन-

२१. भूतं ।। वत्सरशतेषु पंचसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु । यातेष्वभिरम्यतपस्यमासशुक्लद्वितीयायां ।। स्पष्टैरशोकतरुकेतकसिंदुवारलोलातिमुक्तकलतामदयन्तिकानां । पुष्पोद्गमैरभिनवैरधिगम्य नूनमैक्यं विजृंभितशरे हरपू(घू)तदेहे ।।

२२. मधुपानमुदितमधुकरकुलोपगीतनगनै(णै)कपृथुशाखे । काले नवकुसुमोद्गमदंतुरकांतप्रचुररोद्ध्रे ।। शशिनेव नभो विमलं कौस्[त्]ुभमणिनेव शार्ङ्गिणो वक्षः । भवनवरेण तथेदं पुरमखिलमलंकृतमुदारम् ।। अमलिन शशि—

२३. लेखादंतुरं पिङ्गलानां परिवहति समूहं यावदीशो जटानां । विकटकमलमालामंशुसक्तां च शार्ङ्गी भवनमिदमुदारं शाश्वतन्तावदस्तु ।। श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः । पूर्व्वा चेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना ।

२४. स्वस्ति कर्त्तृ लेखकवाचकश्रोतृभ्यः ।। सिद्धिरस्तु ।।

तोरमाण का कुरा पाषाण फलक-लेख

प्राप्तिस्थल : आधुनिक पाकिस्तानी पञ्जाब में कुरा नामक स्थान ।

लिपि : उत्तरी वर्ग की कीलशीर्षक ब्राह्मी ।

भाषा : प्राकृत से प्रभावित संस्कृत ।

तिथि : वर्ष संख्या मिट गयी है ।

विषय : मही शासक बौद्ध सम्प्रदाय के आचार्यों के लिए रोट-जयवृद्धि के पुत्र रोट-सिद्धवृद्धि द्वारा विहार निर्माण का उल्लेख ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : ब्युलर, इ०आई०, १, पृ० २३९ अ०; सरकार, स०इ०, पृ० ४२२–४ ।

मूलपाठ

१. [१ँ*][राजाधि*]राज-महाराज-तोरमाण-षा[हि]-जऊ[व्लस्याभिवर्ध*][मान-राज्ये] * * [संवत्सरे*]

२. * * * * मे मार्गशिर-मास-शुक्ल-द्वितीयायाम्(यां) चान्द्र[मग्रहण?] * * * * * * गग[न*]-

३. [चरे च] वर* शुचि-शात(शान्त)-ध्यानाध्ययन-मोक्ष-चित्ता(न्ता)नुकूले प्र[दिष्ट] * * * * * * * * [न*]-

४. क्षत्रे भगवतो बुद्धस्य देवातिदेवस्य सर्वपापपरिक्षीण-सर्वपुण्यसमुद्गत[स्य]

५. तीर्ण-स(ं*)सारार्णव(स्य*) सत्वा(त्त्वा)नां तारयिता(तुः) दशबल-बलिन(:*) चतुवै(र्वै)शारद्य-चतस्रप्रतिसं[भिदा]-

६. अष्टादशावेणी(णि)काद्भुत-धर्म-समन्वागतस्य सर्वसत्व(त्त्व)वत्सल-महाकारुणिकस्य बु-

७. द्धप्रमुख(खे) चातुर्दिशे भिक्षु-संघे देयधर्मो(ऽ*)य(ं*) विहार(:*) प्रतिष्ठापन नश्चीर-पति-प्रशस्ता-

८. दारित-नामधेय-विशेषवृद्धिः रोट्ट-जयवृद्धि अनेक-विहार-स्वामिनो सत्पुत्रेण(।*) यदत्र पुण्यं तद्भवतु

९. [मा]तापित्रो(:*) आपा(प्या)यक-पोषक(योः*) चित्रस्य जंबुद्वीपस्य दर्शयितारो (दर्शयित्रोः) अग्रे-भावप्रत्यंशतायास्तु तथा विहार-स्वामिनो

१०. रोट-सिद्धवृद्धि सर्वेषां भ्रातराणां भगिनीनां पत्नीनां पुत्राणां दुहितॄणां महाराज-तोरमाण-षाह-जऊव्लः(व्लस्य) स-

११. र्वेषां देवीनां राजपुत्राणां राजदुहितानां(तॄणां) च सर्व-सत्वानां(त्त्वानाम्) अनुत्तर-ज्ञानावाप्तये (।*) अयं पुन(:*) विहारस्यो-

१२. पकरण(पकारः) चातुर्दिशे भिक्षुसंघे परिग्रहे आचाय(र्याणां*) [म]हीश[ासकानां(नाम्)] (।*) [साद्धकपु] * * त्रेण* [आचार्य]-

१३. ··· ··· ··· ··· ···

तोरमाण का एरण वराहमूर्ति-अभिलेख

शासन वर्ष १

प्राप्तिस्थल : मध्य प्रदेश के सागर जिले का एरण स्थल ।

लिपि : उत्तरी वर्ग की परवर्ती ब्राह्मी ।

भाषा : संस्कृत ।

उद्देश्य : मातृविष्णु के भाई धन्यविष्णु द्वारा उस मन्दिर के निर्माण का उल्लेख जहाँ यह प्रतिमा मिली है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० १५६ अ०; सरकार, स०इ०, पृ० ४२०–२२ ।

मूलपाठ

१. १° [।।*]
जयति धरण्युद्धरणे घन-घोणाघात-घूर्णित-महीद्ध्रः (।*)
देवो वराहमूर्त्तिस्त्रैलोक्य-महागृह-स्तम्भः (।।*) १
वर्षे प्रथमे पृथिवी[म्]
२. पृथु-कीर्त्तौ पृथु-द्युतौ (।*)
महाराजाधिराज-श्रीतोरमाणे प्रशासति ।(।*) २
फाल्गुन-दिवसे दशमे(म) । इत्येवं राज्य-वर्ष-मास-दिनैः (।*)
एतस्यां
३. पूर्व्वायाम् । स्व-लक्षणैर्युक्त-पूर्व्वायाम्(यां) ।(।*) ३
स्वकर्म्माभिरतस्य क्रतुयाजिनो(ऽ*)धीत-स्वाध्यायस्य विप्रर्षेर्म्मैत्त्रायणीयवृषभस्येन्द्र-विष्णोः
प्रपौत्त्रस्य ।
४. पितुर्गुणानुकारिणो वरुणविष्णोः पौत्त्रस्य पितरमनुजातस्य स्ववंश-वृद्धि-हेतोर्हरिविष्णोः
पुत्त्रस्यात्यन्त-भगवद्भक्तस्य विधातुरिच्छया ।
५. स्वयंवरयेव राजलक्ष्म्याधिगतस्य चतुःसमुद्र-पर्यन्त-प्रथितयशसः अक्षीय-मान[ध]न-स्यानेक-शत्त्रु-
समर-जिष्णोः महार(ा*)ज-मातृविष्णोः
६. स्वर्ग्गतस्य भ्रात्त्रानुजेन । तदनुविधायिना तत्प्रसाद-परिगृहीतेन धन्यविष्णुना तेनैव [स]हाविभक्त-
पुण्यक्रियेण मातापित्त्रोः
७. पुण्याप्यायनार्थमेष भगवतो वराहमूर्त्तेर्ज्जगत्परायणस्य नारायणस्य शिला-प्रा[सादः] स्व-विष[ये](ऽ*)-
स्मिन्नैरिकिणे कारितः ।(।*)
८. स्वस्त्यस्तु गो-ब्राह्मण-पुरोगाभ्यः सर्व्व-प्रजा[भ्य इ]ति ।।

तोरमाण तथा महाराज भूत का सञ्जेली (एम० एस० यूनीवर्सिटी) दानपत्र

शासन वर्ष ३

प्राप्तिस्थल : गुजरात राज्य के पञ्चमहल जिले का सञ्जेली स्थल ।

लिपि : दक्षिणी वर्ग की ५वीं–छठी शती ई० की ब्राह्मी ।

भाषा : संस्कृत ।

उद्देश्य : तोरमाण के विषयपति महाराज भूत के काल में कुछ व्यापारियों व सार्थवाहों द्वारा स्वेच्छया देवदेय दिये जाने की घोषणा ।

महत्त्व : इससे सिद्ध होता है कि तोरमाण ने गुजरात जीता था । इस दानपत्र के सम्पादक मेहता और ठक्कर का विचार है कि तोरमाण ने गुजरात अपने शासन के तीसरे वर्ष ही जीत लिया था । लेकिन यह असम्भव है क्योंकि तोरमाण के एरण लेख में वहाँ उसका अधिकार प्रथम वर्ष में बताया गया है । यह असम्भव है कि तोरमाण सिंहासनारूढ़ होने के बाद पहिले ही वर्ष में पञ्जाब, यू० पी० आदि जीतकर एरण पहुँच गया था । स्पष्टतः एरण लेख का प्रथम वर्ष उसकी एरण विजय का प्रथम वर्ष है और इस लेख का तीसरा वर्ष उसकी गुजरात विजय का तीसरा वर्ष है जो उसने एरण विजय (लग० ५१० ई०) के बाद पायी होगी ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : मेहता, आर० एन० तथा ठक्कर, ए० एम०, एम० एस० यूनीवर्सिटी कॉपर प्लेट्स् ऑव दि टाइम ऑव तोरमाण, बड़ौदा, १९७८ ।

मूलपाठ

१. (सव्वत्स)रे ३ श्राव शुदि २ परमभट्टारक महाराजाधिराज श्रीस्तो(श्री तो)रमाणे पृथिवीमनुशासति तत्प्रसादाद्विषयपति

२. (महारा)ज भूतस्य शिवभागमुरे(पुरे) भुज्यमानके वद्रपाल्याः पूर्व्वस्यान्दिशि एतद्राजमातु विराढ्यिकाकारित

३. (स्व)देव जयस्वामिपादानां बलिचरुसत्नधूपगन्धपुष्पदीपतैलखण्डस्फुटितप्रतिसंस्कारणा(णो)पयोग्यं(ग्य)-

४. मात्मनः पुण्याभिवृद्धये चतुर्द्दिशाभ्यागतकवैदेश्य वाणिजकाः वस्तव्याः पोट्टलिकापुत्नाश्च लेखयन्ति

५. यत्न गुडलवणकर्प्पासभाण्डभरकेषु आचन्द्रार्क्कार्णवक्षितिस्थितिसमकालीयं दर्शविशोप-

६. कीनकः भाण्द(ण्ड)भरकः अर्द्धपादीनकः लवणभरकः सेतिनकः धान्यभल्ला सेतीनिका धान्यशकट

७. मर्द्धकोटुविकं गर्द्दभभाण्द(ण्ड)भरको वींशोपक दिवर्द्धसेतकः भाण्डपा(पो)ट्टलिका विंशोपकिनिकि धान्यभरकेषु

८. धान्यसेतिका अतोर्द्ध(अतोऽर्द्धं) गर्द्दभभरकेषु दासीगुण्ठं पदूनं(पदोनं) रूपीनकं एतांचाक्षयणीं उपरि लिखितन्यायेन

९. दीयमानां यः वणिग्रामाभ्यन्तरः पुट्टलिकापुत्रो वा कश्चिदप्रमाणीकरिष्यति सः पञ्चभिर्म्महापातकैः सं

१०. युक्तो भविष्यन्ति(ति) एवं चास्य प्रमाणं वाणिजकाः स्वहस्तेन लेखयन्ति दागपुरवास्तव्य गोमिक वेमत्त माथुर सनिहि

११. त माथुरिकवास्तव्य सेनवर्म्मा कन्यकुल्याक पितृयश चिरायुषणुज्जेनकं ग्ढुशूएभश्शम वरुणोदरीवास्तव्य पोट्ट

१२. लिकापुत्र द्रोणसोमभक्कल महिषह्लदक भन्नित्युध्रुवभक्षण अग्निशर्म्मं प्रचकासक भक्कूर शूर गोण्यत

१३. रक रुद्रदत्त प्रियज्ञारयषक भारणभट्टिश शर्म्मं कालोट्टियकभट्टिवास्तव्यासं(ज्ञा)ढ्यक यज्ञगोग्गभट्टियक

१४. भगवद्विनीत स्कान्दवर्म्म भाहस्ति हरिमतमोह भद्विज भग्गुण रिवासुलवाणिजकवास्तव्य दत्त गुज्जर भरो

१५. पुत्र भट्टिमहत्तर भट्टि रुद्रमहेश्वर स्वामिक महेश्वर मल्लक सद्गामक कौटदेवट अत्रैव चाक्षयणी हेतोः वाणिज

१६. क षष्ठि गृहवस्तुवेति ॥

मिहिरकुल का ग्वालियर पाषाण-लेख

शासन वर्ष : १५

प्राप्तिस्थल : मध्य प्रदेश के ग्वालियर के किले में एक सूर्य मन्दिर की दीवार से प्राप्त ।

भाषा : संस्कृत ।

लिपि : उत्तरी वर्ग की परवर्ती ब्राह्मी ।

महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-ग्रन्थ : मित्र, आर० एल०, जे० ए० एस० बी०, ३१, पृ० ३९१ अ०; फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० १६२ अ०; सरकार, स० इ०, ४२४–२६ ।

मूलपाठ

१. [१ ।। स्वस्ति ।।*]
[ज*][य]ति जलद-वल-ध्वान्तमुत्सारयन्स्वैः
किरण-निवह-जालैर्व्योम विद्योतयद्भिः (।*)
उ[दय*]-[गिरि]-तटाग्र[ं*] मण्डयन् यस्तुरगैः (तुरङ्गश)-
चकित-गमन-खेद-भ्रान्त-चंचत्सटान्तैः (।*) १
उदय-गिरि]-

२. ⌣ — — ग्रस्त-चक्रो(ऽ*)र्त्ति-हर्त्ता
भुवन-भवन-दीपः शर्व्वरी-नाश-हेतुः (।*)
तपित-कनक-वर्ण्णैरंशुभि ⌢ पङ्कजान(ा*)-
मभिनव-रमणीयं यो विधत्ते स वो(ऽ*)व्यात् ।(।*) २
श्री-तोर[माण इ*]ति यः प्रथितो

३. [भूचक्र*]पः प्रभूत-गुणः (।*)
सत्य-प्रदान-शौर्य्याद्येन मही न्यायत[ः] शास्ता [।।*] ३
तस्योदित-कुल-कीर्त्तेः पुत्रो(ऽ*)तुल-विक्रमः पतिः पृथ्व्याः (।*)
मिहिरकुलेतिख्यातो(ऽ*)भङ्गो यः पशुपतिम * * * (।।*) ४

४. [तस्मिन्रा*]जनि शासति पृथ्वीं पृथु-विमल-लोचने(ऽ*)र्त्तिहरे (।*)
अभिवर्द्धमान-राज्ये पंचदशाब्दे नृप-वृषस्य (।।*) ५
शशिरश्मिहास-विकसित-कुमुदोत्पल-गन्ध-शीतलामोदे (।*)
कार्त्तिक-मासे प्राप्त(प्ते) गगन-

५. [पतौ*] [नि*]र्म्मले भाति (।।*) ६
द्विज-गण-मुख्यैरभिसंस्तुते च पुण्याह-नाद-घोषेण (।*)
तिथि-नक्षत्र-मुहूर्त्ते संप्राप्ते सुप्रशस्त-[दिने] (।।*) ७
मातृतुलस्य तु पौत्रः पुत्रश्च तथैव मातृदासस्य (।*)
नाम्ना च मातृचेटः पर्व्व-

६. [त-दुर्ग*][ानु]वास्तव्यः (।।*) ८
नानाधातु-विचित्ने गोपाह्वय-नाम्नि भूधरे रम्ये (।*)
कारितवान्शैलमयं भानोः प्रासाद-वर-मुख्यम् (।।*) ९
पुण्याभिवृद्धिहेतोर्म्मातापित्नोस्तथात्मनश्चैव (।*)
वसता(ं*) च गिरिवरे(ऽ*)स्मि(न्*) राज्ञः
७. * * * [सा?]देन (।।*) १०
ये कारयन्ति भानोश्चन्द्रांशु-सम-प्रभं गृह-प्रवरं(रम्) (।*)
तेषां वासः स्वर्ग्गे यावत्कल्प-क्षयो भवति ।। ११
भक्त्या रवेर्व्विरचितं सद्धर्म्म-ख्यापनं सुकीर्त्तिमयं(यम्) (।*)
नाम्ना च केशवेतिप्रथितेन च ।
८. * * * [दि?]त्येन (।।*) १२
यावच्छर्व्व-जटा-कलाप-गहने विद्योतते चन्द्रमा
दिव्यस्त्री-चरणैर्व्विभूषित-तटो यावच्च मेरुर्नगः (।*)
यावच्चोरसि नील-नीरद-निभे विष्णुर्व्विभर्त्युज्वलां (र्व्विभत्युज्ज्वलां)
श्रींस्ताव(श्रीं ताव)द्गिरि-मूर्ध्नि तिष्ठति
[शिला-प्रा*]साद-मुख्यो रमे (।।*) १३

महाराज गौरि का खण्डित मन्दसौर शिलालेख

(पाँचवीं शती का अन्तिम दशक)

प्राप्तिस्थल : मन्दसौर के एक खेत से प्राप्त ।

भाषा : संस्कृत ।

लिपि : उत्तरी वर्ग की ब्राह्मी ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : सरकार, इ० आई०, ३०, पृ० १२७ अ०; ३३, पृ० २०५ अ०; मिराशी, आई० एच० क्यु०, ३३, पृ० ३१४ अ०; ३५, पृ० २५४ अ०; त्रिवेदी, एच० वी०, पी० आई० एच० सी०, १९५४ ।

मूलपाठ

१. [जितं भग*][वता तेन] गरुत्मर(द्र)थ-यायिना ।
त्रैलोक्याम * * * *
२. [विष्णुना चक्र*]पाणिना ।। १
जितवा रिपुवलं संखे(ख्ये) रम्यं पुर(रं) दशादि[कम् ।*]
३. [पालयति*] [न]रव्यागघ्रे नरेन्द्रादित्यवर्द्धने ।। २
आसीन्मान * * * *
४. * * * * * वर्द्धण:(न: ।)
राष्ट्रवर्द्धण(न)-सत्पुत्र:(त्रो) यशोगुप्तो नरा[धिप: ।।*] ३
५. [तस्यानेन त*][नू]जेन श्री-महाराज-गौरिणा ।। ४
यस्य मातामह: श्री[मान्*]
६. * * * * [प्रताप]वान् (।*)
हरिशूरेति विक्ख्याता जननी च पतिव्रता ।। ५
७. * * * * समासाद्य तप्त्वा तममनुत्तमं(मम् ।)
दत्वा(त्त्वा) दानं द्विजेभ्य[श्च*]
८. [माता यस्य*] दिवङ्गता: । ६
येन कूपास्तटाकानि मण्डपाश्च मनो[हरा: ।*]
९. [कारिता पुण्य*]-वृद्ध्यत्थं ग्रामेषु नगरेषु च ।। ७
तेनेदं नगराभ्या[से]
१०. [मातु: पुण्याभि*]वृद्धये ।
खनितं(त)स्स[र्व्वं-सत्वा(त्त्वा)नां] सुख-[पेयो ज]ला[शय: ।।*] ८
११. ·····प्रद···तेव मातापित्रो·········[।।*] ९

प्रकाशधर्मा औलिकर का रिस्थल-पाषाण-फलक-लेख

मालव सं० ५७२ (=५१५-१६ ई०)

यह अभिलेख मध्य प्रदेश के मन्दसौर जिले की सीतामऊ तहसील के **रिस्थल ग्राम** से प्राप्त हुआ था। दिसम्बर १९८३ में इसकी छाप डॉ० एस० पी० तिवारी ने ली। उन्होंने ही के० वी० रमेश के साथ इसे 'जर्नल ऑव एपिग्राफिकल सोसायटी' में (अंक १०, पृ० ९९–१०३) सम्पादित किया है।

इस शिलाफलक लेख में २१ पंक्तियाँ हैं। लेख काफी अच्छी दशा में है। इसकी **भाषा** संस्कृत है और इसमें २१ श्लोक हैं जो दस प्रकार के छन्दों में रचित हैं। इसकी **लिपि** 'पाँचवीं-छठी शती की गुप्त ब्राह्मी' है। इसकी रचना कक्क के पुत्र वासुल ने की थी। इसका **उद्देश्य** औलिकर नरेश प्रकाशधर्मा के शासनकाल में राजस्थानीय भगवद्दोष द्वारा एक सरोवर एवं एक शिव-मन्दिर के निर्माण का वर्णन करना है। लेख में मालव सं० ५७२ **तिथि** दी गयी है। भगवद्दोष द्वारा निर्मित सरोवर के अवशेष सम्पादकों के अनुसार अभी तक उपलब्ध हैं।

यह लेख भगवान् शिव की स्तुति से प्रारम्भ होता है। दूसरे श्लोक में तत्कालीन शासक भगवत्प्रकाश (अर्थात् प्रकाशधर्मा) का नाम आता है। प्रकाशधर्मा को स्तुति वाले श्लोक के बाद भगवत्प्रकाश उसी प्रकार कहा गया है जैसे ऐहोले-प्रशस्ति में द्वितीय पुलिकेशी को 'सत्याश्रय'। तीसरे से तेरहवें श्लोक तक उसके औलिकर वंश का वर्णन है जो इस प्रकार है : सेनापति द्रपवर्द्धन→उसका पुत्र जयवर्द्धन→उसका पुत्र अजितवर्द्धन→उसका पुत्र विभीषणवर्द्धन→उसका पुत्र राज्यवर्द्धन और→उसका पुत्र प्रकाशधर्मा जिसकी उपाधि अधिराज (=राजाधिराज या सम्राट्) दी गयी है।

प्रकाशधर्मा के इन सभी पूर्वजों की उपलब्धियों का वर्णन रूढ और तथ्यविहीन है और उनके शत्रुओं के, जिन पर उन्होंने विजय पायी, नाम नहीं बताये गये हैं। स्वयं प्रकाशधर्मा का १४वें तथा १५वें श्लोकों में प्रदत्त वर्णन रूढ है। लेकिन १६वें तथा १७वें श्लोकों में यह महत्त्वपूर्ण सूचना दी गयी है कि उसने हूण राज्य में अपने को प्रतिष्ठित किया, 'तोरमाण से लेकर' हूण राजाओं के मौलि रत्नों की ज्योत्स्ना से अपने पादपीठ को प्रकाशमान किया तथा युद्ध में अपनी 'अधिराज' उपाधि को यथार्थ बनाया (आ तोरमाण नृपतेर्नृपमौलिरत्नज्योत्स्ना प्रतान शवलीकृत पादपीठम्। हूणाधिपस्य भुवि येन गतः प्रतिष्ठां नीतो युधा वितथतामधिराज शब्दः)। इतना ही नहीं उसने इस युद्ध में शत्रु के मारे गये हाथियों के दाँतों से बना भद्रासन तपोनिधियों को भेंट किया एवं उसके (=तोरमाण के) अन्तःपुर की श्रेष्ठतम प्रमदाओं को छीनकर भगवान् वृषध्वज को समर्पित कर दिया। उसने अपने पितामह की स्मृति में विभीषणसर का निर्माण करवाया, एक विशाल स्थाणु (=शिव) मन्दिर निर्मित करवाया और उसके आदेश से उसके राजस्थानीय भगवद्दोष ने दशपुर में प्रकाशेश्वर महादेव एवं ब्रह्मा के मन्दिर बनवाये।

प्रस्तुत अभिलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे छठी शती ई० के उत्तर भारतीय राजनीतिक इतिहास की अनेक समस्याएँ सुलझाने में सहायता मिली है। एक, इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है कि ५१५–१६ ई० में दशपुर में अधिराज प्रकाशधर्मा उर्फ भगवत्प्रकाश का शासन था। यह तिथि दशपुर

के सुप्रतिथ नरेश यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन की ज्ञात तिथि ५३२ ई० से केवल १६ वर्ष पूर्व पड़ती है। यशोधर्मा और प्रकाशधर्मा नामों के सादृश्य को ध्यान में रखते हुए यशोधर्मा को प्रकाशधर्मा का उत्तराधिकारी, लगभग निश्चित रूप से पुत्र, मानना चाहिये। यह भी स्मरणीय है कि प्रस्तुत प्रशस्ति की रचना वासुल ने की थी जो स्पष्टतः यशोधर्मा की तिथिविहीन प्रशस्ति का रचयिता वासुल है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत रिस्थल-प्रशस्ति राजस्थानीय (=गवर्नर) भगवद्दोष का उल्लेख करती है और यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन के ५३२ ई० के अभिलेख में निर्दोष को भगवद्दोष का भतीजा बताया गया है। इससे भी सिद्ध है कि यशोधर्मा और निर्दोष प्रकाशधर्मा तथा भगवद्दोष से अगली पीढ़ी के थे।

इस अभिलेख से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि यशोधर्मा का उदय उस तरह उल्कापात रूप में नहीं हुआ जैसा आर० सी० मजूमदार जैसे प्राचीन इतिहासकार मानते थे। हमने रिस्थल-अभिलेख प्राप्त होने के पूर्व भी आग्रह किया था कि यशोधर्मा के पूर्वज स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण राजा थे। यह अनुमान रिस्थल-अभिलेख से सही सिद्ध हो गया है।

रिस्थल-अभिलेख से हूण-इतिहास पर भी नया प्रकाश मिला है। हमने इसके पूर्व भी यह कहा था कि तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल की भारत में शक्ति ५२७–३२ ई० के बीच टूटी थी। इसलिए उसके शासन के १५ वर्ष, जिसकी चर्चा उसके ग्वालियर-लेख में है, ५१२ ई० के आसपास कभी प्रारम्भ होंगे। दूसरे शब्दों में तोरमाण के शासन का अन्त ५१२ ई० के लगभग हुआ। प्रस्तुत अभिलेख से भी प्रमाणित है कि प्रकाशधर्मा तोरमाण पर ५१५–१६ ई० के पूर्व विजय प्राप्त कर चुका था।

प्रस्तुत प्रशस्ति से यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रकाशधर्मा और यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन का ४६० ई० में मन्दसौर पर शासन करने वाले आदित्यवर्द्धन से (चाहे उसका दूसरा नाम गौरि था या नहीं) कोई सम्बन्ध नहीं था क्योंकि रिस्थल-अभिलेख प्रकाशधर्मा के कम से कम पाँच पूर्वजों का उल्लेख करता है जिनमें न आदित्यवर्द्धन का नाम आता है, न महाराज गौरि का और न 'बृहत्संहिता' में उल्लिखित अवन्तिनाथ द्रव्यवर्द्धन का। इसलिए इन नरेशों का प्रकाशधर्मा के वंश से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। रिस्थल-अभिलेख के सम्पादकों ने कल्पना की है कि प्रकाशधर्मा के वंश का प्रथम सदस्य द्रपवर्द्धन, हो सकता है 'बृहत्संहिता' का द्रव्यवर्द्धन रहा हो। परन्तु द्रपवर्द्धन केवल सेनापति था, 'महाराजाधिराज' नहीं। इसी प्रकार प्रकाशधर्मा और यशोधर्मा का औलिकर वंश विश्ववर्मा-बन्धुवर्मा वाले औलिकर वंश से भी प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं हो सकता क्योंकि प्रकाशधर्मा के प्रथम पूर्वज सेनापति द्रपवर्द्धन और उसके उत्तराधिकारियों को पाँचवीं शती ई० में रखना होगा जबकि यही समय बन्धुवर्मा और उसके पूर्वजों का है। फिर यह कल्पना करना भी उचित नहीं होगा कि बन्धुवर्मा के बाद उसके किसी वंशज ने मामूली सेनापति के रूप में कार्य किया होगा। तीसरे, दशपुर के प्राचीन औलिकरों के नाम—सिंहवर्मा से लेकर बन्धुवर्मा तक—'वर्मान्त' थे और प्रकाशधर्मा के पूर्वजों के नाम—द्रपवर्द्धन से लेकर राज्यवर्द्धन तक—वर्द्धनान्त थे। हमें यह सम्भावना अधिक उचित लगती है कि महाराज गौरि के वंश का (जिसका ४६० ई० में, अर्थात् प्रकाशधर्मा की ज्ञात तिथि से मात्र २५ वर्ष पूर्व, दशपुर पर निश्चय ही अधिकार था—चाहे गवर्नर रूप में सही—और जिसमें राज्यवर्द्धन, राष्ट्रवर्द्धन तथा सम्भवतः आदित्यवर्द्धन—जो हो सकता है गौरि का दूसरा नाम रहा हो—जैसे नाम वाले सदस्य थे), कुछ परोक्ष सम्बन्ध प्रकाशधर्मा के वंश से था। हो सकता है महाराज गौरि का वंश प्रकाशधर्मा के वंश की कोई शाखा रहा हो।

प्रस्तुत अभिलेख में जहाँ प्रकाशधर्मा के हाथों तोरमाण की पराजय का उल्लेख है वहाँ 'आ-तोरमाण नृपतेः' वाक्यांश आया है जिससे लगता है कि प्रकाशधर्मा ने तोरमाण के बाद शासन करने वाले हूणराज अर्थात् मिहिरकुल को भी परास्त किया था। अभिलेख के सम्पादकों का विचार है कि तोरमाण और मिहिरकुल एक ही युद्ध में परास्त हुए थे। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि यशोधर्मा के तिथिविहीन

लेख में यशोधर्मा मात्र इतना दावा करता है कि मिहिरकुल ने उसके चरणों की वन्दना की थी—वह यह नहीं कहता कि उसने स्वयं मिहिरकुल को हराया था । परन्तु हमें यह तर्क सही नहीं लगता क्योंकि यशोधर्मा की तिथिविहीन प्रशस्ति में स्पष्ट कहा गया है कि मिहिरकुल का मस्तक यशोधर्मा की 'भुजाओं के बल से प्रणाम करने के लिए झुकाया जाने के कारण क्लेशयुक्त कर दिया गया है ।'

जो भी हो, रिस्थल-अभिलेख के प्रकाश में छठी शती ई० के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारतीय इतिहास को नया रूप देने की आवश्यकता हो गयी है ।

यशोधर्मा का तिथिविहीन मन्दसौर पाषाण-स्तम्भ-लेख

प्राप्तिस्थल : दशपुर (आधुनिक मन्दसौर)।

भाषा : संस्कृत।

लिपि : छठी शती ई० की उत्तर भारतीय ब्राह्मी।

उद्देश्य : यशोधर्मा की कीर्त्ति तथा उसके द्वारा उस स्तम्भ की स्थापना का वर्णन जिस पर यह लेख लिखा है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : फ्लीट, कॉर्पस ३, सं० ३३; कीलहार्न, आई० ए०, १८, पृ० २१९ अ०; वही, २०, पृ० १८८ अ०; दिस्कल्कर, सेलेक्शन्स्, पृ० ७६–८३; सरकार, स० इ०, पृ० ४१८; भाण्डारकर, आर० जी०, जे० बी० आर० ए० एस०, २२, पृ० १०८ अ०।

मूलपाठ

१. वेपन्ते यस्य भीम-स्तनित-भय-समुद्भ्रान्त-दैत्या दिगन्ताः
शृङ्गाघातैः सुमेरोर्व्विघटित-दृषदः कन्दरा यः करोति ।
उक्षाणं तं दधानः क्षितिधर-तनया-दत्त-[पञ्चाङ्गुला]ङ्कं
द्राघिष्ठः शूलपाणेः क्षपयतु भवतां शत्रु-तेजाङ्सि(जांसि) केतुः ।। १

२. आविर्भूतावलेपैरविनय-पटुभिर्ल्लङ्घिताचार-[मा]र्ग्गै-
र्म्मोहादैदंयुगीनैरपशुभ-रतिभिः पीड्यमाना नरेन्द्रैः ।
यस्य क्ष्मा शार्ङ्गपाणेरिव कठिन-धनुर्ज्या-किणा[ङ्क]-प्रकोष्ठ[ं]
बाहुं लोकोपकार-व्रत-सफल-परिस्पन्द-धीरं प्रपन्ना ।। २

३. निन्द्याचारेषु यो(ऽ*)स्मिन्विनय-मुषि युगे कल्पना-मात्र-वृत्या(त्त्या)
राजस्वन्येषु पाङ्सु(पांसु)ष्विव कुसुम-बलिर्न्नाविभासे प्रयुक्तः ।
स श्रेयो धाम्नि सम्राडिति मनु-भरतालर्क्क-[मान्धा]तृ-कल्पे
कल्याणे हेम्नि भास्वान्मणिरिव सुतरां भ्राजते यत्र शब्दः ।। ३

४. ये भुक्ता गुप्त-नाथैर्न्न सकल-वसुधाक्क्रान्ति-दृष्ठ-प्रतापै-
र्न्नाज्ञा हूणाधिपाना[ं] क्षितिपति-मुकुटाद्ध्यासिनी यान्प्रविष्टा ।
देशांस्तान्धन्व-शैल-द्रुम-श(ग)हन-सरिद्वीरबाहूपगूढा-
न्वीर्य्यावस्कन्न-राज्ञः स्व-गृह-परिसरावज्ञया यो भुनक्ति ।। ४

५. आ लौहित्योपकण्ठात्तलवन-गह[नो]पत्यकादा महेन्द्रा-
दा गङ्गाश्लिष्ट-सानोस्तुहिनशिखरिण पश्चिमादा पयोधेः ।
सामन्तैर्यस्य बाहु-द्रविण-हृत-म[दै]ः पादयोरानमद्भि-
श्चूडा-रत्नाङ्शु(त्नांशु)-राजि-व्यतिकर-शबला भूमि-भागाः क्रियन्ते ।। ५

६. स्थाणोरन्यत्न येन प्रणति-कृपणतां प्रापितं नोत्तमाङ्गं
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्ग्ग-शब्दाभिमान[म्] ।
नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति-भुजबलावर्ज्जन-क्लिष्ट-मूर्द्ध्वा
[चू]डा-पुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुल-नृपेणार्च्चित[ं]पाद-युग्मं(ग्मम्) ॥ ६

मिहिरकुल के लिये

७. [गा*]मेवोन्मातुमूर्द्ध्वं विगणयितुमिव ज्योतिषां चक्रवालं
निर्द्देष्टुं मार्ग्गमुच्चैर्द्दिव इव [सु]कृतोपार्ज्जितायाः स्व-कीर्त्तेः ।
तेनाकल्पान्त-कालावधिरवनिभुजा श्री-यशोधर्म्मणायं
स्तम्भः स्तम्भाभिराम-स्थिर-भुज-परिघेणोच्छ्रितिं नायितो(ऽ*)त्र ॥ ७

८. [श्ला]घ्ये जन्मास्य वङ्शे(वंशे) चरितमघहरं दृश्यते कान्तमस्मि-
न्धर्म्मस्यायं निकेतश्चलति नियमितं नामुना लोकवृत्तम् (।*)
इत्युत्कर्षं गुणानां लिखितुमिव यशोधर्म्मणश्चन्द्र-बिम्बे
रागादुत्क्षिप्त उच्चैर्भुज इव रुचिमान्यः पृथिव्या विभाति ॥ ८

९. इति तुष्टूषया तस्य नृपतेः पुण्यकर्म्मणः ।
वासुलेनोपरचिताः श्लोकाः कक्कस्य सूनुना ॥ ९
उत्कीर्ण्णा गोविन्देन ॥

महाराज भूत का सञ्जेली (एम० एस० यूनीवर्सिटी)-दानपत्र

वर्ष : ६

प्राप्तिस्थल : गुजरात के पञ्चमहल जिले का सञ्जेली ग्राम ।

लिपि : पाँचवीं-छठी ई० की दक्षिणवर्गीय ब्राह्मी ।

भाषा : संस्कृत ।

उद्देश्य : महाराज भूत द्वारा अपनी जननी वीराढ्यिका द्वारा विनिर्मित मन्दिर को दान दिये जाने की घोषणा ।

महत्त्व : इसमें महाराज भूत के 'परमभट्टारक' अर्थात् स्वामी का नाम नहीं दिया गया है । मेहता और ठक्कर ने उसे तोरमाण माना है । परन्तु यह असम्भव है । तोरमाण ने गुजरात को अपनी एरण-विजय (लग० ५१० ई०) के वाद जीता होगा और ५१६ ई० के पूर्व वह प्रकाशधर्मा से जो यशोधर्मा का पिता रहा होगा हार चुका था (रिस्थल-लेख) । इसलिए इस लेख में उल्लिखित छठा वर्ष तोरमाण के शासन का वर्ष नहीं हो सकता । इस लेख में तथा महाराज भूत के पुत्र मातृदास के सञ्जेली-दानपत्र (जो १९वें वर्ष का है) में उल्लिखित 'परमभट्टारक' प्रकाशधर्मा या यशोधर्मा रहे होंगे, तोरमाण नहीं ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : मेहता, आर० एन० तथा ठक्कर, ए० एम०, एम० एस० यूनीवर्सिटी कॉपर प्लेट्स ऑव दि टाइम ऑव तोरमाण, बड़ौदा, १९७८ ।

मूलपाठ

१. स्वति वद्रपाल्या: परमभट्टारकपादानुध्यातो महाराज भूतः कुशली शिवभागपुरे सर्व्वानिव
स्वानायुक्तकान्या(न्य)धिकरणान्विषयपतिकुलं

२. पुत्रकचाटभटभटांदि तद्विषयान्तर्व्विचारिणः समाज्ञापयति । विदितमस्तु वो यथा मया तन्तीय-
काम्रिलिक ग्रामौ सोपरिकर सोद्रङ्ग सभूतवातप्रत्ययौ परमदेव-

३. त पूज्यार्च्चनीयानूर्व्वि जनित्रीं राज्ञी वीराढ्यिकां मातरमुद्दिश्य तयैवकारितक भगवत्पादायतनस्यं
वलिचरुगन्धपुष्पमाल्यदीपतैलच्छाद्यलेप्यखण्डस्फुटितप्रति-

४. संस्करणाय परिव्राजभोज्यावाचन्द्राक्कार्णवक्षितिस्थितिसमकालीनावुदकातिसृष्टवेदमिदानीं
तत्प्रापीयावसथोपगतानां च परिव्राजकानां देव-

५. शुश्रूषकदासि(सी)दासानां च भक्तचैलाद्यप्रगुणानां च भैषजपथ्यभोजनयोगोद्वलनं कर्त्तव्यमस्यैव
च, भगवत्पादायतनस्योत्तरपूर्व्वस्यान्दि(स्यांदि)शि आणुक्किकावाटक-

६. गृहमर्य्यादया सुवर्ण्णकारकारितकतडाग(के) नाक्रान्तमर्य्यादया च पश्चात्पञ्चव्रीही-पिटकवापक-
क्षेत्रं सशैवरं भट्टिप्रत्यय कूपकच्छश्चान्यं(न्य) च्च

७. वाणिजक षष्टिदत्तेन च स्वदी(की)यगृहवस्तुं कुलसामन्तसमक्षंदत्तमन्यच्चाटभटगत्यामिकैर्देव-
कुलवाटकासमश्चकग्रहणवेणिवेशीविन्द्या

८. दिषु न केनचित्परिवाधयितव्यस्तद्युष्माभिराज्ञाश्रवणविधेयैर्भूत्वा उचितया देवकुलभुक्त्या भुञ्जतं प्रदिशतं समावासयतां परिपालयतां

९. श्च(च) न केनचिद्व्यासेधम्कार्य्यस्तन्निक्रष्टोन्दुरक भूतिलारक्षिककारित तदन्य देवकुलद्वयो-रत्रत(त्य) भगवत्पादायतन सामीप्ये दक्षिणदिक्प्रदेशे तत्प्रतिष्ठा-

१०. पितक मातृगृहस्याप्यनुक्रमाचारधर्म्मस्थित्या यथालं संविभागशक्तितर्ग्गन्धधूपमाल्यपयिक: प्रतिसंस्कारात्थं च योगोबोधव्यस्तदेतदस्मत्प्री-

११. त्या धर्म्मगोरवाच्चान्यराजभिरप्यनुमन्तव्यमेतां च धर्म्मसेतुमर्य्यादां ये लङ्घयिष्यन्त:(न्ति) त(ते) पञ्चमहाप(पा)तक संयुक्ता भविष्यन्ति (।) भवति ह्यपि वहुभिर्व्वसुधा भुक्ता

१२. राजभिः सगरादिभि: (।) यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् (।।) कुमारामात्य कुमारनाग दूतकमारक्षिक भूतिल समक्षञ्चेति(क्षं चेति) सव्वत्सरे ६ ज्येष्ठ शुद्ध १०

प्रभावतीगुप्ता का पूना-दानपत्र

(प्रभावती के संरक्षिका-काल का वर्ष १३)

प्राप्तिस्थल : पूना ।

लिपि : लगभग ४०० ई० की उत्तर भारतीय कीलशीर्षक लिपि, यद्यपि कुछ अक्षर पेटिकाशीर्षक लिपि के हैं ।

भाषा : संस्कृत ।

महत्त्व : इस अभिलेख से सिद्ध होता है कि प्रवरसेन द्वितीय का नाना, जिसे प्रवरसेन के अभिलेखों में देवगुप्त कहा गया है, और कोई नहीं गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त था । इसमें प्रभावती ने अपने पितृकुल का वंशवृक्ष दिया है और गुप्त साम्राज्य में प्रयुक्त होने वाली कीलशीर्षक लिपि का प्रयोग किया है, इससे अनुमान किया जाता है कि उसे (१) अपने पितृकुल में अभिमान था, और (२) उसको राज्य-सञ्चालन में सहायता देने के लिए द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा भेजे गये गुप्त पदाधिकारी आये थे । परन्तु ऐसा होता तो इसमें प्रदत्त गुप्त राजवर्णन उतना दोषपूर्ण नहीं होता जितना है । दूसरे, किसी रानी द्वारा अपने लेखों में अपने पितृकुल का वर्णन किया जाना दक्षिण भारत में सामान्य परम्परा थी । तीसरे, यह मानना कि प्रभावती को उसके पिता ने राज्य-सञ्चालन में सहायता देने के लिए ताम्रपट्टों पर लेख उकेरने वाले मामूली लिपिक तक भी भेजे थे, स्पष्टतः अस्वीकार्य लगता है । यहाँ यह भी स्मरणीय है कि गुप्त वंशावली द्वितीय प्रवरसेन के शासनकाल के १९वें वर्ष में जारी किये गये रिथपुर-दानपत्र में भी मिलती है जब वाकाटकों पर गुप्त प्रभाव निश्चयतः नहीं था ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : मिराशी, कॉर्पस ५, पृ० ५–९; वा० रा० अ०, पृ० १३४–३९; सरकार, दि० च०, स० इ०, पृ० ४३५–८; पाठक, के० बी० तथा दीक्षित, के० एन०, इ० आई०, १५, पृ० ४१ अ०; गोयल, शंकर, 'दि प्रॉब्लम ऑव गुप्त इन्फ्लुएन्स ऑन दि वाकाटकज़ : एपिग्राफिकल ऐवीडेन्स री-एक्ज़ामिन्ड', शीघ्र-प्रकाश्य-लेख ।

मूलपाठ

मुद्रा

१. वाकाटकललामस्य
२. [क्र]मप्राप्तनृपश्रिय[: ।*]
३. जनन्या युवराजस्य
४. शासनं रिपुशास[न][म् ।।*] १

प्रथम ताम्रपत्र

१. द्रि(दृ)ष्टम् [।*] सिद्धम् [।*] जितम्भगवता [।*] स्वस्ति [।*] नान्दिवर्द्धना दासीद्गुप्तादि[राजो] म[हाराज]-

२. श्रीघटोत्कचस्तस्य सत्पुत्रो महाराजश्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य सत्पुत्रो-

३. नेकाश्वमेधयाजी लिच्छविदो(दौ)हित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो
४. महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्तत्प(त्स)त्पुत्रस्तत्पादपरिगृहीतः
५. पृथिव्यामप्रतिरथस्सर्व्वराजोछे(च्छे)त्ता चतुरुदधिसलिलास्वादित-
६. यशा ने(अने)कगोहिरण्यकोटिसहस्रपद परमभागवतो महारा-
७. जाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भू-
८. ताया(यां) श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालङ्कारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता
९. वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज-
१०. [श्री]दिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावति(ती)गुप्ता सुप्रतिष्ठाहारे

द्वितीय ताम्रपत्र

११. विलवणकस्य पूर्व्वपार्श्वे शीर्षग्रामस्य दक्षिणपार्श्वे कदापिञ्जनस्यापरपा[र्श्वे]
१२. सिदिविवरकस्योत्तरपार्श्वे दङ्गुणग्रामे ब्राह्मणाद्यान्ग्रामकुटुम्बिन×कुशल-
१३. मुक्त्वा समाज्ञापयति [।*] विदितमस्तु वो यथायं ग्रामोस्माभिः स्वपुण्याप्यायना[र्थं]
१४. कार्त्तिकशुक्लद्वादश्या(श्यां) भगवत्पादमूले निवेद्य भगद्भक्ताचार्यचनालस्वामिनेपूर्व्व-
१५. दत्त्या उदकपूर्व्वमतिसृष्टो(ष्टः)यतो भवद्भिरुचितमर्य्यादया सर्व्वाज्ञा×कर्तव्या[:*] पूर्व्व-
१६. [राज्ञा(जा)]नुमतांश्चात्र चातुर्विद्याग्रहारपरिहारान्वितरामस्तद्यथाभटछ(च्छा)त्रप्रावेश्यः
१७. अचारासनचर्म्माङ्गारकिण्व(क्लिन्न)क्रेणिखनकः अपा[र*]म्पर[:*] अखनिमेध्यः अपुष्पक्षीरस[न्दोहः]
१८. सनिधिस्सोपनिधिस्सक्ल(क्लृ)प्तोषक्ल(क्लृ)प्तः [।*] न(त)देष भविष्यद्राजभिस्संरक्षितव्य[:*] परिवर्द्ध-
१९. यितव्यश्च [।*] यश्चास्मच्छासनमगणयमानस्स्वल्पामप्यत्राबाधा(धां) कुय्यात्कारयीत वा (येद्वा)
२०. तस्य ब्राह्मणे(णै)रावेदितस्य सदण्डनिग्रहं कुर्य्याम [।*] व्यासगि(गी)तश्चात्र श्लोको भवति [।*]
२१. स्वदत्ताम्परदत्ता(त्तां) वा यो हरेत वसुन्धरां(राम्) [।*] गवा(वां) शतसहस्रस्य हन्तुर्हरति दुष्कृतम् [।*] २
२२. संवत्सरे च त्रयोदशमे(दशे) लिखितमिद(दं) शासनम(म्) [।*] चक्कदासेनोत्कट्टितम् [।*]

द्वितीय प्रवरसेन का चम्मक दानपत्र

शासन वर्ष १८

प्राप्तिस्थल : अमरावती जिले की अचलपुर तहसील में स्थित चम्मक (प्राचीन चर्मकि) ग्राम से ।

लिपि : पेटिकाशीर्षक ब्राह्मी ।

भाषा : संस्कृत ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेख : ब्युलर, आई० ए०, १२, पृ० ३३६; फ्लीट, कॉर्पस ३, पृ० २३५ अ०; मिराशी, कॉर्पस, ५, पृ० २२–७; वा० रा० अ०, पृ० १५५–६१ ।

मूलपाठ

मुद्रा

१. वाकाटक-ललामस्य
२. कक्रम-प्राप्त-नृप-श्रियः [।*]
३. राज्ञ⌣प्रवरसेनस्य
४. शासनं रिपु-शासनं(नम्) [।।*] १

प्रथम ताम्रपत्र

१. दृष्टं(ष्टम्) (।।*) स्वस्ति (।।*) प्रवरपुरादग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्य-षोडश्यातिरात्र-
२. वाजपेय-बृहस्पतिसव-साद्यस्क्र-चतुरश्वमेधयाजिन-
३. वि[ष्णुवृ]द्ध-सगोत्रस्य सम्रा[ट्]-वाकाटकानां महाराज-श्रृ(श्री)-प्रवरसेनस्य
४. सूनोः सूनोः अत्यन्त-[स्वा]मिमहाभैरव-भक्तस्य अ(ं*)स-भार-सन्ति(न्नि)वेशि-
५. त-शिवलि[ङ्गो]द्वहन-शिव-सुपरितुष्ट-समुत्पादि[त]-राजव(ं*)शा-

द्वितीय ताम्रपत्र : पुरोभाग

६. नाम्पराक्रमाधिगत-भागीरथ्यामल-जल-मूद्‌ध्‍र्ना(र्द्धा)भिषिक्तानान्दशा-
७. श्वमेधावभृथ-स्नातानाम्भारशिवानां महाराज-श्रीभवनाग-दौ-
८. हित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानां महाराज श्रीरुद्रसे-
९. नस्य सूनोरत्यन्त-माहेश्वरस्य सत्यार्ज्जव-कारुण्य-शौर्य्य-विक्रम-न-
१०. य-विनय-माहात्म्याधिमत्व(त्त्व)-पात्रा(त्र)गत-भक्ती(क्ति)त्व-धर्म्मवीजयीत्व-

द्वितीय ताम्रपत्र : पृष्ठभाग

११. मनोनैर्म्मा(र्म्म)ल्यादि-[गुणै]स्समुपेतस्य वर्ष-शतमभिवर्द्धमान-कोश-
१२. दण्ड-साधन-सन्तान-पुत्र-पौत्रिणः युधिष्ठिर-वृत्तेर्व्वाकाटका-
१३. नां महाराज-श्रीपृथिवीषेणस्य सूनोर्भगवतश्चक्रपाणे⌣प्रसा-

१४. दोपार्ज्जित-श्री-समुदयस्य वाकाटकानां महाराज-श्रीरुद्रसेन-
१५. [स्य*] सूनोर्म्महाराजाधिराज-श्रीदेवगुप्त-सुतायां प्रभाव-

तृतीय ताम्रपत्र : पुरोभाग

१६. ति(ती)गुप्तायामुत्पन्त(न्न)स्य शम्भो≍प्रसाद-धृति(त)-कार्त्तयुगस्य
१७. वाकाटकानाम्परममाहेश्वर-महाराज-श्रीप्रवरसेनस्य वचना(द्*)
१८. भोजकट-राज्ये मधुनदि-तटे चर्म्माङ्क-नाम ग्र(ा*)मः राजमानिक-भूमी-
१९. सहस्रैरष्टाभिः ८००० शत्र(त्रु)घ्नराज-पुत्र-कोण्डराज-विज्ञाप्त्या नाना-गो-
२०. त्र-चरणेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः सहस्राय दत्तः (।।*)

तृतीय ताम्रपत्र : पृष्ठभाग

२१. यतो(ऽ*)स्मत्सन्तका(:*) सर्व्वाद्ध्यक्षाधियोग-नियुक्ता आज्ञा-सञ्च(।*)रि-कुलपुत्राधिकृता
२२. भटाच्छात्राश्च(श्छा) विश्रुत-पूर्व्वयाज्ञयाज्ञापयितव्या विदितमस्तु वो यथे-
२३. हास्माकम्मनो-धर्म्मायुर्व्वल-विजयैश्वर्य्य-विवृद्धये इहामुत्र-हिता-
२४. र्थमात्मानुग्रहाय वैजै(जयि)के धर्म्मस्थाने अपूर्व्वदत्या(त्त्या) उदकपूर्व्व-
२५. मतिसृष्टः [।*] अथास्योचितां पूर्व्व-राजानुमतां चातुर्व्वैद्य-ग्राम-म-
२६. र्य्यादान्वितरामस्तद्यथा अ-करदायी अ-भट-च्छात्र-प्रावेश्य[:*]

चतुर्थ ताम्रपत्र : पुरोभाग

२७. अ-पारम्पर-गो-बलिवर्द्द[:*] अ-पुष्प-क्षीर-सन्दोह अ-च[ा*]रा-
२८. सन-चर्म्माङ्गार[:*] अ-लवण-क्लिन्न-क्क्रेणि-खनक[:*] सर्व्व-वेष्टि-परि-
२९. हार-परीहृतः स-निधिस्सोपनिधिः स क्लिप्तोपक्लिप्तः
३०. आ-चन्द्रादित्य-कालीयः पुत्र-पौत्र(ा*)नुगमकः (।*) भु[ं]जतां न के-
३१. नचि(द्*) व्याघातं कर्त्तव्यस्सर्व्व-क्रियाभिस्स(ं*)रक्षितव्य≍परवर्द्धयि-
३२. तवश्च [।*] यश्चायं शासनमगणयमानो स्वल्प(ा*)मपि [प*]रिबाधा[ं]

चतुर्थ ताम्रपत्र : पृष्ठभाग

३३. [ङ्कु]र्य्यात्कारयिता वा तस्य ब्राह्मणैर्व्वेदितस्य स-व(द)ण्ड-निग्रहं कुर्य्या-
३४. मः [।*] अस्मि(ं*)श्च धर्म्मावर-करणे अति(ती)तानेक-राज-दत्न(त्त)-सञ्चित्न-
३५. परिपालनं कृत-पुण्यानुकीर्त्तन-परीहारात्र्थं न कीर्त्तयामः [।।*]
३६. व्यास-गीतौ चात्र श्लोकौ प्रमानि(णी)कर्त्तव्यौ [।*]

स्व-दत्नाम्पर-दत्नां
३७. व्वा यो हरेत वसुन्धरां(राम्) [।*]
गवां शत-सहस्रस्य हत्तु(न्तु)-

पञ्चम ताम्रपत्र : पुरोभाग

३८. र्हरति दुष्कृतं(तम्) [।।*] २
षष्टिं वर्ष-सहस्रानि स्वर्ग्गे मोदति भू-
३९. मिदः [।*]
आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति [।।*] ३

४०. श्शा(शा)सन-स्थितिश्चेयं ब्राह्मणैरीश्वरैश्चानुपालनीया [।*] तद्यथा राज्ञां स-
४१. प्ताङ्गे राज्ये अद्द्रोह-प्रवृन्ता(त्ता)नां ब्रह्मघ्न-चौर-पारदारिक-राजा-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

४२. पथ्यकारि-प्रभृतिनां सङ्ग्र[ा]म(ं*) कुर्व्वंतां अन्य-ग्रामेष्वन- ।।

पञ्चम ताम्रपत्र : पृष्ठभाग

४३. पर[ा*]द्धानां आचन्द्रादित्य-कालीयः [।*] अतो(ऽ*)न्यथा कुर्व्वंतामनुमोदतां वा
४४. राज्ञः भूमिच्छेदं कुर्व्वंन्तः अ-स्तेयमिति [।।*] प्रा(प्र)तिग्राहिणश्चात्र
४५. वार-नियुक्ताः शाट्यायनः गणार्य्यः वात्स्य-देवार्य्यः भारद्वाज-
४६. कुमारशर्म्मार्य्य[ः*] पाराशर्य्य-गुहशर्म्मा काश्यप-देव(ा*)र्य्यः महेश्वराय्य[ः*]
४७. मात्रार्य्य(ः*) कोण्डिण्य-रुद्रार्य्य(ः*) सोमार्य्य(ः*) हरिशर्म्मार्य्य[ः*]

छठा ताम्रपत्र : पुरोभाग

४८. भारद्वाज-कुमारशर्म्म[ा]र्य्य[ः*] कोण्डिण्य-मातृशर्म्मा वरशर्म्म(ा*)
४९. गोण्डशर्म्मा नागशर्म्मा भारद्वा(ज*)-शान्तिशर्म्मा रुद्रशर्म्मा वात्स्यः
५०. भोजक-[दे]वार्य्य(ः*) मघशर्म्मा देवशर्म्मा भारद्वाज-मोक्षशर्म्म[ा]
५१. [ना*]गशर्म्मा रेवतिशर्म्मा धर्म्मार्य्य[ः*] भारद्वाज-शर्म्मार्य्य[ः*]
५२. नन्दनार्य्य(ः*) मूलशर्म्मा । ईश्वरशर्म्मा । वरशर्म्मा

छठा दानपत्र : पृष्ठभाग

५३. चान्स्य-स्कन्दाय्य[ः*] भारद्वाज-बप्पार्य्य(ः*) धर्म्मार्य्य आत्रेय-स्कन्दार्य्य(ः*)
५४. गौतम-सोमशर्म्मार्य्य[ः*] भतृ(र्तृ)शर्म्मा रुद्रश(र्म्मा*)र्य्य[ः*] मघार्य्य[ः*] मातृ-
५५. शर्म्मार्य्य[ः*] ईश्वरशर्म्मार्य्य[ः*] गौतमसगोत्र-मातृशर्म्मा-
५६. र्य्य[ः*] कौण्डिण्य-देवशर्म्मार्य्य[ः*] वरशर्म्मार्य्य[ः*] रोहार्य्य[ः*]
५७. गौतमगोत्र-स्वामिदे(वा*)र्य्य[ः*] रेवतिशर्म्मार्य्य[ः*]
५८. ज्येष्ठशर्म्मार्य्य[ः*] शाण्डिल्य-कुमारशर्म्मार्य्य(ः*) स्वातिशर्म्मा-
५९. र्य्य[ः*] श(ा*)ट्यायण-काण्ड(ा*)र्य्य-प्रभृतयः (।।*) सेनापतौ
६०. चित्रवर्म्मणि संव्वत्ससरे(ऽ*)ष्टादश १०(+*)८ ज्येष्ठ-मास-शुक्ल-
६१. पक्ष-त्रयोदश्या[ं] शासनं लिखितमितिः (।।*)

द्वितीय प्रवरसेन के शासनकाल का प्रभावतीगुप्ता का रिथपुर-दानपत्र

(शासन वर्ष १९)

प्राप्तिस्थल : अमरावती जिले का रिथपुर ग्राम ।

लिपि : पेटिकाशीर्षक ब्राह्मी ।

भाषा : संस्कृत ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : गुप्ते, वाई० आर०, जे० पी० ए० बी० एन० एस०, २०, पृ० ५८ अ०; सरकार, दि० च०, स० इ०, पृ० ४३९ अ०; गोयल, शंकर, 'दि प्रॉब्लम ऑव गुप्त इन्फ्लुएन्स ऑन दि वाकाटकज़ : एपिग्राफिकल ऐवीडेन्स री-एक्ज़ामिन्ड', शीघ्र प्रकाश्य निबन्ध; जगन्नाथ, जे० यू० पी० एच० एस०, १३, १९४०, पृ० ९७–८; मिराशी, कॉर्पस, ५, पृ० ३३–७; वा० रा० अ०, पृ० १६७–७३ ।

मूलपाठ

प्रथम ताम्रपत्र

१. [१ँ] जित(ं*) भगवता । रामगिरिस्वामिन≍पादमूलाद्गुप्ताना(ा*)मादि-
२. राजो महाराज-श्रीघटोत्कचस्तस्य पुत्रो महाराज-श्रीचन्द्र-
३. गुप्त[:*] तस्य पुत्रस्तत्पाद-परिगृहीत(तो)-लिच्छवि-दौहित्रो
४. महादेव्या(ं*)कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराज-श्रीसमुद्रगुप्तस्तस्य पुत्र-
५. स्तपादानुद्ध्यातो न्यायागतानेकगो-हिरण्यकोटिसहस्र-प्रदस्सर्व्वराजो-

द्वितीय ताम्रपत्र : पुरोभाग

६. च्छत्ता पृथिव्यामप्रतिरथ≍परमभागवतो महादेव्या(ं*) पत्तदेव्यामु-
७. त्पनो(न्नो)महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारण-सगोत्रा
८. नागकुलोत्पन्नाया(ं*)कुबेरा(र)नाग(गा)देव्यामुत्पन्ना उभय-कुलाल-
९. ङ्कारभुता वाकाटकाना(ं*) महाराज-श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी
१०. वाकाटकानाम्महाराज-श्री-दामोदरसेन-प्रवरसेन-जननी भगव-
११. त्पादानुद्ध्याता साग्र-वर्ष-शत दी(जी)व-पुत्र-पौत्रा श्रा(ी*)-महादेवी प्रभ(ा*)वती-

द्वितीय ताम्रपत्र : पृष्ठभाग

१२. गुप्ता कौशिकमार्ग्गं अश्वत्थनगरे सब्रह्म-(ब्राह्मण)पुरे(रो)ग-ग्रम-महत्तराश्च
१३. कुशलमुक्त्वा सम(ा*)ज्ञापय(ि*)त(ा*)ऐहिकामुत्रिकमस्मिन्नगरे स्वपुण्याप्यायनात्थ
१४. पराशर-सगोत्राणा(ं*)तैत्तिरीय-ब्राह्मणानामप्य(त्र) पुत्रापुत्राणा[ं]
१५. अभ्यन्तर-पुर-निवेशने(न*) सह कर्षक-निवेशनानि च चत्वार(रि)

१६. भुक्ता(क्त)काभोग-क्षेत्रमुदकपूर्व्वं(ं*) शासनेनो(न)सति(नि)बद्धं (।*) उचितांश्चास्य
१७. पूर्व्वराजानुमतांञ्चातुर्वेद्य-ग्राम-मर्य्यादा(परिहारा*)न्वितरामस्तद्यथा

तृतीय ताम्रपत्र : पुरोभाग

१८. अ-करदायी(यि) अ-भट-च्छ(ा*)त्र-प्रावेश्य(:*) अ-पुष्प-क्षीर-सन्दोह(:*) अ-चारा-
१९. सन-चर्म्माङ्गार(:*) अ-लवण-क्लिन्व-क्रेणि-ख(ा*)नक[:] सर्व्व-विस्वि-परिहारा-
२०. परिहृत(:*) स-निधानं सोपनिधानं स-क्लृप्तोक्लिृप्तमाचन्द्रा-
२१. दित्य-कालीय(:*) पुत्र-पैत्रानुगामी (।*) भुञ्जता(ं*) न केनचिद्व्याघात-
२२. ≍कर्त्तव्य[:] सर्व्व-क्रियाभिस्संरक्षितव्य≍परिवर्द्धयितव्यश्च (।*) यश्चस्मा-(यश्चास्म)
२३. च्छासनमगणयमानः स्वल्पामापि परिबाधा(ं*) कुर्य्यात्कारयेत वा तस्य

तृतीय ताम्रपत्र : पृष्ठभाग

२४. ब्राह्मणैरावेदितस्य स-दण्ड-निग्रहं करिष्यामः [।*] अस्मि(ं*)श्च धर्म्मादर-
२५. करणे अनी(ती)तानेक-राज-दत्ता(त्त)-सञ्चि(ं*)तन-परिपालनं पुन्या(ण्या)नुकीर्त्तन-
२६. परिहारात्थं न कीर्त्तयाम[:] (।*) सङ्कल्पाधियोग-पराक्रमोपजि-
२७. तान्वर्त्तमानाज्ञापयामः (।*) व्यास-गीतश्चात्र श्लोक≍प्रमाणं(णम्) (।*)
२८. स्वदत्ता(ं*) परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् [।*]
गवां शत-सहस्रस्य
२९. हन्तु≍पिबति दुष्कृतमिति ।।१
वाकाटकाना(ं*) महाराज-श्रीप्रवर-

चतुर्थ ताम्रपत्र

३०. सेनस्य राज्य-प्रशासत (तः)सव्वत्सरे एकुनविंशतिमे कार्त्तिक-मा-
३१. स-श्रुक्लपक्ष-द्वादश्या(ं*) (।*) दूतक देवनन्दस्वामी (।*) ली(लि)खिता
३२. प्रभुसिङ्घे(ंहे)न [।।*]

उदयसेन का मुण्डेश्वरी पाषाण-लेख

(गुप्त ?) सं० ३० (=३४९ ई० ?)

प्राप्तिस्थल : बिहार के शाहाबाद जिले के भबुआ स्थल के समीप स्थित मुण्डेश्वरी मन्दिर।

भाषा : संस्कृत।

लिपि : चौथी शती ई० की ब्राह्मी।

महत्त्व : इस अभिलेख की तिथि उदयसेन के शासन का वर्ष नहीं हो सकती क्योंकि वह केवल महाप्रतीहार और महासामन्त था। यह किसी अन्य राजा के शासनकाल का वर्ष भी नहीं लगती क्योंकि उस अवस्था में इसमें उस राजा का नाम होता। अत: यह तिथि किसी संवत् की होनी चाहिये और ऐसा संवत् जिसका तीसवाँ वर्ष चतुर्थ शती में पड़े गुप्त संवत् ही हो सकता है। इससे इस आग्रह को बल मिलता है कि गुप्त-संवत् का प्रवर्त्तन स्वयं प्रथम चन्द्रगुप्त ने किया था न कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : बनर्जी, आर० डी०, इ० आई०, ९, पृ० २८९ अ०; मजूमदार, एन० जी०, आई० ए०, १९२०, पृ० २५।

मूलपाठ

१. ओ३म् ! सम्ब(संव)त्सरे त्रिंशति[तमे] कार्त्तिकदिवसे द्वाविंशतितमे
२. अस्मिन्सम्ब(संव)त्सर-मास-[दिवस] सपूर्व्वायाम् श्री-महासामन्त-
३. महाप्रतीहार-महाराजोदयसेन-राज्ये कुलपतिभागुदलन-
४. स्स देवनिकायाम् दण्ड[ना]यक-गोमिभटेन प्रार्त्थयित्वा—
५. मातापित्त्रोरात्मनश्च पु[ण्या]भिवृद्ध्ये विनीतेश्वर-मठसमा-
६. वेशं मठमेतत्कारितकं [श्री-]नारायण देवकुलस्य
७. श्री-मण्डलेश्वर-स्वामि-[पादा]य कोष्ठिकात: आ चन्द्रार्क्क-सम-
८. कालीयमक्षयं प्रति[दिनं] नैवेद्यार्त्थं तण्डुल-प्रस्थ-द्वयं
९. दीप-तैल-पलस्य चो[पनि]बन्धः कारित: श्री मण्डलेश्वर-
१०. स्वामिपादानां विच्छि[त्ति-वि]श्रान्त तन्त्र-सा धारणं पञ्चाशतां
११. दीनाराणां गोब······ज······भक्ताद्युपकरणानि
१२. देवनिकायस्य दत्त (मेतदे)वं विदित्वा यथाकालाध्या[सिभि]-
१३. रापो वनिकैर्व्वा य[थानि] बद्धस्य विघातोन का[र्य]
१४. एवमभिश्रावितो यो[न्यथा] कुर्यात् स महापातकैस्स[ह]
१५. [नर]के वसेत् एवम्···व धारणया मध्य···
१६. ··· भाक ···त मिति ॥ उक्त[ञ्च]
१७. ···················· यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर
१८. ···················· दानाच्छ्रेयोनुपालनम् ॥

महाराज नन्दन का अमौना-दानपत्र

(गुप्त) सं० २३२ (=५५१ ई०)

प्राप्तिस्थल : बिहार के गया जिले में अर्वल परगना में स्थित अमौना स्थान।

लिपि : छठी शती ई० के मध्य की ब्राह्मी।

भाषा : संस्कृत।

महत्त्व : इस लेख में, जो ५५१ ई० का है, कुमारामात्य महाराज नन्दन किसी सम्राट् का उल्लेख नहीं करता वरन् अपने को 'देवगुरुपादानुध्यात' कहता है। यह तथ्य भी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अस्पष्ट होने का परिचायक है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ : ब्लॉख, इ० आई०, १०, पृ० ४९–५१।

मूलपाठ

१. स्वास्ति पुद्गलाया: देवगुरुपादानुध्यात-कुमारामात्य-महाराज-नन्दनः कुशलि
२. मल्लयष्टि कायां ब्राह्मणादीन् यथाप्रतिवासिनो मानयति विदितम्वो भविष्यति
३. यथा मयैष ग्रामः अस्मै गार्ग्यसगोत्राय वाजसनेय सब्रह्मचारिणो ब्राह्मण-
४. रविस्वामिने मातापित्रोरात्मनश्च धर्म्मोपचयार्त्थमाचन्द्रार्क्क समकालिकः पुत्र-पौत्रा-
५. दि-भोग्यः भूमिच्छिद्रन्यायेनाग्रहारत्वेनातिसृष्टस्तन्न केनचिदस्मद् वन्श(वंश)जेनान्ये-
६. न वा स्वधर्म्म यशोर्थिना [आ]क्षेपः पीडा वा कर्त्तव्या [।।*] उक्तं च [।*] षष्टि[ं*] वर्ष-सहस्राणि
७. स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति [।।*]
८. स्वमुखाज्ञा सम्वत् २००(+)३०(+)२ मार्ग्ग दि २० शूद्रकरेद्रक्षुणः [।।*]

पदानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में उन पदों, वाक्यांशों एवं नामों आदि को परिगणित किया गया है जिन पर व्याख्यात्मक टिप्पणियों में तथा अन्यत्र विचार किया गया है।)

अकरः, २९४
अक्षपटल, ६०
अक्षयनीवी, १५४, १९१
अग्रहार, ६६, २९८
अचाटभटप्रावेश्य, २९४
अचिन्त्य, ४२
अच्युत, २८
अजपुर, २०७
अजयज्जर्तोहूणान्, २२०
अत्रारण्ये भगवतः श्वेतवराहस्वामिनो देवकुल, ३२८
अद्यापि, ८२
अधिकरणिक, १७२
अधिष्ठानाधिकरण, १७६, २८१
अनुग्रह, ३३
अनुग्रामाक्षपटलाधिकृत, ६६
अनुवहमानक, ३०३
अनुवृत्तमर्य्यादास्थिति, १५४
अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः, ४३
अनेकाश्वमेधयाजी, ७३
अन्वयप्राप्तसाचिव्य, ११९, २८७
अप्रतिकर खिलक्षेत्रम्, १७२
अप्रतिघ, २३७
अप्रतिवार्यवीर्य्यः, ५२
अप्रदाधर्मेण ताम्रपट्टीकृत्य दातुम्, ३२८
अप्रदाप्रहत खिलक्षेत्रम्, १७७
अभिमतभोग्या, २३६
अभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे, ८१
अमृतदेव, ३२८
अर्द्धटी प्रावेश्य, ३२८
अवडर, २५८
अवमुक्त, ३२
अष्टक नवकनलाभ्यामपविञ्छ्य, १५४
अष्टक-नवक-नवक-नलाभ्याम्, २८७
अष्टकुलाधिकरण, २८७
अस्यां दिवसपूर्व्वायाम्, १३५, २५८

आकुमारं मनुष्यैः, २१८
आग्रहारिक, २०७
आज्ञाकरण, ३९
आटविकराज्य, ३७
आढ़वाप, २८१
आत्मनिवेदन, ४१
आदिकर्त्तृ, २५५
आद्यानेकार्य्यवर्तराज्य, ३६
आनन्दपुरवासकात्, ६५
आनृण्यभाव, २४०
आभीर, ३८
आयुक्तक, १५४, २८०
आयुक्तकाच्युतदासोऽधिकरणञ्च, १७१
आयोध्यक कुलपुत्रक अमृतदेव, ३२८
आर्जुनायन, ३८
आर्य, २६, १०२
आर्यावर्त, ३५, ३७
आर्य्योदिताचार्य, १०२
आर्योहि, २६
आश्रित्य वीर्यस्वभुजद्वयस्य, २४१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन्द्रपुर, २६३
इन्द्रापुर, २६३

उच्छ्रितः, ४७
उत्खातप्रतिरोपण, ३६
उत्तरकुरु, १४४
उत्प्रतिकर, २६६
उत्साद्यपार्थिवान् सर्वान्, ३६
उत्सादयित्वा क्षत्रं तु, ३६
उपजीव्य, ४५
उपपातक, १०३
उपमितेश्वर-कपिलेश्वरौ गुर्व्वायने गुरु (प्रतिमायुतौ) प्रतिष्ठापितो, १०२
उपरिक कुमारामात्य, २०७
उपरिक चिरातदत्तेनानुवहमानक कोटिवर्ष विषये, १७६
उपरिक महाराज, २८७, ३०३
उपरिक-महाराज महाराज-पुत्र देवभट्टारक, ३२८
उपरिकर, ६६

ऋषिकाः, ३६

एवं स जित्वा पृथिवीं समग्राम्, १२०, २३६

ऐरिकिण, ५६

कन्योपायनदान, ४१
कर्त्तृपुर, ३८
कर्म्मारिगण, १४४
कविराज, ४४
काकः, ३६
काकनादबोट श्री महाविहारे, ११४, १६१
कामरूप, ३८
कालिन्दीनर्म्मदयोर्म्मध्यं, २६०
काशिक, २८१
कीर्त्या स्थितस्यक्षितौ, ८२
कुकुभग्राम, २५४
कुटुम्बिक, २५८
कुटुम्बिन्, १५३
कुमारगुप्त, २७२, ३३०
कुमार श्री चन्द्रगुप्तः, ६७
कुमारामात्य, ४८, १७६, २०७
कुमारामात्य रेवज्जस्वामी भामहवत्सभोगिक (कौच), ३१३
कुलपुत्रक, ३२८
कुल्यवाप, १५४
कुशलमनुवर्ण्य, २८०, २६६
कुस्थलपुर, ३३
कृत्स्नपृथ्वी-जयात्थेंन राज्ञैवेह सहागत, १२०
कृतान्तपरशु, ४३
कृमिला विषय, ६६
कोकामुखस्वामी, ३०३
कोटिवर्ष, १७६
कोट्टियगण, १४६
कोट्टूर, ३२
कोतकुलज, २८
कोराल, ३१
कोसल, ३०
क्रममर्यादा, ३०३
क्रिमिलावैषयिक पूर्णनागग्राम, ६५
क्षमण, ६४
क्षायथियक्षायथियानाम्, ४०
क्षितिपशतपतैः, ३६, २५४

खरपरिक, ३६
खादपार, १५४
खाद्यटपाकिक, ४८

गंगावतरण, ४८
गणपतिनाग, २८
गयाविषयाधिकरणस्य, ७१
गयावैषयिकरेवतिकाग्रामे, ७१
गरुड़, २३७
गरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचन, ४१
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्यताम्, २१६
गुप्त प्रकाल, २४१
गुप्त संवत्, १–६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गुप्तवंशैकवीरः, २१७
गुप्तानामादिराजः, ४५
गुरुप्रतिमागृह, १०२
गुर्व्वायतन, १०२
गोत्रशैलिका, २५८
गोपस्वामी, ६७
गोप्ता, २३९
गोषाटपुञ्जक, २८०
गोहिरण्यकोटिप्रदस्य, ५९
गौल्मिक, २०७
गौर्य्या षोडशमातृका, २०१
ग्रहणमोक्षानुग्रह, ३३
ग्रामप्रत्यायामेयहिरण्यादि, ६६
ग्रामाश्रितस्येतराम्, ८२
ग्रामाष्टकुलाधिकरण, १५३
ग्रामिक कुटुम्बिनः, २८७

घटोत्कच, ४५

चक्क्रवर्त्तितुल्यः, २५७
चक्रभृत, २५१
चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसा, १३५, १६३
चतुर्बुद्धासन, १९१
चन्द्राह्वेन समग्र चन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं विभ्रता, ८३
चन्द्रदेवी, २६८
चन्द्रप्रकाश, ४४
चन्द्रवर्मा, ३६
चातुर्विद्य, १७२
चित्रपल्य, २९४
चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः, १३५
चेल्ल, ९५

जयदत्त, ३०३
जलनिधिर्वीर्य्यानिलैर्दक्षिणः, ८१
जयति च भगवान् दण्डः रुद्रदण्डोऽग्रनायकोनित्यम्, १०३
जयति मेदिनीं सागरान्ताम्, १५९
जितद्विपः, १४४

डवाक, ३८
डुडिक, २६३
डोंगा, १७७

तङ्गणाः, ३९
तत्परिगृहीत, २१५
तत्पादपरिगृहीत, २६३
तलवारक, १८७
तस्यात्मजेनात्मगुणान्वितेन, २५१
तान धीदा विनीतः, २१७
ताविर्गुण्यवैषयिकभद्रपुष्करकग्राम, ६५
तिएन्त्जू, ४०
तुम्बवन, १६०
तुम्बुरु, ४४
तुल्यकुलज, २६
तोसल्यां साष्टादशाटवीराज्यायां, ३७
त्रिगोशतसहस्रदेन, ४३

दक्षिणांशकवीथी, २८०
दक्षिणापथ, ३०
दत्तास्य पौरुष-पराक्क्रम-दत्त शुल्का, ५२, ५८
दर्व्वीकर्म, १८७
दास्यन्यग्भूत पार्थिवाः, ११९
दीनार, १७७
दीपोपयोज्य, २६४
दूतकेन महाप्रतीहार-महापीलुपति-पञ्चाधिकरणोपरिक-पाट्युपरिक-महाराज-श्री महासामन्त-विजयसेन, ३१३
देयधर्म, १०७
देवकीमभ्युपेतः, २१८
देवद्रोणी, १६४
देवपुत्रवत्, ४०
देवराज इति प्रिय नाम्नः, ११५
देवराष्ट्र, ३३
देवीचन्द्रगुप्तम्, ९५
देश, २३९
दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहिशकमुरुण्डैः, ४०
दौहित्रो एव च हरेद् अपुत्रस्य अखिलं धनं, ४६
द्वयामुष्यायण, ४६

द्वीपस्य गोप्ता, २५०

धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य, ४३
धनदान्तक, ५८
धनस्य कृत्वा व्ययमप्रयेयम्, २४३
धरणिबन्ध, ४१
धर्मस्य सेतुर्दृढः, ३०
धर्मार्थयोः, २४१
धर्मप्राचीरबन्ध, ३०
धारण सगोत्रा, ४५
धावेन, ८३
ध्रुवशर्मा, १३६

नगरश्रेष्ठी, १७६
नन्दवीथी, २९९
नन्दि, ३६
नमः सिद्धेभ्यः, १४३
नमोबुधान, १४८
नरसिंहगुप्त, २६७, ३३०
नष्टि, ११४
नागदत्त, ३६
नागरिट्ट, २८०
नागसेन, २८
नालन्दा, ६२
नित्यव्यापृतायुक्तपुरुष, ४४
नित्वगोहाली, २८०
निवसन्तो, २३८
निर्व्वाण, १९४
निर्जितैरपि सम्मानितैः, ३९
नीवीधर्म्माक्षयेण, १५४
नेपाल, ३८
न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य, १३५

पचन्तभूमि, ३८
पञ्चकुल, ११५
पञ्चाधिकरणोपरिक, ३१३
पञ्चानन्तर्य कर्म, ११६
पञ्चनगरी, १८७
पञ्चभिर्महापातकैरुपपातकैश्च, १०३
पञ्चमण्डल्यां, ११५
पञ्चमहायज्ञ, १८१, २९९
पञ्चेन्द्रान्, २५५
पतिशास्त्रयथोचितं ययुः, २४२
परतंगणाः, ३९
पराक्रमांक, ३०
परिचारकीकृत, ३७
परमदेव बुधगुप्त, २९४
परमदैवत, १५३, १७६
परमभट्टारक, ४८, १५३, १७६
परमेश्वर, १५३
पलाशाट्ट पार्श्वं, २८०
पलाशवृन्दकात्, २८७
पलाशिनी, २४२
पल्लक, ३३
पाटक, ३१२
पाटलिपुत्रकः, ४९, १२०
पाट्युपरिक, ३१३
पादानुध्यात, ४८, १०७, २१६
पालयति लोकपालगुणैः, २९०
पाणिपात्रिक, ८४, ९४
पितरमनुजात, २९०
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या, २३७
पिष्टपुर, ३२
पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति, १७६
पुण्यजनार्द्दन, २९०
पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मा, ८४
पुष्प, २८
पुष्यमित्र, २१७
पुस्तपाल, १७७
पृथ्वीश्वर, १६३
पृथिव्यामप्रतिरथस्य, ४२, १३५
प्रणामागमन, ३९
प्रणाम विडम्बनाभय पलायमान मौलिभिरिव, ३९
प्रतिकृति गरुडाज्ञां, २३६
प्रतोली, १३६
प्रत्यर्पणा, ४३
प्रत्यन्त, ३८
प्रतापानुरागागतैः, ३९

प्रथम कायस्थ, १७६, १७७
प्रथम कुलिक, १७६
प्रयाग, ४७
प्रशिष्य, ९५
प्रसभोद्धरण, ३६
प्रार्जून/प्राज्जूणक, ३९
प्रार्त्थारिक, १४६
प्रावेश्य, १७२

ब दि, ३१९
बपिद्र, २९४
बलयष्टि, २५८
बलवर्मा, ३६
बलेराजहार, २३६
बुद्धमित्र, १४८
बृहस्पति, ४४
बैसीलिओस बैसीलिओन, ४०
ब्रह्मदत्त, २८७
ब्रह्मण्यदेव, १३६
ब्राह्मणोत्तरान्महत्तरादि कुटुम्बिनः, २८०

भगवत्, १०२
भगवत् कुशिक, १०२
भगवत् रुद्रछदि, २९४
भगवन्महादेव-पादानुध्यातो महाराज-श्री वैन्यगुप्त, ३१२
भट अश्वपति संघिल, १४४
भट्टारक, ४८
भट्टारक पादानुध्यातः, १८७
भद्रार्या, २०१
भद्रार्यांका, २०७
भवनाग दौहित्र, ४६
भारडिदसमद, १६४
भुजार्जितां कीर्तिमभिपपद्य, १६०
भोग, ५९
भोगेनानुवहमानक कोटिवर्ष विषये, ३०३
भ्रष्टराजप्रतिष्ठापक, ३९
भ्रातृकटक, १५४

मजशरभङ्गाम्ररातराजकुलमूल्यक्रीतम्, ११४–५
मद्रक, ३८
मनुजेन्द्रपुत्र, २३८
महरज, ४०
महाकान्तार, ३१३
महादण्डनायक, ४८
महादेवी, ४७, २१६
महादेव्यां श्री चन्द्रदेव्यामुत्पन्नः, २६८
महादेव्यां श्री महादेव्यामुत्पन्नः, ३०५
महानौहस्त्यश्वजयस्कन्धावारात् क्रीपुरात्, ३१२
महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावारानन्दपुरवासकात्, ६५
महापातक, १०३
महापीलूपति, ३१३
महाप्रतिहार, २९४, ३१३
महाबलाधिकृत, ६४
महामाघ सम्वत्सरे, २९४
महाराज, ३६, ४५
महाराजाधिराज, ४७
महाराजाधिराज श्री···गुप्त, ३२७
महाराजाधिराज श्री···प्र, ३३०
महाराज छगलग, १०७
महासामन्त, ३१३
मतिल, २९
महेन्द्रगिरि, ३२
महोदधेः प्रियेप्सुना, २४२
माडास्यात, २६४
मात (पित्रोरात्मनश्च पुण्यार्थं साधु) पर्षदा मानितेन ध्रुवशर्म्मणा, १३६
मालव, ३८
माहायानिक शाक्यभिक्ष्वाचार्य्य शान्तिदेव, ३१२
मुनिवसति, १३६
मूर्त्या कर्म्म जितावनि गतवतः, ८२
मूल्य, २६४
मोक्ष, ३३

यथा कालेनाचार्याणां परिग्रहमितिमत्वा, १०३
यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः, १३५
यथावत्प्राप्तधर्मार्थकामविपयाणाम्, २४१
यश्चकीर्त्यभिद्रोहम्····वा, १०३

द्वीपस्य गोप्ता, २५०

धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य, ४३
धनदान्तक, ५८
धनस्य कृत्वा व्ययमप्रयेयम्, २४३
धरणिबन्ध, ४१
धर्मस्य सेतुर्दृढः, ३०
धर्मार्थयोः, २४१
धर्मप्राचीरबन्ध, ३०
धारण सगोत्रा, ४५
धावेन, ८३
ध्रुवशर्मा, १३६

नगरश्रेष्ठी, १७६
नन्दवीथी, २९९
नन्दि, ३६
नमः सिद्धेभ्यः, १४३
नमोबुधान, १४८
नरसिंहगुप्त, २६७, ३३०
नष्टि, ११४
नागदत्त, ३६
नागरिट्ट, २८०
नागसेन, २८
नालन्दा, ६२
नित्यव्यापृतायुक्तपुरुष, ४४
नित्वगोहाली, २८०
निवसन्तो, २३८
निर्व्वाण, १९४
निर्जितैरपि सम्मानितैः, ३९
नीवीधर्म्माक्षयेण, १५४
नेपाल, ३८
न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य, १३५

पचन्तभूमि, ३८
पञ्चकुल, ११५
पञ्चाधिकरणोपरिक, ३१३
पञ्चानन्तर्य कर्म, ११६
पञ्चनगरी, १८७
पञ्चभिर्महापातकैरुपपातकैश्च, १०३
पञ्चमण्डल्यां, ११५
पञ्चमहायज्ञ, १८१, २९९
पञ्चेन्द्रान्, २५५
पर्तिशास्त्रयथोचितं ययुः, २४२
परतंगणाः, ३९
पराक्रमांक, ३०
परिचारकीकृत, ३७
परमदेव बुधगुप्त, २९४
परमदैवत, १५३, १७६
परमभट्टारक, ४८, १५३, १७६
परमेश्वर, १५३
पलाशाट्ट पार्श्व, २८०
पलाशवृन्दकात्, २८७
पलाशिनी, २४२
पल्लक, ३३
पाटक, ३१२
पाटलिपुत्रकः, ४९, १२०
पाट्युपरिक, ३१३
पादानुध्यात, ४८, १०७, २१६
पालयति लोकपालगुणैः, २९०
पाणिपात्रिक, ८४, ९४
पितरमनुजात, २९०
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या, २३७
पिष्टपुर, ३२
पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति, १७६
पुण्यजनार्द्दन, २९०
पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मा, ८४
पुष्प, २८
पुष्यमित्र, २१७
पुस्तपाल, १७७
पृथ्वीश्वर, १६३
पृथिव्यामप्रतिरथस्य, ४२, १३५
प्रणामागमन, ३९
प्रणाम विडम्बनाभय पलायमान मौलिभिरिव, ३९
प्रतिकृति गरुडाज्ञां, २३६
प्रतोली, १३६
प्रत्यर्पणा, ४३
प्रत्यन्त, ३८
प्रतापानुरागागतैः, ३९

प्रथम कायस्थ, १७६, १७७
प्रथम कुलिक, १७६
प्रयाग, ४७
प्रशिष्य, ९५
प्रसभोद्धरण, ३६
प्रार्जून/प्राज्जूणक, ३९
प्रात्थारिक, १४६
प्रावेश्य, १७२

ब दि, ३१९
बपिद्र, २९४
बलयष्टि, २५८
बलवर्मा, ३६
बलेराजहार, २३६
बुद्धमित्र, १४८
बृहस्पति, ४४
बैसीलिओस बैसीलिओन, ४०
ब्रह्मदत्त, २८७
ब्रह्मण्यदेव, १३६
ब्राह्मणोत्तरान्महत्तरादि कुटुम्बिनः, २८०

भगवत्, १०२
भगवत् कुशिक, १०२
भगवत् रुद्रछदि, २९४
भगवन्महादेव-पादानुध्यातो महाराज-श्री वैन्यगुप्त, ३१२
भट अश्वपति संघिल, १४४
भट्टारक, ४८
भट्टारक पादानुध्यातः, १८७
भद्रार्या, २०१
भद्रार्यका, २०७
भवनाग दौहित्र, ४६
भारडिदसमद, १६४
भुजार्जितां कीर्तिमभिपपद्य, १६०
भोग, ५९
भोगेनानुवहमानक कोटिवर्ष विषये, ३०३
भ्रष्टराजप्रतिष्ठापक, ३९
भ्रातृकटक, १५४

मजशरभङ्गाम्रराजकुलमूल्यक्रीतम्, ११४–५
मद्रक, ३८
मनुजेन्द्रपुत्र, २३८
महरज, ४०
महाकान्तार, ३१३
महादण्डनायक, ४८
महादेवी, ४७, २१६
महादेव्यां श्री चन्द्रदेव्यामुत्पन्नः, २६८
महादेव्यां श्री महादेव्यामुत्पन्नः, ३०५
महानौहस्त्यश्वजयस्कन्धावारात् क्रीपुरात्, ३१२
महानौ-हस्त्यश्व-जयस्कन्धावारानन्दपुरवासकात्, ६५
महापातक, १०३
महापीलूपति, ३१३
महाप्रतिहार, २९४, ३१३
महाबलाधिकृत, ६४
महामाघ सम्वत्सरे, २९४
महाराज, ३६, ४५
महाराजाधिराज, ४७
महाराजाधिराज श्री···गुप्त, ३२७
महाराजाधिराज श्री···प्र, ३३०
महाराज छगलग, १०७
महासामन्त, ३१३
मतिल, २९
महेन्द्रगिरि, ३२
महोदधेः प्रियेप्सुना, २४२
माडास्यात, २६४
मात (पित्रोरात्मनश्च पुण्यार्थं साधु) पर्षदा मानितेन ध्रुवशर्म्मणा, १३६
मालव, ३८
माहायानिक शाक्यभिक्ष्वाचार्य्य शान्तिदेव, ३१२
मुनिवसति, १३६
मूर्त्या कर्म्म जितावनि गतवतः, ८२
मूल्य, २६४
मोक्ष, ३३

यथा कालेनाचार्याणां परिग्रहमितिमत्वा, १०३
यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः, १३५
यथावत्प्राप्तधर्मार्थकामविषयाणाम्, २४१
यश्चकीर्त्यभिद्रोहम्····वा, १०३

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे, ५८
यूप, २०१
यौधेय, ३८

रजदिरज, ४०, ४७
रत्नगृह, १९१
रत्नगृह च दीपको ज्वलतु, ११५
राजाधिरार्जाष, ११९
राजराजेति विश्रुतः, ३१९
राजशब्दविभवैरभिषेचनाद्यैः, ५८
राजाधिराज्याद्भुतपुण्यकर्मणः, २५०
रामगुप्त, ९५
रामतुल्य, २५८
रिपुघ्नमानिनः, १४४
रुद्रदेव, ३५
रैवतक, २४२

लक्षं कोटिमलेखयत्, १३५
लक्ष्मीः स्वयं यं वरयांचकार, २३८
लवण, २९४
लिच्छवि दौहित्र, ४६–७
लोकधाम्नोदेवस्य, ४२, ४५

वंगेषु, ८०
वटगोहाली, २८०
वटोदके साधुजनाधिवासे, १६०
वणिग्भ्यां क्षत्रियाचलवर्मभृकुण्ठसिहाभ्याम्, २६३
वलत्कौशन्, ६६
वायिग्राम, २८७
वायिग्रामिक त्रिवत्ता श्रीगोहाल्योः, १८७
वाह्लिका, ८१
विकटा, १४४
विक्क्रमेणक्क्रमेण, २१७
विजयराज्य संवत्सरे पंचमे, १०१, १३६
विजयसेन, ३१३
विजितार्त्ति, २३६
विदर्भाः, ३९
विद्याधरी शाखा, १४६
विषय अधिकरण, १८७
विषयपति शर्व्वनागस्यान्तर्वेद्यां, २६३
विषाद्यमानाः खलु सर्वतो जनाः, २४२
विष्णुगुप्त, ३३०
विष्णुध्वज, ८२
विष्णुपदगिरि, ८३
विहारस्वामिनी, १९४
वीथीमहत्तर, १७१
वेंगी, ३३
वेत्रवर्मा, १७६
वैन्यगुप्त, ३१५
वैवर्त्तिक, ३१२
व्याघ्र, ३०
व्याघ्रइत्यन्यसंज्ञः, २५५
व्यास, ३०३

शकमुरुण्डैः, ४१
शब्दार्थ-न्याय-लोकज्ञः कविः, ११९
शर्म्मा ध्रुवोऽस्तु, १३६
शरभंग, ११५
शर्वनाग, २६३
शाओ, ४०
शाओनानोशाओ, ४०
शान्तिदेव, ३१२
शार्ङ्गध्वनि, २२०
शान्तेवर्षे, २५४
शाह, ४०
शाहनुशाह, ४०
शिखरस्वामी, १६४
शूद्राभीरान्, ३९
शैलश्वरस्वामी महादेव पादमूले, १६४
शृङ्गवेर वीथी, १७१
शौल्किक, २०७
श्रीगोहाली, १८७
श्रीदेव, १६०
श्री महाराज सालण कुलोद्भूतेन, २९४
श्वेतवराह स्वामी, ३०३, ३२८

षाहि, ४०
षाहानुषाहि, ४०

संक्रामणि कुलवधुः व्रतिनी निविष्टा, ५९
संवत्, १०९
संवत्सरे, १०७
संव्यवहारिन्, १७२, १८७
संव्यवहार्यादिकुटुम्बिनः, २९८
संस्थित, २२०
सत्काव्य श्री विरोधान्, २६
सत्पुत्र, १०१
सत्यमर्य्यादा, २८७
सदाचन्द्र, ८४
सनकानीक, ३९
सन्धिविग्रह, ११९
सपत्नक्षय, १९४
सप्तमुखानिसिन्धोः, ८०
सभ्येषु, २७
समग्रपृथिवी, २३९
समतट, ३८
समीपपरिसर्पणा, ४९
सर्वकरदान, ३९
सर्वक्षत्रान्तक, ३६
सर्वग्राक्ष पटलाधिकृत, ६६
सर्वद्वीपवासिभिः ४८
सर्वराजोच्छेतुः, ३६, १३४
सर्व्वेषुदेशेषुविधाय गोप्तॄन, २०३
सर्वोपधाभिः, २३९
सविश्वासम्, २८७
सार्त्थवाह, १७६
सान्धिविग्रहिक, ४८
सिंहल, ४१
सिकताविलासिनी, २४२
सुकुलिदेश, ११४
सुचरित, ४२
सुचरित चरितानां येन वृत्तेन वृतं न विहितम्, २१७
सुदर्शन तटाक, २४२
सुरगुरुदिवस, २९०
सुराष्ट्रान्, २४०
सुवर्णदाने, ५८
सेवाचामराणीवार्पयद्भिः, ३७
स्कन्दप्रधानैर्भुविमातृभिश्च, २०१
स्थापयिष्यति राजानो, ३९
स्वभुजार्जित एकाधिराज्यम्, ८२
स्वभुजबल, ३०
स्वभोगनगरैरिकिण प्रदेशे, ५९
स्वमताविरुद्ध, १४८
स्वयं चाप्रतिरथ, ४२, १३५
स्वयंवरयेव राजलक्ष्म्याधिगतेन्, २३९
स्वयमेवश्रीगृहीत, २३९
स्ववंशकेतोः, २५०
स्वसैव यस्यातुलविक्रमेण कुमारगुप्तेन, २०१
स्वस्ति, २८७
स्वामीदत्त, ३२

हिमवच्छिखर, ३०३
हूण, २१९

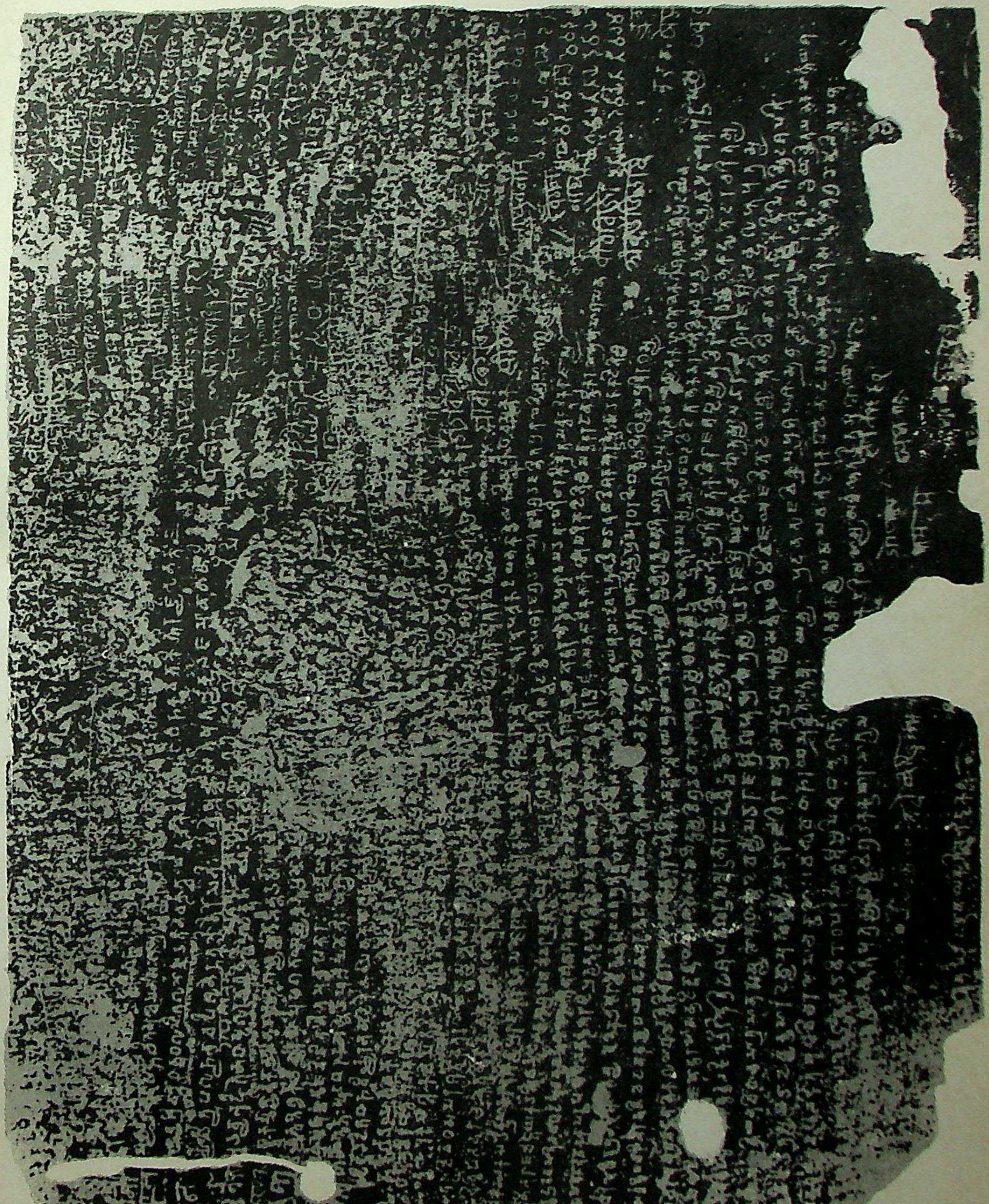

1. समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति

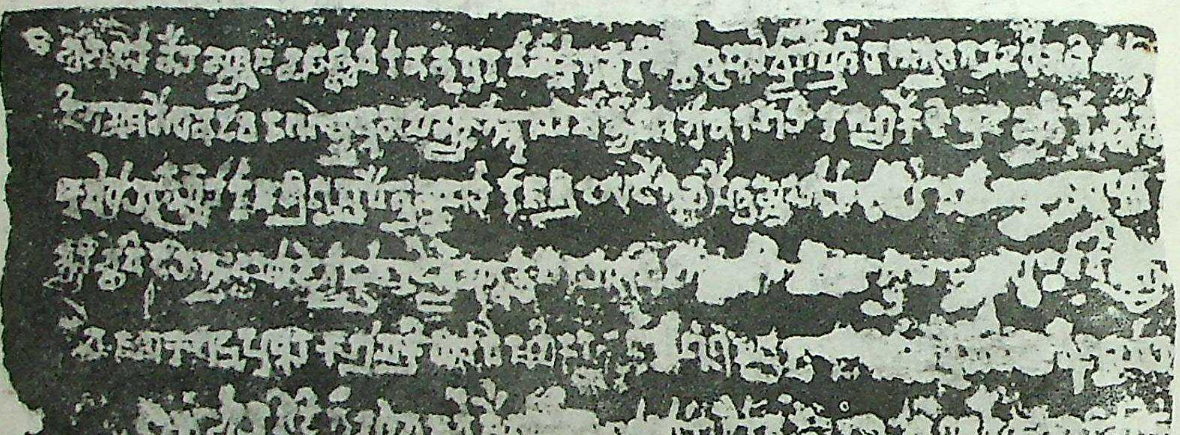

2. समुद्रगुप्त का संदिग्ध नालन्दा-दानपत्र

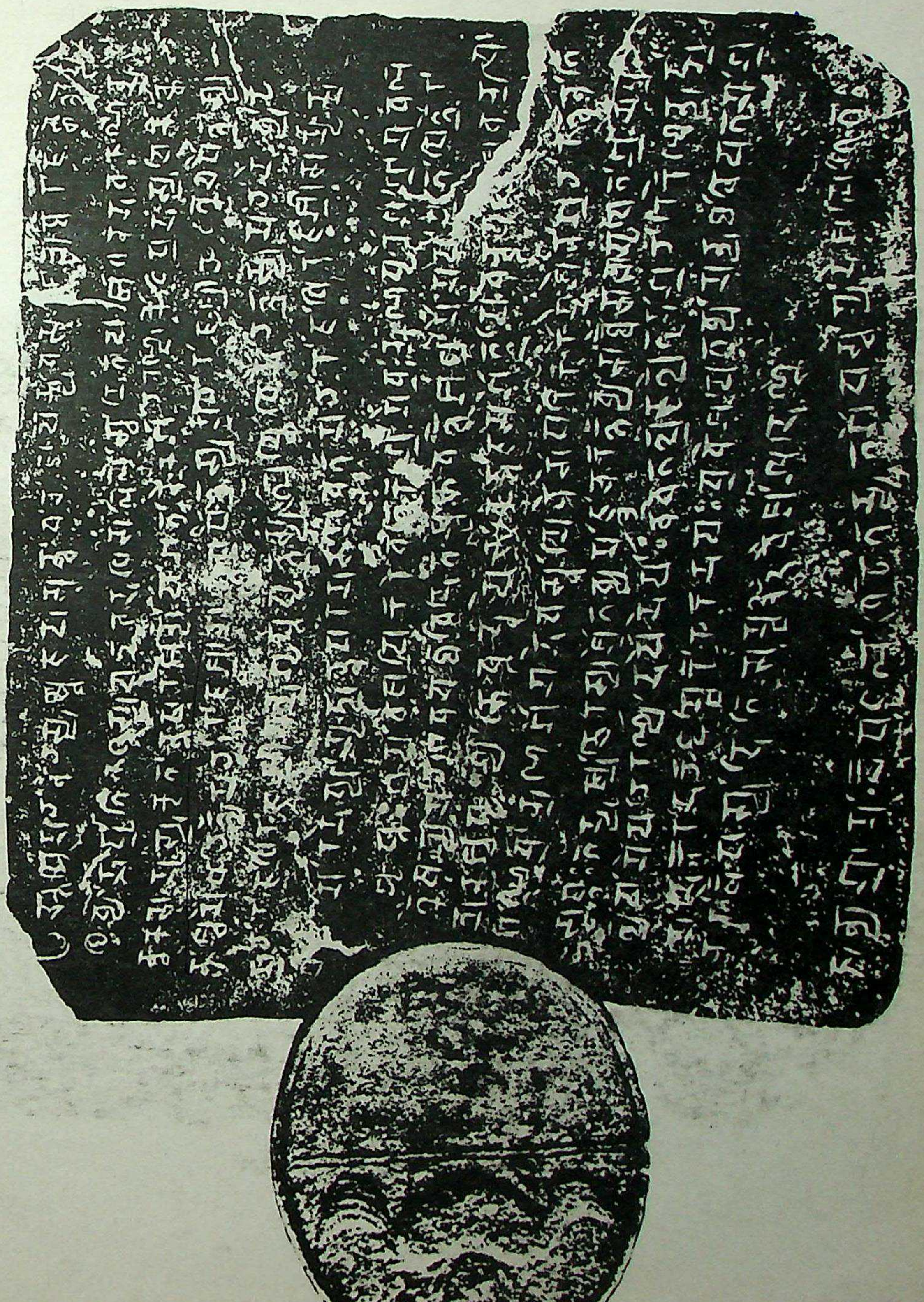

3. समुद्रगुप्त का संदिग्ध गया-दानपत्र

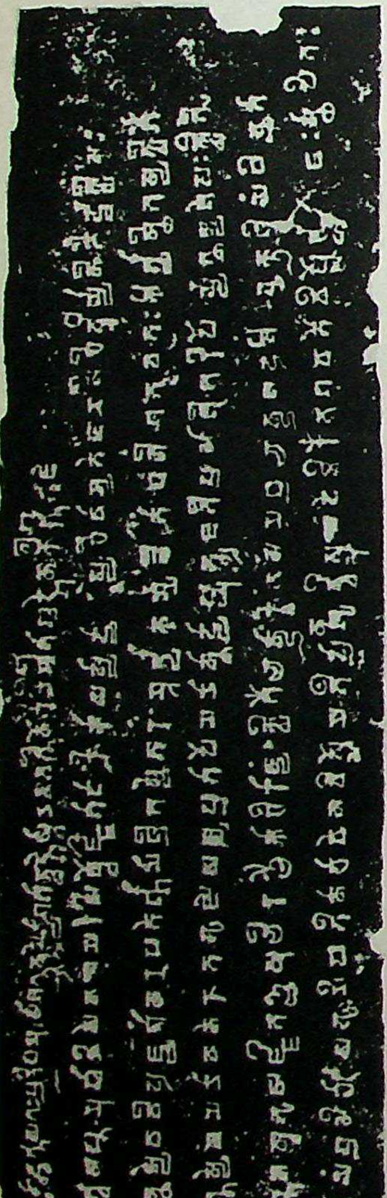

4. 'चन्द्र' (समुद्रगुप्त) का मेहरौली लौहस्तम्भ अभिलेख

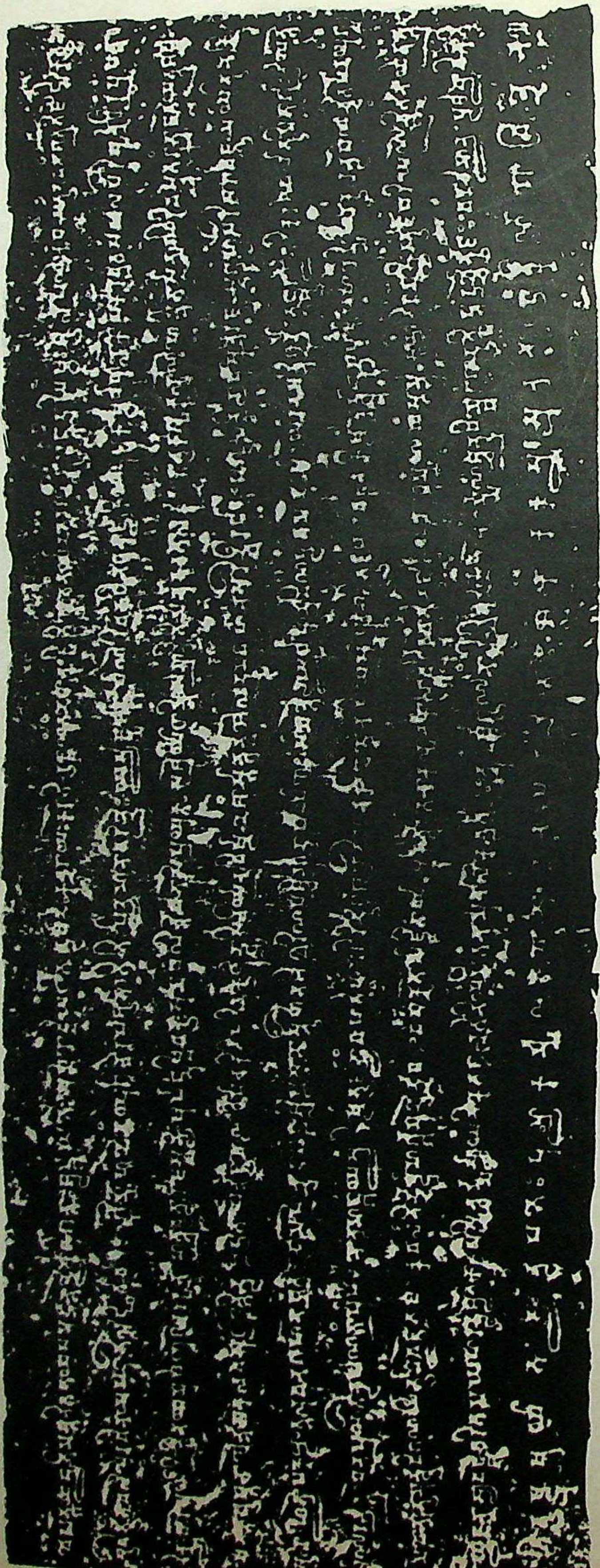

32. यशोधर्मा का मन्दसौर स्तम्भ लेख

5. समुद्रगुप्त का एरण अभिलेख

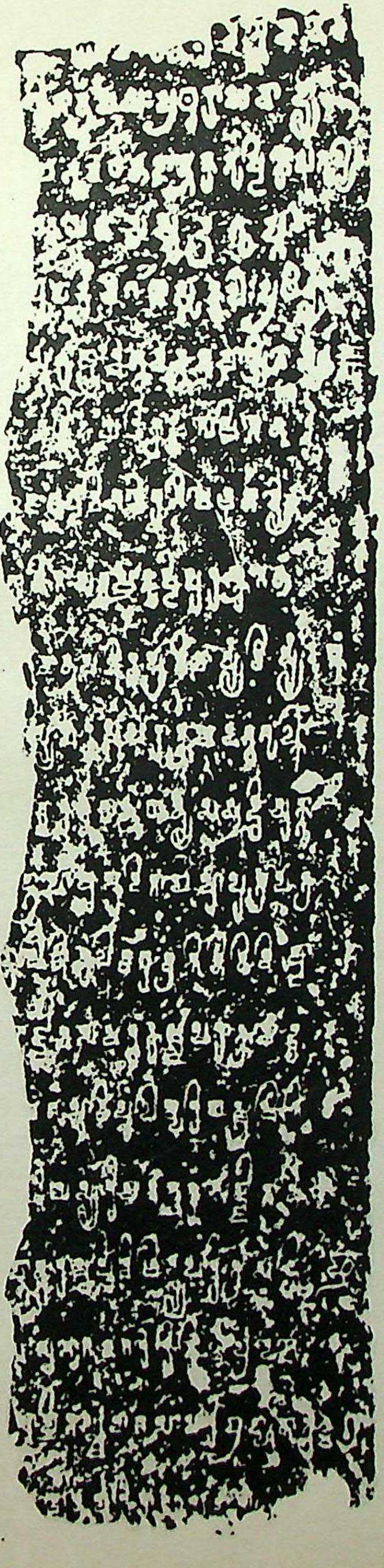

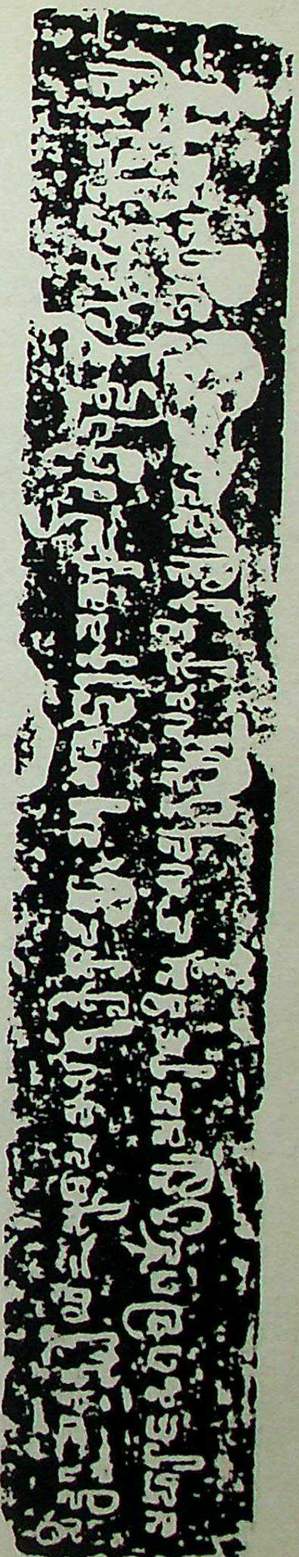

9 द्वितीय चन्द्रगुप्त का उदयगिरि अभिलेख : वर्ष 82

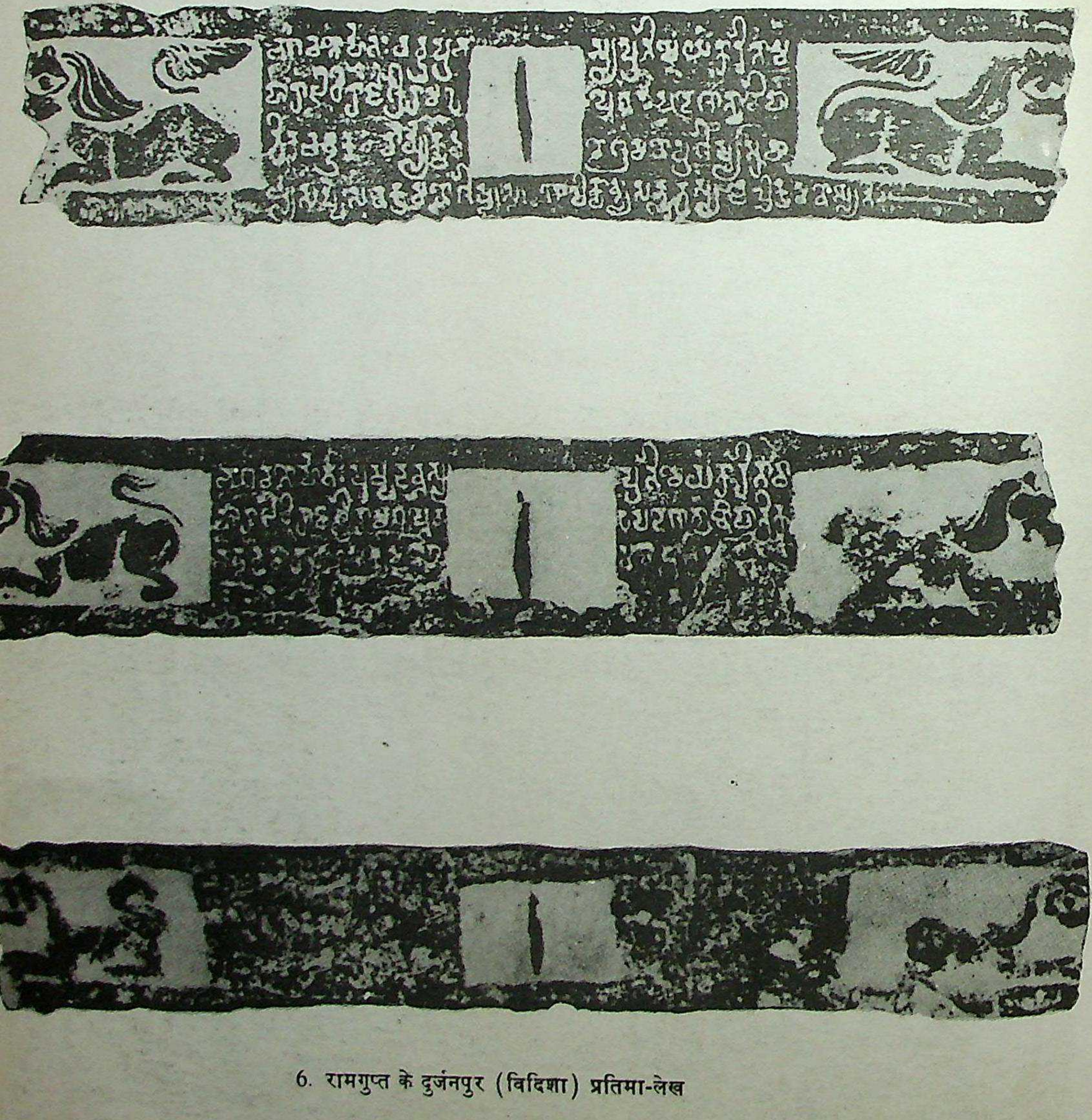

6. रामगुप्त के दुर्जनपुर (विदिशा) प्रतिमा-लेख

7. द्वितीय चन्द्रगुप्त का अभिलेख, मथुरा

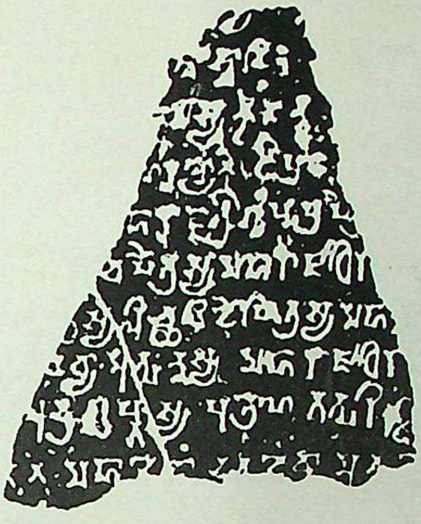

8. द्वितीय चन्द्रगुप्त का सांची-अभिलेख : वर्ष 93

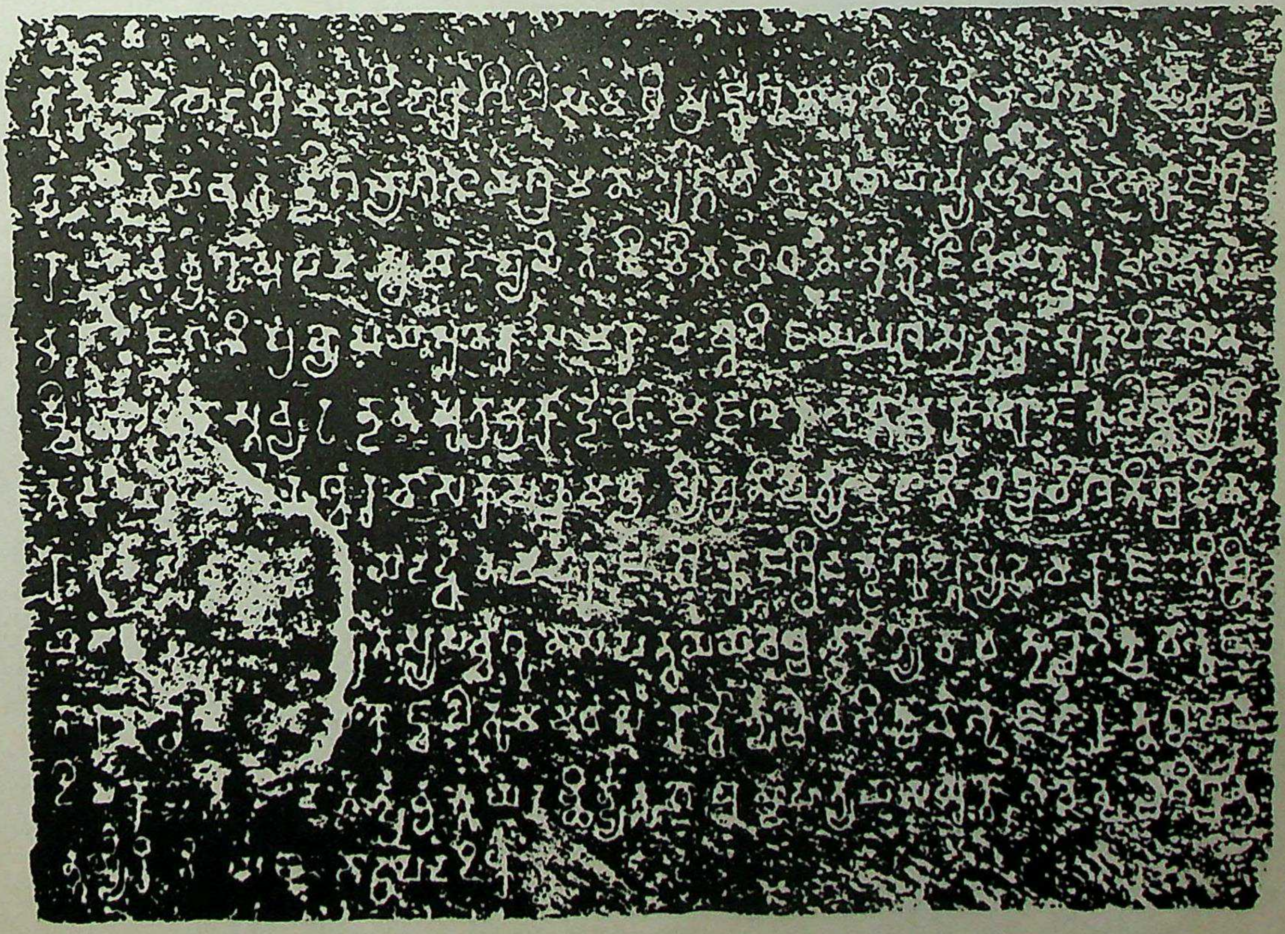

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

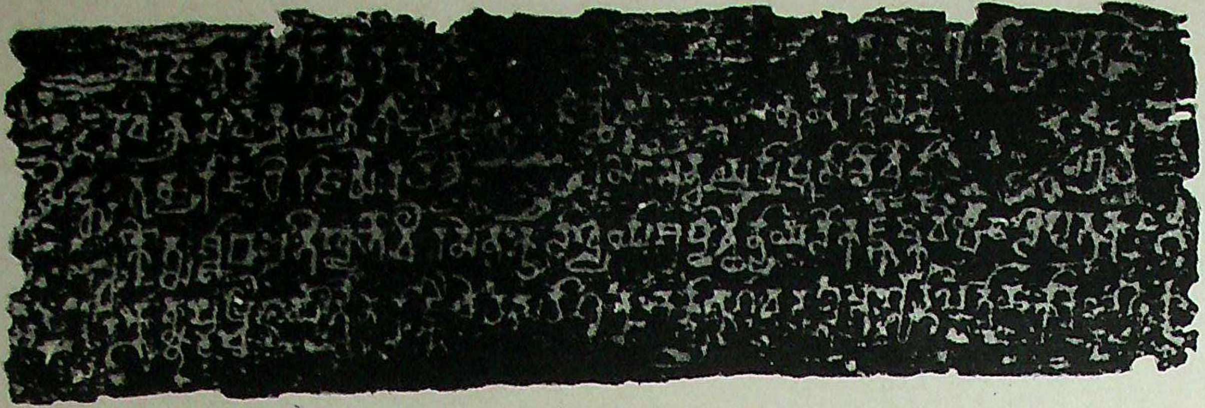

10. द्वितीय चन्द्रगुप्त का उदयगिरि तिथिविहीन लेख

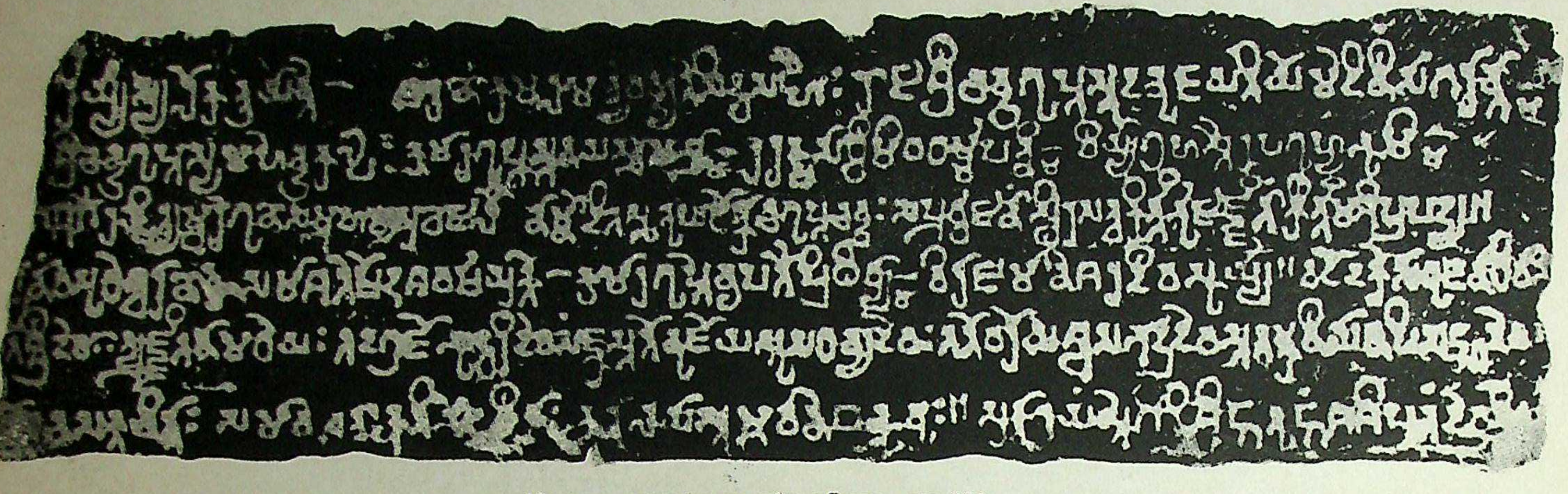

12. प्रथम कुमारगुप्त का तुमैन अभिलेख : वर्ष 116

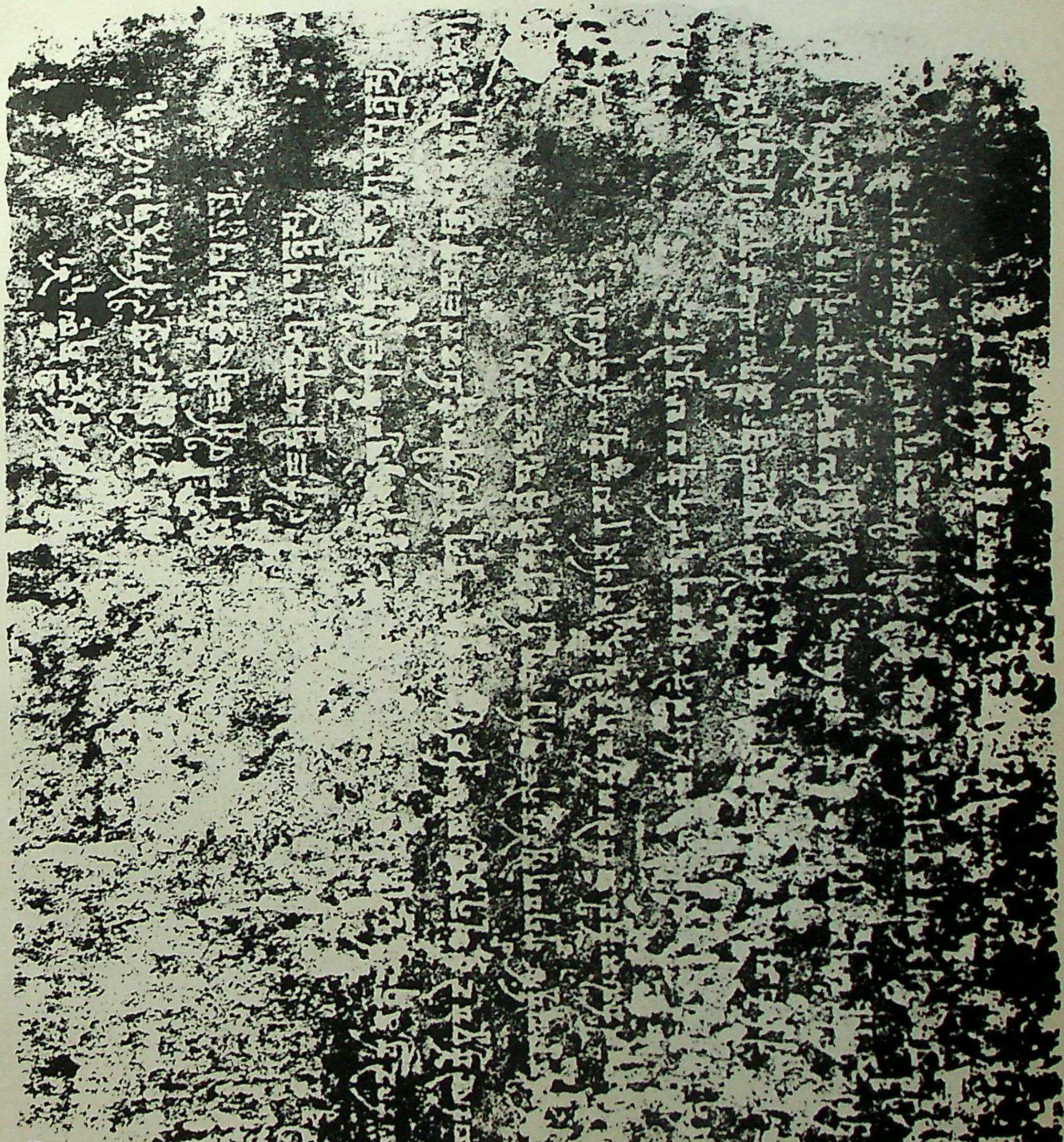

11. प्रथम कुमारगुप्त का बिलसड़ स्तम्भ-लेख 96

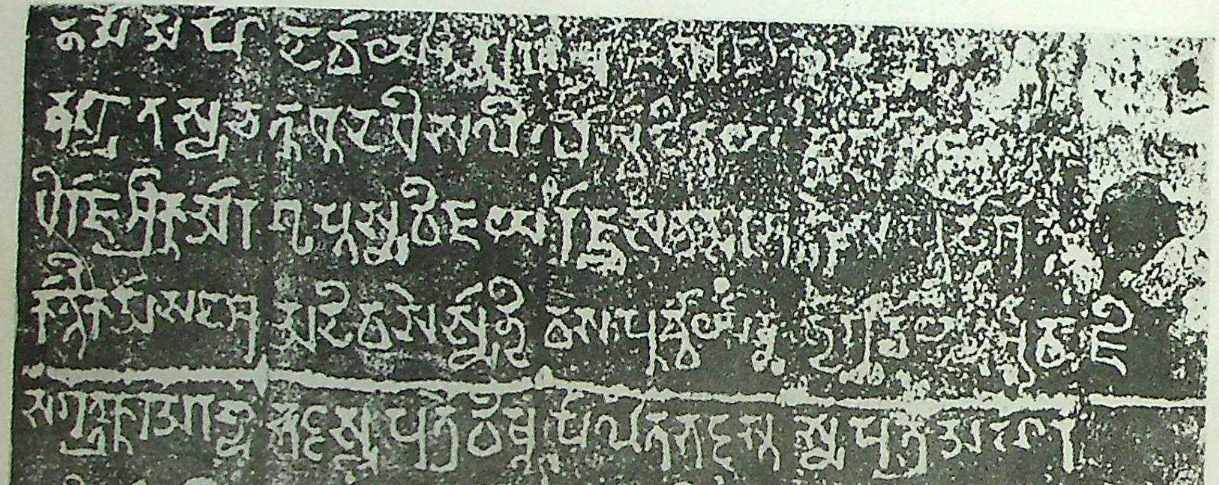

13. प्रथम कुमारगुप्त का करमदांडा-प्रस्तर लेख : वर्ष 117

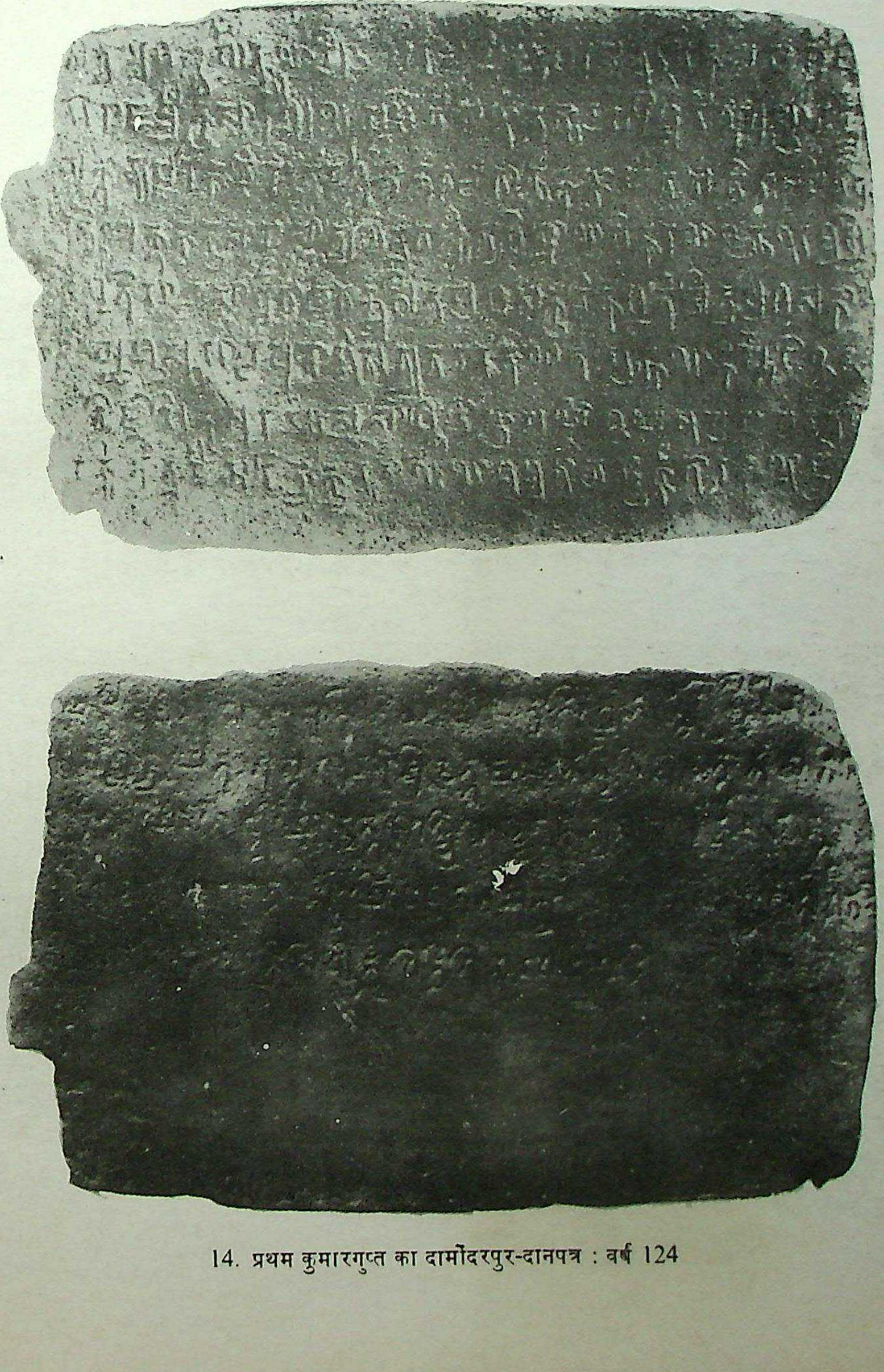

14. प्रथम कुमारगुप्त का दामोदरपुर-दानपत्र : वर्ष 124

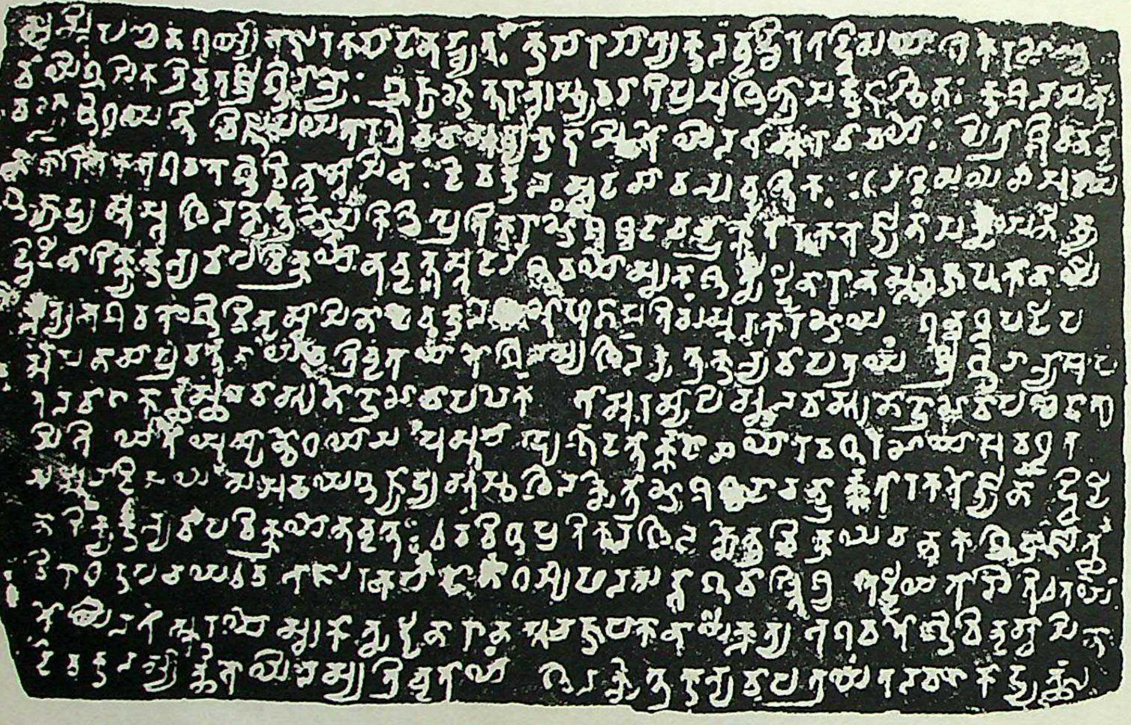

(अगला भाग)

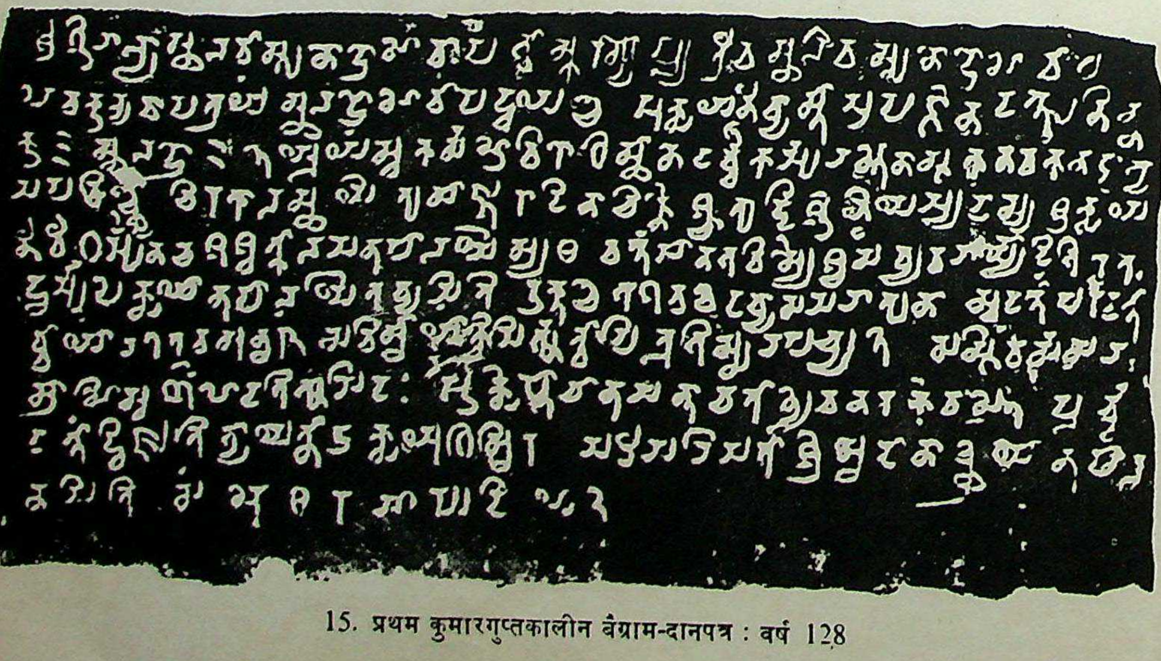

15. प्रथम कुमारगुप्तकालीन वैग्राम-दानपत्र : वर्ष 128

(पिछला भाग)

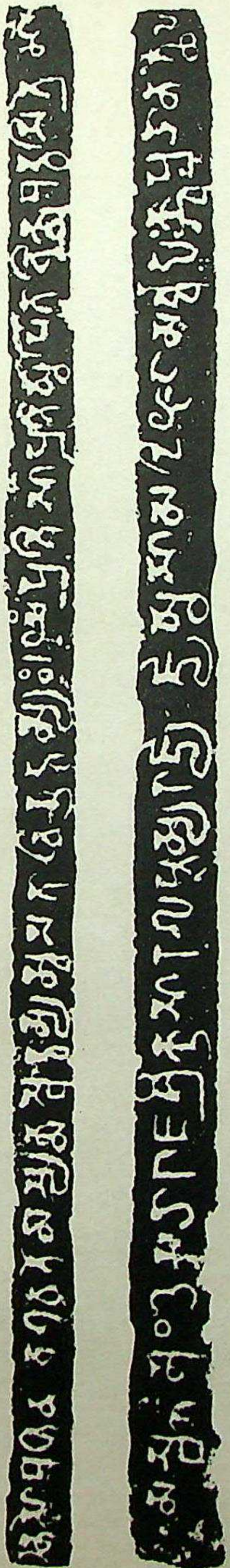

16. प्रथम कुमारगुप्त के काल का मंकुवार लेख : वर्ष 129

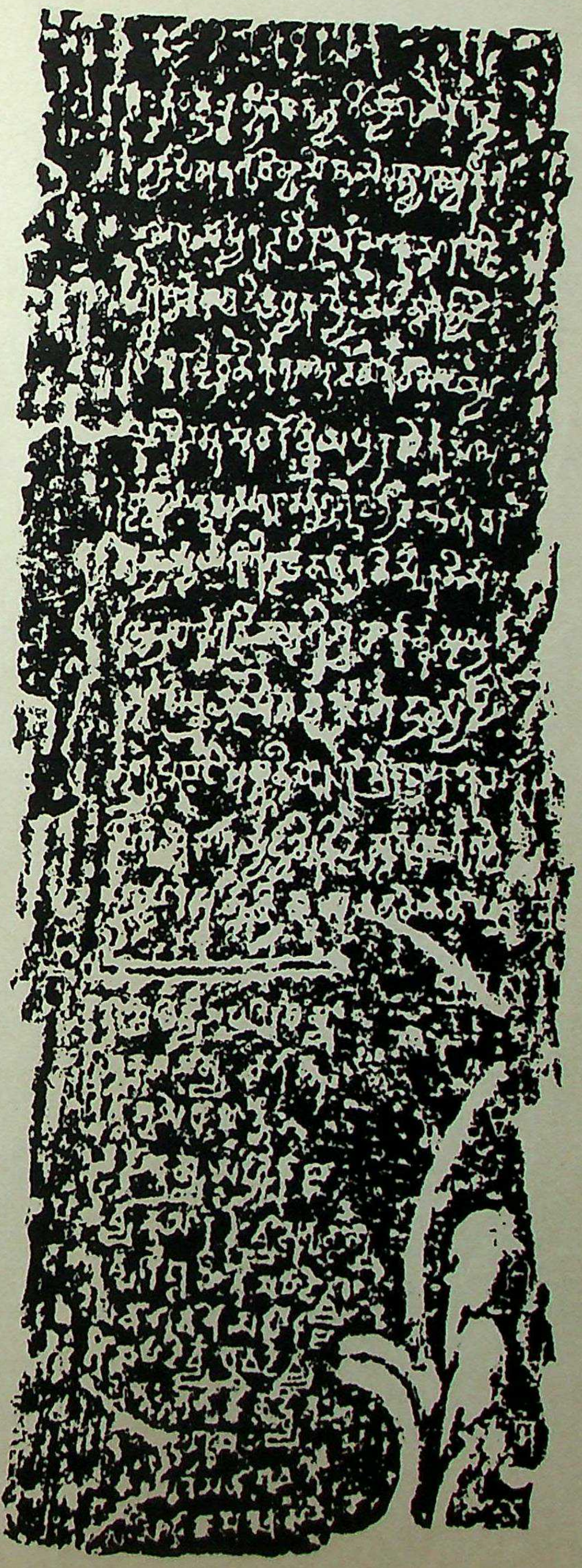

20. स्कन्दगुप्त का बिहार स्तम्भ-अभिलेख

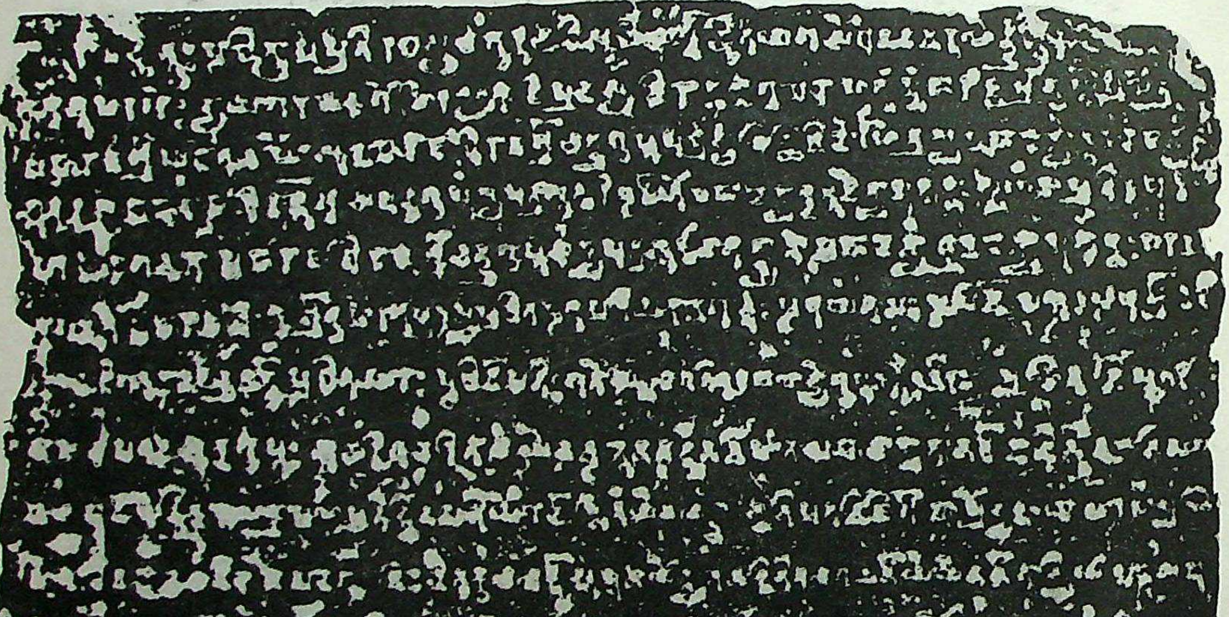

17. स्कन्दगुप्त का तिथिविहीन भीतरी-अभिलेख

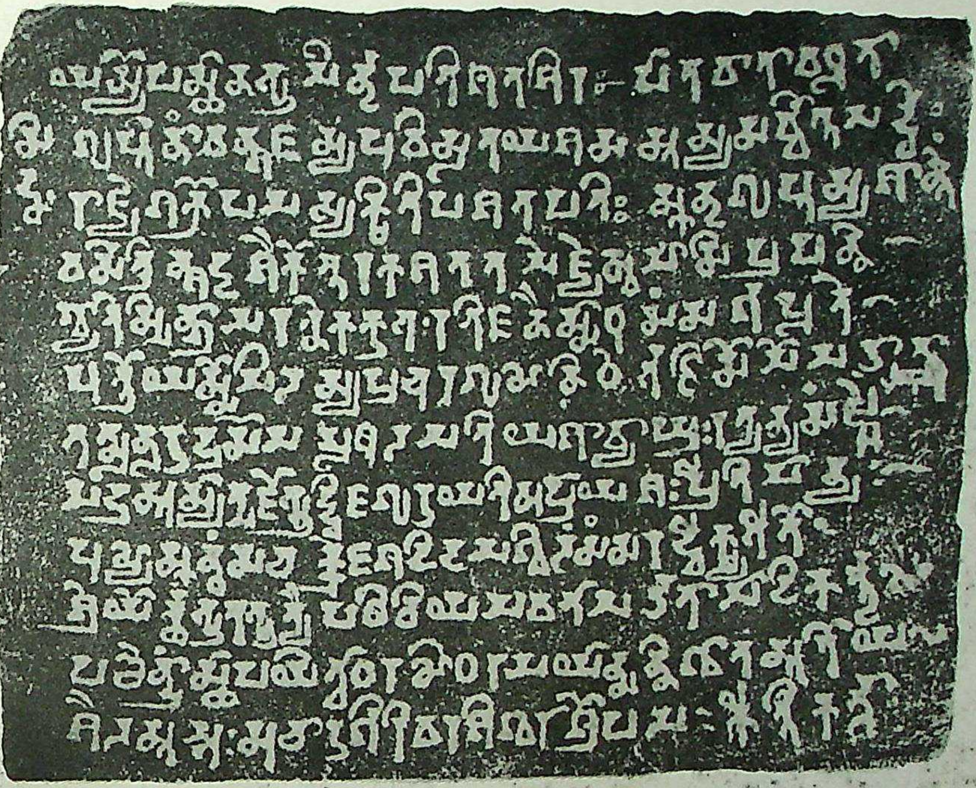

18. स्कन्दगुप्त का कहौम-अभिलेख : वर्ष 141

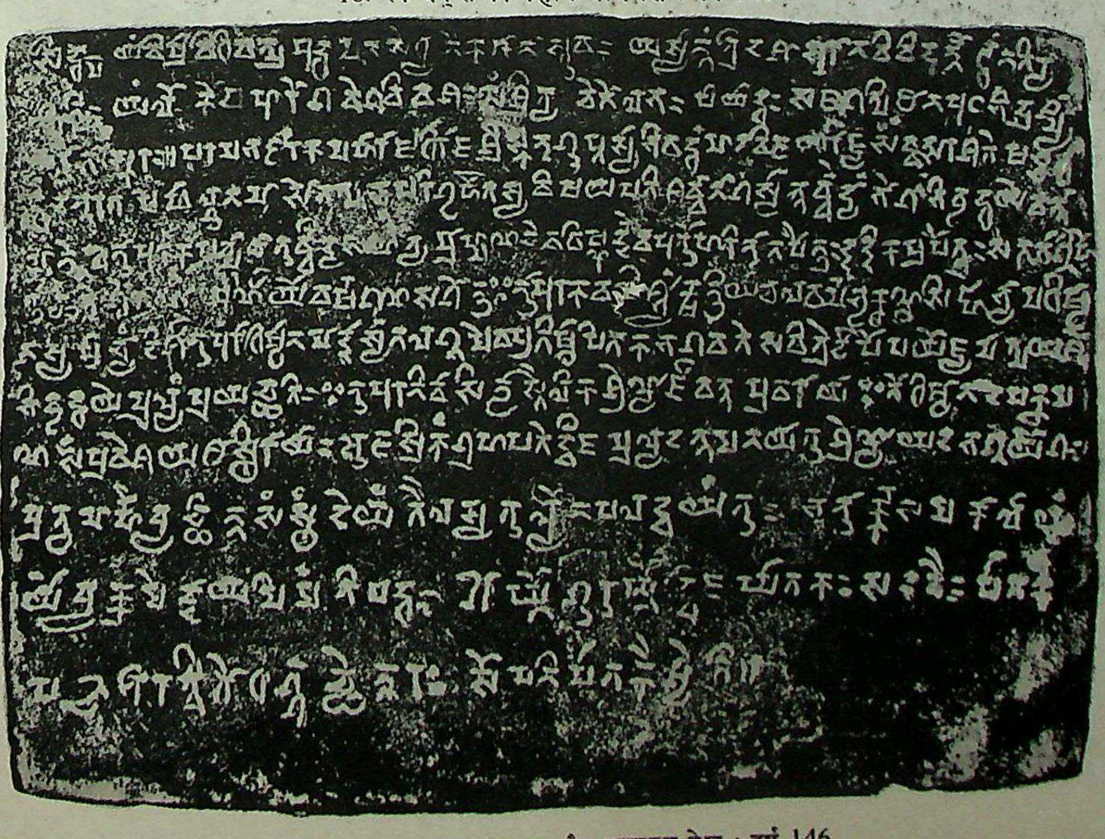

19. स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र-लेख : वर्ष 146

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

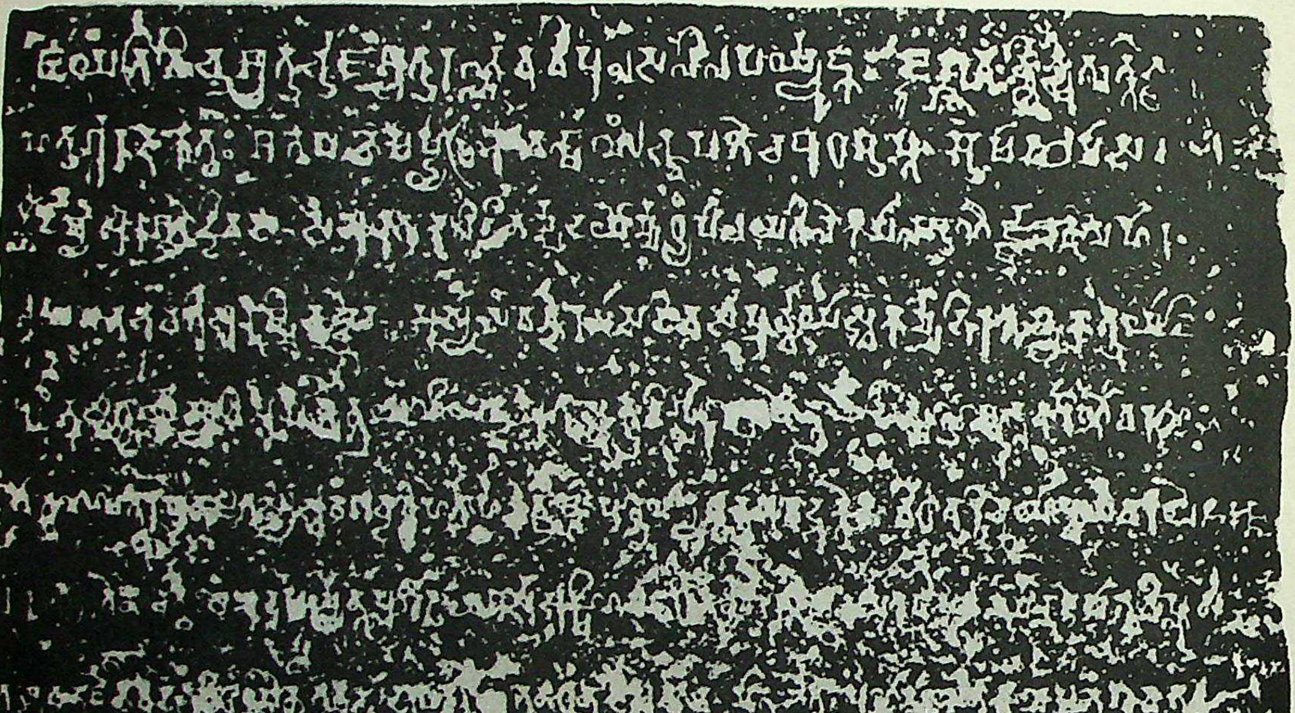

22. बुधगुप्त का एरण स्तम्भ-लेख : वर्ष 165

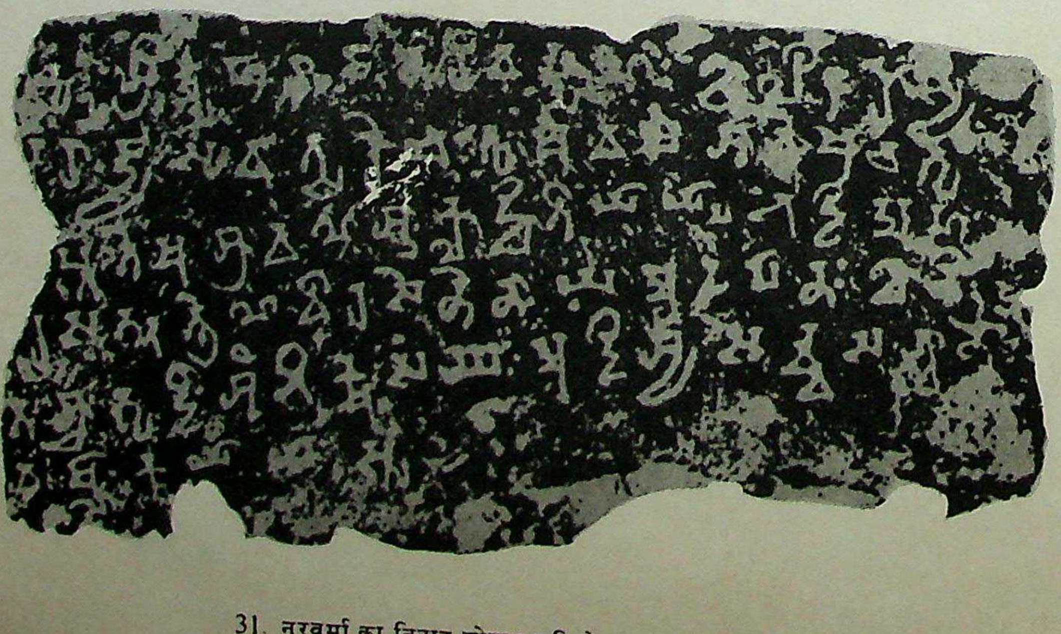

31. नरवर्मा का बिहार कोटरा अभिलेख : कृत संवत् 474

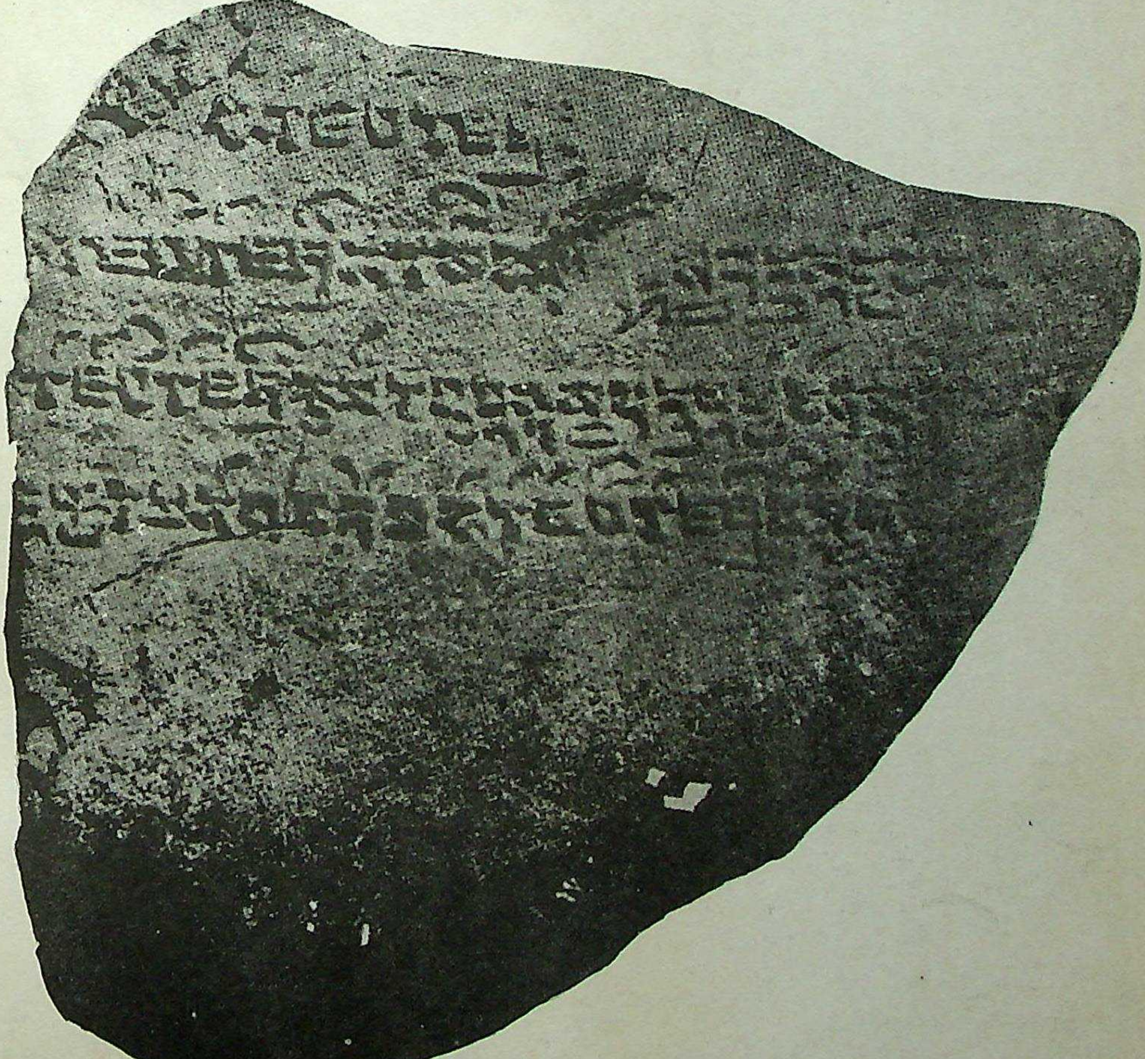

23. विष्णुगुप्त की नालन्दा मुहर

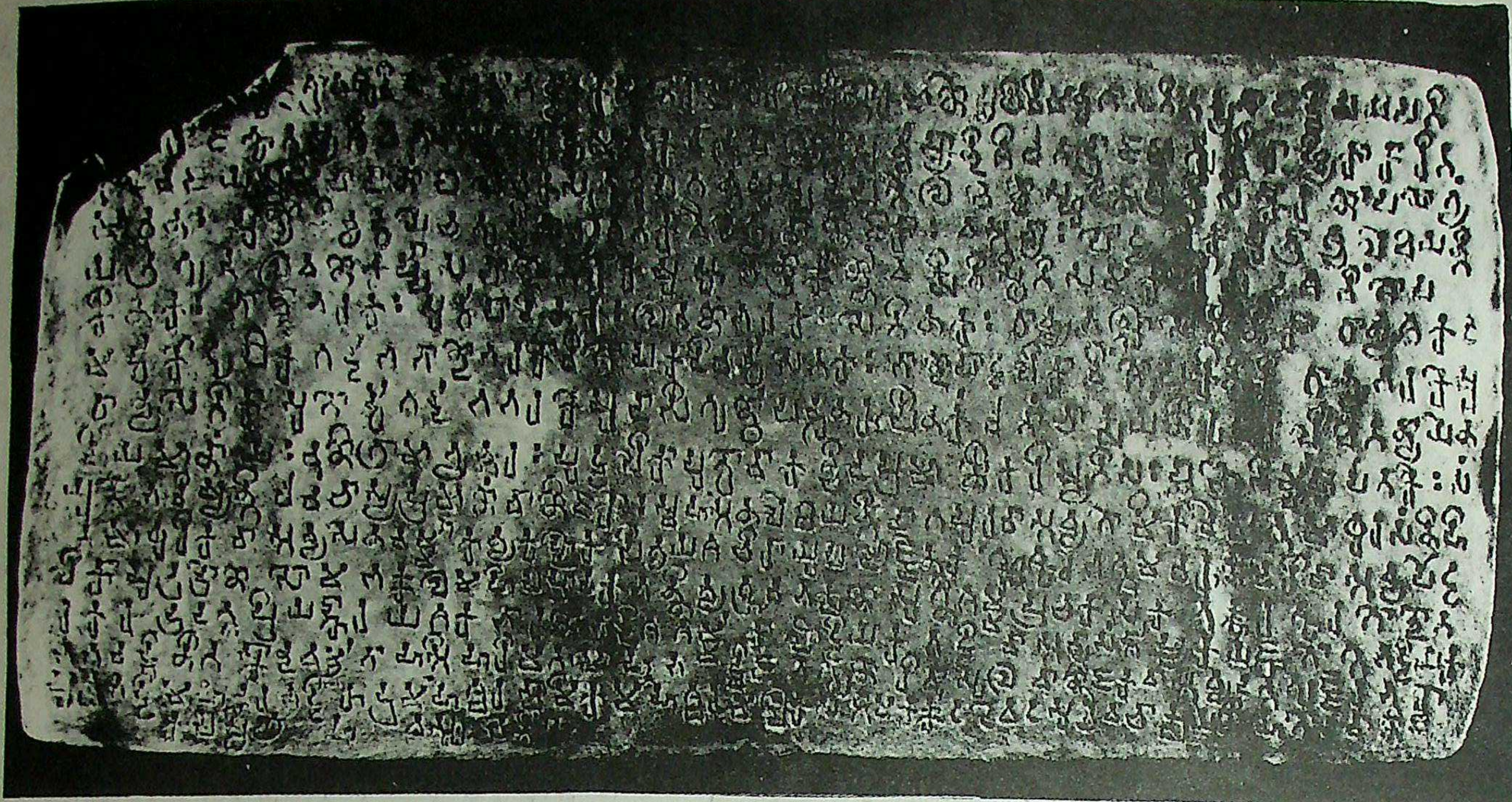

24. तोरमाण का एम० एस० यूनिवर्सिटी ताम्रपत्र अभिलेख : वर्ष 3

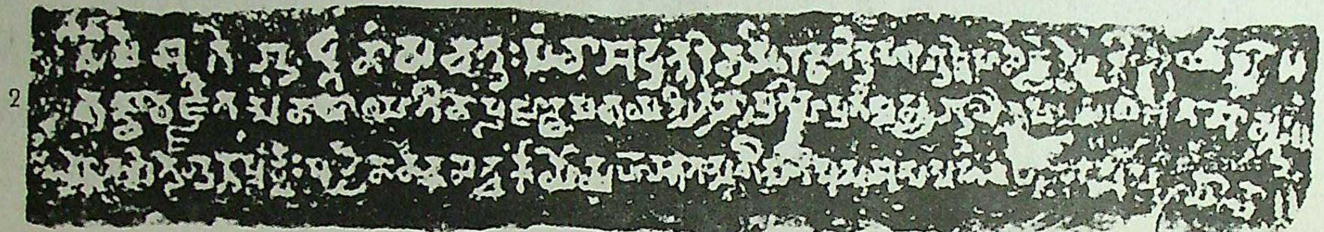

21. द्वितीय कुमारगुप्त का सारनाथ अभिलेख : वर्ष 154

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

25. तोरमाण का एरण स्थित वराह लेख

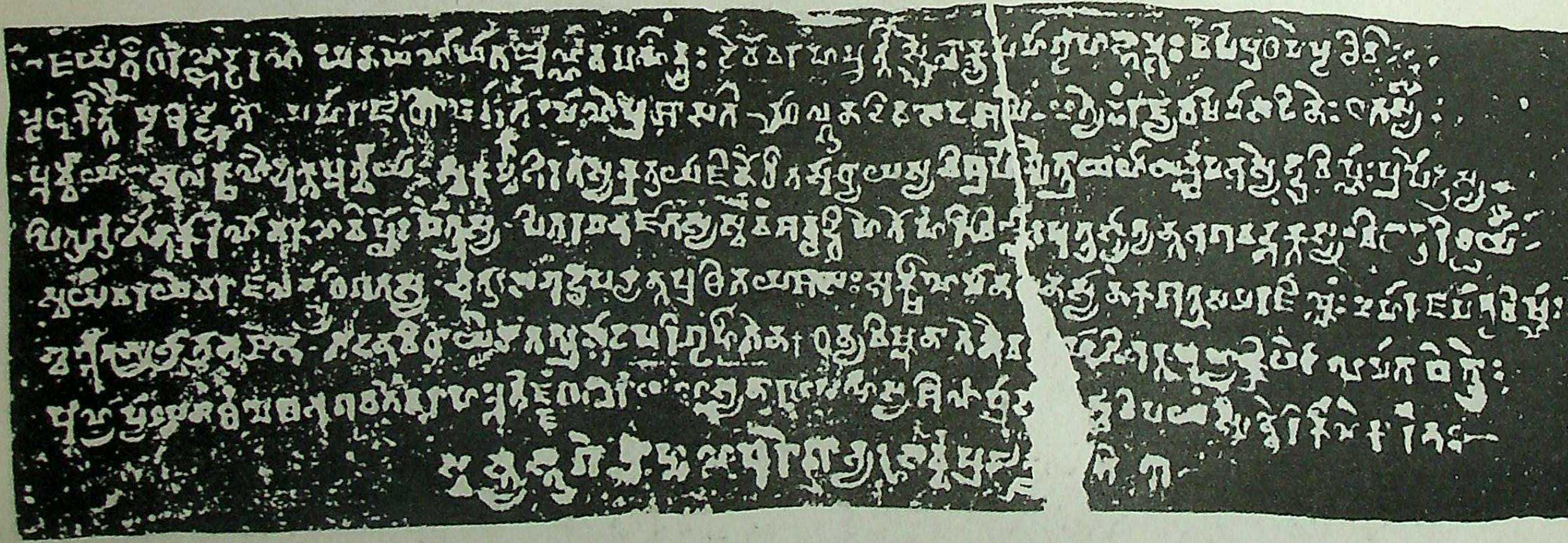

26. मिहिरकूल का ग्वालियर अभिलेख

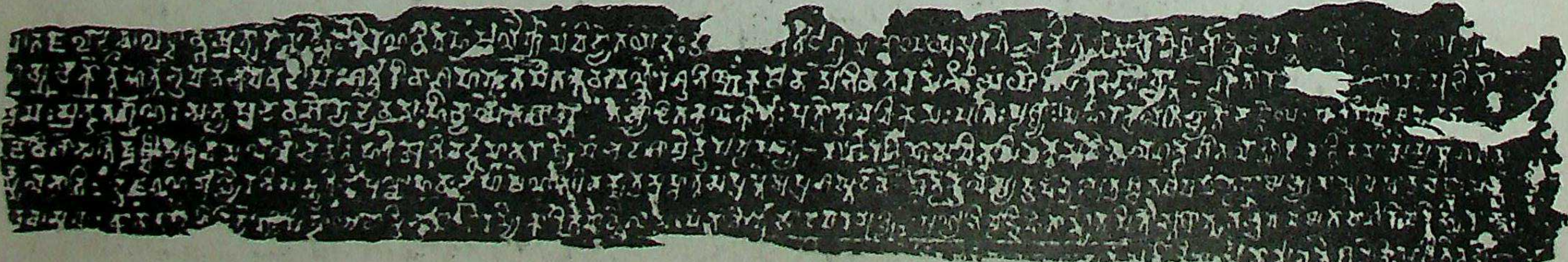

27. शर्ववर्मा की असीरगढ़ मुहर

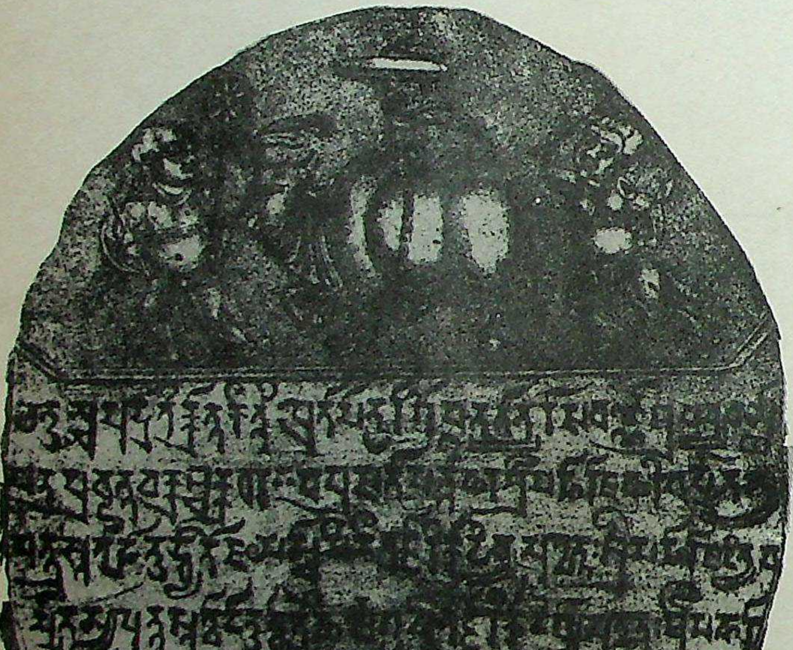

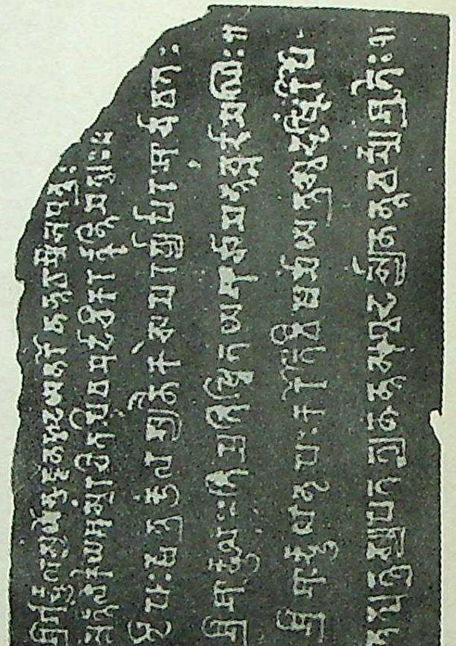

28. अनन्तवर्मा का बराबर गुहा-लेख

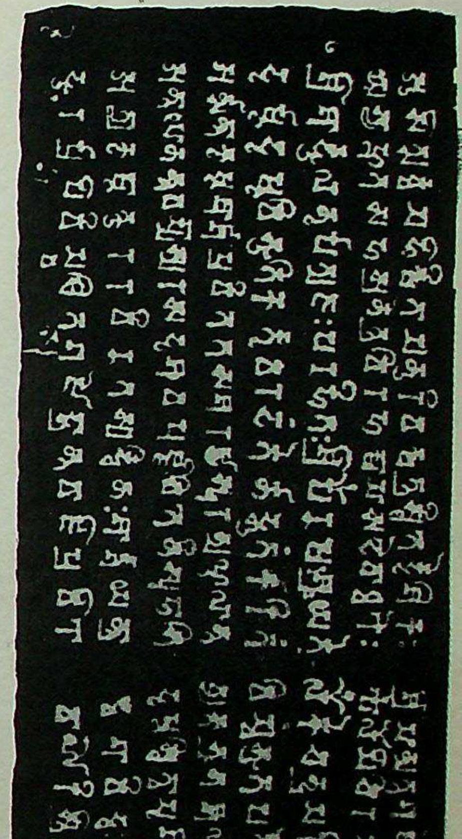

29. अनन्तवर्मा का नागार्जुनी गुहा लेख

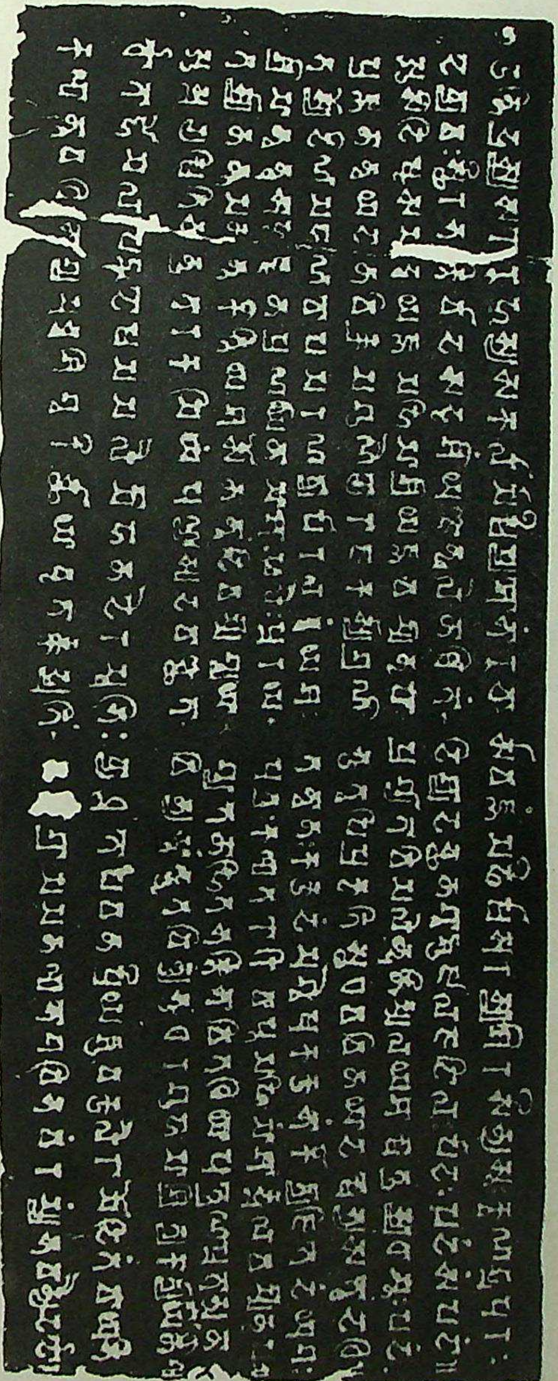

30. अनन्तवर्मा का नागार्जुनी गुहा लेख

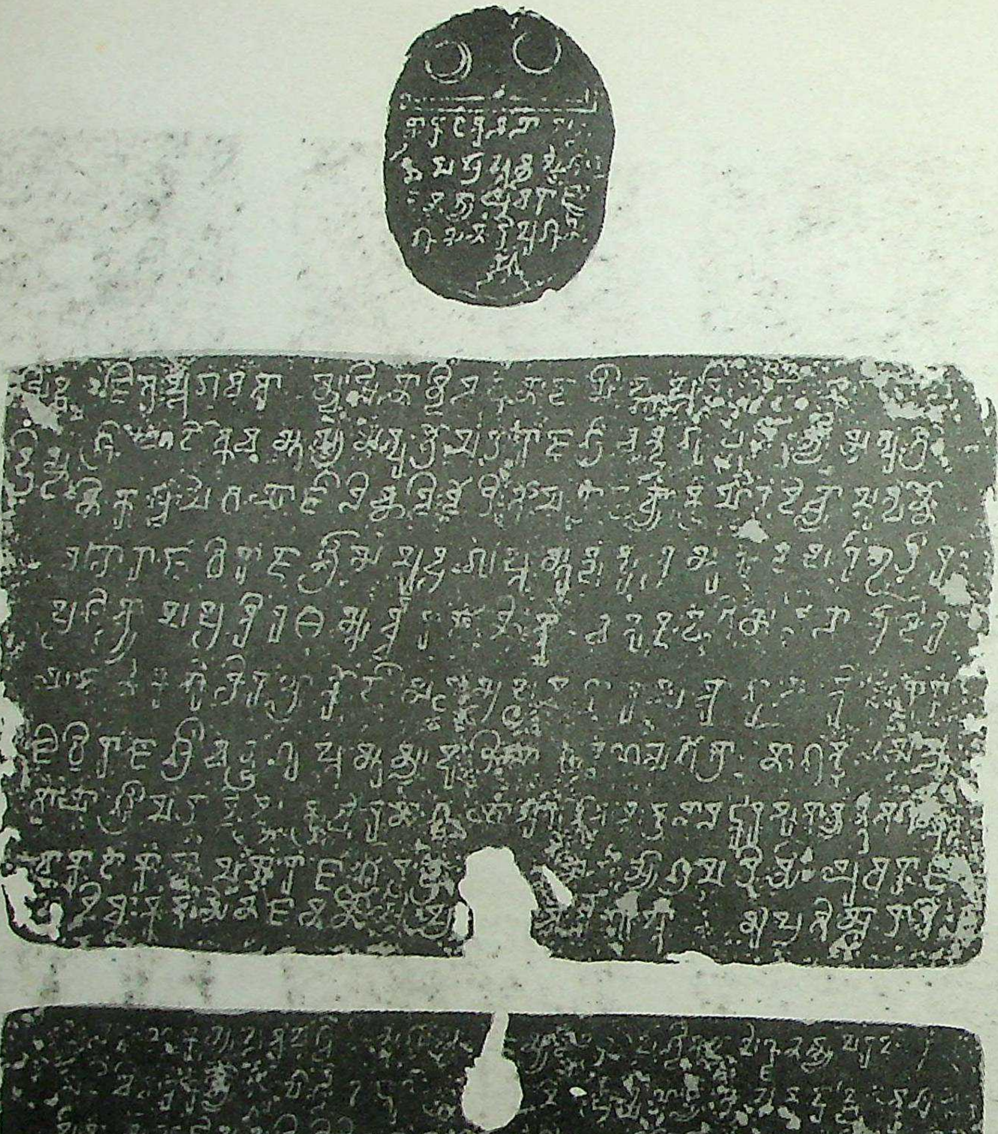

33. प्रभावतीगुप्ता का पूना-दानपत्र

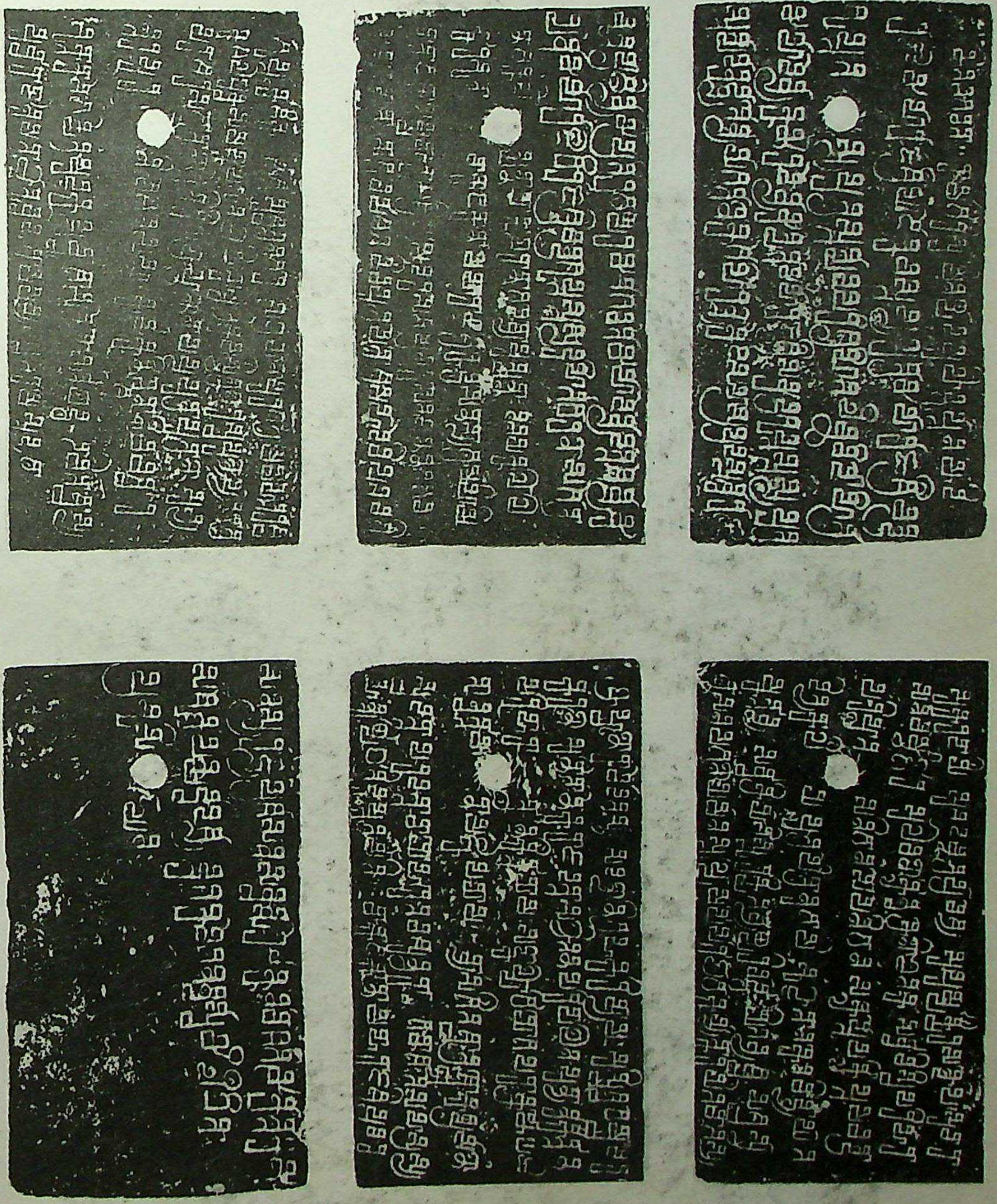

34. प्रभावतीगुप्ता का रिद्धपुर-दानपत्र

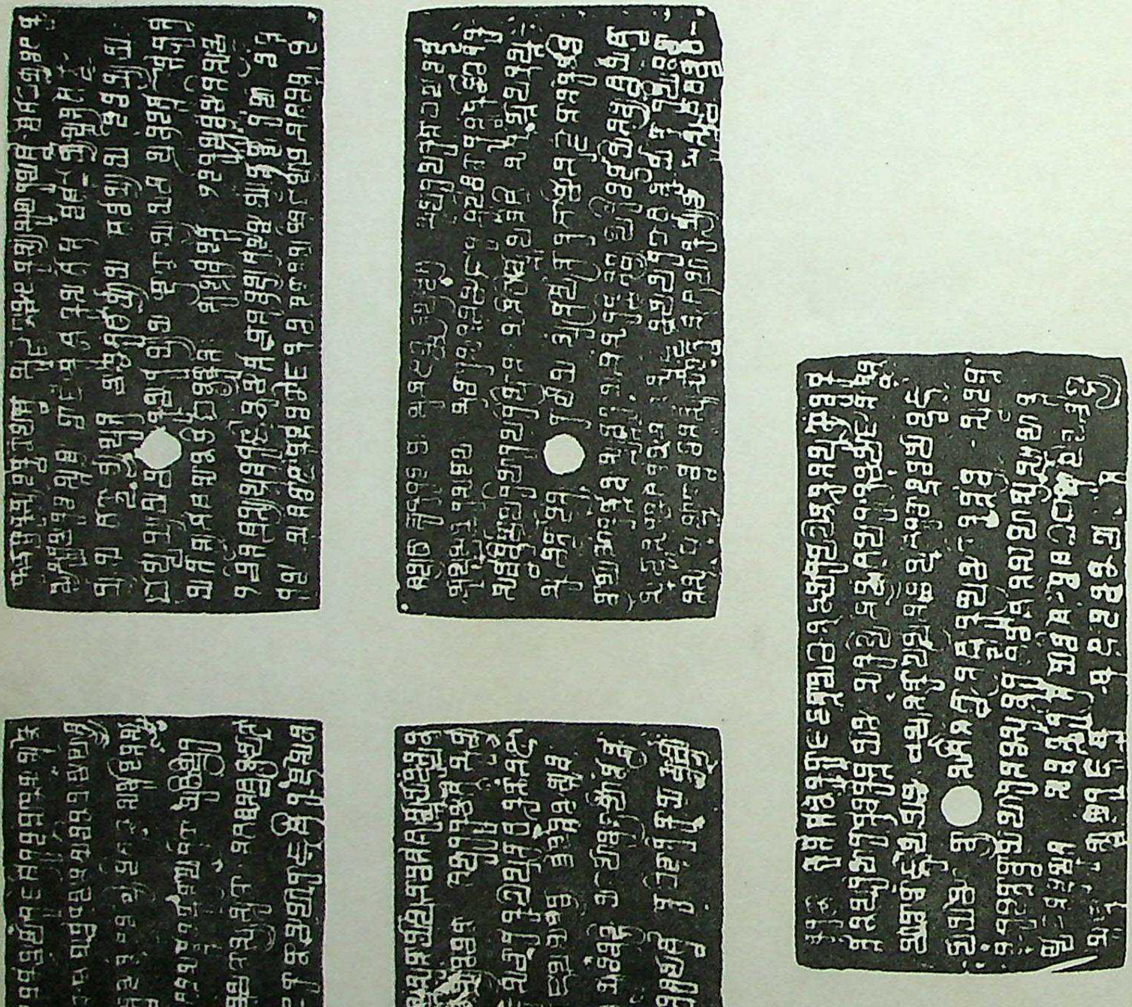

35. द्वितीय प्रवरसेन का इन्दौर-दानपत्र